श्री

सनातनधर्म्मनिष्ठ, निगमागमश्रद्धापरायण सौम्यमूर्त्ति, सद्गुणविभूषित

दानवीर

सर्वश्री माननीय श्रेष्ठिप्रवर

श्रीकुडीलालजी महोदय सेकसरिया के सौजन्य से

'श्रीगोविन्दरामचेरेटीट्रस्ट इन्दौर' (मालवा)

द्वारा प्रकाशित

भाद्रपदशुक्लत्रयोदशी

वि० सं०-२०१०

श्रीः

मरुमण्डलवैश्यरत्न महाप्राण

# श्रीगोविन्दरामजी सेकसरिया

को

विमलस्मृति के सम्बन्ध में दो शब्द

श्रीः

## महाप्राण मरुमण्डलवैश्रवण श्रेष्ठिप्रवर

### * स्व० श्रीगोविन्दरामजी सेकसरिया की विमल स्मृति के सम्बन्ध में—

—प्रस्तुत प्रकाशन में दो शब्द निवेदन कर देना भारतीय आर्षसनातन आम्नाय के द्वारा अनुप्राणित 'कृतज्ञता-समर्पण' दृष्ट्या न केवल प्रासङ्गिक ही, अपितु आनृशंसधर्म्मधिया अनिवार्य्य कर्त्तव्य भी माना जायगा। अनुमानतः वि० सं० १९८६ से आरम्भ कर वि० सं० १९९९ पर्य्यन्त ( सन् १९२९ से सन् १९४२ पर्य्यन्त ) निगमपुरुष ( वेदशास्त्र ) की उपासना को सफला एवं सुफला बनाने की कामना से भावितान्तःकरण इस व्यक्ति ने ग्रन्थप्रणयन-ग्रन्थप्रकाशन-प्रचारयात्रामाध्यम से यत्रतत्र प्रचार-आदि जिन बाह्य साधनों को प्रतीकविधा से माध्यम बनाया गया, उन साधनों को अमुक सीमापर्य्यन्त अन्वर्थ प्रमाणित करने वाले मान्य सहयोगियों के परिगणन में महाराष्ट्रप्रान्त बङ्गप्रान्त एवं गुर्जरप्रान्त के तत्प्रान्तीय साहित्यानुरागी ही प्रधान स्तम्भ प्रमाणित होते रहे। त्रयोदश (१३) वर्षात्मिका उस अवधि में घुणाक्षरन्यायेन यदि द्वि:-त्रि:-मरुप्रान्तीय मान्य-सहयोगी उपलब्ध हुए भी, तो इसका श्रेय भी विशेषतः गुर्जरप्रान्तीय प्रधान स्तम्भों की प्रेरणा का ही सुपरिणाम था। अतएव इस दिशा में हम अपने अभिजन-देश की सम्पन्न विभूतियों के मार्म्मिक स्वरूप से प्रायः अपरिचित ही बने रहे।

हाँ, सम्भवतः सन् ३६ में घटित-विघटित बङ्गयात्रा में मा० सर्वश्री वेणीशङ्करजी शर्म्मा के आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः श्रम-परिश्रम, किंवा तपोयोग से बीकानेरराज्यगौरव श्रेष्ठिप्रवर माननीय स्व० श्रीवन्सीधरजी जालान महोदय से अवश्य ही हमारा निकटतम सम्पर्क स्थापित हुआ था, जिनके महतोमहीयान् व्यक्तित्व की महती स्मृति से हम सदा आत्मविभोर बने रहेंगे। आपही के सहयोग से तत्स य के प्रकाशनों में सहस्रपृष्ठात्मक दो गीताखण्ड कलकत्ता में ही प्रकाशित हुए थे। एवं उस स्वर्गीय महात्मा की ऐसी सात्त्विक कामना थी कि, हमें अपने अभिजनकेन्द्र (जयपुर) निवास का मोह

---

* हमारी ऐसी कामना थी कि, पाञ्चभौतिक शरीर से सर्वथा कृश, किन्तु महाप्राण स्व० सेकसरियाजी का, तथा उनके सुपुत्र निगमागमनिष्ठापरायण सौम्यमूर्त्ति सर्वश्री माननीय श्रेष्ठिप्रवर श्रीकुडीलालजी सेकसरिया का चित्र भी प्रस्तुत प्रकाशन में प्रकाशित किया जाता। किन्तु आग्रह करने पर भी मा० श्रीकुड़ीलालजी ने इस लोकैषणात्मक दृष्टिकोण का समर्थन न किया। अतएव विवशतावश हम अपनी इस प्रासङ्गिक कामना को इस प्रकाशन में मूर्त्तरूप न दे सके। अवश्य ही किसी अग्रिम प्रकाशन में इन दोनों महानुभावों के पूर्ण परिचय के साथ चित्रप्रकाशन के सम्बन्ध में भी हमें अपनी सहज स्वतन्त्र मनोवृत्ति का अनुगामी बन ही जाना पड़ेगा।

हमें दुःख है कि, परिचय के कुछ ही समयानन्तर श्रीगोविन्दरामजी के दिवंगत हो जाने से तत्समय में हमें अपने साहित्यिक संकल्पों को अन्वर्थ बनाने का अवसर न मिल सका, और यों महद्-भाग्य से प्राप्त वह महती सहयोगकामना तत्समय में केवल संकल्परूप से ही सुरक्षित बनी रह गई। सन् ४३ से आरम्भ कर अनुमानतः सन् ४६ पर्य्यन्त पुनः 'पुनस्तत्रैवावलम्बितोवेतालः' की उपासना प्रक्रान्त रखनी पड़ी। अनन्तर सहसा सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेनैव उस स्व० महानात्मा की कामना-प्रेरणा के अनुग्रह से ही तत्सुयोग्य पुत्र श्रीकुड़ीलालजी सेकसरिया का ध्यान एक नैष्ठिक प्राच्य-संस्कृतिनिष्ठ महामानव के माध्यम से इस कार्य्य की ओर आकर्षित हुआ। श्रीसेकसरियाजी के विद्यागुरु सर्वश्री माननीय मदनमोहनजी शर्म्मा (जो तत्र 'मास्टरसाब' (साहिब) अभिधा से सुप्रसिद्ध हैं) के प्रति कृतज्ञता अभिव्यक्त करनी चाहिए, श्रीकुड़ीलालजी के शुभचिन्तकों को, जिनके सहयोगनैरन्तर्य्य के कारण ही श्रीसेकसरियाजी अपनी पैत्रिक आस्था-श्रद्धा-निष्ठा को उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित करने में समर्थ बन सके हैं। इसी मानवश्रेष्ठ की तत्कालीन आकस्मिक, किन्तु सहजप्रेरणा से हमें श्रीसेकसरिया जी के निकट सम्पर्क में आने का महद्भाग प्राप्त हुआ, जिससे सम्बन्धित उच्चावचभावपरम्परानुप्राणित इतिवृत्त भी साहित्यसेवियों के लिए एक पथप्रदर्शक आलोक प्रमाणित होगा।

तरुणयुवा, सौम्यमूर्त्ति, मन्दहाससमुल्लसित, आकर्षक बाह्याकार, आदि सौम्यभावों से आपादमस्तक सुसमन्वित प्रतीत होने वाले मा० श्रीकुड़ीलालजी के सहज व्यक्तित्व का यथार्थस्वरूप परिचय प्राप्त कर लेना भी वैसा ही दुरधिगम्य है, जैसे कि इनके स्व० पितुःश्री के सहज सामान्य बाह्य अनुबन्धमात्रों के आधार से उनका आभ्यन्तर प्रातिभ-स्वरूप सर्वसाधारण के लिए सर्वथा दुरधिगम्य था। 'पिता वै जायते पुत्रः' इस सिद्धान्त को अक्षरशः चरितार्थ करने वाले श्रीकुड़ीलालजी में उन समस्त पैत्रिक गुणों का बीजाङ्कुरन्याय से समावेश हुआ है। आवश्यकता है अनुकूल रक्षा-दुर्ग के द्वारा उस महान् बीज को पुष्पित पल्लवित करने के लिए बाह्यवातावरणानुबन्धिनी युगधर्म्मानुगता आक्रमणपरम्पराओं के निरोध की। श्रीजगन्माता जगदम्बा से यही कामना है कि, प्राच्यसंस्कृति के संरक्षण-कर्म्म में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त हमारे इस सात्त्विक महान् सहयोगी को तद्गुणविकास में वह पूर्ण सफलता प्रदान करे, इसी संक्षिप्त विमलस्मृति के साथ यह शब्दद्वयात्मिकी परिचयरूपरेखा उपरत हो रही है। हम आग्रह करेंगे ट्रस्ट के मान्य सञ्चालकों से इस सम्बन्ध में कि, श्रीगोविन्दरामजी के यशःख्यापन के लिए नहीं, अपितु मानव मात्र की सहज प्रतिभा को उद्बुद्ध कराने में सर्वात्मना सहायक, तथा पथप्रदर्शक श्रीगोविन्दरामजी के सहज प्रतिभापूर्ण व्यवसायनिष्ठ जीवन के इतिवृत्त को शीघ्र से शीघ्र लिपिबद्ध, तथा प्रकाशित करने के अनिवार्य्य कर्त्तव्य की ओर वे आकर्षित होंगे।

श्रीमानवाश्रमविद्यापीठ, दुर्गापुरा
श्रावणशुक्लत्रयोदशी वि० सं० २०१०

परिचायक —
मोतीलालशर्म्मा
भारद्वाज

अथ

खण्डचतुष्टयात्मक-'श्राद्धविज्ञानोपनिषत्' ग्रन्थे

'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामकः

# प्रथमः खण्डः

# १

प्रथमखण्डात्मकेऽस्मिन् ग्रन्थे-
एते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः



प्रीयतामनया आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषदा आत्मदेवता

प्रथमसंस्करण ५०० वि० सं० २०१० मूल्य २०)

श्री

# समर्पण

दिवंगत–चन्द्रलोकस्थ–महानात्ममूर्त्ति–स्वर्गीय–

पितुःश्रीबालचन्द्रजी शास्त्री की

क्षयाहतिथि ( श्रावणशुक्ल–त्रयोदशी ) के उपलक्ष में

श्राद्धकर्त्ता की ओर से

श्रद्धापूर्वक समर्पित

समर्पक –

प्रजातन्तुवितानपथानुगामी

मोतीलालशर्म्मा ( श्राद्धकर्त्ता )

श्रावणशुक्ल–त्रयोदशी ( क्षयाहतिथि )

विक्रम सं० २०१०

प्रकाशकः—
मानवाश्रमवैराजिकग्रन्थप्रकाशनविभागसञ्चालक –
मोतीलालशर्म्मा, भारद्वाज.
—( श्रीमानवाश्रमविद्यापीठ-दुर्गापुरा )—



मुद्रकः—
मोतीलालशर्म्मा-गौडः
श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, कृष्णपोलबाजार
जयपुर, सिटी ( राजस्थान )

# सम्पादकीय-वक्तव्य

श्री:

# आत्मनिवेदनात्मक सम्पादकीय

संकल्पित "मानवोक्यर्वराजिकग्रंथ" ( श्रीमानवाश्रमविद्यापीठ ) के निर्म्माण-सम्बन्धी इतस्ततः अनुधावन कर्म्म के अनुग्रह से विगत १० वर्षों से अवरुद्धप्राय ग्रन्थप्रकाशन-कार्य्य एक सात्त्विक परिवार के अयाचित सात्त्विक सहयोग से पुनः प्रक्रान्त हो रहा है, इस अनुभूति से ६ क्रम-तुष्टि का अनुभव करते हुए प्रस्तुत 'श्राद्धविज्ञान' के 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड के साथ पुनः यह साहित्य-सेवी अपने सहयोगियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

तदित्थं, सुदीर्घ-कालानन्तर प्रस्तुत 'प्रकाशन' के साथ आर्षप्रजा के सम्मुख उपस्थित होते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि, दो शब्दों में इस सुदीर्घ विलम्ब का कारण स्पष्ट करते हुए प्रकाशन-कार्य्यावरोध से रुष्ट आत्मीय-सहयोगियों को अंशतः तुष्ट करने का प्रयास किया जाय। सर्वथा लोकैषणासम्मुक, साथ ही नितान्त भावुक कुछ एक नवीन सहयोगियों के आपातरमणीय-सद्भप्रभाव से लोकैषणा-प्रवर्द्धिका अनेक सम-विषम-समस्याओं के प्रलोभनों में आसक्त-व्यासक्त होते हुए आशा-प्रतीक्षामयी मृगमरीचिका-पाश से सर्वात्मना आबद्ध पीठ-निर्म्माण साफल्य के लिए इतस्ततः दंद्रम्य-माणात्मिका लोकासक्ति के घातक निग्रहात्मक अनुग्रह से प्रकाशन-निरोध के साथ साथ कुछ एक वर्षों से ( अनुमानतः ८-१० वर्षों से ) स्वाध्यायनिष्ठा तदनुगत ग्रन्थप्रणयन, व्याख्यानादि-द्वारा मौखिक प्रचार आदि अन्यान्य सहज लक्ष्यों से भी सर्वात्मना आत्मविस्मृत हो जाना पड़ा। यही नहीं, अपनी इस जघन्यतमा सर्वस्वघातिनी लोकैषणा की कृपा से ही 'एषणा-पूर्त्ति-लालसा' से भावितान्तःकरण इस व्यामुग्ध मानव को गत वर्षों में अमुकामुक काल्पनिक प्रेरणाओं के आकर्षण से अप्रत्याशित अवैध यात्राकष्ट, तदनुगता प्रचुर अर्थहानि, फलतः ऋणदेवता का घातक आतिथ्य, पूर्वप्रकाशित-सञ्चित ग्रन्थराशि के शतशः महानुभावों के प्रति होने वाली 'भेंट' परम्परा द्वारा विहित भावी प्रकाशनकार्य्य निरोध, बौद्धजगत् से सर्वथा विपरीत होने वाले निरतिशय श्रम-परिश्रम से शरीरस्वास्थ्य का आत्यन्तिक बलिदान, आदि आदि सर्वोच्च पुरस्कारों से भी पुरस्कृत होना पड़ा। सर्वस्वविघातिनी इस लोकासक्ति से त्राण पाने के लिए इष्टदेव से ही उद्बोधन-भिक्षा माँगी गई। एवं गत चैत्र-नवरात्र में इष्टदेव के उद्बोधनात्मक अनुग्रह से तथाकथित विघ्नपरम्पराओं से त्राण पाने के लिए 'वर्त्तमान' को लक्ष्य बिन्दु बनाते हुए भविष्य के लिए यह निश्चय किया गया कि—

"मनोऽनुगता-भावुकता-समाकुलित, बुद्ध्यनुगता-आर्षनिष्ठा-निरोधक, वर्त्तमान भारतीय वातावरण में लोकैषणा से विनिर्मुक्त रहते हुए सर्वसाधारण का अयाचित-सात्त्विक-नैष्ठिक-सहयोग प्राप्त

अठारह वर्ष पूर्व जागरूक बना। तत् समय में ही पितु श्री के गत हो जाने से इस संकल्प को विशेष प्रेरणा बल प्राप्त हुआ। एवं परिणाम स्वरूप पितुःश्री के प्रथम वार्षिक-श्राद्धोपलक्ष में ग्रन्थ सर्वात्मना सम्पन्न कर लिया गया। तब से पूर्व-दिग्दर्शित घटना-समस्या-परम्पराओं के निग्रहानुग्रह से अठारह वर्षों के अनन्तर इस ग्रन्थ का 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड बहिर्जगत् की वस्तु बनने जारहा है।

सम्पादन-सौष्ठव, एवं बाह्य आकार-प्रकार-सौन्दर्य्य के सम्बन्ध में हमें इस लिए कुछ भी निवेदन करने का अधिकार नहीं है कि, सर्वथा एकाकी बने रहते हुए सर्वप्रपञ्चानुगति के अनुग्रह से एवंविध-प्राच्यसाहित्य की स्वाभाविक-अर्थसंकटग्रस्तता में तथाविध-सुविधाजनक बाह्यसाधनों के अभाव के कारण इस दृष्टिकोण से हमें तब तक के लिए अपने आपको दोषभाक् ही मानते रहना पड़ेगा, जब तक कि इस दिशा में अनुरूप सुविधा के अनुग्रह से कतिपय धर्म्म-सहयोगियों का क्रियात्मक सहयोग हमें प्राप्त नहीं हो जाता।

प्रस्तुत प्रथम खण्डात्मक प्रकाशन इस बार अपनी चित्रपरम्परा के कारण निरतिशयरूप से महर्घ बन गया है। भौतिक-दैविक-आत्मिक-स्थितियों के स्पष्टीकरण के लिए इस खण्ड में ८४ रेखा चित्रों का, एवं ३० तिरङ्गे चित्र का समावेश हुआ है, जिन के प्रकाशन में हमें अनुमानतः नवसहस्र की आहुति देनी पड़ी है, जिस में से अनुमानतः त्रिसहस्रमिता ३००० आहुति का अनुग्रह हमारे आत्मीय सहयोगी माननीय श्रीमहावीरप्रसाद जी सुरारका द्वारा प्राप्त हुआ है, जिसके लिए श्राद्धदेवता उनके प्रति कृतज्ञ रहेंगे। अलमतिविस्तरेण। हमनें कभी इन व्यावहारिक प्रपञ्चों से सम्बद्ध व्यावसायिक-अर्थसुविधा-अर्थजटिलताओं की सदसत्-मीमांसा का अनुगमन नहीं किया है। दूसरे शब्दों में "यह वैदिक-वाङ्मयसाहित्य व्यापारानुगत आर्थिक-समतुलन की दृष्टि से कैसे अर्थलाभ का कारण बनेगा ?," मीमांसा हमारे लिए सदा से असंस्पृष्ट ही रही है। यथासुविधा, यथावसर प्राप्त आर्थिक सहयोग से वाग्देवी के प्राणात्मक स्वरूप को प्रकाशनद्वारा भौतिक-स्वरूप प्रदान करते हुए वाग्देवी की मूर्त्तोपासना करते रहना ही जीवन का मुख्य लक्ष्य रहा है, जिस उपासना की सफलता का उत्तरदायित्व एकमात्र श्रीजगन्माता जगदम्बा से ही सम्बद्ध है, इसी माङ्गलिक समसामयिक आत्मनिवेदन के साथ प्रस्तुत सम्पादकीय उपरत हो रहा है।

श्रावणशुक्लत्रयोदशी
वि० स० २०१०

विधेयो नम्रः-सम्पादकः
मोतीलालशर्म्मा-भारद्वाजः

श्रीः

# महामांगलिक 'पितृस्वरूप' संस्मरण

स्तुत्यात्मक, तथा स्वरूपवर्णनात्मक



कर लेना क्योंकि कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है, अतएव–'सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः' ( मनुः ) इस मानव–आर्ष–आदेश का अनुगमन करते हुए दिक्–विदिक् से प्रत्याशित, किन्तु स्वाध्यायनिष्ठाविघातक, लोकैषणाप्रवर्द्धक, आत्मस्वातन्त्र्यापहारक, तथाविध यच्चयावत् सहयोगों को, तथा तत्प्रदाता–तत्समतुलित–सहयोगियों को स्मृतिपथ से भी सर्वथा विस्मृत करते हुए एकमात्र स्वाध्यायनिष्ठा का ही अनन्य–निष्ठा से अनुगमन किया जाय। हाँ, यदि किसी नैष्ठिक–आर्ष–मानव के द्वारा उपकार प्रत्युपकार की कुत्सित भावना से एकान्ततः असंस्पृष्ट रहता हुआ विशुद्ध सत्त्वभावापन्न अयोचित नैष्ठिक सहयोग सद्भाग्य से घुणाक्षरन्याय से यदाकदा उपलब्ध हो जाय, तो एवंविध निरापद् सहयोग का अवश्यमेव समादर कर लिया जाय, एवं तद्द्वारा यथाव्यवस्था ग्रन्थप्रकाशन–पत्र-प्रकाशन–पीठनिर्म्माण आदि साहित्यिक लक्ष्यों को यथासुविधा प्रगतिशील बनाया जाय। तथाविध उन सभी लक्ष्यों को, यात्राओं को, सहयोगों को, तथा सहयोगियों को सर्वथा उपेक्षणीय ही माना जाय, जो लक्ष्य, जो यात्राएँ, जो सहयोग, एवं जो सहयोगी गतजीवन में लोकैषणानुगत, अतएव परिणाम में लोकापवादजनक, अतएव च अन्ततोगत्वा आत्मस्वस्त्ययनलक्षणा–आत्मनिष्ठा के विघातक ही ही प्रमाणित हुए हैं''।

ओमित्येतत्। किन्तु 'निश्चय' निश्चय कर लेने मात्र से ही तो सफल नहीं बन जाता। अवश्य ही एवंविध निष्ठात्मक 'निश्चय' को निश्चयात्मिका-कार्य्यरूपा–व्यवस्था का अनुगामी बनाने के लिए किसी तथाविध ही निश्चित निष्ठापद्धति का प्राणपण से अनुसरण अनिवार्य्य हो जाता है। जैसा कि, स्पष्ट किया जाचुका है—अपने लोकैषणानुगत–लक्ष्यों के अनुग्रह से सम्पूर्ण–साधन समाप्त हो चले थे, एवं–'अकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति' सर्वात्मना चरितार्थ हो गया था। परिणामस्वरूप स्वाध्यायनिष्ठा के साथ साथ प्रकाशन–कार्य्य की पुनः प्रक्रान्ति भी असम्भव बन चुकी थी। यही क्यों, सम्पूर्ण प्रेसपरिग्रह के पीठनिर्म्माण में आहुत हो जाने से 'जीविका–साधन' भी समाप्तप्राय था, जिस से सम्बन्धित पारिवारिक–समस्या की जटिलता से स्वाध्याय–निष्ठा की निश्चिन्तता भी सर्वथा चिन्ताग्रस्ता ही बन रही थी। इन्हीं सब सम–विषम–समस्याओं के अनुग्रह से संकल्पित नैष्ठिक निश्चय केवल काल्पनिक रूप से ही सुरक्षित बना रहा।

इन अनिवार्य्य समस्याओं से आत्मत्राण करते हुए 'निश्चय' को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए अनुरूप–आरम्भिक सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य्य बन गया। इष्टदेव के माध्यम से निश्चयानुरूप सात्त्विक नैष्ठिक सहयोगियों के अन्वेषण के लिए कुछ वर्ष पूर्व शेखावाटी के सुप्रसिद्ध श्रेष्ठि माननीय श्रीरामसहायमलजी मोर के प्रेरणाबल के आधार पर कलकत्ता यात्रा हुई। आप ही के निष्ठात्मक अनन्य सहयोग, तथा प्रेरणाबल से मासाचतुष्टयात्मिका इस धर्मयात्रा में तत्स्थानीय श्रीजालानजी आदि का सात्त्विक सहयोग प्राप्त हुआ, जिस सहयोग

का पूर्णविवरण 'हमारी नैष्ठिक यात्रा, और उसका परिणाम' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में प्रकाशित कर दिया गया है। इसी सहयोग के आधार पर मानवपीठ-निर्माण दिशा की वर्षों से अवरुद्ध स्थिति का अंशतः समुद्धार हुआ। सहयोग सर्वथा सामान्य था, अतएव इस से विशेष प्रगति का अनुगमन सम्भव न हो सका। अतएव, पुनः-गतवर्ष ग्रीष्मारम्भ में चिकित्सार्थ बम्बई-यात्रा का पथिक बनना पड़ा। मासद्वयात्मिका इस यात्रा का पूरा विवरण भी तथाकथित निबन्ध में प्रकाशित हो चुका है। इस यात्रा में श्रीजगदम्बानुग्रह से वैसे सहयोगी उपलब्ध हुए, (जिन में माननीय श्रीकुडीलालजी सेक्सरिया, माननीय श्रीमहावीरप्रसादजी मोदी, माननीय श्रीजगदीशप्रसादजी सेक्सरिया, आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं) जिन के द्वारा 'निश्चय' पूर्णतः नहीं, तो अंशतः अवश्य लक्ष्यानुगामी बनाया जासकता है। पीठनिर्म्माण का अमुक उत्तरदायित्व जहाँ माननीय श्रीसेक्सरिया जी ने उठाने का अनुग्रह किया वहाँ प्रकाशन-कार्य्य को प्रेसपरिग्रह-व्यवस्था द्वारा पुनरुज्जीवित करने का श्रेय माननीय श्रीमहावीरप्रसादजी मोदी, तथा माननीय श्रीजगदीशप्रसादजी सेक्सरिया ने प्राप्त किया। इस प्रकार आयोजित प्रकाशन-साधनों की पुनर्व्यवस्था के आधार पर ही वर्षों से अवरुद्ध प्रकाशन कार्य्य गत वसन्तर्तु से पुनः आरम्भ हुआ जिस का प्रथम परिणाम प्रस्तुत प्रथम खण्ड है।

सुदीर्घकालपर्य्यन्त ग्रन्थप्रकाशन-कार्य्य क्यों अवरुद्ध रहा ?, इस प्रासङ्गिक प्रश्न समाधि के लिए तत्कारणेतिवृत्त का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण आवश्यक समझा गया। अब दो शब्दों में प्रस्तुत-ग्रन्थ की आवश्यकता का दिग्दर्शन करा देना भी असामयिक न माना जायगा। अनुमानतः आठ वर्ष पूर्व खण्डचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञान-ग्रन्थ की आवश्यकता के सम्बन्ध में 'किमपिप्रास्ताविकम्' रूप से १०० पृष्ठात्मिका प्रस्तावना प्रकाशित कर दी गई थी, जिसका सन्निवेश प्रस्तुत प्रथमखण्ड में कर दिया गया है। उसमें सभी दृष्टियों से ग्रन्थावश्यकता का स्पष्टीकरण हो गया है। प्रकृत में इस आवश्यकता के सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि,—

"परलोकस्थ-(चान्द्रमण्डलस्थित) प्राणात्मक प्रेत पितरों के लिए (पिता-पितामह-प्रपितामहादि के लिए) समन्त्रक श्रद्धापूर्वक पिण्डदान करना ही श्राद्ध है" सनातन-आर्षप्रजा की इस शाश्वत आर्षनिष्ठा के सम्बन्ध में वर्त्तमान-शिक्षाप्रचार के अनुग्रह से तथा गत शताब्दी में उत्पन्न स्वामी दयानन्दजी के निरतिशय भावुक-विचारों के आपातरमणीय अनुग्रह से सर्वथा लक्ष्यच्युत भावुक-प्रजा के अशास्त्रीय धर्म्माभास प्रचार से अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न हो गए हैं। इस नितान्त अशास्त्रीय, लौकिक संशयपरम्परा से आस्तिकप्रजा का महत्तामहीयान् अहित हुआ है। इस अहित से आस्तिकप्रजा का त्राण कर श्राद्धकर्म्म के यथापरिभाषित शास्त्रीय-दृष्टिकोण को विज्ञानदृष्टि से पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए ही खण्डचतुष्टयात्मक 'श्राद्धविज्ञान' नामक ग्रन्थ का संकल्प आज से



## पितृस्वरूपवर्णनात्मिका नैगमिकस्तुतिः

१—ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा ।
पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत ॥

२—प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम ।
येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन् ॥

३—त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम् ।
तव प्रणीति पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥

४—अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा ।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन ॥

५—नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः ।
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद्गोत्राणि ससृजे दंसनावान् ॥

६—अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभि प्र सेदुर्ऋतमाशुषाणाः ।
अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥

७—अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ।
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥

८—स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः ।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ॥

९—आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्वावद्गोमद्यवमत् सुवीर्यम् ।
यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः ॥

१०—अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ॥
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥

---

११—यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः ॥

१२—अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥

१३—अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥

१४—उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोकं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥

१५—महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् ।
समविव्यचुरुत यान्यत्विषुरैषां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥

१६—द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा ॥
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम् ॥

१७—य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन्परिवत्सरे वलम् ॥
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥

१८—ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते ।
अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रुवुः ॥

१९—यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः ।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासत्ते तते ॥

२०—चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे ।
पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे ॥

२१—यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यां आविवेश ।
तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम ॥
—प्रीयतामनया स्तुत्या पितृदेवता

---

११—ऋक्सं० १०।१४।२ ॥ १२—ऋक्सं० १०।१४।६ ॥ १३—ऋक्सं० १०।१४।९ ॥ १४—ऋक्सं० १०।१८।१३ ॥ १५—ऋक्सं० १०।५६।४ ॥ १६—ऋक्सं० १०।५६।६ ॥ १७—ऋक्सं० १०।६२।२ ॥ १८—ऋक्सं० १०।९४।१२ ॥ १९—ऋक्सं० १०।१३०।१ ॥ २०—ऋक्सं० १०।१३०।६ ॥ २१—ऋक्सं० ८।४८।१२ ॥

श्रीः

# श्राद्धानुगत–पितृयशोवर्णनात्मिका–आगमस्तुतिः

१—श्राद्धात् परतरं नान्यत्–श्रेयस्करमुदाहृतम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्य्याद्विचक्षणः ॥

२—तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि ।
कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति ॥

३—आचारमाचरेत्तत्र पितृमेधाश्रितं नरः ।
आयुषा–धन–पुत्रैश्च वर्द्धते नैव संशयः ॥

४—आयुः–पुत्रान्–यशः–स्वर्गं–कीर्तिं–पुष्टिं–बलं–श्रियम् ।
पशून्–सौख्यं–धनं–धान्यं–प्राप्नुयात् पितृपूजनात् ॥

५—अरोगः प्रकृतिस्थश्च चिरायुः पुत्र–पौत्रवान् ।
अर्थवानर्थभोगी च श्राद्धकामो भवेदिह ॥

६—परत्र च परां पुष्टिं लोकांश्च विपुलान् शुभान् ।
श्राद्धकृत् समवाप्नोति यशश्च विपुलं नरः ॥

७—अग्नी–न्द्र–रुद्र–नासत्य–सूर्य्या–ग्नि–वसु–मारुतान् ।
विश्वेदेवान्–ऋषिगणान्–वयांसि–मनुजान्–पशून् ॥

८—सरीसृपान्–पितृगणान्–यच्चान्यद् भूतसंज्ञकम् ।
श्राद्धं श्रद्धान्वितः कुर्वन् तर्पयत्यखिलं जगत् ॥

९—धनं–वेदान्–भिषक्–सिद्धिं–कुप्यं–गा–अप्यजाविकम् ।
अश्वाना–युश्च–विधिवद्यः श्राद्धं सम्प्रयच्छति ॥

१०—कृषिकादिभरण्यन्तं स कामानाप्नुयादिमान् ।
आस्तिकः श्रद्दधानश्च पितॄन् श्राद्धेन तर्पिता ॥

११—आयुः–प्रजां–धनं–विद्यां–स्वर्गं–मोक्षं–सुखानि च ।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥

१२—यद्यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥

१३—वसुरुद्रादितिसुता पितरः श्राद्धदेवताः ।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः ॥
१४—कर्म्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्निब्रह्मचारिणः ।
पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः श्राद्धसम्पदः ॥
१५—पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
उपासते सुतं जातं शकुन्ता इव पिप्पलम् ॥
१६—सन्तानवर्द्धनं पुत्रमुद्यतं पितृकर्म्मणि ।
देवब्राह्मणसम्पन्नमभिनन्दन्ति पूर्वजाः ॥
१७—तन्वन्ति पितरस्तस्य सुकृष्टैरिव कर्षकाः ।
यद्गयास्थो ददात्यन्नं पितरस्तेन पुत्रिणः ॥
१८—नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धमथापरम् ।
पार्वणं चेति विज्ञेयं श्राद्धं पञ्चविधं बुधैः ॥
१९—कन्दमूलफलैर्वापि कर्त्तव्यं पितृतर्पणम् ।
अन्यथा दारुणं शापं दत्त्वा यान्ति बुभुक्षिताः ॥
२०—दिवस्याष्टमे भागे मन्दी भवति भास्करः ।
स कालः कुतपो ज्ञेयः पितॄणां दत्तमक्षयम् ॥
२१—एवं सन्तर्पिताः कामैस्तर्पकांस्तर्पयन्ति च ।
ब्रह्म–विष्णु–शिवा–दित्य–मित्रा–वरुण–नामभिः ।

——स्मृतयः, पुराणानि च

——※——

## राजर्षिमनुःसम्मतं श्राद्धानुगतपितृस्वरूपोपवर्णनम्

१—यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।
ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥
२—मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥
३—विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥

—दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणाञ्च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥

५—सोमपा नाम विप्राणां, क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम, शूद्राणां च सुकालिनः॥

६—सोमपास्तु कवेः पुत्रा, हविष्मन्तोऽङ्गिरसः सुताः
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा, वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥

७—अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥

८—य एते तु गणा मुख्याः पितृणां परिकीर्त्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥

९—राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः ।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥

१०—दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् ।
पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥

११—अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि ।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥

१२—यद्यद्ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥

१३—वसून् वदन्ति तु पितॄन्-रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्यान्, श्रुतिरेषा सनातनी ॥

१४—देवकार्य्याद् द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते ।
दैवं हि पितृकार्य्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥

—मनुस्मृति

## आर्य्यसर्वस्व—(पुराण)—सम्मतं पितृसर्गस्वरूपोपवर्णनम्

पितृणां सम्भवं राजन् ! कथ्यमानं निबोध मे ॥
पूर्वं प्रजापतिर्ब्रह्मा ससृजुर्विविधाः प्रजाः ॥ १ ॥
एकाग्रमनसः सर्व्वास्तन्मात्रा मनसा वहिः ॥
कृत्वा परमकं ब्रह्म ध्यायन् सर्व्वेषु रूपकैः ॥ २ ॥

तस्यात्मनि तदा योगं गतस्य परमेष्ठिनः ॥
तन्मात्रा निर्य्ययुर्देहाद्, धूमवर्णकृतत्त्विषः ॥ ३ ॥
'पिनाम' इति भाषन्तः सुरां सोममितोऽसकृत् ॥
ऊर्ध्वं जिगमिषन्तो वै, अधःसंस्थास्तपस्विनः ॥ ४ ॥
तान् दृष्ट्वा सहसा ब्रह्मा तिर्य्यक्संस्थास्तदोन्मुखान् ॥
भवन्तः पितरः सन्तु सर्वेषां गृहमेधिनाम् ॥ ५ ॥
ऊर्ध्वनेत्रास्तु ये तत्र ते नान्दीमुखसंज्ञिताः ॥
इत्युक्त्वा तु तदा ब्रह्मा तेषां पन्थानमाकरोत् ॥
दक्षिणायनसंज्ञन्तु पितृयान्तु पितामहः ॥ ६ ॥
तूष्णीं ससर्ज भूतानि तमूचुः पितरस्ततः ॥
वृत्तिं नो देहि भगवन् ! यथा विन्दामहे सुखम् ॥ ७

ब्रह्मोवाच

अमावास्यादिनं योऽस्तु तस्यां कुश-तिलो-दकैः ॥
तर्पिता मानुषैस्तृप्तिं परां गच्छत नान्यथा ॥ ८ ॥
तिला देयास्तथैतस्यामुपोष्य पितृभक्तितः ॥
परमं तस्य सन्तुष्टाः परं यच्छत मा चिरम् ॥ ९ ॥



प्रवर्त्तन्ते वराः केचिद् देवानां सोमवर्द्धनाः ॥
ते मरीच्यादयः सुताः सप्त स्वर्गे ते पितरः स्मृताः ॥ १० ॥
चत्वारो मूर्त्तिमन्तो वै त्रयस्त्वन्ये ह्यमूर्त्तयः ॥
तेषां लोकनिसर्गश्च विस्तरेण निबोध मे ॥ ११ ॥
धर्म्ममूर्त्तिधरास्तेषां त्रयोऽन्ये परमा गणाः ॥
तेषां नामानि लोकांश्च कीर्त्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ १२ ॥
लोकाः सन्तानकामाय यत्र तिष्ठन्ति भास्वराः ॥
अमूर्त्तयः पितृगणास्ते वै पुत्राः प्रजापतेः ॥१३॥
विराजस्य प्रजाः श्रेष्ठास्ते 'वैराजा' इति स्मृताः ॥
देवानां पितरस्ते हि तान् यजन्तीह देवताः ॥१४॥
एते वै लोकविभ्रष्टा लोकान् प्राप्य सनातनान ॥

श्रीः

'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्'नामक प्रथम खण्ड की

# रेखाचित्र, एवं परिलेखसूची

तथा

# संक्षिप्त-विषयसूची

—+—

अथ

श्राद्धविज्ञानग्रन्थान्तर्गत–

'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्डानुगत

# चित्रसूची, एवं परिलेखसूची



पुनर्युगशतान्तेषु जायन्ते ब्रह्मवादिनः ॥१५॥
ते प्राप्य तां स्मृतिं भूयः सिद्धियोगमनुत्तमम् ॥
चिन्त्ययोगगतिं शुद्धां पुनरावृत्तिदुर्लभाः ॥१६॥
एतेऽस्मिन् पितरः श्राद्धे योगिनां योगवर्द्धनाः ॥
आप्यायितास्तु ते पूर्वं येऽपि योगबले रताः ॥१७॥
तस्मात् श्राद्धानि देयानि योगिनां योगिसत्तमैः ॥
एष वै प्रथमः सर्गः सोमपानमनुत्तमः ॥१८॥
एते च एकतनवो वर्तन्ते द्विजसत्तमाः ॥
भूर्लोकवासिनां याज्या भुवर्लोकनिवासिनः ॥१९॥
स्वर्गलोका मरीच्याद्यास्तेषां याज्या महर्गताः ॥
कल्पवासिकसंज्ञानां तेषामपि जने स्थिताः ॥२०॥
सनकाद्यास्ततस्तेषां वैराजास्तपसि स्थिताः ॥
तेषां सत्यगताः प्रोक्ता इत्येषा पितृसन्ततिः ॥२१॥
सप्तधा सप्तलोकेषु आदिमन्वन्तरक्रिया ॥
अन्येषां वसवः साध्या रुद्रादित्याश्विनाविति ॥२२॥
अमृतः सर्ववर्णानां साधारण्येन संस्थिताः ॥
ऋषयश्च तदुत्पन्ना इति सप्तविधा गणाः ॥२३॥
तेषां कन्यास्तु संजाता महती पितृसन्ततिः ॥
अग्निष्वात्ताश्च मारीचा वैराजा बर्हिसंज्ञिताः ॥२४॥
सुकाला नाम पितरो वसिष्ठस्य प्रजापतेः ॥
तेऽपि याज्यास्त्रिभिर्वर्णैर्न शूद्रेण पृथक् कृतम् ॥२५॥
वर्णत्रयाभ्यनुज्ञातः शूद्रः सर्वान् पितॄन् यजेत् ॥
न तु तस्य पृथक् सन्ति पितरः शूद्रजातयः ॥२६॥
मुक्तचेतनका ब्रह्मन् । न दृश्यन्ते पितृष्वपि ॥
निशेषशास्त्रदृष्ट्या तु पुराणानाञ्च दर्शनात् ॥२७॥
एवं ऋषिस्तुतैः शास्त्रैर्ज्ञात्वा याजकसम्भवान् ॥
स्वयं सृष्ट्वा स्मृतिर्लब्ध्वा पुत्राणां ब्रह्मणा ततः ॥२८॥

परं निर्वाणमापन्नास्तेऽपि ज्ञानिन एव च ॥
वैश्यादीनां कश्यपाद्या वर्णानां वसवादयः ॥२९॥
अविशेषेण विज्ञेया गन्धर्वाद्या अपि ध्रुवम् ॥
एष ते पैतृकः सर्ग उद्देशेन महामुने !
कथितो नान्त एतस्य वर्षकोट्या हि दृश्यते ॥३०॥

—— ❀ ——

प्रीयतामनया पितृस्वरूपवर्णनात्मिकया पितृस्तुत्या श्राद्धदेवता

सर्वान्ते च—

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आयुः पितरो न मर्त्याः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा "महाँ" स्तस्मै ते काम-
नम इत् कृणोमि ।
— अथर्वसंहिता ९।२।१९।

दातारो नोऽभिवर्द्धन्ता, वेदाः—सन्ततिरेव च ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद् बहुदेयं च नोऽस्तु ॥
अन्नं च नो बहुभवेदतिथींश्च लभेमहि ।
याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिरम कञ्चन ॥
गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम् !

—— ❀ ——

समाप्ता चेयं–आत्मविज्ञानोपनिषन्नामकस्य
प्रथमखण्डस्य–परिलेख–चित्रसूची

—×—

| | | |
|---|---|---|
| परिलेखा ( रचनाचित्राणि ) | ८४–चतुरशीतिः | }–११४ |
| चित्राणि ( रङ्गरूप्या रञ्जितानि ) | ३०–त्रिंशत् | |

—०—

अथ

खण्डचतुष्टयात्मक 'श्राद्धविज्ञान' ग्रन्थान्तर्गत

'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड की

## संक्षिप्त विषयसूची

—×—

तस्मिन्नेतस्मिन् प्रथमखण्डे निम्नलिखितप्रकरणविभागा द्रष्टव्याः—



— स एष ८ प्रकरणात्मकः प्रथमखण्डः —

—१—

तेष्वेतेषु ८ प्रकरणेषु निम्नलिखिताः परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः—

समाप्तञ्चेदं नवपरिच्छेदात्मकं—'किमपि प्रास्ताविकम्'

—१—

समाप्ता चेयं २३ परिच्छेदात्मिका—

'अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा (१)

—२—



समाप्ता चेयं ११ परिच्छेदात्मिका—

'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्'—द्वितीया (२)

—३—

समाप्ता चेयं १४ परिच्छेदात्मिका-

'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' पंचमी [५]

—६—

समाप्ता चेयं ८६ परिच्छेदात्मिका—

'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्'—षष्ठी

—७—

समाप्ता चेयं—'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

१

—*—

समाप्तश्चायं—श्राद्धविज्ञाने प्रथमखण्डः

१

—०—

सैषा संक्षिप्तविषयसूची समाप्ता

श्रीः

खण्डचतुष्टयात्मक-'श्राद्धविज्ञान' के-"आत्मविज्ञानोपनिषत्" नामक

प्रथमखण्ड में

प्रतिपादित कुछ एक वैज्ञानिक विषयों का दिग्दर्शन-( आदर्शात्मक )

## केवल 'प्रस्तावना' के वैज्ञानिक विषयों की सूची

——×——

### १-'किमपि प्रास्ताविकम्' नामक प्रथम प्रकरण के वैज्ञानिक विषय-पृ०सं० १से५८ पर्य्यन्त

उदाहरणधिया–उद्धृत–'प्रस्तावना'
मात्र के कतिपय वैज्ञानिक विषयों
का दिग्दर्शन समाप्त

अथ

# 'किमपि प्रास्ताविकम्'

'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक

प्रथमखण्ड की

# प्रस्तावना

श्रीः

श्राद्धविज्ञानोपनिषद्ग्रन्थान्तर्गत-

# 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक

# प्रथमखण्ड

१

पितॄन्नमस्ये निवसन्ति साक्षाद्ये देवलोके च तथान्तरीक्षे ॥
महीतले ये च सुरादिपूज्यास्ते मे प्रतीच्छन्तु मयोपनीतम् ॥१॥
पितॄन्नमस्ये परमात्मभूता ये वै विमाने निवसन्ति मूर्ताः ॥
यजन्ति यानस्तमलैर्मनोभिर्योगीश्वरा क्लेशविमुक्तिहेतून् ॥२॥
पितॄन्नमस्ये दिवि ये च मूर्ताः स्वधाभुजः काम्यफलाभिसन्धौ ॥
प्रदानशक्ताः सकलेप्सितानां विमुक्तिदा येऽनभिसंहितेषु ॥३॥

—श्रीमार्कण्डेयपुराणे

* ओंतत्सद्ब्रह्मणे नमः *

# श्राद्धविज्ञान

( आत्मविज्ञानोपनिषत् )

## प्रथम खण्ड

## किमपि प्रास्ताविकम्

मङ्गलपाठः—

१—नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥

—ऋक्सं० १०।११२।९

२—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

—तै० ब्रा० २।८।८।४

---

१—हे गणपते ! आप गणों में ( मरुद्गणों, तथा स्तोतृगणों में ) विराजिए, क्योंकि ( विद्वान्लोग ) आप ही को कवियों में श्रेष्ठतम मेधावी समझते हैं। अपिच बिना आपके ( अनुग्रह के ) लौकिक, अथवा वैदिक, कोई भी कर्म्म नहीं किया जा सकता ( इसलिए प्रत्येक कर्म के आरम्भ में आपका प्रथमस्मरण नितान्त अपेक्षित है )। हे महनीय गणपते ! "त्रिवृत् (६), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३)" इत्यादि विविध वाङ्मयस्तोमों से युक्त, अतएव विद्वानों की दृष्टि में आदरणीय जो हमारा यह वाङ्मयस्तोम ( श्राद्धविज्ञान ) है, उसे आप निर्विघ्न पूर्ण करने का अनुग्रह करें।

२—(१) "८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, २ अश्विनीकुमार" भेदभिन्न ३३ यज्ञिय आग्नेय देवदेवता, यथायावत् (२) सौम्यदेवता, (३) कर्म्मदेवता, (४) आत्मदेवता, (५) अभिमानी देवता, (६) पुरुषविध चेतन ( मनुष्य ) देवता, (७) मन्त्रदेवता, (८) चान्द्रदेवता, ये अष्टविध देवता एकमात्र वाक्तत्त्व को आधार बना कर

७—श्रद्धयाऽग्निः समिद्ध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि वचसा वेदयामसि॥

—ऋक् सं० १०।१५१।१।

८—श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥

—ऋक् सं० १०।१५१।४।

९—श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्य्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

—ऋक् सं० १०।१५१।५।

---

७—कालिकुलीन अपने देवयज्ञ-कर्म्म में श्रद्धा के द्वारा ही सौर-दिव्याग्नि का आकर्षण कर, इसके समावेश से इद्ध आहवनीयाग्नि का समिन्धन किया करते हैं, श्रद्धा से इस अग्नि में द्युलोकस्थ प्राणदेवताओं के लिए आहुति दी जाती है, ऐसी श्रद्धा का, जो कि ऐश्वर्य्य के शिरोभाग में ( ऐश्वर्य्यात्मक श्रीभाव की प्रतिष्ठारूप सूर्य्य के ऊर्ध्वभाग में सौम्य परमेष्ठी में ) प्रतिष्ठित है, मैं अपनी इस वाणी द्वारा ( इस श्रद्धामय-श्राद्धविज्ञानात्मक निबन्ध-रचनाकर्म्म में ) विस्तार कर रहा हूं।

८—यज्ञकर्त्ता यजमान ( मनुष्य ), तथा पार्थिव प्रवर्ग्यभाग से यजन करनेवाले दिव्यप्राणात्मक देवता वायु से ( वायुद्वारा प्रदत्त आहुतिद्रव्य से ) सुरक्षित रहते हुए ( अपनी इस रक्षा के लिए प्राणवाय्वात्मिका ) इस श्रद्धा की ही उपासना किया करते हैं। सम्पूर्ण प्राणी हृदयावच्छिन्न मन के सङ्कल्प से ( संकल्पसिद्धि के लिए ) इसी श्रद्धा की उपासना किया करते हैं। क्योंकि श्रद्धा से ही अभीष्ट-फलसिद्धि होती है, ( अतएव सब इसी श्रद्धा का अनुगमन करते हैं )।

९—त्रिषवणात्मक अपने कर्म्मस्वरूप सम्पादनानुगत अह-काल में ( प्रातः से सायं पर्य्यन्त ) हम प्रातःसवनात्मक प्रात-काल में भी इसी श्रद्धा की आराधना करते हैं, माध्यन्दिनसवनात्मक मध्याह्न में भी इसी श्रद्धा का अनुगमन करते हैं, एवं सायंसवनात्मक सूर्य्यास्तकाल में भी इसी का अनुगमन करते हैं। हे श्रद्धे! आप तत्तत् कर्म्मानुष्ठानों के प्रति हमें श्रद्धावान् बनाइए, ( यही उस श्रद्धा से हमारी विनम्र प्रार्थना है )।

१०—प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥

—ऋक् सं० १०।१५१।२।

११—श्रद्धा देवानधिवस्ते "श्रद्धाविश्वमिदं जगत्" ।
श्रद्धां कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि ॥

—तै० ब्रा० २।८।८।५।

१२–पितरो मा विश्वमिदं च भूतं पृश्निमातरो मरुतः स्वर्काः ।
ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रास्ते नो देवाः सुहवाः शर्म्म यच्छत ॥

—ऐ० आ० ५।१।१।

---

१०—हे श्रद्धे ! दान देनेवालों के लिए, तथा दान देने की इच्छा रखने वालों के लिए, दोनों के लिए आप अभीष्टफल प्रदान करें। हे श्रद्धे ! आप मेरा, मत्सम्बन्धी भोगार्थी बन्धुओं का, यज्ञकर्त्ता यजमानों का, सबका कल्याण करें ( आपसे यही हमारी विनम्र प्रार्थना है )।

११—उक्त लक्षण वह सौम्य श्रद्धातत्त्व अपने सोमात्मक आहुतिभाव से सदा आग्नेय प्राणात्मक यज्ञिय देवदेवताओं का अनुगामी बना रहता है ( श्रद्धाद्वारा ही देवप्राण की अध्यात्म में प्रतिष्ठा होती है )। अपने आपोमय पारमेष्ठ्य 'श्रत्' लक्षण सत्यरूप से लोकसृष्टि की प्रवर्त्तिका भी यही श्रद्धा है, एवं पञ्चाहुति-क्रम से लोकप्रतिष्ठ प्रजासृष्टि की मूलप्रभवा भी यही श्रद्धा है। अतएव यह सम्पूर्ण विश्व ( स्थावर सृष्टि ) भी श्रद्धामय है, एवं सम्पूर्ण जगत् ( जङ्गमलक्षणा प्राणिसृष्टि ) भी श्रद्धात्मक ही है। हृदयस्थ सौम्य मन में चान्द्रनाड़ी द्वारा प्रतिष्ठित होती हुई यही श्रद्धा मानस कामनाओं की जननी है। ऐसी सर्वहृया इस श्रद्धा को वाङ्मय इस (श्राद्धविज्ञानरूप) हवि प्रदान द्वारा मैं समृद्ध कर रहा हूं।

१२—अग्निष्वात्त-सोमसत्-बर्हिषत्-नामक अन्नपितर, आज्यपा-सोमपा-हविर्भुक्-नामक अन्नादपितर, तथा 'सुकाली' नाम के अनुभयपितर मेरी, तथा सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करें। सूर्यरश्मिगत पृश्नितत्त्व से उत्पन्न पितरप्राण-सहयोगी मरुद्देवता भलीभांति पूजनीय हैं, ( क्योंकि इन्हीं के द्वारा पितृकर्म्म सम्पन्न होता है )। साथ ही अग्निद्वारा आहुतिग्रहण करने वाले 'हुताद' देवता, तथा यजत्र 'अहुताद' देवता, दोनों स्वसहयोगी मरुद्गणों के साथ, एवं मरुद्गणावच्छिन्न सर्वविध पितरों के साथ प्रार्थना पूर्वक इस वाग्यज्ञ में बुलाए जाते हुए हमारे लिए लोकसम्पत्-अनामिलक्षण सुख प्रदान करें।

१३—ओष्ठापिधाना न कुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥
—ऐ० आ० ३।२।५।

श्रद्धा-संस्मरण—

जिस १'श्रद्धा' तत्त्व की आहुति से २'सोम' ३'वृष्टि' ४'अन्न' ५'रेतः' क्रम से पाचवीं आहुति में पुरुषसृष्टि का विकास हुआ है ६, जो 'श्रद्धा' तत्त्व अपने आपोमय रूप से सम्पूर्ण विश्व-तथा विश्वप्रजा का उपादान कारण है, जो 'श्रद्धा' तत्त्व त्रयीलक्षण सत्यमूर्त्ति प्रतिष्ठाब्रह्म के साथ युक्त हो कर सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा बना हुआ है, जिस 'श्रद्धा' तत्त्व की आहुति से दिव्यलोकस्थ प्राणदेवता अपने सम्व-त्सराग्नि को समिद्ध रखने में समर्थ हो रहे हैं, द्युलोकस्थ सूर्य्य-केन्द्र से भू-केन्द्र पर्य्यन्त वितत जिस 'श्रद्धा' सूत्र के द्वारा द्युलोकस्थ प्राणदेवता, तथा द्युलोकस्थ ( 'त्रयी' नामक द्युलोक में प्रतिष्ठित ) पितर भूलोकस्थ यजमानों से प्रदत्त स्व-स्व आहुतिद्रव्य प्राप्त करने में समर्थ बन रहे हैं, जिस 'श्रद्धा' तत्त्व के आधार पर अग्नीषोमात्मक पाञ्चमहाभौतिक विश्व का स्वरूपसम्पादक आधिदैविक ( प्राकृतिक ) अग्नीषोमीय अग्निहोत्र प्रतिष्ठित है, जिस 'श्रद्धा' तत्त्व की अपनी स्वरूपरक्षा के लिए वायु से सुरक्षित ( वायुमय-प्राणमय ) देवता निरन्तर उपासना किया करते हैं, जो 'श्रद्धा' हृदयस्थ मन में प्रतिष्ठित होती हुई सर्वविध कामनाओं की जननी बन रही है—जो 'श्रद्धा' अपने 'ऋत' लक्षण सत्यधर्म्म से सत्यभाव की मूलप्रतिष्ठा बन रही है, जो 'श्रद्धा' सूत्र अवरपुरुषों के शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा के द्वारा चन्द्रोर्ध्वभाग में प्रतिष्ठित प्रेत-परपुरुषों के महानात्माओं को तृप्त कर पिण्डदान द्वारा 'श्राद्धकर्म्म' की मूलप्रतिष्ठा बन रहा है, जिस 'श्रद्धा' तत्त्व के-संस्काराभाव-अशिक्षा-कुशिक्षा-परशिक्षा-निषिद्धकर्म्मानु-

---

१३—कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य-यक्ष-राक्षस-गन्धर्व-पिशाच इन्द्र पितर ब्रह्मा-प्रजापति, आदि यथयावत् ( चतुर्दशविध ) भूतसर्गों के वाङ्मय प्रपञ्च की अधिष्ठात्री ( 'पितरो वाक्यमिच्छन्ति' के अनुसार पितृप्राणाकर्षिणी ), वस्त्राच्छादन की भांति ओष्ठद्वय से सुरक्षित, छिद्ररहित-अतएव वज्रसदृश दृढ दन्तपङ्क्ति से घिरी हुई यह वाग्देवी इस वाग्यज्ञ ( श्राद्धविज्ञान-निबन्ध ) में मुख से प्रिय-हित-मित-सत्य-वाणी का प्रयोग करावे ।

६—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" —छा० उप० ५।९।१।

गमन-इत्यादि कारणों से-अभिभूत हो जाने के कारण मानववर्ग सत्यधर्म से विमुख से हो जाता है,—

वैदिक विज्ञान के अस्तप्राय हो जाने से, कुछ एक शताब्दियों से पुष्पित-पल्लवित होने वाले वर्णाश्रमधर्मविरोधी 'सन्तमत' के आक्रमण से, आर्षधर्मविलुप्ति से, व्याजधर्मानुगामी अर्वाचीन वेदभक्तों की काल्पनिक वेदव्याख्याओं से, परराजतन्त्रानुगता आर्षसंस्कृतिविरोधिनी परशिक्षा के प्रबल आक्रमण से, सर्वोपरि अचिन्त्याप्रमेय कालपुरुष की महिमा के अनुग्रह से श्रद्धानुगत श्राद्धतत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ, 'श्राद्धेतिकर्त्तव्यता' से एकान्ततः पराङ्मुख, भ्रान्त भारतीयों के मानसक्षेत्र में श्राद्धसूत्र प्रतिष्ठित करने के लिए 'श्राद्धविज्ञान निबन्ध' के आरम्भ में उसी विश्वरूपा 'श्रद्धादेवी' का संस्मरण करते हुए 'श्राद्धविज्ञान' आरम्भ किया जाता है।

ब्राह्म-अहोरात्र की एकोत्तरसप्तति (७१) चतुर्युगी में से प्रक्रान्त अष्टाविंशतितमा (२८ वीं) चतुर्युगी के सत्ययुग आरम्भ काल से कलियुग के आज के भोग्यकाल से लगभग ६०-७० वर्ष पहले तक भारतीय आस्तिक आर्षप्रजा का 'श्राद्धकर्म' के सम्बन्ध में जो श्रद्धा-विश्वास था, दुर्भाग्य से इन अतीत ६०-७० वर्षों से किसी एक आकस्मिक कलियालाहित झञ्झावात से वह शिथिल हो गया। फलतः 'देवकार्य्याद् द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते' के अनुसार अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमासादि लक्षण देवकार्य्य से भी कहीं विशेष महत्त्व रखनेवाला पिण्डपितृयज्ञात्मक पितृकार्य्य परप्रत्ययनेय कतिपय महाशयों की दृष्टि में अश्रद्धेय बन गया, जिसका दुष्परिणाम सङ्ग-दोष से आस्तिक-श्रद्धालु प्रजावर्ग को भी भोगना पड़ रहा है। आर्षप्रजा का श्राद्धकर्म की इतिकर्त्तव्यता के सम्बन्ध में शास्त्राभिमत जो चिरन्तन श्रद्धा-विश्वास है, उसका निम्न लिखित शब्दों में अभिनय किया जा सकता है—

आर्षप्रजाभिमत श्राद्धकर्म—

"स्थूलशरीर परित्यागानन्तर आतिवाहिक-अङ्गुष्ठमात्र-सूक्ष्मशरीर धारण कर—'ये वै केचास्माल्लोकात्प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषीतकि० उप० १।२।२) इत्यादि कौषीतकि-सिद्धान्तानुसार प्रेत संज्ञक 'प्रत्यगात्मा' (भोक्तात्मा) कर्म्मफल भोगने से पहले एक बार चान्द्रसम्वत्सरानुगत १३ महीनों में चन्द्रलोक में पहुंचता है। इसके साथ साथ ही आकृति-प्रकृति-अहंकृतिभाव-त्रयी का अधिष्ठाता, सत्त्व-रज-स्तमोगुणक, चतुरशीति (८४) कल ऋण-धनात्मक पितृ्य-सह पिण्डों से नित्ययुक्त, शुक्रप्रतिष्ठ, 'पितर' संज्ञक 'महानात्मा' भी स्वप्रभव चन्द्रलोक के ऊर्ध्व भाग में उसी एक चान्द्रसम्वत्सर में प्रतिष्ठित हो जाता है।

उत्तरायणानुगता स्वर्गलोकगति, तथा दक्षिणायनानुगता नरकलोकगति, दोनों आत्मगतियों के विभाजक, अतएव 'एतद्वै लोकस्य द्वारं, यच्चन्द्रमाः' ( कौ० उप० १।२।३ ) इस श्रुति के अनुसार 'द्वार' ( उभयलोकद्वार ) नाम से प्रसिद्ध चन्द्रमा में जब प्रत्यगात्मा, तथा महानात्मा, दोनों प्रेतात्मा पहुंच जाते हैं, तो अनन्तर महानात्मा तो स्वप्रतिष्ठालक्षण विधूर्ध्व भाग में हीं प्रतिष्ठित रह जाता है, एवं कर्म्मभोक्ता प्रत्यगात्मा शुभाशुभ-कर्म्मफल भोगार्थ शुभाशुभ उत्तर-दक्षिण-मार्गों में से किसी एक मार्ग को स्वगति का निमित्त बनाता हुआ 'देही कर्म्मगतिं गतः' के अनुसार लोकान्तरानुगामी बन जाता है।

परलोकात्मक चन्द्रलोक में प्रतिष्ठित पिता-पितामह-प्रपितामहादि के महानात्मा ही 'प्रेत-पितर' कहलाए हैं। इन्हें हीं 'मृतपितर' कहा गया है। इन मृतपितरों के लिये, दूसरे शब्दों में परलोकगत प्रेतसंज्ञक स्ववंशजों के लिये श्रद्धापूर्वक पिण्डदान करना ही श्राद्धकर्म्म है। इस सम्बन्ध में आर्यप्रजा का यह दृढ़ विश्वास है कि, शास्त्रोक्त पद्धति से पुत्र-पौत्रादि वंशजों के द्वारा प्रदत्त पिण्ड-रस इन्द्रियातीत श्रद्धा-सूत्र द्वारा परलोकस्थ पितृ-पितामह-प्रपितामहादि की तृप्ति का कारण बनता है। प्रदत्त पिण्डरस ( प्राणात्मकरस ) से सबल बनता हुआ प्रेतात्मा पार्थिवाकर्षणजनित दुःख से युक्त अपनी 'अश्रुमुखा'वस्था को छोड़ता हुआ सुखपूर्वक चन्द्रलोक में पहुँच कर सापिण्ड्यभाव को प्राप्त हो जाता है। 'गजच्छाया' से सम्बन्ध रखनेवाले कन्यागत-महालय-श्राद्धपक्ष में तत्तत् प्रेतपितरों की तत्तन्निधन-तिथियों में पुत्रादि द्वारा सम्पादित पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म्म से तत्तत् प्रेतपितर प्रतिवर्ष तृप्त हुआ करते हैं। श्राद्धान्न से तृप्त पितर श्रद्धासूत्र द्वारा भूपिण्डस्थ स्व-पुत्रादि के शुक्रस्थ पित्र्यसहः-पिण्डात्मक महानात्मा में जीवनीय-सन्ततिवितानात्मक-पित्र्यरस का आधान करते रहते हैं। इस आहित रस से प्रजातन्तुवितान अक्षुण्ण बना रहता है, फलतः वंशोच्छेद का अवसर नहीं आने पाता। जो अभिनिविष्ट परलोक जाते हुए, तथा परलोक में पहुंचे हुए प्रेतपितरों के निमित्त पिण्डदानादि-लक्षण श्राद्धकर्म्म नहीं करते, उनके प्रेतपितरों के पित्र्यसहः-पिण्ड क्षीण हो जाते हैं। उनके क्षीण हो जाने से तदभिन्न तत्पुत्रादि के शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा के पित्र्यसह-पिण्ड क्षीण हो जाते हैं, शुक्र निर्बल हो जाता है। यही पिण्डक्षय इनके वंशोच्छेद का एक अन्यतम कारण बनता है। इस वंशोच्छित्ति के साथ साथ बुभुक्षित पितरों के अभिशाप से ये लोक-समृद्धि से भी वञ्चित रहते हैं। अतएव आवश्यक है कि, प्रजातन्तुवितान के लिये, तथा प्रेतात्मा को तृप्त कर उस तृप्ति के द्वारा उभयविध सौख्य प्राप्ति के लिये प्रत्येक श्रद्धालु श्रद्धा-नुसार परिग्रहों का संग्रह कर यथाविधि पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म्म का अनुगमन करता

रहे। पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म्म के इन्हीं अतिशयों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—

१—स्वर्ग-ह्यपत्य-मोजश्च-शौर्य्यं-क्षेत्रं-बलं तथा।
पुत्रं-श्रैष्ठ्यं च-सौभाग्यं-समृद्धि-मुख्यतां शुभाम् ॥
२—प्रवृत्तचक्रतां चैव वाणिज्यप्रभृतीनपि।
अरोगित्वं यशो वीतशोकतां परमां गतिम् ॥
३—धनं वेदान् भिषक्सिद्धिं कुप्यं गा अप्यजाविकम्।
अश्वानायुश्च विधिवद्यः श्राद्धं सम्प्रयच्छति ॥
४—कृत्तिकादि-भरण्यन्तं स कामानाप्नुयादिमान्।
आस्तिकः श्रद्दधानश्च व्यपेतमदमत्सरः ॥
५—वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः ॥
६—आयुः, प्रजां, धनं, विद्यां, स्वर्गं, मोक्षं, सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥

—याज्ञवल्क्यस्मृतिः आ० धा० १०।

"गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः" इस लोकसूक्ति से सम्बन्ध रखने वाली प्रचलित परिपाटी के अनुसार ग्रन्थारम्भ करने से पहिले उसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में भी कुछ निवेदन कर देना आवश्यक हो जाता है। इसी आवश्यकता का अनुभव करते हुए हमें इस सम्बन्ध में नाप्राप्त अप्रिय सत्य को लक्ष्य बनाते हुए निबन्ध रचना-कारणत्रयी का स्पष्टीकरण करना पड़ रहा है। उन तीनों कारणों में से प्रथम कारण की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

निबन्ध की आवश्यकता, तथा तत्सम्बन्ध में प्रथम कारण निदर्शन—

श्राद्धकर्म्म के आर्षप्रजाभिमत स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्व में जो कुछ कहा गया है, धार्म्मिक जगत् सदा से उसी वक्तव्य का अनुगमन करता आ रहा है। पिण्डदानादि-लक्षण श्राद्धकर्म्म की वैदिकता में उसे कभी सन्देह नहीं हुआ। परन्तु विगत अर्द्धशताब्दी से इस आवश्यकतम वैदिक कर्म्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के ऊहापोह होने लगे हैं। यों तो ऐसे ऐसे परोक्ष

विषयों के सम्बन्ध में साधारण-अज्ञजनों को सदा से ही व्यामोह होता चला आ रहा है, फलस्वरूप भारतीय आर्षधर्म्मानुगता ( सनातनधर्म्मानुगता ) आर्षप्रजा को सदा से ही सामयिक धर्म्मविप्लवों का सामना करना पड़ता आ रहा है। तथापि वर्त्तमान शताब्दी का धर्म्मविप्लव अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। साथ ही विगत शताब्दियों में परमतवादियों के धर्म्म पर जितनें भी आक्रमण हुए हैं, उन सब की अपेक्षा आज का आक्रमण अपेक्षाकृत कहीं अधिक भयावह बन रहा है। कारण यही है कि, आज तक इस मानवधर्म्म पर केवल बाह्य आक्रमण हुआ था, दूसरे शब्दों में अब तक सनातनधर्म्म को विधर्म्मियों का ही सामना करना पड़ा था, परन्तु दुर्भाग्य से आज उसे स्वधर्म्मानुयायियों के ही आक्रमण का लक्ष्य बनना पड़ रहा है, एवं इसी दृष्टि से यह आक्रमण अतीत आक्रमणों की तुलना में कहीं ज्येष्ठ बन रहा है। इस धार्म्मिक विप्लव के जहां अन्यान्य कई एक सामान्य कारण हैं, वहां यदि हम भूल नहीं कर रहे, तो सर्वश्री **स्वामी दयानन्दजी** ही एक मुख्य कारण मानें जा सकते हैं। '**अनृतसंहिता वै मनुष्याः**' ( शत० १।१।१।१। ) इस श्रौत-सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जन्मतः अनृतसंहित होते हैं, स्वप्रभव ऋत के अनुग्रह से भ्रान्ति हो जाना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म्म है। अतीतानागतज्ञ, विदितवेदितव्य, साक्षात्कृतधर्म्मा महर्षियों की दिव्य दृष्टि जहां सर्वथा निर्भ्रान्त होती है, वहां केवल बाह्यदृष्टि के अनुगामी सामान्य मनुष्य इन्द्रियातीत विषयों के सम्बन्ध में केवल अपनी बाह्यदृष्टि के आधार पर 'इदमित्थमेव' निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ हैं। यदि वे स्वकल्पना के आधार पर इन परोक्ष विषयों के सम्बन्ध में हठात् कुछ निर्णय करने की अनधिकार चेष्टा करने लगते हैं, तो उन की यह चेष्टा आर्षप्रजा की दृष्टि में सर्वथा भ्रान्त, अतएव अप्रामाणिक ही उद्‌घोषित होती है। तत्त्वतः स्वामीजी मनुष्य थे, उनके पास ऋषिदृष्टि का आत्यन्तिक अभाव था। अतएव अपनी विशुद्ध बाह्यदृष्टि के आधार पर उन्होंने बाह्यजगत से सम्बन्ध रखने वाली सामाजिक त्रुटियों के प्रति जहां हिन्दू-जाति का उपकाराभास किया, वहां अपने मानव सुलभ अनार्ष अनृतभाव के कारण वेदशास्त्रसिद्ध धार्म्मिक-श्रौतकर्त्तव्यताओं के ( वेदसिद्ध प्रतिमापूजन, अवतारवाद, श्राद्ध, षोडशसंस्कार, आदि के ) सम्बन्ध में स्वयं वेदशास्त्र को ही आधार बना कर अपनी विशुद्ध-अनार्ष-अनृतभावापन्ना-कल्पना के आधार पर कुछ एक ऐसी भयङ्कर भूलें कर डाली हैं, जिनके प्रभाव से क्रियात्मक सनातनधर्म्म का एक प्रकार से गला घुट गया है। यह कौन जानता था कि, प्राच्य आर्षधर्म्म, आर्षसंस्कृति, आर्षसभ्यता, आदि प्राच्यविभूतियों के अन्तःप्रकाश को अपने चाकचिक्य युक्त बाह्यप्रकाश से अभिभूत करने वाले पाश्चात्यशिक्षात्मक सौभाग्यसूर्य्य को पूर्णरूपेण विकसित होने के लिए एक भारतीय वेदभक्त

ब्राह्मण के ही द्वारा इस प्रकार का सुपरिष्कृत धरातल उपलब्ध हो जायगा। आत्मपरमात्मसत्ता-ज्ञान से वञ्चित, प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले वेदविरोधी चार्वाक लोग अज्ञानतावश—

"मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पना॥"[1]

इत्यादि जिन कुतर्कमूलक कारणाभासों को सामने रखते हुए 'पिण्डदानादिलक्षण' श्राद्धकर्म्म का उपहास किया करते हैं, स्वामीजी ने उसी चार्वाकमूलक नास्तिकवाद जैसे जघन्यवाद का पोषण करते हुए मृतपितृनिमित्तक पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म्म का खण्डन करने का दुस्साहस किया है। चार्वाकमत की समालोचना करते हुए, उक्त श्लोक को चार्वाक मत मे उद्धृत करते हुए, चार्वाक के इस कथन की पुष्टि करते हुए उत्तरपक्ष मे आगे जाकर स्वामीजी कहते हैं— **'ब्राह्मणों ने प्रेतकर्म्म अपनी जीविकार्थ बना लिया है, परन्तु वेदोक्त न होने से खण्डनीय है'** (देखिये—सत्यार्थप्रकाश, १२ स० । चा० मतमीमांसा, २१ वां संस्करण, २६४ पृ०, ८ वीं पंक्ति)।

इसी प्रकार आर्षसभ्यता के अनन्य पक्षपाती, अनुद्वेगकरी ऋषिभाषा के अपने आप को पृष्ठपोषक मानने वाले, किन्तु उसी चार्वाकमतमीमांसा मे सुप्रसिद्ध वेदव्याख्याता श्रद्धेय महीधरादि वेदभाष्यकारों के प्रति—**'हां भांड धूर्त निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं, उनकी धूर्तता है, वेदों की नहीं'** (सत्या० २६४ पृ०।१०, ११ पंक्तियां) इस प्रकार की अशिष्ट-असभ्य-भाषा का प्रयोग करते हुए शिष्टतम उन्हीं स्वामीजी ने अपने विश्वविख्यात **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** नामक ग्रन्थराज मे पञ्चमहायज्ञान्तर्गत पितृयज्ञ का निरूपण करते हुए अपने निम्न लिखित वेदशास्त्रसम्मत,—हा विशुद्ध वेदशास्त्रसम्मत ?—उद्गार प्रकट किए हैं—

"तस्य (पितृयज्ञस्य) द्वौ भेदौस्तः-एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयो श्राद्धाख्यश्च। तत्र येन कर्म्मणा विदुषो देवान् पितॄंश्च तर्पयन्ति, सुखयन्ति, तत्तर्पणम्। तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते, तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। तत्र विद्वत्सु

---

[1]—मरे हुए प्राणियों की तृप्ति का साधन यदि श्राद्ध (श्राद्धकर्म्म में मृतपितरों के लिए प्रदत्त पिण्डादिरूप श्राद्धान्न) है, तो विदेशयात्रा करने वाले जीवित प्राणियों के लिए पाथेय (मार्ग के भोजन) की कल्पना व्यर्थ है। फिर तो जिस द्वार से परलोकगत मृतप्राणियों को भोजन पहुंचा दिया जाता है, उसी द्वार से विदेशस्थ प्राणियों को भी तृप्त किया जा सकता है।

विद्यमानेष्वेतत् कर्म्म संघट्यते, नैव मृतकेषु। कुतः। तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्। तदर्थकृतकर्म्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थापत्तेश्च। तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत् कर्म्मोपदिश्यते। सेव्यसेवकसंनिकर्षात् सर्वमेतत् कर्त्तुं शक्यते"[1] (ऋ॰ भा॰ भू॰ पितृयज्ञविषय)।

उक्त निदर्शन से प्रकृत में बतलाना यही है कि, जन्मानुगता जाति के अनुग्राहक परम्परा-प्राप्त शुभसंस्कारों की कृपा से 'श्राद्ध' शब्द से तो स्वामीजी को प्रेम अवश्य है। परन्तु वेद-तत्त्वानभिज्ञतानुगत स्वाभाविक अनृतसंस्कार के अनुग्रह से श्रुति-स्मृतिशास्त्रसम्मता पिण्ड-दानादि-लक्षण मृत-प्रेतात्मानुगता चिरकाल से चली आने वाली श्राद्धेतिकर्त्तव्यता से आप सहमत नहीं हैं। एवं इस अपनी अमान्यता की मान्यता के सम्बन्ध में मुख्य कारण आप यह बतला रहे हैं कि "वेदशास्त्र में श्राद्ध का विधान नहीं है"। शास्त्राभिमत तर्क (सु) से सम्बन्ध रखने वाले वाद का अनुगमन 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' के अनुसार जहां तत्त्व-निर्णायक माना गया है, वहां शास्त्रविरुद्ध तर्क (कु) से सम्बन्ध रखने वाला वाद दूर से ही प्रणम्य है। अतएव ऐसे खण्डन-मण्डनात्मक वाद से हमारे अन्तर्जगत् का कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रतिपाद्य-विषय का युक्ति, तर्क, विज्ञान, सर्वोपरि आप्तप्रमाण के आधार पर प्रति-पादन कर देना ही हमारे कर्त्तव्य की कृतकृत्यता है। ऐसी दशा में स्वामीजी के श्राद्धकर्म्म-विषयक अशास्त्रीय कल्पित सिद्धान्ताभास का इस विज्ञानप्रधान-शास्त्रीय निबन्ध में उल्लेख करना यद्यपि सर्वथा असामयिक, साथ ही कुछ एक अभिनिविष्ट सन्मित्रों के लिए उद्वेगकर था, तथापि किसी कारण-विशेष से ही हमें इस निबन्ध-रचना-कारण-निदर्शन में ऐसे अप्रिय

---

१-"इस पितृयज्ञ के तर्पण, और श्राद्ध, नामक दो भेद हैं। जिस कर्म्म से (मनुष्य) विद्वानों, देवताओं, ऋषियों, तथा पितरों को तृप्त करते हैं, उन्हें सुख पहुंचाते हैं, वह सुख कर्म्म तर्पण है। एवं जिस कर्म्म से श्रद्धापूर्वक इनकी सेवा की जाती है, उसे श्राद्धकर्म्म समझना चाहिए। यह कर्म्म जीवित पितर आदि के सम्बन्ध में ही उपयुक्त है, मरे हुओं के लिए नहीं। कारण। मृत पितर जब हैं ही नहीं, तो उनकी सेवा करना उनके लिए किए गए कर्म्म की उनके न रहने से व्यर्थता भी है। इसलिए श्राद्ध, तर्पण का उपदेश विद्यमान (जीवित) पितरों के लिए ही हुआ है। इस स्थिति में सेवक, और सेव्य (स्वामी) के सामने रहने से (विद्यमान रहने से) सेवादि सब कर्म चरितार्थ हो जाते हैं।"

सत्य का आश्रय लेना पड़ा है। वेदशास्त्रसम्मत आर्षधर्म्म से विरोध रखने वाले चार्वाकादि नास्तिक ही यदि पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म्म के विरोधी होते, तो कोई हानि न थी। क्योंकि उन की सहजसिद्धा आसुरी बुद्धि सदा से ही शाश्वत देवासुरसंग्राम की भांति दिव्य कर्म्मों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करती आई है। हानि की क्या कथा, उस परिस्थिति में तो 'श्राद्धविज्ञान' का रचनाप्रयास भी अनावश्यक था। परन्तु जब हम अपने ही समाज में, अपनी ही जाति में श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में विरोध पाते हैं, दूसरे शब्दों में एक ही वेदशास्त्र को प्रमाणाधार मानने वाला धार्मिक जगत् ही जब श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में अपना विभिन्न दृष्टिकोण रखता है, तो उस परिस्थिति में-'एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहि ज्ञानं संशयः'[1] इस लौकिक न्याय के अनुसार साधारण तटस्थ जिज्ञासु मनुष्य सन्देह में पड़ जाते हैं।

अपने आपको 'सनातनधर्म्मावलम्बी' कहने वाले आर्ष-महानुभाव भी श्राद्धकर्म्म को वैदिक कर्म्म मान रहे हैं, एवं तदनुसार अनुगमन कर रहे हैं। उधर अपने आप को 'आर्यसमाजी' उद्‌घोषित करने वाले महाशय-गण भी श्राद्ध की वैदिकता में यथाकथञ्चित् निष्ठा रख रहे हैं। मानते दोनों हैं, परन्तु इस मान्यता के प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न भिन्न हैं। एक (स०) कहते हैं—'मृतपितरों के लिए पुत्रादि का श्राद्धसूत्र द्वारा पिण्डप्रदान करना श्राद्ध है'। दूसरे (आ०) कह रहे हैं—'जीवित पितरों को अन्न-वस्त्रादि से श्रद्धापूर्वक तृप्त करना ही श्राद्ध है'। निर्विवाद है कि, इस मतविरोध ने, किंवा धर्म्म (सनातनधर्म्म), तथा मत (आर्यमत) की प्रतिस्पर्द्धा ने आज जनसाधारण को संशयास्पद बना रक्खा है। इस 'गृहकलह,' किंवा दो ग्रहों के पारस्परिक 'ग्रहकलह' को शान्त करने के लिए ही इस निबन्ध की आवश्यकता समझी गई है।

हमारा यह विश्वास ही नहीं, अपितु दृढ़ निश्चय है कि, यदि पाठकों ने दोषदृष्टि से भी एकबार 'श्राद्धविज्ञान-निबन्ध' को आद्योपान्त देखने का कष्ट उठाया, तो उनके श्राद्ध-कर्म्म सम्बन्धी सम्पूर्ण सन्देह दूर हो जायँगे। अज्ञानता ही मतभेद की जननी है, मतभेद ही सामाजिक संघठन का विच्छेदक है, समाजविच्छेद ही राष्ट्रीय निर्बलता का प्रवर्त्तक है, एवं निर्बल राष्ट्र ही सर्वस्वविघातिका परतन्त्रता के पाश में बद्ध होता है, जिस का प्रत्यक्ष निदर्शन

---

१ "एक ही धर्म्म, किंवा धर्म्मी में स्थाणु, तथा पुरुषलक्षण अनेक विरुद्ध ज्ञानों का जब उदय हो जाता है, तो ऐसी दशा में-'स्थाणुर्वा, पुरुषो वा' इत्याकारक सन्देह उत्पन्न हो जाता है"।

आज का परतन्त्र भारतवर्ष है। 'हम ज्ञानबल के अनुग्रह से निष्पक्षपात बनते हुए यथार्थस्थिति पर पहुंच कर परस्पर का विरोध छोड़ दें, विरोध-परिहार द्वारा अपने असंघटित समाज को सुसंघठित बनाते हुए स्वतन्त्राह्वान करने के अधिकारी बनें' श्राद्धविज्ञान-रचना की कारणत्रयी में यही प्रथम कारण-निदर्शन है।

पाञ्चभौतिक विश्व में जितने भी जङ्गम प्राणी हैं, उन सब में 'मनुष्य' प्राणी का स्थान सर्वोच्च माना गया है। इस सर्वोच्चता का एकमात्र कारण यही है कि, अन्य जङ्गम-प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में ज्ञानशक्ति विशेष मात्रा से विकसित रहती है। इसी ज्ञानशक्ति के प्रभाव से अपने से कहीं अधिक बल-वीर्य्य-शाली सिंहादि हिंसक प्राणियों पर भी यह अपने ज्ञानानुगत पराक्रम से अपना प्रभुत्व जमा लेता है। किंबहुना, स्वज्ञानबल से ही इसने विश्व की समस्त चर-अचर विभूति को अपना भोग्य बना रक्खा है। ज्ञानशक्ति ही पुरुष का पुरुषत्व है, ज्ञानविहीन पुरुष पुच्छविषाणहीन पशु है। जिस प्रकार सप्तवितस्ति-कायात्मक, वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति ईशप्रजापति अपने ज्ञानबल से सम्पूर्ण विश्व का भोक्ता बन रहा है, एवमेव ईश्वरसंस्था में भुक्त यच्चयावत् ईश्वरांशों का प्रवर्ग्यरूप से अपनी अध्यात्मसंस्था में संग्रह करता हुआ—'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' ( शत० १ कां०४ अ०१ कं०। ) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति के अनुसार प्रजापति के समकक्ष बन कर यह पुरुष सर्वत्र स्वसत्ता को व्याप्त किए हुए है।

द्वितीय कारण निदर्शन—

यद्यपि सृष्टि-विधानानुसार पुरुष में जन्म से ही इतर प्राणियों की अपेक्षा ज्ञानशक्ति का आधिक्य रहता है, तथापि इसके पूर्ण विकास के लिए शिक्षाशास्त्र का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। ऊर्ध्व-प्ररोहित होने की जन्मतः शक्ति रखते हुए भी वृक्षादि जैसे जलसिञ्चन के बिना विकसित नहीं हो सकते, एवमेव बिना बाह्यशिक्षा के जन्मतः प्रतिष्ठित भी ज्ञानशक्ति का विकास असम्भव है। अशिक्षित मनुष्य की ज्ञानशक्ति मुकुलित रहती है, मेघाच्छन्न सूर्य्यवत् उसकी स्वज्ञानरश्मियों का प्रसार अवरुद्ध रहता है। जो दशा एक पशु की है, वही दशा एक यथाजात अशिक्षित मनुष्य की है। कर्त्तव्यविवेकशून्य ऐसे मनुष्य की दृष्टि किसी पूर्ण ( वास्तविक ) तत्त्व की ओर न जा कर शून्य ( निरर्थक ) भावों की ओर ही मुहुर्मुहुः आकर्षित होती रहती है, अतएव ( मुहुर्मुहुरनुगता शून्यसमतुलिता यत्र' दृष्टि से ) ऐसा अशिक्षित यथाजात 'मूर्ख' कहलाता है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना आवश्यक होगा कि, मनुष्य जैसी शिक्षा का आश्रय लेता है, उसका हृदयावच्छिन्न मन, एवं तत्प्रतिष्ठिता बुद्धि, दोनों का विकास तदनुरूप ही होता है।

शिक्षा मनुष्य के हृद्य जगत् का निर्म्माण करनेवाला एक अव्यर्थ-यन्त्र है। भारतवर्ष ने अपनी आर्यसभ्यता-संस्कृति-साहित्य-के विकासकाल से आरम्भ कर अद्यावधि अनेक आक्रमणों का सामना किया। उदाहरण के लिये वेदविरोधी-बौद्धमत को ही लीजिये। शताब्दियों तक बौद्धसंस्कृति की छत्रच्छाया में रहता हुआ भी भारतवर्ष अपनी वैदिक-संस्कृति से पराङ्मुख न हुआ। इसका एकमात्र कारण था 'शिक्षायन्त्र पर उसका अपना आधिपत्य'। यही कारण था कि, बौद्धमत में दीक्षित 'देवानांप्रिय' प्रियदर्शी सम्राट् अशोक की राजसभा में जो सम्मान बौद्धभिक्षुओं को प्राप्त था, वही सम्मान आर्यधर्म्मानुयायी ब्राह्मणों को प्राप्त हुआ। अपने प्रबल तर्कवाद से नास्तिकों के युक्तिवाद का समूल विनाश कर विलुप्तप्राय आर्यधर्म्म को पुनः स्थापित करनेवाले भगवान् शङ्कराचार्य, प्रातःस्मरणीय कुमारिलभट्ट, श्रद्धेय मण्डनमिश्र, जगदीश्वर के प्रति—

'ऐश्वर्य्यमदमत्तो हि मामवज्ञाय वर्त्तसे। [1]
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥'

इस प्रकार की गर्वोक्ति का प्रयोग करनेवाले, अपने सुप्रसिद्ध 'कुसुमाञ्जलि' ग्रन्थ द्वारा ईश्वर-सत्ता के संस्थापक, तर्कशास्त्रपारङ्गत सर्वश्रीउदयनाचार्य, आदि कई एक महापुरुषों को उसी परम्परासिद्ध-स्वशिक्षा-सन्तान के बल पर तत्कालीन भारतवर्ष ने जन्म दिया। आगे जाकर दुर्भाग्य से इस आर्यसंस्कृति को यवनमत का सामना करना पड़ा। यह आक्रमण बौद्ध आक्रमण से कहीं भयङ्कर सिद्ध हुआ। कला के अन्यतम शत्रु नरराक्षसों ने कला को विध्वस्त किया, देवप्रतिमाएं तोड़ीं गईं, देश का मौलिक साहित्य अग्निज्वाला को समृद्ध करने में

---

१ ऐसी किंवदन्ती है कि, एक बार उदयनाचार्य श्रीजगदीश के दर्शनार्थ पधारे। उनकी यह प्रबल इच्छा थी कि, जगदीशविग्रह ( मूर्ति ) उन्हें साक्षात्रूप से दर्शनों का सौभाग्य प्रदान करे। अनेक बार मानसिक प्रार्थना करने पर भी जब उन्हें साक्षात् दर्शन न हुए, तो अन्त में आवेश के कारण उनके मुख से निकल पड़ा कि—"हे जगदीश। आज तू अपने ऐश्वर्य के मद में पड़ कर मेरा तिरस्कार ( उपेक्षा ) कर रहा है। परन्तु तुझे यह नहीं भूल देना चाहिए कि, जब बौद्धलोग तेरी सत्ता ( ईश्वर सत्ता ) उखाड़ने के लिए सामने आते हैं, तो उस समय तेरी सत्ता मेरे अधीन रहती है'। अर्थात् मैं न रहूं, तो संसार तुझे मानना छोड़ दे। सुनते हैं-भक्त की इस शुद्धहृदय से निकलने वाली भक्तिपूर्ण अन्तर्वेदना के बल से भगवत्प्रतिमा ने साक्षात्रूप से उदयनाचार्य को दर्शन दिए।

सहायक बनाया गया, आर्य्यललनाओं का सतीत्व छीना गया, अबोध बच्चे जीवितदशा में ही दीवारों में चुना दिए गए।· यह सभी कुछ अकाण्ड ताण्डव हुआ, परन्तु सौभाग्य से इस युग में भी आततायियों की दृष्टि से हमारा शिक्षायन्त्र यथाकथञ्चित् बचा-रह गया। फलतः इस युग में भी हमारी मौलिक सभ्यता इस आक्रमण को सहने में सर्वात्मना समर्थ हो गई। प्रतिभासम्पन्न कवियों के अतिरिक्त वर्णाश्रमधर्म्मात्मक आर्षधर्म्म के अनन्य समर्थक महात्मा तुलसीदास, भक्तप्रवर सूरदास, सर्वश्री सन्त तुकाराम, समर्थ रामदासस्वामी, श्रीज्ञानेश्वर महाराज, सूक्तिवर कबीर, आदि महापुरुषों ने उसी भयावह युग में उसी शिक्षानुग्रह से इस देश को अलंकृत किया। स्वनामधन्य हम्मीर, प्रताप, छत्रसाल, शिवाजी, गुरुगोविन्दसिंह, आदि क्षत्रियवीरों ने अपनी इसी आर्षशिक्षा के बल से यवनों की प्रबलशक्ति को छिन्न भिन्न किया, और इस प्रकार 'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः' आदर्श की अनुगामिनी आर्षप्रजा ने इस भवबन्धन से पुनः मुक्तिलाभ प्राप्त कर लिया। परन्तु ·······।

इस 'परन्तु' का अतीत इतिहास सभी इतिहासों की सीमा का अतिक्रमण करने वाला सिद्ध हुआ। कहने के लिए यवनाक्रमणजनित भय से हमारा त्राण करने वाले, अतएव हमारे परम हितैषी पाश्चात्य महानुभावों की किसी शुभ मुहूर्त्त में भारतवसुन्धरा के वक्षस्थल पर पादप्रतिष्ठा हुई। जिस प्रकार सभगोलकयोग से, किंवा ऐन्द्रविद्युत् के आघात से समस्त भूपिण्ड कम्पित हो जाता है, उसी प्रकार इन परमहितैषियों के आकस्मिक पदाघात से भारतवसुन्धरा कम्पित हो उठी। कहना नहीं होगा कि, यह आक्रमण पूर्व के दोनों आक्रमणों से कहीं भयङ्कर था। परम राजनीतिज्ञ लार्ड मेकॉले महोदय ने भारतवर्ष की पावनभूमि पर पाश्चात्य शिक्षा-प्रसार के साधनभूत भवननिर्माण की मूलभित्ति ( नींव ) रखने के अनन्तर स्वदेश ( इंग्लैण्ड ) वासी अपने किसी बन्धु को निम्नलिखित आशय का एक पत्र प्रेषित किया था—

> 'मित्र ! आज मैंने भारतवर्ष में ऐसा शिक्षालय स्थापित कर दिया है, जिस में शिक्षा ग्रहण करने वाले भारतीय आचार, व्यवहार, सभ्यता, आदि में सर्वात्मना यूरोपियन बन जायेंगे। रह जायेंगे केवल नाममात्र के लिए भारतीय'

सचमुच उस दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की उक्त भविष्यवाणी आगे जाकर सर्वथा चरितार्थ हुई। पाश्चात्यशिक्षा ने भारतीय नवयुवकों का हृदय और का और ही बना दिया, जोकि हृदयस्थान

सभ्यता, संस्कृति, जातीयता, आदि इन भावों की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। इन शिक्षालयों में अपनी आयु के सारभाग की आहुति देने वाले, अपने जन्मदाता-अभिभावकों की सञ्चित सम्पत्ति का सदुपयोग (?) करने वाले हमारे इन नवयुवकों ने प्रतिफल में प्राप्त क्या किया ? श्रूयताम् !

'तुम्हारे पूर्वज निरे जङ्गली थे, विज्ञानशून्य थे, असभ्य थे, अग्नि-वायु वृष्टि आदि जड़ पदार्थों के पूजक थे। जो कुछ भी उन्नति हुई है, इसी युग में, एकमात्र हमारे अनुग्रह से ही हुई है। खाना, पीना, सोना, उठना, चलना, फिरना, वेशभूषा धारण करना, सभ्य-समाज में बैठ कर सभ्यता का वर्त्ताव करना, आदि सम्पूर्ण मानवधर्म्मों (सभ्यताओं) के प्रथम प्रवर्त्तक एकमात्र हम ही हैं। हमने तुम्हें पशु से मनुष्य बनाया है, हमने तुम्हारे देश की अराजकता दूर की है, जो अराजकता तुम्हारे यहां आने से आज तक दूर न हुई थी। हां, स्मरण रखना, भारतवर्ष तुम्हारी प्रातिस्विक सम्पत्ति नहीं है। तुम लोगों ने बाहिर (पामीर) से आकर इस देश पर अपना अधिकार जमा लिया है (इसलिए आज हम भी अपने अपूर्व गुण बल से इस पर अपना अधिकार प्रतिष्ठित करने में कोई आपत्ति नहीं समझते !!!)। तुम्हारा धर्म्म ब्राह्मणों की स्वार्थलीलामात्र है। इसी अवैज्ञानिक कल्पित धर्म्म के अनुगमन से आज तक तुम उन्नति से वञ्चित रहे। अब इस हमारे शिक्षा-साम्राज्य के आश्रय से तुम्हें जीवन की सफलता का अनुभव होगा'।

आचार-व्यवहार में परतन्त्रता का आदेश देने वाली, किन्तु विचारस्वातन्त्र्यप्रदान करने वाली, अतएव मानवीयमन के विकास की अनन्य साधनभूता भारतीय आर्षशिक्षा की प्रतिद्वन्द्विता में राजनीति का बाना पहिन कर उपस्थित होने वाली पाश्चात्यशिक्षा ने आर्षशिक्षा से ठीक विपरीत अपना दृष्टिकोण बनाया। इस ने आचार-व्यवहार में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की, तथा विचारों में पूर्णरूप से परतन्त्र बना डाला। आचार व्यवहार की स्वतन्त्रता से एक ओर जहां हमने भारतीय आचार व्यवहारों का एकान्ततः परित्याग कर प्रतीच्यदेशाभिमत आचार व्यवहारों का अनुगमन करते हुए व्यक्तिगतरूप से अपने आपको परतन्त्र बना डाला, वहां दूसरी ओर स्वविचारपारतन्त्र्य से उन्हीं के विचारों का अनुगमन करते हुए हमने अपने आध्यात्मिक जगत् को भी परतन्त्रता के निविडपाश में बद्ध कर डाला। इस प्रकार बाह्य, तथा अन्त:, उभयथा हम परतन्त्र बन गए। आज न हमारे पास अपने आचार-व्यवहार हैं, न अपने विचार। उभयविध दासता से आज हमें अपनी अतीत स्मृतियां भी मिथ्या प्रतीत होने लगी हैं। इस प्रकार वर्त्तमान शिक्षायन्त्र के अनुग्रह से आज हम स्व भाव से एकान्ततः विदूर पहुंच चुके हैं, एवं यही वर्त्तमानशिक्षा की सब से बड़ी देन है।

आचार-व्यवहारपारतन्त्र्यगर्भिता विचारस्वतन्त्रतात्मिका स्वतन्त्रता मानवीय मन का जन्म सिद्ध अधिकार है। संसार की कोई भी आसुरीशक्ति (भौतिकबल) अधिक समय तक इस पर अपना अधिकार नहीं रख सकती। फलतः चरमसीमा पर पहुँच कर भारतीयक्षेत्र ने भी करवट बदली, और देश ने एक स्वर से सस्यश्यामला मातृभूमि का यशोगान आरम्भ किया। परन्तु एक सब से बड़ी भूल, हां सब से बड़ी भूल उन गायकों ने कर डाली, अथवा तो चिरकाल से विकृत संस्कारों के अनुग्रह से स्वत एव वह भूल हो पड़ी। जिनकी हृत्तन्त्री से स्वतन्त्रता का झङ्कार विनिर्गत हुआ, उनकी हृत्तन्त्री पूर्वकथनानुसार शिक्षादोष से आक्रान्त थी। मलिन दर्पण से विनिर्गत रश्मियाँ जिस प्रकार स्वस्वरूप से स्वच्छ-शुक्ल रहतीं हुई भी संसर्गदोष से मलिन रहतीं हैं, एवमेव परशिक्षाक्रान्ता हृत्तन्त्री से विनिर्गत स्वतन्त्रता का निनाद भी कालान्तर में परतन्त्रता का ही साधक सिद्ध हुआ। इस परतन्त्रतात्मिका स्वतन्त्रता का पहिला मुष्टिप्रहार उस आर्यसभ्यता पर ही हुआ, जिस की रक्षा ही एतद्देशीय स्वातन्त्र्य का बीजमन्त्र है।

आज भारतवर्ष में स्वतन्त्रता की लहर 'वीचितरङ्ग' न्याय से इतस्ततः प्रवाहित है। आबाल-वृद्ध-वनिता, सभी स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं। इस प्रकार देश आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए व्यग्र हो रहा है। परिणामस्वरूप वर्त्तमान राज्यसत्ता के साथ असहयोग किया जा रहा है, तत्प्रदर्शनार्थ विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हो रहा है। 'सुस्वागतम्' !!!। परन्तु साथ साथ स्वतन्त्रता के अनन्यपोषक आर्षधर्म्म का, तदनुगामिनी आर्षशिक्षा का उपहास करना भी परमपुरुषार्थ माना जा रहा है। 'महद्‌दुःखास्पदम्' !!!। सर्वत्र एक स्वर से यही सुनाई पड रहा है कि,—'हमारे पतन का, हमारी परतन्त्रता का एकमात्र कारण हमारा धर्म्म (सनातनधर्म्म), तथा तत्प्रवर्त्तक-पोषक-समर्थक ब्राह्मण ही है। स्पृश्यास्पृश्य, सहशिक्षा, विधवा परिणय, आदि को धर्म्मविरुद्ध उद्घोषित करने वाले स्वार्थमूलक इसी सनातनधर्म्म ने, एवं तत्पृष्ठपोषक स्वार्थी पण्डितों ने ही समाजस्वरूप का मूलोच्छेद करते हुए राष्ट्र-पारतन्त्र्य का बीज वपन किया है'। कलकत्ता में होने वाली कांग्रेस में देश के एक प्रमुख व्यक्ति ने तो यहां तक आगे बढ़ने का दुस्साहस कर डाला था कि,—'जब तक इन शास्त्रों को अग्नि में नहीं जला दिया जायगा, तब तक देश कभी स्वतन्त्र न हो सकेगा'।

भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा ने लोक, प्रजासृष्टि-निर्माण के लिए सर्वप्रथम वेदशास्त्र का आविर्भाव किया। सहसा वेदशास्त्र को छीन कर असुर पाताल में जा छुपे। वेदशास्त्र के बिना सृष्टिक्रम अवरुद्ध हो गया। अन्ततोगत्वा भगवान् विष्णु को मत्स्यावतार धारण कर वेदशास्त्र का उद्धार करना पड़ा। एवं तब कहीं ब्रह्मा विश्वनिर्म्माण कर्म्म में समर्थ हो सके। इस प्रकार

आर्षदृष्टिकोण से जो आर्षशास्त्र ( वेदशास्त्र ) न केवल भारतवर्ष का ही, अपितु सम्पूर्ण त्रैलोक्य का स्वरूपरक्षक बन रहा है, उसे अभिसान्त करके स्वतन्त्रता का आह्वान करने वाले ये स्वतन्त्रतावादी क्या प्रलयकाल को निमन्त्रण नहीं दे रहे ? जिस आर्षशास्त्रसिद्ध यज्ञकर्म के बल से देवताओं ने असुरों को परास्त कर अपनी विलुप्त स्वतन्त्रता पुन प्राप्त की, वही आर्षशास्त्र आज इन स्वतन्त्रताप्रेमियों की दृष्टि में अनन्य बाधक प्रतीत होता हुआ क्या 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' को चरितार्थ नहीं बना रहा ?

स्वतन्त्रता प्रेमियों की यह कौन सी सभा न होगी, जहाँ आर्षशास्त्र तत्प्रवर्त्तक ऋषिगण, तन्मूलक सनातनधर्म्म, तत्पोषक पण्डितवर्ग, तदनुगामिनी आर्षप्रजा का अवाच्यवादों से सत्कार (?) न किया जाता हो ? साथ ही आर्षधर्म्मपोषक विद्वानों को 'पुराणपन्थी' 'रूढ़ियों के गुलाम'-स्वतन्त्रता के शत्रु' आदि सदुपाधियों से विभूषित न किया जाता हो ? आज तो यह धर्म्मविरोध यहा तक बढ गया है कि, जिन देश के सर्वमान्य नेताओं का अपना प्रधान लक्ष्य एकमात्र असहयोगानुगमन था, वे भी इसी ओर सर्वतोभावेन झुक रहे हैं। पवित्र देव-मन्दिरों मे अवरवर्णों का बलात्कार से प्रवेश कराने मे, उनके हित व्याज से धारासभाओं ( Legislative Assembly ) मे राजनियम ( Law ) बनवाने मे ही आज हमारे इन देश-नेताओं की सम्पूर्ण शक्ति का अपव्यय, किंवा निरर्थक क्षय हो रहा है। यह सब अकाण्डताण्डव क्यों हो रहा है ? उत्तर एकमात्र यही शिक्षायन्त्र। वर्त्तमान शिक्षा ने आर्षप्रजा के दिव्य सस्कारपुञ्ज को आवृत कर लिया है। आज हमारे उक्थ ( बिम्ब ) का स्वरूप दूषित हो गया है। दूषित उक्थ से दूषित अर्क ( मनोभावनाएं ) निकल रहे हैं।[1] स्वसंस्कृतिरक्षक आर्षशास्त्र ( वेदशास्त्र ) ज्ञान से एकान्तत शून्य, शास्त्रसिद्ध मन सत्वास्वरूपनिर्म्मापक आहार-विहारादिलक्षण आचार पारतन्त्र्य का सर्वथा तिरस्कार करने वाले, अन्नदोष को गुण-पक्ष मे स्थापित करनेवाले, सर्वोपरि यावज्जीवन परशिक्षास्रोत मे प्रवाहित रहने वाले महानुभावो के उक्थ से यदि उक्त प्रकार के धर्म्म विरोधी अर्क निकलें, तो इसमे कोई आश्चर्य नहीं है। वर्चस्व तेजोयुक्त ज्ञानबल ही हमारे अन्तर्जगत का 'स्व' भाग है, एव 'स्व तन्त्र' से सम्बन्ध रखने वाली आचार व्यवहार पारतन्त्र्यगर्भिता विचारस्वातन्त्र्यमूला स्वतन्त्रता ही 'स्व तन्त्र' ( आत्मतन्त्र ) को सुरक्षित रखने वाली वास्तविक स्वतन्त्रता है, जिस की मूलप्रतिष्ठा एकमात्र

---

१ अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ( मनु ५।४ )

आर्षशास्त्र, तथा तदनुगामिनी आर्षशिक्षा ही मानी गई है। आर्षशिक्षानुगत ज्ञानबल ही ब्रह्मबल है, (ज्ञानशुद्धि से) ओजपूर्ण बना हुआ कर्म्मबल ही क्षत्रबल है, ब्रह्म-क्षत्र (ज्ञान-कर्म्म) से सुगुप्त अर्थबल ही विड्बल है। जहां वर्त्तमान शिक्षा विशुद्ध अर्थतन्त्र को अपना प्रधान लक्ष्य बनाती हुई जडतामूलिका साम्राज्य-लिप्सा का समर्थन कर रही है, वहां आर्षशिक्षा ब्रह्म के (ज्ञान के) आधार पर क्षत्र (कर्म्म) द्वारा विट् (अर्थ) का नियन्त्रण करती हुई धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारो पुरुषार्थों का समर्थन कर रही है, एवं यही भारतीय आर्षशिक्षा की संक्षिप्त रूपरेखा है, जिसका अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। हमारा यह केवल विश्वास ही नहीं, अपितु दृढ निश्चय है कि, जब तक मानसिक दासता से देश उन्मुक्त नहीं हो जाता, तब तक अन्य प्रयत्न सहस्रों से भी वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। भारतीय दृष्टिकोण से मानसिक दासता से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है—अध्यात्ममूलिका सहजज्ञानशक्ति का विकास। ज्ञानशक्तिविकास का एकमात्र उपाय है—अध्यात्ममूला आर्षशिक्षा का अनुगमन, जो आर्षशिक्षा एकमात्र आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) में, एवं तन्मूलक स्मृति, पुराणादि इतर शास्त्रों में उपबृंहित हुई है। जब तक उक्तलक्षण आर्षशिक्षा का अनुगमन न किया जायगा, तब तक स्वयं जगदीश्वर भी हमें स्वतन्त्र न बना सकेंगे। देश का सौभाग्य है कि, देशनेता भी वर्त्तमान शिक्षा से आज सन्त्रस्त दिखाई देने लगे हैं। जैसा कि वक्तव्यस्वरूप द्वारा पूर्व में कहा गया है, नेताओं का ध्यान अभी केवलशिक्षा प्रणाली की ओर ही आकर्षित हुआ है। परन्तु वह प्रणाली कैसी हो? तथा शिक्षा कौन सी हो? इत्यादि प्रश्न अभी उनके लिए असमाधेया प्रश्नावली ही बन रही है।[1]

स्वसितन्त्ररक्षक स्वानुगत आचार, व्यवहार, सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा, साहित्य, आदि को जलाञ्जलि समर्पित करते हुए अपनी मौलिक जातीयता को स्मृतिगर्भ में विलीन कर हमें

---

१ प्रस्तुत श्राद्धविज्ञान निबन्ध आज से ५-६ वर्ष पहिले सम्पन्न हो गया था। उस समय शिक्षा प्रणाली के सम्बन्ध में आन्दोलन का जन्म ही हुआ था। अब इस सम्बन्ध में जो इतिवृत्त विदित हुआ है, वह तो आर्षसंस्कृति के लिए एक महा आपत्ति का कारण प्रतीत हो रहा है। जिस हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी को ले कर साहित्यिक क्षेत्र में आज एक महासंघर्ष उपस्थित हो रहा है, उस अप्रिय संघर्ष की जन्मदात्री 'वर्धा' क्षेत्र से विनिःसृत वह शिक्षा प्रणाली तथा भारतीय संस्कृति को सातवें पाताल से भी किसी गहर पाताल की ओर ले जाने वाले मेधावी लेखकों की वज्र लेखिनी से लिखे हुए हिन्दुस्तानीभाषामय शिक्षाग्रन्थ किस आर्षसंस्कृतिप्रेमी को क्षुब्ध नहीं कर रहे।

जो 'स्वतन्त्रता' प्राप्त होगी, उससे हमारा स्व तन्त्र सुरक्षित रहेगा ? अथवा विनष्ट हो जायगा ? इन प्रश्नों की मीमांसा मुकुलितनयन बन कर उन स्वतन्त्रता प्रेमियों को ही करना चाहिए। 'हम हम बने रहें, और फिर स्वतन्त्रता प्राप्त करें' यही वास्तविक स्वतन्त्रता कहलाएगी। हमारी सामान्य दृष्टि में—'एक परतन्त्र अश्व का गर्धभ बनकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की अपेक्षा उसका अपने अश्वरूप से स्वतंत्रता के लिये प्रयास करना कहीं अधिक श्रेयःपन्था है'। अस्तु इस पराधिकार चर्चा करने का न तो हमें अधिकार ही है, न योग्यता ही है। प्रस्तुत वक्तव्य से निवेदन केवल यही करना है कि, जिस क्षण से हमारा शिक्षायन्त्र परायत्त बना है, उसी क्षण से हमारी परतन्त्रता का श्रीगणेश हुआ है। वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली ने, शिक्षाप्रणाली में स्वीकृत वर्त्तमान ऐतिहासिक ग्रन्थों ने, वर्त्तमान (पाश्चात्य) विज्ञान के आधार पर समुद्भूत विविध आविष्कारों ने भारतीय प्रजा के मानस जगत् में इस विश्वास को दृढमूल बना दिया है कि, यदि उन्नति का कोई श्रेष्ठ मार्ग है, तो वह है एकमात्र पाश्चात्य-शिक्षा। पाश्चात्य सभ्यता॥ पाश्चात्य आचार-व्यवहार॥॥

वर्त्तमान शिक्षा की अप्रतिहतगति के अनुग्रह से हम अपने स्वरूप को भूल गए, आत्मविस्मृतिमूलक हमारे दुर्भाग्य का यह पहिला, तथा मुख्य कारण। भारतीय विद्वानों की अनन्य कृपा का प्रहार दूसरा कारण। आर्षसाहित्यमूला आर्षशिक्षा, आर्षशिक्षामूलक आर्षधर्म (वर्णाश्रम-धर्म), आचार, व्यवहार, संस्कृति, सभ्यता, आदि ऐसे दृढ दुर्ग माने गए हैं, जिन्हें विश्व की कोई भी प्रबलशक्ति स्थानच्युत नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में प्रश्नोत्थान स्वाभाविक बन जाता है कि, जब कि हम अपनी अमेय आर्षप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित थे, तो आर्षप्रतिष्ठा की तुलना में सर्वथा अप्रतिष्ठित पाश्चात्यप्रतिष्ठा ने आर्षप्रतिष्ठा का आसन क्यों, एवं कैसे छीन लिया ? यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि, अपनी निर्बलता ही पराक्रमण साफल्य का प्रधान कारण है। अवश्य ही जिस युग में पाश्चात्यशिक्षा ने हमारे यहां का आतिथ्य ग्रहण किया, हम अपनी आर्षशिक्षा को या तो भुला चुके होंगे, अथवा तो उसका व्याज से आचरण कर रहे होंगे। अन्यथा आगन्तुक परशिक्षाक्रमण कभी हमें अपनी आर्षशिक्षा प्रतिष्ठा से च्युत नहीं कर सकता था।

हमारे उपदेशक विद्वान् अपने उपदेशों की प्रथम भूमिका में ही यह घोषणा करते हैं कि, 'पाश्चात्यशिक्षा के प्रभाव से भारतीय नवयुवकों का श्रद्धा विश्वास सनातनधर्म्मादेशों से हट गया है'। इस सम्बन्ध में हमारे ये विद्वान् बन्धु यह भूल जाते हैं कि, पाश्चात्यशिक्षा के साथ साथ स्वयं हमारा भी इस अश्रद्धान में परोक्ष, तथा प्रत्यक्षरूप से पूर्ण सहयोग है। पहिले तो

हमारा उपदेश ही केवल वाचिक है, उस पर आर्षशास्त्र को हमने दूर से ही प्रणम्य मानते हुए अपने उपदेशों को और भी अधिक शून्य-शून्य बना लिया है। कर्त्तव्य की प्रतिच्छाया से भी वञ्चित, आर्षशास्त्र की सर्वथा उपेक्षा करने वाले, सर्वोपरि सामयिक सन्तमत (सम्प्रदायवाद) के अभिनिवेश से सम्पुटित ऐसे उपदेशों, तथा उपदेशक विद्वानो के रहते यदि पाश्चात्य शिक्षा स्वाक्रमण मे सफल हो जाय, तो इस मे क्या आश्चर्य है।

अङ्गीभूत आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) के रहस्य ज्ञान का अधिकार प्रदान करने के लिए जिन 'शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष' इन ६ अङ्ग शास्त्रो ने जन्म लिया था, कुछ एक शताब्दियों से भारतीय विद्वानों ने इन अङ्ग-शास्त्रो के, उनमें भी, विशेषत व्याकरण-शास्त्र के अध्ययनाध्यापन को ही प्रधानता दे रक्खी है। वेदाङ्ग-ज्योतिष का स्थान मयासुरोपबृंहित अर्वाचीन ज्योतिष ने ग्रहण कर रक्खा है। षडङ्गो मे से शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ये चारों अङ्गशास्त्र भी स्मृतिगर्भ मे विलीन हैं। इसके अतिरिक्त काव्य-साहित्यादि ने भी अपनी प्रभुता प्रतिष्ठित कर रक्खी है। इस प्रकार ज्ञान विज्ञानप्रधान अङ्गीभूत वेदशास्त्र का सर्वथा तिरस्कार कर नाममात्र के लिए अङ्गशास्त्र, विशेषत काव्य साहित्य परिशीलन मे ही अपने सम्पूर्ण जीवन की आहुति देने वाला आज का विद्वत्समाज आर्षधर्म्म के मौलिकरहस्यज्ञान (उपपत्तिज्ञान) से सर्वथा पराङ्मुख हो रहा है। यदि विशेष अनुग्रह हुआ, तो स्मृति ग्रन्थों पर धर्म्म परिशीलन की सीमा समाप्त मान ली जाती है। सम्भवत हमारे उन मान्य विद्वानो से यह तिरोहित नहीं है कि, स्मृतिग्रन्थ केवल अनुशासक ग्रन्थ है। 'ऐसा करो, ऐसा न करो, जब करो, तब करो' इत्यादि रूप से तत्तदुपादेय कर्म्मों की विधि (आज्ञा) बतलाने वाला, तथा तत्तदनुपादेय शास्त्रविरुद्ध कर्म्मों का निषेध करने वाला विधि-निषेधात्मक ग्रन्थ है। वहा आपकी-'ऐसा ही क्यों करें, ऐसा क्यों न करें' इन जिज्ञासाओ का समाधान प्राप्त नहीं हो सकता। कारण उपपत्ति बतलाना स्मृतिशास्त्र के अधिकार से सर्वथा बहिर्भूत है। यदि भूल से कोई स्मृतिशास्त्र से 'क्यों'? प्रश्न कर बैठता है, तो वह 'नास्तिको वेदनिन्दकः' कह कर उसका तिरस्कार कर देता है।

बात यथार्थ है। प्रधान न्यायालय अपने कनिष्ठ अधिकारी (मातहत) को यह आज्ञा देता है कि, तुम इस आशय का एक आज्ञापत्र प्रजा मे वितीर्ण कर दो कि, 'आज से एक सप्ताह पर्य्यन्त कोई भी व्यक्ति रात्रि के ११ बजे पीछे मकान से बाहिर न निकले। यदि कोई इस राजाज्ञा का उल्लङ्घन करेगा, तो वह दण्डनीय समझा जायगा'। आज्ञानुसार कनिष्ठ अधिकारी प्रजा मे आज्ञापत्र वितीर्ण कर देता है। कोई भी व्यक्ति इस कनिष्ठ अधिकारी से, जिसका

एकमात्र कर्त्तव्य है—प्रधान न्यायलय से निकले आज्ञापत्र को वितीर्ण कर देना—वह नहीं पूछता कि-'अमुक आज्ञापत्र क्यों निकाला गया, क्यों ऐसी आज्ञा दी गई ?'। यदि कोई मूर्खतावश पूछ बैठता है, तो इसे यही उत्तर मिलता है कि-"मैं नहीं जानता, प्रधान न्यायालय से पूछो'। ठीक यही परिस्थिति श्रुति-स्मृतिशास्त्रों के सम्बन्ध मे समझिए। श्रुतिशास्त्र अपनी अपौरुषेयता के सम्बन्ध से स्वतः प्रमाण बनता हुआ जहां प्रधान न्यायालय है, वहां स्मृतिशास्त्र 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' के अनुसार श्रौत आज्ञाओं का अनुवदन करता हुआ कनिष्ठ अधिकारी है। वेदविहित ( वेदाज्ञासिद्ध ) धर्म्म का आदेशमात्र देना ही उसके अपने अधिकारक्षेत्र की अन्तिम सीमा है। यदि उस से कोई जिज्ञासु सद्भावना से उपपत्तिज्ञान के सम्बन्ध मे प्रश्न करता है, तो वह उत्तर देता है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते।
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

—मनु २।१३।

तात्पर्य्य मनुवचन का यही है कि, "जिन्हें धर्म्म के धर्म्मस्वलक्षण उपपत्तिज्ञान-रहस्यज्ञान की जिज्ञासा है, उन्हें वेदशास्त्र का ही स्वाध्याय करना चाहिए। वहीं से प्रत्येक स्मार्त्त-धर्म्मादेश के 'क्यों ? का समाधान प्राप्त हो सकेगा"। जैसा कि निवेदन किया गया है, भारतीय विद्वानों ने वेदार्थ के अध्ययनाध्यापन से अपने आपको उदासीन बना रक्खा है। व्याकरणादि का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर इधर उधर की कुछ एक स्मृतियों का आलोडन-विलोडन कर ऐसे ही अर्द्धदग्ध महानुभाव देश के धर्म्माचार्य्य बने हुए हैं। संशय करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म्म है। साथ ही जब तक संशयनिवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक संदिग्ध विषय पर श्रद्धा एवं विश्वास का उदय भी सम्भव नहीं है। एक ऐसा नवयुवक, जिसने यावज्जीवन पाश्चात्य-शिक्षा का अनुगमन किया हो, जिसे प्रत्येक विषय युक्ति-तर्क-विज्ञान के आधार पर ही समझाए गए हों, तब तक स्वधर्म्म सिद्धान्तों पर कभी पूर्ण श्रद्धा नहीं कर सकता, जब तक कि उसे धर्म्म का वैज्ञानिकरहस्य युक्ति-तर्क द्वारा नहीं समझा दिया जाता। स्वयं मनुभगवान् ने भी 'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः' ( मनु १२।१०६ ) इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में वेदार्थोपयोगी तर्कवाद को धर्म्मपरिज्ञान के सम्बन्ध में एक आवश्यक साधन स्वीकार किया है।

नवशिक्षा-दीक्षित एक नवयुवक स्वभावतः उत्पन्न सन्देह-निवृत्ति के उद्देश्य से जिज्ञासा रूप से धर्म्माचार्य्यों की सेवा मे विनीतभाव से, अथवा तो अपने स्वाभाविक उच्छृङ्खलभाव

से पहुँचता है, और प्रश्न करने लगता है कि—"भगवन्! मृतप्राणियों को निमित्त बनाकर श्राद्धकर्म्म क्यों किया जाता है ?, लाखों कोस दूर बैठे प्राणी (पितर) ब्राह्मणभोजन से क्यों कर तृप्त हो जाते हैं ?, पूर्व शरीर को छोड़ कर प्राणी जब तत्काल नवीन शरीर धारण कर लेता है, तो ऐसी अवस्था में श्राद्ध किस की तृप्ति के लिए किया जाता है ?, एक के उत्पन्न होने से, तथा एक के मर जाने से उस जात-मृत के सभी वंशज अस्पृश्य क्यों मान लिए जाते हैं"। उत्तर में हमारे आचार्य महोदय शास्त्रीय (स्मार्त्त) प्रमाण उद्धृत करते हुए—"शास्त्र ऐसा आदेश देता है, इसलिए ऐसा ही करना न्याय्य है" इस सूक्ति से वे उस आगन्तुक जिज्ञासु की जिज्ञासा शान्त करना चाहते हैं। "शास्त्र ऐसा आदेश क्यों देता है ?" इस सम्बन्ध में आप सर्वथा तटस्थ बने रहते हैं। यदि जिज्ञासु अधिक आग्रह करता है, तो आचार्य्य महोदय क्रुद्ध हो पड़ते हैं, एवं भूताविष्ट बनकर—"तुम तो पाश्चात्यशिक्षा संसर्ग में पड़ कर नास्तिक बन गए, तुम्हें शास्त्रों पर विश्वास नहीं रहा, जाओ तुम्हारे साथ सम्भाषण करने में भी हमें प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ेगा" इस प्रकार मत्त प्रलाप करने लगते हैं। इस भर्त्सना का परिणाम यह होता है कि, उस जिज्ञासु को यह विश्वास कर लेना पड़ता है कि,—"वास्तव में सनातनधर्म्म केवल काल्पनिक जगत है, ब्राह्मणों के स्वार्थसाधन का द्वार मात्र है। भला यावज्जीवन धर्म्मशास्त्र का स्वाध्याय-मनन करने वाले विद्वान भी जब धर्म्माज्ञाओं के सम्बन्ध में युक्तियुक्त समाधान नहीं कर सकते, तो ऐसी दशा में इस धर्म्म की काल्पनिकता में क्या सन्देह रह जाता है"। सचमुच आज इस एक महत्त्वपूर्ण कारण से भी धर्म्म-विश्वास उत्तरोत्तर शिथिल होता जा रहा है।

यद्यपि हम मानते हैं कि, उपपत्तिविज्ञानात्मक रहस्यज्ञान सर्व साधारण के परिज्ञान की वस्तु नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति रहस्यज्ञान प्राप्त करके ही धर्म्म का आचरण करे, यह सर्वथा असम्भव है। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' (गी० १६।२४) इत्यादि भगवदादेशानुसार शास्त्रीय वचनों पर अनन्यनिष्ठा रखते हुए—'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इस न्याय के अनुगमन में ही सर्वसाधारण का कल्याण है। लक्ष्यैकचक्षुष्कता की तुलना में लक्षणैकचक्षुष्कता ही सिद्धि का अन्यतम द्वार माना गया है। यह सब कुछ जानते हुए भी वर्त्तमान युग के लिए हम उपपत्तिज्ञान-प्रचार को आवश्यकतम साधन माने बिना नहीं रह सकते। इसके अतिरिक्त यदि उपपत्तिज्ञान सर्वथा अनावश्यक ही होता, तो स्वयं वेदशास्त्र में, तथा वेदशास्त्र के ब्राह्मणभाग में स्थान स्थान पर उपपत्तिज्ञान का स्पष्टीकरण ही उपलब्ध न होता। ब्राह्मणग्रन्थ प्रतिपादित प्रत्येक मत्यर्थकर्म्म, तथा पुरुषार्थकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता के

साथ साथ[1] 'तद्यत्-अप उपस्पृशति, मेध्या वा आपः, पवित्रं वा आपः, मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति, पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति, तस्माद्वा अप उपस्पृशति' (शत० १।१।१।१) इत्यादि रूप से उपपत्तिप्रकरण भी समाविष्ट रहता है। यही क्यों, स्वयं वेदशास्त्र ने ही एक स्थान पर यह स्पष्ट किया है कि, "जो कर्म्म मनोयोगलक्षणा 'श्रद्धा' से, कार्य्य-कारण-सम्बन्धपरिज्ञानात्मिका 'विद्या' के, तथा उपपत्तिज्ञानलक्षणा 'उपनिषत्' के सहयोग से किया जाता है, वह अतिशयरूप से फलप्रद होता है, जैसा कि—'यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति' (छां० उप० १।१।१०) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। इसी आधार पर कारणविज्ञान को श्रेय प्राप्ति का, तथा कर्म्मसौष्ठव का अन्यतम कारण माना गया है[2]। जिस वर्त्तमानयुग में प्राच्य प्रतीच्य सभ्यताओं का संघर्ष चल रहा हो, भौतिक, अतएव क्षणिक, अतएव दुःखप्रवर्त्तक, अतएव शून्यं शून्य-लक्षण जिस विज्ञानशास्त्र को लेकर प्रतीच्य-संस्कृति प्राच्यसंस्कृति का निगरण करने के लिए आज मुह बाए खड़ी हो, ऐसे विषम युग में 'विषस्य विषमौषधम्'—'कण्टकं कण्टकेनैवोद्धरेत्' इत्यादि लोकन्यायों का अनुगमन करते हुए तो यह सर्वथा आवश्यक हो जाता है कि, प्राणात्मक अतएव नित्य, अतएव आनन्दप्रवर्त्तक, अतएव पूर्णं पूर्ण-लक्षण भारतीय वेदविज्ञानशास्त्र का आश्रय ग्रहण किया जाय। बिना ऐसा किए उक्त संघर्ष से प्राच्यसंस्कृति का त्राण पाना कठिन ही नहीं, अपितु सर्वथा असम्भव है। भौतिक महासंग्राम के कारण आज भारतवर्ष सन्त्रस्त है। परमात्मानुग्रह से जिस दिन संग्रामसाधक-घातक शस्त्रप्रपञ्च निधनावस्था को प्राप्त हो जायगा,

---

१—आहवनीय, तथा गार्हपत्य के मध्य में खड़े होकर आचमन करना ही 'अप-उपस्पर्श' कर्म्म है। क्यों आचमन किया जाता है? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, पानी मेध्य ( सङ्गमनीय ) है, पवित्र ( दोषमार्जक ) है। उधर अपने स्वाभाविक अनृतभाव से पुरुष अमेध्य, तथा अपवित्र है। ऐसी अमेध्य अपवित्र अध्यात्मसंस्था में मेध्य पवित्र यज्ञसंस्कार तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, जब तक कि वह किसी उपाय विशेष से मेध्य, तथा पवित्र न बना ली जाय। इसी उद्देश्य से अप-उपस्पर्श कर्म्म किया जाता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य' में निरूपित है।

२ नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले।
कारणाद्धर्म्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान्॥
ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे॥

उसी दिन संसार कुछ क्षणों के लिए एक बार शान्ति का श्वास ले सकेगा। परन्तु कुछ ही समय पीछे इस अतीत युद्ध से भी कहीं भयङ्कर सांस्कृतिक-संघर्ष का सूत्रपात्र होगा। तत्तद्राष्ट्र अपनी अपनी संस्कृतियाँ लेकर इस संघर्ष मे भाग लेंगे। इस अहमहमिका मे जिस राष्ट्र की संस्कृति सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगी, वही प्रमुख स्थान पा सकेगी, शेष संस्कृतियाँ उस प्रमुख संस्कृति के उदर मे समाविष्ट हो जायगीं, एवं वही समय युद्ध का अन्तिम निर्णायक समय माना जायगा। क्या उस सांस्कृतिक संघर्ष से भारतराष्ट्र अपने आप को बचा सकेगा? कभी नहीं, इसे इच्छा से नहीं, तो अनिच्छा से योग देना पड़ेगा, एवं तब इसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि, "मैं इस संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिए कौन सी संस्कृति का अनुगमन करूं"। वर्त्तमान युग के देशनेता भले ही हमारे कथन की आज उपेक्षा कर दें, परन्तु उन्हें कालान्तर में ही यह अनुभव करना पड़ेगा कि, भावी संघर्ष में विजय प्राप्त करने का एकमात्र साधन होगा नित्य-विज्ञानप्रधान-शाश्वतशान्तिप्रदाता आर्षसाहित्य, एवं तन्मूला आर्षसंस्कृति। इस भावी दृष्टिकोण की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि, कारणविज्ञानात्मक आर्षसाहित्य का अधिक से अधिक प्रचार किया जाय। सांस्कृतिक संघर्ष को थोड़ी देर के लिए उपेक्षणीय भी मान लिया जाय, तब भी अपने अभ्युदय के नाते भी इसकी आवश्यकता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

वैज्ञानिक तत्त्वो के विलुप्तप्राय हो जाने से ही ईश्वरीय-प्राकृतिक-नित्य-सनातन-मानवधर्म्म आज मतवादरूप में परिणत होता हुआ शान्ति-प्रवृत्ति के स्थान में कलहप्रवृत्ति का कारण बन रहा है। एक 'वाह गुरुजी' के नाम पर समस्त सिक्ख सम्मिलित हो जाते हैं, एक पैगम्बर के नाम पर सम्पूर्ण यवन प्रजा का संघठन सम्भव है। परन्तु सनातनधर्म्म के पास ऐसा आज एक भी उद्‌घोष नहीं है, जिस के आधार पर यह समस्त सम्प्रदायों का एकसूत्र में संघठन कर सके। केवल वैदिक विज्ञान ही एक ऐसा शङ्ख-नाद है, जिस के आह्वान पर सम्पूर्ण सम्प्रदाएं समवेत हो सकतीं हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिक संघठन के नाते भी विज्ञानतत्त्व का प्रचार-प्रसार आवश्यक बन रहा है।

इस विज्ञाननिधि के विस्मृतप्राय हो जाने से ही उस परम वैज्ञानिक अनादि सनातनधर्म्म की आज 'क्रीष्ट -जैन-बौद्ध-मोहम्मदीय' आदि मतवादों के साथ तुलना की जा रही है। उस वृद्धातिवृद्धप्रपितामह को इन वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रो की कक्षा में लाकर इन के साथ उसके औचित्य-अनौचित्य का समतुलन किया जा रहा है। सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। उसी के सुपूतों द्वारा इन मतवादों की तुलना मे इसे न केवल स्थान ही नीचा दिया जाता, अपितु उसका अपमान

भी किया जा रहा है, उसके प्रति अवाच्यवादों का प्रयोग किया जा रहा है। 'ईसामसीह कैसे थे ? बड़े महात्मा थे, बुद्ध कैसे थे ? अहिंसा दया के अवतार थे,' सुस्वागतम्। हा, तो आर्षधर्म्म प्रवर्त्तक ऋषि कैसे थे ? बड़े स्वार्थी थे, मानव सभ्यता के अन्यतम शत्रु थे, पक्षपाती थे' यह है आज की उस समालोचना का निष्कर्ष, जिसके समर्थक निबन्धो को पढ़कर आज भारतीय नवयुवक अपनी प्रतिभा का सदुपयोग (?) कर रहे हैं। सौभाग्य कहिए, अथवा दुर्भाग्य, कोई सा ही सामयिकपत्र ( समाचारपत्र ) बचा होगा, जो आए दिन धर्म्माज्ञाओं की, तत्प्रवर्त्तक महर्षियों की, तदनुगामी सनातनधर्म्मावलम्बियों की निन्दा से अपने श्रीमुख पर कालिख न पोतता होगा ? वह समाचारपत्र पत्र ही क्या, जिस के प्रत्येक अङ्क में धर्म्मविरुद्ध कार्य्यों के दो चार समाचार समाविष्ट न हों। आज तो हमारा यहां तक पतन हो गया है कि, हमने अपने मनोरञ्जक चित्रपटों में भी धर्म्मनिन्दा को अपना प्रधान लक्ष्य बना लिया है, और ऐसे ही चित्रपट आज हमारे लिए विशेष आकर्षण की वस्तु- बने हुए हैं। देश नेताओं के कर कमलों के द्वारा उद्घाटित कतिपय सामाजिक चित्रपटों में रूढ़िवाद के नाश के नाम पर भारतीय-वर्णाश्रमधर्म्म पर उसी के प्रसूनो द्वारा जो प्रसूनवृष्टि देखने सुनने में आती है, वह एक प्रकार से हमारी सस्कृति की पतन की ही सूचिका मानी जायगी। एवमेव पाश्चात्य सस्कृति की अरुण-प्रतिभा से युक्त भारतीय नवयुवकों में से कोई सा ही ऐसा सौभाग्यशाली युवक बच रहा होगा, जो प्रात सायं उठते सोते अपने इस पूज्य का उपहासादि साधनों से सत्कार न करता होगा।

छोड़िए पाश्चात्यशिक्षा दीक्षितो की बात। विद्वानो में से भी ऐसा कोई विरला ही विद्वान् होगा, जो अन्त करण से सनातनधर्म्म के प्रत्येक आदेश के सामने अपना मस्तक विनम्र कर देता होगा। जो विद्वान् अपने आपको प्राच्यसंस्कृति के अनन्य पोषक कहते हैं, जो 'कट्टर सनातनधर्म्मी' उपाधि से अपने आपको गौरवान्वित मानते हैं, जो आए दिन सभामञ्चफाष्ठों का अपने ताण्डवनृत्य से दर्पदलन करते हुए अहमहमिका कर्म्म से चाणूर मुष्टिप्रसङ्ग का स्मरण कराते हुए अर्थशून्य सनातनधर्म्मसभाओं को ऋणग्रस्त बनाने का पुण्य सञ्चय करते रहते हैं, धर्म्म के जयघोषों से जो द्यावापृथिवी ( आकाशपाताल ) के विच्छेद को हटाते रहते हैं, ऐसे उपदेशकों से यदि उनका ही कोई अन्तरङ्ग व्यक्ति धर्म्माज्ञाओं के सम्बन्ध में जब कभी सन्देहात्मक प्रश्न कर बैठता है, तो उनके मुखविवर से भी यही उत्तर निकलता है कि, 'ऐसा प्रश्न करना व्यर्थ है। हम स्वयं जब कभी विचार करते हैं, तो ऐसा ही प्रतीत होता है, मानो यह सब केवल कल्पना का ही साम्राज्य हो। परन्तु क्या करें, सर्वसाधारण के द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, तथा आजीविका निर्वाह के लिए जान बूझ कर आत्मा को धोका देना ही

पड़ता है'। जब अपने घर की ही यह दुर्दशा है, तो नवशिक्षित, तथा अन्यमतावलम्बी सनातनधर्म्म पर यदि आक्षेप करते हैं, तो इस मे उनका क्या अपराध है। वे तो जिज्ञासू हैं, वास्तविक तत्त्व के पिपासू हैं। जब विद्वान् उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सकते, अपितु पुरस्कार मे विद्वानों की ओर से उन्हें 'नास्तिक' की उपाधि प्राप्त होती है, तो व क्यों न सनातनधर्म्म से विमुख होंगे। इसी परिस्थिति के आधार पर हम कह सकते हैं कि, आज सनातनधर्म्म पर जनता का जो अविश्वास बढ़ता जा रहा है, उसका एक कारण तद्तत्त्वानभिज्ञ, अतएव उपपत्ति-ज्ञानशून्य ( रहस्यज्ञानशून्य ) इन पण्डितम्मन्यों के, तथा 'आचार्य' उपाधि-विभूषित धर्म्माध्यक्षों के द्वारा धर्म्मोपदेश का सञ्चालित होना भी है।

'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥'
—कठोपनिषत्—१।२।५।

उक्त औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार स्वयं लक्ष्यच्युत ये धर्म्मरक्षक अन्य मुग्ध श्रद्धालु समाज का भी अन्धकूप मे निक्षेप कर रहे हैं। सभी क्षेत्रों मे आज उक्त वचन चरितार्थ हो रहा है। सभी नेता है, सभी पण्डित है, सभी उपदेशक हैं, सभी सुधारक है, सभी सब कुछ है। अन्धों का समुदाय अन्धों को मार्ग दिखा रहा है। ऐसी स्थिति मे 'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः' के अनुसार इन रक्षकों से भक्षित आर्षसस्कृति अद्यावधि कैसे बच रही, यही एक महा आश्चर्य है।

शिक्षा हमारे हाथ से जाती रही, यह अविश्वास का पहिला कारण। एवं वेदस्वाध्याय का परित्याग कर अन्य ग्रन्थो मे आयु समाप्त करने वाले अयोग्य विद्वानो, तथा धर्म्माचार्य्यों के हाथ मे धर्म्मसूत्र ( धर्म्म की बागडोर ) का चला जाना अविश्वास का दूसरा कारण। इन दोनों कारणो मे से प्रथम कारण की चिकित्सा कई एक प्रतिबन्धको से शीघ्र सम्भव नहीं है। देश अपनी पादप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो कर स्वस्वरूप को सुरक्षित रखता हुआ जब पहिले स्वतन्त्रता प्राप्त करले, तब इसे शिक्षा स्वातन्त्र्य उपलब्ध हो। एवं आर्षसाहित्य का जब पूर्ण प्रचार हो, तब यहीं स्वतन्त्रताप्रापक प्रतिष्ठाबल प्राप्त हो। ऐसी परिस्थिति मे 'वर्त्तमान दशा मे वर्त्तमान शिक्षा पर हमारा स्वतन्त्ररूप से नियन्त्रण हो जायगा, एवं हम उसमे ऐच्छिक परिवर्त्तन कर सकगे यह खपुष्पसम केवल कल्पना ही रह जाती है। दूसरा उपाय है—वैदिक विज्ञान का प्रचार प्रसार। इस नवीन युग के सम्मुख जब तक धर्म्म के प्रत्येक अश की उपपत्ति ( वैज्ञानिक

रहस्य ) उपस्थित नहीं करदी जायगी, तब तक उखड़ा हुआ धर्म्मविश्वास पुन: प्रतिष्ठित न हो सकेगा। 'नवीनमार्गानुयायी अपने मौलिक साहित्य की वैज्ञानिकता का स्वरूप समझते हुए उसकी आवश्यकतम उपादेयता स्वीकार करें, तद्द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठाबल पर स्वलक्ष्य सिद्धि में सफलता प्राप्त करें, तथा विद्वानों की वैदिक-विज्ञान की ओर प्रवृत्ति हो, एवं तदाश्रयद्वारा वे जनता की वास्तविक धर्म्मभावनाओं को पुष्पित-पल्लवित करें, 'श्राद्धविज्ञान' व्याज से इन्हीं उद्देश्यों की सिद्धि के लिए 'श्राद्धविज्ञाननिबन्ध' उपस्थित हो रहा है' यही श्राद्धविज्ञान रचना-कारणत्रयी में से दूसरे कारण का संक्षिप्त निदर्शन है।

सनातनधर्म्मावलम्बी आर्य-प्रजावर्ग का आज हम तीन भागों में श्रेणि-विभाग मान सकते हैं, एवं उन्हें क्रमशः राष्ट्रीयवर्ग, विद्वद्वर्ग, साधारणश्रद्धालुवर्ग, इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। राष्ट्रीयवर्ग की दृष्टि में राष्ट्रनिर्म्माण में, राष्ट्रोन्नति में, किंवा राष्ट्र के स्वतन्त्रतायज्ञ में धर्म्म सर्वथा अनपेक्षित तत्त्व है। प्रत्युत यह वर्ग धर्म्म को राष्ट्रोन्नति, तथा समाजोन्नति, दोनों का एक महान् प्रतिबन्धक मानने की भूल कर रहा है, जब कि राष्ट्र शब्द का सर्वप्रथम जन्मदाता ही सनातनधर्म्म माना गया है। इस सम्बन्ध में हमारा अपना तो यह भी विश्वास है कि, सनातनशास्त्र, तथा तदनुगत सनातनधर्म्म को मूलप्रतिष्ठा बनाए बिना कम से कम भारतराष्ट्र का अभ्युदय तो एकान्ततः असम्भव ही है। सामान्य-राष्ट्रीय विधानों के अतिरिक्त आर्षप्रजा प्रवर्त्तक महर्षियों ने प्राकृतिक विज्ञान के आधार पर कुछ एक ऐसे गुप्त कारणों का अन्वेषण किया है, जिन के रहते राष्ट्र कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। साथ ही उन कारणों को दूर कर राष्ट्र-स्वातन्त्र्य के लिए एक विशेष प्रकार के वैज्ञानिक-कर्म्म का भी आविष्कार किया है, जो कि कर्म्म ब्राह्मणग्रन्थों में 'राष्ट्रभृत्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

तृतीय कारण निदर्शन—

राष्ट्र क्यों निर्बल हो जाता है ? निर्बल-राष्ट्र पराक्रमण का सामना करने मे असमर्थ होता हुआ कैसे परतन्त्र हो जाता है ? ब्राह्मण-श्रुति ने पहिले इन प्रश्नों का समाधान किया है। बतलाया गया है कि, अर्थशक्तिरूप विड्वीर्य्य राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप है। अर्थ ही राष्ट्र है। जिस राष्ट्र का अर्थबल क्षीण हो जाता है, निश्चयेन वह राष्ट्र अर्थाभाव में पराक्रमण सहने के साधनों से वञ्चित होता हुआ परतन्त्र बन जाता है। अतः राष्ट्र-स्वरूप-रक्षा के लिए अर्थ-स्वातन्त्र्य सर्वप्रथम अपेक्षित है। प्रश्न उपस्थित होता है कि, राष्ट्र का अर्थबल कैसे सुरक्षित रक्खा जाय ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्रुति ने 'ब्रह्म-क्षत्र' नामक द्वन्द्व की ओर हमारा

ध्यान आकर्षित किया है। ब्रह्मवीर्य्य राष्ट्र का ज्ञानबल है, क्षत्रवीर्य्य राष्ट्र का कर्म्मबल है। ज्ञान-सत्कृत कर्म्म ही अर्थरूप राष्ट्र का, किंवा राष्ट्ररूप अर्थ का स्वरूप रक्षक है। जब राष्ट्र का ज्ञानबल अभिभूत हो जाता है, तो ज्ञानानुगत कर्म्मबल-सर्वथा उच्छृङ्खल बन जाता है। ज्ञानवञ्चित ऐसा उच्छृङ्खल कर्म्म अर्थरक्षा में सर्वथा असमर्थ होता हुआ निश्चयेन राष्ट्रपारतन्त्र्य का प्रवर्त्तक बन जाता है। अतएव आवश्यक है कि, अर्थरक्षा के लिए कर्म्मगुप्ति का आश्रय लिया जाय, एवं कर्म्मसौष्ठव के लिए ज्ञानगुप्ति को मूलप्रतिष्ठा बनाया जाय। इस प्रकार ज्ञानशक्तिरूप ब्रह्म, तथा क्रियाशक्तिरूप क्षत्र, इन दो रक्षको की सत्ता मे ही अर्थशक्तिरूप विट् ( राष्ट्र ) सुगुप्त रहता हुआ बलवान् रह सकता है। एवं ऐसे ब्रह्म-क्षत्रानुगृहीत अर्थलक्षण राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर कोई भी शक्ति आक्रमण नहीं कर सकती।

विचार करने पर वर्त्तमान परतन्त्रता का यही एक मुख्य कारण हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है। भारतवर्ष के पास आज भी अर्थबल ( कोष ) की कमी नहीं है। परन्तु दुःख है कि, वह अपनी इस अर्थशक्ति का अपने राष्ट्रनिर्म्माण मे अणुमात्र भी उपयोग नहीं कर सकता। क्यों हमारी अर्थशक्ति पर परराष्ट्रो का एकान्त स्वत्वाधिकार प्रतिष्ठित हो गया ? इस प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट है। तमोगुणप्रधाना अर्थशक्ति सभी राष्ट्रो के लिए आकर्षण की वस्तु है। जब तक यह अर्थशक्ति रजोगुणप्रधाना क्रियाशक्ति, तथा सत्त्वगुणप्रधाना ज्ञानशक्ति से सुरक्षित रहती है, दूसरे शब्दों में जब तक राष्ट्र के ज्ञानबल, सेनाबल, दोनों अपने अधिकार मे रहते हैं, तब तक उसका अर्थबल सुरक्षित रहता है, एवं तब तक राष्ट्र की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है। ज्ञानबलप्रवर्त्तक देश के ब्राह्मणवर्ग ने जिस दिन से वेदगुप्ति का परित्याग किया, उसी दिन से ज्ञानानुगत क्षत्रबल क्षत्रियों के हाथ से निकल गया। दोनों से वञ्चित अर्थ अरक्षित रहता हुआ पर-गिद्धों का बलि बन गया। इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि, अर्थलक्षणराष्ट्र की स्वरूपरक्षा एकमात्र ब्रह्म क्षत्र मिथुन पर ही अवलम्बित है।

भारतवर्ष का ब्रह्म क्षत्र बलात्मक मिथुनभाव क्यो निर्बल हो गया ? इस प्रश्न का तात्त्विक कारण बतलाती हुई श्रुति आगे जाकर कहती है कि, जिस राष्ट्र मे से प्राकृतिक प्राणदेवताओं का विनिर्गम हो जाता है, उस राष्ट्र का ब्रह्म क्षत्रात्मक मिथुनभाव निर्बल बन जाता है। '१अग्नि-२ओषधि, १सूर्य्य-२मरीचि, १चन्द्रमा-२नक्षत्र, १वात-२आपः, १यज्ञ-२दक्षिणा, १मन-२ऋक्साम,' ये ६ युग्म ब्रह्म-क्षत्र मिथुन के स्वरूप रक्षक माने गए हैं। अतएव 'एते देवा राष्ट्रभृतः' के अनुसार ये ही प्राणदेवता राष्ट्रस्वरूप के धारण करने वाले माने गए हैं। इनमे

अग्नि, सूर्य्य, चन्द्रमा, वात, यज्ञ, मन, ये ६ देवता ब्रह्मवीर्य्य के संरक्षक हैं, एवं ओषधि, मरीचि, नक्षत्र, आप, दक्षिणा, ऋक्साम, ये ६ देवता क्षत्रवीर्य्य के संरक्षक हैं। ऋषि कहते हैं कि, जिस राष्ट्र को परतन्त्र देखो, विश्वास करो उस राष्ट्र का ज्ञानानुगत ब्रह्मबल, तथा कर्म्मानुगत क्षत्रबल, दोनों जर्जरित हैं। एवं जिस राष्ट्र को ब्रह्म-क्षत्र-वीर्यों से वञ्चित देखो, विश्वास करो उस राष्ट्र के ब्रह्म-क्षत्रवीर्य्य संरक्षक दोनों बल उक्त ६ ओं द्वन्द्वदेवताओं के अनुग्रह से वञ्चित हो गए हैं। ऐसी स्थिति में यदि तुम्हें अपनी राष्ट्र की प्रतिष्ठा पुनः अपेक्षित है, तो राष्ट्र में ब्रह्म-क्षत्र को पुनरुज्जीवित करना पड़ेगा। इसके लिए उन द्वन्द्वदेवताओं का अपने राष्ट्र में समावेश करना आवश्यक होगा। एवं इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए 'राष्ट्रभृत' नामक यज्ञप्रक्रिया का अनुगमन करना पड़ेगा, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है--

१—'अथातो राष्ट्रभृतो जुहोति-राजानो वै राष्ट्रभृतः। ते हि राष्ट्राणि बिभ्रति। एता ह देवताः भुता एतेन सवेन येनैतत् सोष्यमाणो भवति, ता एवैतत् प्रीणाति। ताऽअस्मा इष्टाः प्रीता एतं सवमनुमन्यन्ते, ताभिरनुमतः सूयते। यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते, स राजा भवति। न स यस्मै, न तत्। राजानो राष्ट्राणि बिभ्रति, राजान उऽएते देवाः, तस्मादेता राष्ट्रभृतः'॥

२—'मिथुनानि जुहोति। मिथुनाद्वाऽअधि प्रजातिः। यो वै प्रजायते, सराष्ट्रं भवति। अराष्ट्रं वै स भवति, यो न प्रजायते। तद्यन्मिथुनानि राष्ट्रं बिभ्रति, मिथुना उऽएते देवाः। तस्मादेता राष्ट्रभृतः'॥

३—'[1]अग्निर्गन्धर्वः, [2]तस्यौषधयोऽप्सरसः। [1]सूर्यो गन्धर्वः, [2]तस्य मरीचयोऽप्सरसः। [1]चन्द्रमा गन्धर्वः, तस्य [2]नक्षत्राण्यप्सरसः। [1]वातो गन्धर्वः, तस्य [2]आपोऽअप्सरसः। [1]यज्ञो गन्धर्वः, तस्य [2]दक्षिणा अप्सरसः। [1]मनो गन्धर्वः, तस्य [2]ऋक्सामान्यप्सरसः। आशासते-इति-नोऽस्त्वित्थं, नोऽस्त्विति। स न इदं ब्रह्म-क्षत्रं पातु-इति। तस्योक्तो बन्धुः।'

—शत० ९ का०।४अ०।१ब्रा०।

सर्वप्रथम ज्ञानशक्ति प्रवर्त्तक ब्रह्मबल, तदनुगत क्रियाशक्ति-प्रवर्त्तक क्षत्रबल, ब्रह्म-क्षत्रानुगृहीत-अर्थशक्तिप्रवर्त्तक विड्बल, तीनों राष्ट्र की प्रधान सम्पत्तियाँ हैं, यह उक्त कथन से

भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। साथ ही यह भी स्वत. सिद्ध है कि, अर्थबलापेक्षया क्रियाबल श्रेष्ठ है, सर्वापेक्षया ज्ञानबल ज्येष्ठ, तथा श्रेष्ठ है। ज्ञानबलोपासक ब्रह्मवीर्य्यप्रधान (जात्या-ब्राह्मण) ब्राह्मणवर्ग वेदगुप्ति द्वारा स्वब्रह्मवर्चसे राष्ट्र की ज्ञानानुगता ब्रह्मविभूति सुरक्षित रखने वाला माना गया है। क्रियाबलोपासक क्षत्रवीर्य्यप्रधान क्षत्रियवर्ग ब्रह्मद्वारा (ब्राह्मण द्वारा) प्राप्त ज्ञानप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता हुआ रथ, अश्व, आदि वाहनबल के द्वारा, धनुरादि शस्त्रबल के द्वारा बाह्य आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा करता हुआ राष्ट्र की क्रियानुगता क्षत्र-विभूति का रक्षक माना गया है। ब्रह्म-क्षत्रबलों से सुगुप्त, अतएव 'गुप्त' इस उपाधि से विभूषित अर्थ-बलोपासक विड्वीर्य्यप्रधान वैश्यवर्ग कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य-द्वारा स्व-सञ्चित अर्थ का ब्रह्म-क्षत्र के आदेशानुसार राष्ट्रनिर्म्माण में उपयोग करता हुआ राष्ट्र की विड्विभूति का संरक्षक माना गया है। इन तीनों पुरुषविभूतियों के अतिरिक्त कृषिकर्मोपयुक्त दुधारी गाएं, सबल अनड्वान्, आदिलक्षण पशुसम्पत् भी नितान्त अपेक्षित है। वीर्य्यानुगता द्विजातिप्रजा (ब्रा० क्ष० वै० प्रजा) की रक्तशुद्धि के लिए राष्ट्र की नारी-सम्पत्ति का भी निर्दुष्ट रहना परम अपेक्षित है। सर्वोपरि प्रकृति का निरापद बना रहना भी अत्यावश्यक है, जिसके लिए प्राकृतधर्म्म (सनातनधर्म्म) का अनुगमन सतत अपेक्षित माना गया है। धर्मानुष्ठान से प्रकृति राष्ट्र के अनुकूल रहती है, पूर्वोक्त ब्रह्म-क्षत्रप्रवर्त्तक देवताद्वन्द्वों का अनुग्रह सुरक्षित रहता है, फलतः समय पर वृष्टि होती है, औषधि-वनस्पतियों का परिपाक होता रहता है। इसी प्राकृतिक अनुग्रह से ब्रह्म-क्षत्र विड्बलत्रयी, पशुबल, आदि राष्ट्रोपयोगी सभी साधन पुष्पित पल्लवित बने रहते हैं। और इन सब साधन-सामग्रियों से राष्ट्र का योग (सम्पत्प्राप्ति), तथा क्षेम (प्राप्तसम्पत्ति का संरक्षण) भलीभाँति होता रहता है। एक स्वतन्त्र राष्ट्र की स्वतन्त्रतासाधक इन्हीं यथयावत् साधन-सामग्रियों का केवल अपने एक स्तुतिमन्त्र से विश्लेपण करते हुए राष्ट्रस्वातन्त्र्य के अनन्यप्रेमी वेदमहर्षि कहते हैं—

१ 'आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्
दोग्ध्री धेनुः, वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः

---

१—मन्त्र की विशद वैज्ञानिक व्याख्या 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-बहिरङ्गपरीक्षात्मक-प्रथमखण्ड' में देखनी चाहिए।

सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्
योग-क्षेमो नः कल्पताम्'

—यजु संहिता २२ अ०। २२ म०।

जिस प्रकृति के द्वारा सम्पूर्ण चराचर-विश्व का एक सुव्यवस्थित क्रम से सञ्चालन हो रहा है, वही प्रकृतितत्त्व उपनिषच्छास्त्र में 'अन्तर्यामी' कहलाया है। प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाले इसी प्रकृतितत्त्व से चूंकि तद्वस्तु-विवर्त्त का नियतभाव से नियमन होता रहता है, अतएव इसे-'अन्तस्तिष्ठन् नियमयति' निर्वचन से 'अन्तर्य्यामी' कहना अन्वर्थ बनता है। वस्तुकेन्द्र 'हृदयम्' कहलाया है। इस हृदय में प्रतिष्ठित अन्तर्य्यामी 'हृ' लक्षण आदानधर्म्म से, 'द' लक्षण विसर्गधर्म्म से, एवं 'यम्' लक्षण नियमनधर्म्म से आगति गति-स्थिति-भावों द्वारा अग्नीषोमात्मक वस्तुपिण्डों का स्वरूपरक्षक बन रहा है। हृदय में 'हृ-द-य' रूप से प्रतिष्ठित यही अन्तर्य्यामी अपनी नियत-एकरूप-वृत्ति से 'नियतिः सत्यम्' कहलाया है। यही 'अनिरुक्त इव प्रजापति' है, जिसका—प्रजापतिश्चरति गर्भे०' ( यजु सं० ३१।१९ ) इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। इसी अन्तर्य्यामी, हृत्प्रतिष्ठ, हृ द-य मूर्त्ति प्रजापति ( प्रकृतितत्त्व ) का विश्लेषण करते हुए ब्राह्मणश्रुति ने कहा है—

'एष प्रजापतिर्यत्-हृदयम्। एतद् ब्रह्म, एत सर्वम्। तदेतत्त्र्यक्षरं-'हृदय' मिति (हृ-द-यम्-इति)। 'हृ' इत्येकमक्षरम्। अभिहरन्त्यस्मै-स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। 'द' इत्येकमक्षरम्। ददन्त्यस्मै-स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। 'यम्' इत्येकमक्षरम्। एति स्वर्गं-लोकं, य एवं वेद। तद्वै तदेतदेव तदास-सत्यमेव। स यो हैवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद 'सत्यं ब्रह्मे' ति, जयतीमाँल्लोकान्। सत्यं ह्येव ब्रह्म।'

—शत० १४ कां ८अ० ४,५ ब्रा०

'वेत्थ नु त्वं तमन्तर्य्यामिणं-य इमं च लोकं, परं च लोकं, सर्वाणि च भूतानि अन्तरो यमयति, इति। यः ( हृदये ) तिष्ठन्-अन्तरो यमयतीति, स त ऽआत्मा अन्तर्य्यामी, अमृतः'।

—शत० १४।६।७ ब्रा०

हृदयस्थित 'हृ-द-य' मूर्त्ति इस सत्यप्रजापति की नियत्तवृत्ति ही 'धर्म्म' है। जिस वस्तु के केन्द्र में उपाधि-भेदभिन्न जैसा अन्तर्य्यामी-सत्य प्रतिष्ठित है, वह वस्तु तदनुरूपा वृत्ति से ही युक्त रहती है। पानी अपने सत्यधर्म्म से सदा निम्नगामी ही रहता है, अग्नि अपने सत्यधर्म्म से सदा ऊर्ध्वगामी ही रहता है, वायु तिर्य्यग्गामी ही रहता है। यही उपाधिकृत प्राकृतिक नित्य धर्म्म-भेद है, यही स्व-धर्म्म है, यही स्वधर्म्म तद्वस्तु का स्वरूप रक्षक है। प्राकृतिक अविचाली भाव ही सत्य है, यही धर्म्म है। अतएव **'यो वै धर्म्मः, सत्यं वै'** ( शत० १४।४।२।२।६ ) इत्यादि रूप से उक्थरूपेण हृदय में प्रतिष्ठित सत्यलक्षण अन्तर्य्यामी का, तथा अर्करूप से बहिर्विनिःसृत धर्म्मलक्षणा बाह्यवृत्ति का अभेद मान लिया गया है। अन्तर्य्यामी-सत्य के धर्म्मलक्षण प्राकृतिक तत्व का विश्लेषण करने वाला प्राकृतिक शास्त्र ही आर्षशास्त्र ( वेदशास्त्र ) है, अतएव यह शास्त्र अपौरुषेय माना गया है। इस अपौरुषेय शास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित श्रौतस्मार्त्त-लक्षण सनातनधर्म्म ही प्राकृतिक धर्म्म है, जिस की नित्यसिद्धा वर्णावर्णसृष्टि के आधार पर धर्म्मभेदरूपेण व्यवस्था हुई है। वर्णानुगति से ही यह वेदाज्ञासिद्ध प्राकृतिक सनातनधर्म्म **'वर्णाश्रमधर्म्म'** नाम से व्यवहृत हुआ है। इस प्राकृतिक नित्यधर्म्म का जब आर्यप्रजा परित्याग कर देती है, तो तत्सम्बद्धा प्रकृति क्षुभित हो जाती है। प्रकृतिक्षोभ से शान्तिसंवाहक देवता-द्वन्द्व कुपित हो जाते हैं। फलतः राष्ट्रसमृद्धि विनाशोन्मुखा बन जाती है, जिसका प्रत्यक्ष निदर्शन समृद्धिशून्य वर्त्तमान भारतराष्ट्र बन रहा है। इस दृष्टिकोण से भी धर्म्म की राष्ट्रसमृद्धि में भली भांति उपयोगिता सिद्ध हो जाती है। जो राष्ट्रवादी भारतीय धर्म्म के इस मौलिक-प्राकृतिक-सत्य-स्वरूप से अपरिचित रहते हुए सनातनधर्म्म, तथा धर्म्मरहस्यप्रतिपादक वेदशास्त्र को राष्ट्र के अभ्युदय में प्रतिबन्धक मान रहे हैं, क्या यह उनका राष्ट्रसमृद्धि-विनाशक प्रौढिवाद नहीं है ?

अस्तु राष्ट्रीयवर्ग किस अज्ञात कारण से धर्म्म को प्रतिबन्धक मान रहा है ? इस प्रश्न की मीमांसा में न पड़ते हुए क्रमप्राप्त दूसरे विद्वद्वर्ग की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। संस्कृतज्ञ विद्वान् धर्म्म का परिशीलन करते हुए भी आर्षशास्त्र की उपेक्षा से धर्म्म के रहस्यज्ञान से वञ्चित होते हुए एक प्रकार से व्याजपूर्वक धर्म्माचरण ( धर्म्माचरण का ढोंग ) कर रहे हैं। सच पूछिए तो ऐसे विद्वानों की कृपा से ही राष्ट्रीयवर्ग धर्म्म से विमुख हुआ, एवं होता जा रहा है। अभ्युदय ( ऐहलौकिक ), एवं निःश्रेयस ( पारलौकिक ) साधक धर्म्म के आचरण का उद्घोष करने वाले विद्वानों की जैसी प्रवृत्ति आज देखी सुनी जाती है, सचमुच यह एक उद्वेगकर समस्या है। मानसिक दासता का जैसा पूर्ण विकास विद्वद्वर्ग में उपलब्ध हो रहा है, खोजने से भी अन्यत्र उपलब्ध न होगा। अर्थपाश में बांध कर आज आप विद्वानों

से यथेच्छ धर्म्मव्यवस्था प्राप्त कर सकते हैं। कणलोभग्रस्त विद्वान् पातकी से पातकी व्यक्ति को भी धर्म्मरक्षक, धर्म्माचार्य्य, आदि उपाधियों से अलङ्कृत कर सकते हैं। स्वार्थवश सत्य का गला घोंट देना आज इन की स्वाभाविक चर्या बन रही है। आत्माभिमान आज इनके लिए दूर से ही प्रणम्य बन रहा है। यही कारण है कि, आज इस वर्ग के प्रति सभी वर्ग अश्रद्धात्मक अवाच्यवादों का प्रयोग करते नहीं अघा रहे।

तीसरा भ्रमप्राप्त अस्मदादि साधारण मनुष्यों का श्रद्धालुवर्ग है। यह वर्ग शास्त्र पर पूर्ण निष्ठा रखता है। कुतर्कियों के तर्कजाल का समुचित उत्तर देने की क्षमता न रखता हुआ भी यह आस्तिकवर्ग चिरन्तन संस्कारवश, तथा संस्कारविघातिका पाश्चात्य शिक्षासंसर्ग के अभावात्मक अनुग्रह से अद्यावधि स्वधर्म्म पर यथाकथञ्चित् प्रतिष्ठित है। वस्तुस्थिति तो यह है कि, इस श्रद्धालु-वर्ग की आस्था के बल पर ही अद्यावधि धर्म्मनिष्ठा यथाकथञ्चित् प्रक्रान्त है। आस्तिकवर्ग की इस सहज श्रद्धा का हृदय से अभिनन्दन करते हुए हम उससे यह निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि, जो कर्म्म, जो धर्म्म बिना ज्ञान का आश्रय लिए केवल प्रणाली ( अन्ध प्रणाली ) का अनुगामी बना रहता है, कालान्तर में उसमें शैथिल्य आ जाता है। उदाहरण के लिए श्राद्धकर्म्म ही पर्य्याप्त होगा। श्राद्ध के मौलिक रहस्य-ज्ञानाभाव से आज श्राद्धेतिकर्त्तव्यता में अनेक दोषों का समावेश हो गया है। जहां श्राद्धकर्म्म के लिए—'अपराह्णः पितॄणाम्' के अनुसार अपराह्ण ( मध्याह्नोत्तर ) काल नियत है, वहां 'पूर्वाह्णो वै देवानाम्' के अनुसार देवकर्म्म के लिए नियत पूर्वाह्ण से पहिले ही श्राद्धेतिकर्त्तव्यता पूरी कर ली जाती है। पिण्डप्रदान ही श्राद्धकर्म्म की मुख्य प्रतिष्ठा है। पिण्डगत सौम्यप्राण ही श्रद्धासूत्रद्वारा श्रद्धासूत्र के आधार पर वितत पुत्रादिगत श्रद्धाभाव से परलोकस्थ प्रेत पितरों की तृप्ति का कारण माना गया है। इधर आज केवल अन्नकर्म्मात्मक ब्राह्मणभोजन कर्म्म को ही प्रधानरूपेण श्राद्ध का स्वरूपसमर्पक माना जा रहा है। वैध विधि से वञ्चित ऐसा कर्म्म न केवल व्यर्थ ही जाता, अपितु ऐसा अवैध कर्म्म अभ्युदय के स्थान में प्रत्यवायजनक बन जाता है। देवता का आह्वान न करना यही उत्तम पक्ष है। परन्तु संकल्पद्वारा देवता का आह्वान कर उसका सत्कार न करना अनर्थ का बीजवपन करना है। "मैं आज पिण्डपितृ-यज्ञ करूंगा" इस मानस संकल्प से प्राणात्मक पितृदेवता श्रद्धासूत्र द्वारा परलोक से आकर श्राद्धकर्त्ता यजमान की आध्यात्मिक संस्था में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इनकी तृप्ति का प्रधान साधन पिण्डगत सौम्यप्राण है। यदि इन्हें वह प्राप्त नहीं होता, तो अभिशाप देते हुए पितर पराङ्मुख हो जाते हैं।

कितने एक महानुभावों के मुख से श्राद्धकर्म्म की उपपत्ति के सम्बन्ध म यह भी कहते सुना गया है, कि, 'सामाजिक मैत्री सुरक्षित रखने के लिए ही वर्ष में १५ दिन भोजन कराने के लिए नियत कर दिए गए हैं'। इस प्रकार अज्ञानतावश नवीन नवीन कल्पनाओं के आधार पर आज प्रत्येक कर्म्म विरुद्धभावानुगत होता हुआ अभ्युदय के स्थान में सर्वनाश का कारण बन रहा है। जो महानुभाव श्राद्ध—यज्ञादि नहीं करते, लोकसम्पत्ति की दृष्टि से वे सुखी देखे जाते हैं। इधर श्राद्धादि शास्त्रीय कर्म्मों की अनुगामिनी प्रजा दुःखी देखी सुनी जाती है। इसका क्या कारण ?। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः, स धर्म्मः' कहते हुए महर्षियोंने धर्म्म-प्रवृत्ति को उभयलोक-सुखावाप्ति का कारण बतलाया है। होरहा है इसके ठीक विपरीत। इसी विप्रतिपत्तिका बड़ा सुन्दर समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'एक बार भारतीय श्रद्धालुवर्गने अश्रद्धावश यज्ञकर्म्म का परित्याग कर दिया। उन्होंने देखा कि, जो यज्ञानुष्ठान करते हैं—वे दुःखी देखे जाते हैं, एवं जो यज्ञानुष्ठान नहीं करते—वे सुखी—समृद्ध देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में उन्होंने यह संकल्प कर डाला कि, आज से अपन किसी भी यज्ञकर्म्म का अनुगमन न करेंगे। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, जिस प्रकार वर्त्तमान युग में 'धर्म्मात्मा दुःख पा रहे हैं, पापात्मा लोकवैभव से युक्त हो रहे हैं', इस भावना से जैसे मानव समाज की धर्म्ममार्ग पर अश्रद्धा बढ़ती जा रही है, ठीक इसी हेतु के आधार पर पुरायुग में भी मानवसमाज यज्ञादि कर्म्म-कलाप के प्रति अश्रद्धा करता हुआ इसे छोड़ बैठा। जब स्वर्गाधिपति इन्द्र के पास ये समाचार पहुंचे, तो उन्होंने मानवसमाज की अश्रद्धा दूर करने के लिए स्वगुरू बृहस्पति को भारतवर्ष भेजा। बृहस्पति के सामने जब मनुष्यों ने अपनी अश्रद्धा का 'य उ यजन्ते-ते पापीयांसो भवन्ति, य उ न यजन्ते-ते श्रेयांसो भवन्ति। किं काम्या यजमहि,' यह कारण उपस्थित किया, तो बृहस्पति ने अनुमान लगा लिया कि, अवश्य ही इन्होंने यज्ञकर्म्म में किसी विरुद्ध कर्म्म का समावेश कर डाला है। फलतः बृहस्पति ने आदेश दिया कि, अब एक बार तुम हमारे सामने यज्ञ करो। मनुष्यों ने आदेशानुसार यज्ञवेदि का निर्म्माण किया, त्रेताग्नि-कुण्ड बनाए। इसी कर्म्म-परम्परा में बृहस्पतिने देखा कि यज्ञसम्पादक ऋत्विजों ने वेदि पर कुशा बिछाने से पहिले ही वेदि का स्पर्श कर डाला है। बृहस्पति बोल पड़े कि, हे मनुष्यो ! इसी दोष से अभ्युदयसाधक यज्ञ ने तुम्हारा अनिष्ट किया है। कुशास्तरण से पूर्व वेदि का स्पर्श करने से वेदिनिर्म्माणार्थ खोदी गई भूमि का हिंस्रक प्राण तुम्हारे अध्यात्मयज्ञ में प्रविष्ट होगया। इसी से तुम्हारा यज्ञस्वरूप विकृत हो गया।

सावधान ! आगे से भूलकर भी वर्हिस्तरण से पूर्व वेदि का स्पर्श न करना। दर्भविद्युत् से जब वेदिगत् हिंसक विद्युत शान्त हो जाय, तभी तुम वेदिका स्पर्श कर सकते हो। आदेशानुसार, मनुष्यों ने ऐसा ही किया। एवं इस वेद्यनवमर्शपूर्वक होने वाले यज्ञानुष्ठान से मनुष्य यज्ञ न करने वालों की अपेक्षा सुसमृद्ध बन गए' ( देखिए-शत०१।२।५ ब्रा० ) ॥

उक्त ब्राह्मणाख्यान से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, धर्म्मतत्त्व का किसी परोक्ष-अचिन्त्याप्रमेय-शक्ति से सम्बन्ध है। इस में न तो माननीय कल्पना का समावेश ही सम्भव है, एवं न साधारण भी भूल का ही यहां समादर है। जिस प्रकार थोड़ी सी असावधानी से विद्युतयन्त्र प्रकाश-प्रदान के स्थान में प्राणों का संग्राहक बन जाता है, एवमेव थोड़ा भी इतस्ततः करने से यही धार्म्मिक-कर्म्मकलाप अभ्युदय के स्थान में सर्वनाश का कारण बन जाता है। यदि एक स्वर-दोष से इन्द्रशत्रुवृत्र द्वारा इन्द्रवधार्थ होने वाले यज्ञ में इन्द्र के स्थान मे स्वयं यज्ञकर्त्ता वृत्र मारा जा सकता है, तो अवश्यमेव धर्म्मानुष्ठानों के सम्बन्ध में होने वाली भूलें हमें अभ्युदय से वञ्चित रखने के साथ साथ हमारा महा अनिष्ट भी कर सकतीं हैं। यही वेदशास्त्र है, वे ही मन्त्र हैं, मन्त्रों में वे ही अन्वर्थ शक्तियां निहित हैं, वे ही पद्धतिग्रन्थ हैं। फिर क्या कारण है कि, आज हमारे अनुष्ठान सफल नहीं होते ?। आज यह कौन विश्वास करा सकता है कि, ब्राह्मणवर्ग कर्म्म-निर्वाह की कथा तो दूर, मन्त्रों का भी ठीक ठीक उच्चारण कर सकता है? ऐसी दशा में अपने प्रज्ञापराध-जनित दोष से उत्पन्न नाशकारिणी दशा का उत्तरदायित्व धर्म्म पर डाल देना क्या न्यायपक्ष है ? सनातनधर्म्मावलम्बियों की इसी भूल ने इन्हें अन्य मतवादियों की तुलना में हीन-वीर्य्य बना रक्खा है। अन्यमतावलम्बी तात्कालिक लोकवैभव से बाह्य-दृष्ट्या तुष्टवत प्रतीत हो रहे हैं। परन्तु हम धर्म्म का व्याज से आचरण करते हुए धर्म्म को धोका देकर उभयतः भ्रष्ट हो रहे हैं। इस पतन से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है तत्तत्-कर्म्मकलापों की मौलिक उपपत्तियों का परिज्ञान प्राप्त करना। उपपत्तिज्ञान से ही हम कर्म्म के वास्तविक स्वरूप से परिचय प्राप्त कर-सकते हैं। तभी कर्म्म की अनुरूपता का अनुगमन सम्भव हो सकता है, एवं तभी कर्म्मानुष्ठान फलप्रद बन सकता है। 'श्रद्धालुवर्ग स्वशक्त्यनुसार शास्त्रीय कर्म्म कलाप के उपपत्तिज्ञान द्वारा यथाविधि कर्म्मों का अनुष्ठान करे, एवं तद्द्वारा यथोक्त फलभाक् बने' यही श्राद्धविज्ञाननिबन्ध की रचनाकारणत्रयी के अन्तिम (तृतीय) कारण का संक्षिप्त निदर्शन है।

सर्वान्त में प्रसङ्गात् एक स्वार्थमूलक कारण का दिग्दर्शन करा देना भी अप्रासङ्गिक न माना जायगा। आज से ८ वर्ष पहिले श्रद्धेय पितृःश्री ( बालचन्द्रशास्त्री ) का परलोक गमन हुआ। ज्येष्ठ भ्रातृःश्री के द्वारा और्ध्वदैहिक-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता सम्पन्न हुई। उस असहायावस्था में .

यह संकल्प हुआ कि, दिवङ्गत प्रेतात्मा की तृप्ति के लिये तुम्हें भी किसी अर्थानपेक्ष अनुष्ठान का अनुगमन करना चाहिए। अन्ततो गत्वा-'पितरो वाक्यमिच्छन्ति' इस सिद्धान्त के आधार पर यही निश्चय किया गया कि, पितृ श्री के वार्षिक श्राद्धोपलक्ष में वाङ्मय निबन्ध ही श्रद्धापूर्वक समर्पित किया जाय। पितृप्रजापति की सहजसिद्ध अनुकम्पा से वह संकल्प पूरा हुआ, एवं यही श्राद्धविज्ञानरचना-संकल्प का एक मुख्य कारण बना।

श्राद्धविज्ञान-निबन्ध-रचनाकारण के सम्बन्ध में निवेदन किया गया। अब निबन्ध-प्रतिपाद्य विषयों का संक्षेप से दिग्दर्शन कराती हुई प्रस्तावना उपरत होती है। आर्षप्रणाली के अनुसार सम्पूर्ण वेदशास्त्र ( मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र ) 'ज्ञातव्य, कर्त्तव्य,' भेद से दो भागों में विभक्त हुआ है। वेद के जिस भाग में ज्ञातव्य विषयों का प्रतिपादन हुआ है, वह 'ज्ञातव्य-वेद' है। 'स्तुति-विज्ञान-इतिहास' ये तीन ज्ञातव्य विषय हैं। 'ऋक्-यजुः-साम-अथर्व' नाम की ११३१ संहिताओं में इन्हीं तीन ज्ञातव्य विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है, अतएव संहितात्मक वेदभाग को 'ज्ञातव्य वेद' कहा जा सकता है, जोकि 'ब्रह्म'-'मन्त्र' आदि नामों से भी व्यवहृत हुआ है। गृहस्थाश्रमानुगत 'कर्म्मयोग,' वानप्रस्थानुगत 'भक्तियोग,' एवं संन्यस्ताश्रमानुगत 'ज्ञानयोग,' ये तीन योग कर्त्तव्यात्मक हैं। 'विधि' नामक ब्राह्मणभाग में कर्म्मयोग का, 'आरण्यक' नामक ब्राह्मणभाग में भक्तियोग का, तथा 'उपनिषत्' नामक ब्राह्मणभाग में ज्ञानयोग का प्रतिपादन हुआ है। शतायु पुरुष ब्रह्मचर्य्याश्रम में 'छन्दांसि नियतः पठेत्' इस मानवादेश के अनुसार ज्ञातव्यलक्षण ब्रह्मवेद का, तथा कर्त्तव्यलक्षण-विधि-आरण्यक-उपनिषदात्मक ब्राह्मणवेद का अध्ययन समाप्त कर क्रमशः आगे के तीनों आश्रमों में कर्म्म-भक्ति-ज्ञानरूप कर्त्तव्यों का अनुगमन करता हुआ अपना जन्म सफल बनाने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार ज्ञातव्य-कर्त्तव्यात्मक वेदशास्त्र के द्वारा सर्वस्व सिद्धि हो जाती है, जैसा कि-'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' इत्यादि मनुवचन से प्रमाणित है।

प्रतिपाद्यविषय दिग्दर्शन—

उक्त कथन से प्रकृत में यही बतलाना अभीष्ट है कि, वेदशास्त्रसिद्ध 'श्राद्ध' पदार्थ भी ज्ञातव्य-कर्त्तव्य-भेद से दो भागों में विभक्त किया जासकता है। श्राद्धपदार्थ की ( कर्म्म की ) इतिकर्त्तव्यता 'कर्त्तव्यात्मक श्राद्ध' है, जिसका स्मृति, निबन्धादि ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। दूसरे शब्दों में "श्राद्ध कैसे करना चाहिए?" इस प्रश्न का समाधान करने वाली श्राद्धमयूख, श्राद्धविवेक, श्राद्धमञ्जरी, आदि निबन्ध ग्रन्थों में प्रतिपादित श्राद्धकर्म्म की

पद्धति 'कर्त्तव्यात्मकश्राद्ध' है। श्राद्धकर्म्मान्तर्गत कत्वर्थ कर्म्मों का मौलिक रहस्य क्या है? श्राद्धकर्म्म एवंरूपेणैव क्यों किया जाता है? श्राद्ध से पितर कैसे तृप्त हो जाते हैं? इत्यादि प्रश्नों से सम्बन्ध रखने वाला वेदशास्त्रसिद्ध उपपत्ति-विज्ञान ही 'ज्ञातव्यात्मक श्राद्ध' है। दूसरे शब्दों में श्राद्धकर्म्म का मौलिक विज्ञान ही 'ज्ञातव्यात्मकश्राद्ध' है। इन उभयविध श्राद्धपदार्थों में से कर्त्तव्यात्मक श्राद्धपदार्थ (श्राद्धपद्धति) के लिए स्वतन्त्र निबन्ध लिखना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि पद्धति के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के द्वारा शतशः निबन्ध लिखे जा चुके हैं। दूसरा ज्ञातव्य-भाग बच रहता है। अवश्य ही श्राद्धकर्म्म की वैज्ञानिक उपपत्ति के सम्बन्ध में आज कोई ऐसा स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो रहा, जिसमें श्राद्ध-विज्ञान का एकत्र स्पष्टीकरण किया गया हो। एकमात्र इसी लक्ष्य से प्रस्तुत निबन्ध को 'श्राद्ध-विज्ञान' का प्रधान लक्ष्य माना गया है। चूंकि इसमें ज्ञातव्यात्मक-श्राद्ध-विज्ञान का ही प्रतिपादन हुआ है, अतएव इसे 'श्राद्धविज्ञान' इस नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ समझा गया है।

'श्राद्धविज्ञान' यह खण्डचतुष्टयात्मक सम्पूर्ण ग्रन्थ का नाम है। इस 'श्राद्धविज्ञान' नामक एक निबन्ध (ग्रन्थ) में विषयप्रतिपादन-सुविधा की, तथा प्रतिपाद्य विषयावगति की दृष्टि से 'चार खण्ड' रक्खे गए हैं। प्रत्येक खण्ड में कई एक 'अवान्तरप्रकरण' हैं। प्रत्येक अवान्तर प्रकरण में अनेक 'परिच्छेद' हैं। एवं प्रत्येक परिच्छेद में अनेक 'वैज्ञानिक तत्त्वों' का विश्लेषण हुआ है। इस प्रकार श्राद्धविज्ञान, तदन्तर्गत चार खण्ड, खण्डान्तर्गत अवान्तर प्रकरण, अवान्तर प्रकरणान्तर्गत परिच्छेद, परिच्छेदान्तर्गत वैज्ञानिकतत्त्वविश्लेषण, इस दृष्टि से विषयों का विभाजन हुआ है। प्रकृत में जिन विषयों का 'तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः' रूप से दिग्दर्शन कराया जाने वाला है, वे अवान्तरप्रकरणान्तर्गत 'परिच्छेद' हैं। परिच्छेदान्तर्गत वैज्ञानिक विषयों की सूची प्रत्येक खण्ड के आरम्भ में 'विषयसूची' नाम से समाविष्ट हुई है।

'श्राद्धविज्ञान' निबन्ध में जितने भी विज्ञानात्मक अवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है, उन्हें 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत किया गया है। आज दिन विद्वत्समाज में 'उपनिषत्' शब्द वेद के अन्तिम भागात्मक 'ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डका' दि ग्रन्थों में ही निरूढ माना जा रहा है। परन्तु हमारी दृष्टि में 'उपनिषत्' शब्द सर्वथा यौगिक[1] है। मौलिकउपपत्ति-लक्षण विज्ञान-

---

[1] इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'त्रिखण्डात्मिका—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' के प्रथमखण्डान्तर्गत 'उपनिषच्छब्दरहस्य' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

सिद्धान्त के सम्यक् परिज्ञान से हमारा आत्मा प्रतिपाद्य विषय की ओर निश्चितरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। दूसरे शब्दों में मौलिक रहस्य-परिज्ञान से प्रतिपाद्य विषय की सत्यता पर श्रद्धा-विश्वास करते हुए उसकी इतिकर्त्तव्यता (अनुष्ठान) में हम प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी आधार पर- 'उप-( विषयसमीपे )-नि-( नितरां-निश्चयेन ) मीदति-( प्रतिष्ठितो भवत्यात्मा ययोपपत्त्या, सा उपपत्तिस्तस्य विषयस्य, कर्म्मणो वा-उपनिषत्' इत्यादि निर्वचन के अनुसार विषयप्रवृत्तिहेतुभूता विज्ञानात्मिका मौलिक उपपत्ति को 'उपनिषत्' कहना अन्वर्थ बन जाता है। पाश्चात्य भाषा में जिस अर्थविशेष के लिए 'प्रिन्सिपल' (Principle) शब्द प्रयुक्त हुआ है, यावनीभाषा जिस अर्थ में 'उसूल' शब्द का प्रयोग कर रही है, ठीक उसी अर्थ में आर्षभाषा ने 'उपनिषत्' शब्द को जन्म दिया है। 'उपनिषत्' शब्द के इस यौगिकार्थ को स्वीकार करने से ही 'यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति'–'अरण्यमियात् पुनरेयात्'–'तस्योपनिषदहमिति'–सत्यस्योपनिषच्छ्रद्धा'–'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' इत्यादि आप्तवचनों में पठित 'उपनिषत्' शब्द का समन्वय किया जा सकता है। इसी यौगिकार्थ के आधार पर गीतास्मृति का 'भगवद्गीतोपनिषत्' नाम से व्यवहृत करना सुसङ्गत बनता है। यदि उपनिषच्छब्द केवल वेदान्त ( वेद के अन्तभाग रूप ईशादि ग्रन्थों ) में ही निरूढ होता, तो गीता को उपनिषत् कहना सर्वथा असङ्गत बन जाता। प्रस्तुत श्राद्धविज्ञाननिबन्ध के सभी अवान्तरप्रकरण चूंकि उपपत्ति-ज्ञान का विश्लेषण करते हुए उपनिषच्छब्द के यौगिकार्थ से समतुलित हैं। एकमात्र इसी आधार पर उन अवान्तर प्रकरणों को- 'आत्मविज्ञानोपनिषत्'–'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्'–'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्'–'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' इत्यादि रूप से 'उपनिषत्' नामों से व्यवहृत करना उचित मान लिया गया है।

सम्पूर्ण निबन्ध ४ खण्डों, तथा (लगभग २०+३० अठपेजी साइज के) १८०० (अठारह सौ) पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। चतुःखण्डात्मक इस श्राद्धविज्ञान में जिन अवान्तर वैज्ञानिक विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है, उनका विशेष परिचय तत्तत् खण्डों के स्वाध्याय पर निर्भर है। एवं सामान्य परिचय तत्तत् खण्डों के आरम्भ में उद्धृत विषयसूची पर निर्भर है। प्रकृत प्रस्तावना में उनका दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है। निबन्ध समाविष्ट चारों खण्ड क्रमशः निम्न लिखित नामों से व्यवहृत हुए हैं—

*खण्डचतुष्ट्यात्मक-श्राद्धविज्ञान*—

१—आत्मविज्ञानोपनिषत् ( प्रथमखण्ड ) ।
२—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् ( द्वितीयखण्ड ) ।
३—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् ( तृतीयखण्ड ) ।
४—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् ( चतुर्थखण्ड ) ।

## १—आत्मविज्ञानोपनिषत् ( प्रथमखण्ड )—

एतन्नामक प्रथमखण्ड में आत्मस्वरूप का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण हुआ है। 'अखण्ड-सखण्ड' से आत्मा के दो मुख्य विवर्त्त हैं। इन दोनों में अखण्डात्मा सर्वधर्म्मशून्य, सर्वव्यापक, अतएव वाङ्मनसपथातीत, अतएव च एकान्ततः शास्त्रानधिकृत है। दूसरा सखण्ड आत्मा सर्वधर्म्मोपपन्न है। यह सखण्ड आत्मविवर्त्त महामाया, योगमायादि मायिक निबन्धनों से आठ विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। शरीरभिन्न-आत्मसत्तावाद ही श्राद्धकर्म्म की मूल-प्रतिष्ठा है। अतएव आरम्भ में आत्मा के स्वरूप का परिचय कराना ही आवश्यक समझा गया है। 'शरीर ही आत्मा है ?, अथवा आत्मतत्त्व शरीर से पृथक् है ?'—'यदि आत्मा व्यापक है, तो उसकी परलोकगति कैसे सम्भव है ?'—यदि आत्मा पूर्व शरीर के साथ ही अन्य शरीर धारण कर लेता है, तो पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म्म किस के उद्देश्य से किया जाता है ?'—'पार्वणादि श्राद्ध किस आत्मा के लिए विहित है ?'—'गयाश्राद्ध किस आत्ममुक्ति का कारण बनता है ?' इत्यादि यच्चयावत् आत्मस्वरूपविषयिणी जिज्ञासाओं का वैज्ञानिक समाधान करने वाले 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में निम्नलिखित अवान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है :—

*१—आत्मविज्ञानोपनिषदि—( प्रथमखण्डात्मिकायाम् )*—

१—अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्— प्रथमा
२—अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्—द्वितीया

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

## २—'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

( तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या )



समाप्ता चेयमात्मविज्ञानोपनिषदि 'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

## ३—'यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

( तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या )



समाप्ता चेयमात्मविज्ञानोपनिषदि—'यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

*　　*

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

## ४—'विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

( तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः )

१—परमेष्ठी का अपेक्षाकृत अव्यक्तत्व
२—विश्वस्य हृदयम्
३—सोम, पितर, इन्द्र, विभूतियाँ
४—यज्ञप्रवर्त्तक विश्वात्मा
५—यज्ञ के विविध विवर्त्त
६—सूर्य्यात्मक क्षत्रब्रह्म
७—सौर अन्नादाग्नि के तीन विवर्त्त
८—सूर्य्यमूलक दैवात्मा
९—सूर्य्यमूलक विज्ञानात्मा
१०—धिषणा, तथा प्राणविवर्त्त

प्रकरणोपसंहार

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

## ५—'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' पञ्चमी

( तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या )

१—महान् की महत्ता
२—महेन्द्र, और 'महान्'
३—सोम-चिदात्मक 'पितर'
४—त्रिविध ज्ञानविवर्त्त
५—प्रजापतिविवर्त्तत्रयी
६—त्रिगुणात्मक 'पुरुषब्रह्म'
७—एकाक्षरलक्षण 'महद्ब्रह्म'
८—विश्वयोनिलक्षण 'महानात्मा'
९—सुषुप्त्यधिष्ठाता 'महानात्मा'
१०—आकृति प्रकृति-अहङ्कृतिलक्षण 'महानात्मा'
११—सत्त्व-रज-स्तमोलक्षण 'महानात्मा'
१२—चान्द्र-'महानात्मा'
१३—चान्द्र-'प्रज्ञानात्मा'

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयमात्मविज्ञानोपनिषदि-'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' पञ्चमी

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

## ६—'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्' षष्ठी

( तत्रैता आत्मोपनिषदो व्याख्याता द्रष्टव्याः )

१—वैश्वानरात्मविज्ञानोपनिषत्
२—तैजसात्मविज्ञानोपनिषत्
३—प्राज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्
} →प्रत्यगात्मोपनिषत् (१)

४—हंसात्मविज्ञानोपनिषत् ]→प्रतात्मोपनिषत् (२)

५—शाह्यात्मविज्ञानोपनिषत् ]→शरीरात्मोपनिषत् (३)

( तस्यामेतस्यां षष्ठ्यां-षष्ठात्मोपनिषदात्मिकाया-'प्राणात्मविज्ञानोपनिषदि' विम्न-विषया निरूपिता द्रष्टव्याः )

१—अविज्ञान-क्षणिकविज्ञानमूला भ्रान्ति
२—विभिन्नपक्षसमर्थन
३—व्याख्यादोषमूला आत्मस्वरूपविप्रतिपत्ति
४—आत्मभेदस्वरूपपरिचय
५—आत्मपरिग्रहमूलक आत्मस्वरूपभेद
६—मीमाभावप्रवर्तक 'माया' परिग्रह
७—कलाप्रवर्तक 'कला' परिग्रह
८—सगुणभावप्रवर्तक 'गुण' परिग्रह
९—सविकारभावप्रवर्तक 'विकार' परिग्रह
१०—सावरणभावप्रवर्तक 'आवरण' परिग्रह
११—साञ्जनभावप्रवर्तक 'अञ्जन' परिग्रह
१२—विभूति, पाप्मा, परिचय
१३—विराट् प्रजापति
१४—महेश्वर की सर्वव्याप्ति
१५—सर्वधर्म्मोपपन्न पुरुषात्मा
१६—प्रजापतिचतुष्टयी
१७—जीवात्मस्वरूपोपक्रम
१८—चिदात्मा, चिदंश, चिदाभास,
१९—योग-बन्ध-विभूति
२०—विदित, अविदित, उभयातीत, आत्मविवर्त्त
२१—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ
२२—छन्दनाम विवर्त
२३—त्रिधा भुवनानि
२४—रुद्रत्रैलोक्य
२५—दक्षिणामूर्तिशिवतत्त्व
२६—वायुवेष्टित भूपिण्ड
२७—अन्नादप्रकृति, और भूपिण्ड
२८—पार्थिव 'एमूषवराह'
२९—शुक्र, और शुक्राणु
३०—अमृत-मृत्युरूपेण पार्थिवमन्था
३१—देवासुरप्रतिस्पर्द्धा
३२—विस्रस्त पार्थिव प्रजापति
३३—षड्गुणात्मक पार्थिवविवर्त्त
३४—पार्थिवाग्नि के विविध विवर्त्त
३५—पार्थिवाग्नि का अन्नादत्व
३६—कृष्णाजिन, और पुष्करपर्ण

गतार्थ श्वेतकेतु-उद्दालक-संवाद-प्रतिपादित-'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्' एवं
समानध्यायात्मविज्ञानोपनिषदात्मक श्राद्धविज्ञानान्तर्गत.—

प्रथमः खण्डः

## २—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् ( द्वितीखण्ड )—

एतन्नामक द्वितीय-खण्ड मे वैज्ञानिक-दृष्टि से 'पितृ' तत्त्व का विश्लेषण हुआ है। 'आत्म-विज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड मे जिन आठ आत्मस्वरूपों का विवेचन हुआ है, उनमे से 'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' नामक अवान्तर प्रकरण मे प्रतिपादित 'महानात्मा' ही पिण्ड-दानादिलक्षण पार्वणादिश्राद्धकर्म्म की प्रतिष्ठा है। सौम्यशुक्राधारेण प्रतिष्ठित महानात्मा में चतुरशीतिकल पितृप्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी पितृप्राणसमष्टि की तृप्ति के लिए श्राद्धकर्म्म विहित है। 'अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत-भेद से त्रिसंस्थ बने हुए पितृप्राण का मौलिक स्वरूप क्या है ?'—'नान्दीमुख-पार्वण-अश्रुमुख-नामक पितरों का क्या स्वरूप है ?'—'अग्निपत्-सोमसत्-बर्हिपत्-नामक अन्नात्मक पितर, आज्यपा-सोमपा-हविर्भुक्-नामक अन्नादात्मक पितर, सुकाली-नामक अनुभय पितर अपना-कैसा स्वरूप रखते हुए कहां प्रतिष्ठित रहते हैं ?, क्या करते हैं ?'—'वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्त-शिशिर-भेदभिन्न ऋतुपितरों का क्या स्वरूप है ?' क्यों इन्हें 'ऋतुपितर' कहा गया ?'—'पितृ-प्राण की मूलप्रतिष्ठारूप, अतएव-'पितॄणां पितरः' नाम से प्रसिद्ध पितृदेवताओं का क्या स्वरूप है' इत्यादि प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान के अतिरिक्त आरम्भ मे ही प्रस्तुत प्रकरण ( २ खण्ड ) मे उन श्रौत-स्मार्त्त-प्रमाणों का भी संग्रह हुआ है, जो विस्पष्ट भाषा में 'मृतपितृ-श्राद्धकर्म्म' का समर्थन कर रहे हैं। श्राद्धविज्ञानान्तर्गत 'पितृस्वरूपविज्ञानोप-निषत्' नामक इस द्वितीयखण्ड मे निम्नलिखित पांच अवान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है—

२—*पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—( द्वितीयखण्डात्मिकायाम् )—*

१—प्रमाणोपनिषत
२—पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत्
३—दिव्यपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्
४—ऋतुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्
५—प्रेतपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्

*　　　*

## २—श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक द्वितीयखण्ड—

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—( द्वितीयखण्डात्मिकायाम् )—

### १—'प्रमाणोपनिषत्'—प्रथमा

( तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या )



समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—'प्रमाणोपनिषत्' प्रथमा,

*   *   *

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—

### २—'पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत्'—द्वितीया

( तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या )

समाप्ता चेय पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि-'पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत' द्वितीया

* * *

*पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—*

## ३—'दिव्यपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत' तृतीया

( तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या )



समाप्ता चेय पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—"दि० पि० विज्ञानोपनिषत्" तृतीया

* * *

*पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—*

## ४—'ऋतुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

( तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या )

दायादसापिण्ड्य, आदि सापिण्ड्यभावों की मूलप्रतिष्ठा क्या है ?'—प्रजातन्तुप्रवर्त्तक पितृप्राणात्मक सहःपिण्डों का क्या स्वरूप है ?'—'सप्तम पुरुष के अनन्तर सपिण्डता क्यों निवृत्त हो जाती है ?'—'गोत्र का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?'—'समानगोत्रों में विवाह सम्बन्ध क्यों निषिद्ध माना गया है ?'—'पिण्डभाजः-लेपभाजः-प्रेतपितरों का क्या स्वरूप है ?'—'प्रेतपितृनिमित्त प्रदत्त पिण्ड, एवं गोदानादि, विदूरस्थ प्रेत-पितरों के समीप कैसे पहुंच जाते हैं ?'—'अघाशौच-सूतकाशौच-शावाशौच-आदि आशौचों का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?'—सम्पूर्ण वंशजों में आशौच सम्बन्ध कैसे संक्रान्त हो जाता है ?'—इत्यादि प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान का विश्लेषण करने वाले प्रस्तुत तृतीय खण्ड में निम्नलिखित अवान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है—

३—*सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—( तृतीयखण्डात्मिकायाम् )—*

१—प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्
२—ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्
३—आशौचविज्ञानोपनिषत्

* *

३—*श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीयखण्ड—*

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि-( तृतीयखण्डात्मिकायाम् )

१—'प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

( तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या )

१—विषयोपक्रम
२—महानात्मानुगत पितृतत्त्व
३—प्रजातन्तुप्रतिष्ठालक्षण महानात्मा
४—भूतसम्परिष्वक्त महानात्मा
५—महानात्मा का आविर्भावक
६—औपपातिक कर्म्मात्मा
७—'रेतो' मय कर्म्मात्मा
८—'इरा' रसमय कर्म्मात्मा
९—प्रपदप्रतिष्ठ कर्म्मात्मा
१०—'करारविन्देन पदारविन्दम्'

समाप्ता चेयं सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि-'प्रजातन्तुविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

*　　　　*　　　　*

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—

## २—'ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्'—द्वितीया

( तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या )

१९—अमावास्यानुगत श्राद्धकर्म्म
२०—सन्ततिनिरोधकपितृदोष (१६)
२१—श्रौताख्यान द्वारा श्राद्धविज्ञान का स्पष्टीकरण
२२—प्राणविद्यामूलक श्राद्धकर्म्म
२३—श्राद्धकर्म्मानुगत श्रौतपरिभाषाविज्ञान
२४—श्राद्धोपकरणों की सोमात्मकता
२५—प्रेतात्मतृप्तिप्रवर्त्तक श्राद्धकर्म्म
२६—श्राद्धकर्म्मभेदमीमांसा
२७—श्राद्धानुगत कालतत्त्वमीमांसा
२८—श्राद्धानुगत ब्राह्मणभोजनमीमांसा
२९—गयाश्राद्धानुगत आनृण्यविज्ञान (४)
३०—खण्डात्माओं का यथास्थान विलयन
३१—गयाप्राणात्मक आगन्तुक महात्मा
३२—गयाप्राणात्मक आत्मा की क्रान्ति
३३—मुग्धप्रेतपितरों की सौम्यसामग्री
३४—पितृसम्पत्, और पितृतुष्टि
३५—गयाक्षेत्र का वैज्ञानिक स्वरूप
३६—गयाश्राद्धद्वारा प्रेततृप्ति

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं-सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि-'ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

* * *

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—

## ३—'आशौचविज्ञानोपनिषत्'—तृतीया

( तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या. )

किंमपि प्रास्ताविकम्

१—आशौचपात्रस्वरूपमीमांसा
२—आशौचस्वरूपमीमांसा
३—अपाशौचस्वरूपमीमांसा
४—आशौचत्रयीमीमांसा
५—स्पर्शास्पर्शमीमांसा
६—कर्तव्याकर्तव्यमीमांसा
७—आशौचनिमित्तमीमांसा (आशौचोपपत्ति)
८—सम्बन्धसूत्रमीमांसा

क—यौनिकृत सम्बन्ध सूत्र
(१) विवाहसापिण्ड्य
(२) दायसापिण्ड्य
(३) आशौचसापिण्ड्य
(४) पिण्डस्वरूपसिंहावलोकन
ख—विवाहकृतसम्बन्धसूत्र
ग—यज्ञकृतसम्बन्धसूत्र
घ—सर्गाकृतसम्बन्धसूत्र

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि-'आशौचविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

समाप्तश्चायं सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदात्मक. श्राद्धविज्ञानान्तर्गत —

### तृतीयः खण्डः

* *

## ४—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् ( चतुर्थखण्ड )—

एतन्नामक चतुर्थ खण्ड मे कर्म्मात्मा से सम्बन्ध रखने वाली गति का ही वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। "नित्य क्रम-गतियों का क्या स्वरूप है ?"—"आत्मलोक कौन कौन से हैं ?"—"किन कर्म्मों से आत्मा किन लोकों में जाकर क्या क्या फल भोगता है ?"—"पन्था, कर्म्म, नाडी, आकाश, छन्द, आतिवाहिक, आदि आत्मगतिनिमित्तों का क्या स्वरूप है ?"—"ब्रह्मपथ, देवपथ, पितृपथ, यमपथ आदि मार्ग कहा कहा व्यवस्थित हैं ?"—"परामुक्ति, अपरामुक्ति, समवलय, क्षीणोदर्क, भूमोदर्क, कैवल्य, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, आदि उत्तम गतिभावों का क्या स्वरूप है ?"—"कृष्णमार्ग, शुक्लमार्ग, परोजामार्ग, अगतिमार्ग, आदि मार्ग अपना क्या स्वरूप रखते हैं ?"—ब्रह्मगति प्रवर्त्तक ब्रह्माश्वत्थ, तथा कर्म्मगतिप्रवर्त्तक "कर्म्माश्वत्थ, का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?"-इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक विवेचन करने वाले प्रस्तुत चतुर्थ ( अन्तिम ) खण्ड मे निम्न लिखित एक प्रकरण, तथा ८ परिच्छेदो का समावेश हुआ है —

### ४-श्राद्धविज्ञानान्तर्गत-'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' नामक चतुर्थखण्ड —

#### १—'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् प्रथमैव

( तत्रैवे विषया निरूपिता द्रष्टव्या )

सन्दर्भसङ्गति

१—गतिस्वरूपपरिचय
२—आत्मगतिविषयिणी प्रश्नपरम्परा
३—आत्मगतिमूलक आत्मस्वरूपपरिचय
४—प्रश्नपरम्परा का समाधान
५—गत्यात्मक प्रत्यागात्मा
६—आत्मोत्क्रान्ति के निमित्त
७—आत्मोत्क्रान्ति के परिचायक
८—आत्मगति के निमित्त

* अतिवाहिकपरिशिष्ट

क—पन्थान
ख—कर्म्माणि
ग—नाड्य
घ—छन्दांसि
ङ—देवता
च—आतिवाहिक
छ—आकाश
ज—लोका ( आत्मगतिस्थानानि )

| | |
|---|---|
| (१) नित्यगतिस्थानम् | (३) आगतिगतिस्थानम् |
| (२) प्रमगतिस्थानम् | प्रकरणोपसहार |

समाप्ता चेयं चतुर्थखण्डात्मिका-'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा
समाप्तश्चायमात्मगतिविज्ञानोपनिषदात्मक श्राद्धविज्ञानन्तर्गत —
चतुर्थः खण्डः

*

इति—खण्डचतुष्टयात्मकस्य 'श्राद्धविज्ञाननिबन्धस्य' प्रतिपाद्यविषयाणा

# संक्षिप्त-विषयसूची समाप्ता

**प्रतिपादनशैली तथा भाषादृष्टि—**

प्रतिपाद्य विषयदिग्दर्शनानन्तर प्रतिपादन शैली, तथा भाषादृष्टि के सम्बन्ध मे भी दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। एव उस समय तो यह आवश्यकता और भी अधिक अपेक्षित हो जाती है, जब कि कई एक सम्माननीय महानुभावों के इस सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के सुझाव हमारे सम्मुख उपस्थित होते रहते हैं। 'हमारे प्रत्येक ग्रन्थ मे एक ही विषय की अनेक बार पुनरावृत्ति रहती है। प्रतिपाद्य विषयों के अतिरिक्त समालोचनात्मक अनावश्यक विषयो का समावेश रहता है, जो उभयपक्ष मे प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न कराते हैं। भाषा ठेठ पण्डिताऊ' होती है, संस्कृत शब्द प्रचुरमात्रा से समाविष्ट रहते हैं। ग्रन्थ का आकार आवश्यकता से अधिक वृहत होता है' ये ही वे कतिपय सुझाव हैं, जिन के लिए हम उन नीर क्षीरविवेकी महानुभावों के प्रति हृदय से कृतज्ञ हैं।

मान्य बन्धुओं द्वारा उद्घाटित दोषो को स्वीकार करते हुए इस सम्बन्ध मे हमारी ओर से यही निवेदन करना शेष रह जाता है कि, शताब्दियों से ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियो से विलुप्त प्राय जिस 'आर्षविज्ञान' को हमने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया है, उसके सम्बन्ध मे प्रत्येक

दशा में हमारा यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, आर्षमर्य्यादा की रक्षा के नाते प्रतिपादनशैली, तथा भाषादृष्टि, दोनों की मूलप्रतिष्ठा आर्षशैली ही बनाई जाय। इन्द्रियातीत-विषयप्रधान आर्षविज्ञान के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में आर्ष महर्षियों ने एक ही विषय के पुनः पुनरावर्त्तन को सर्वथा उपादेय माना है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित ब्राह्मण भाग ही पर्य्याप्त होगा। पाठक देखेंगे, आरम्भ में 'अन्तर्य्यामी' के सम्बन्ध में श्रुति ने जो विषय उद्धृत किया है, विषय समाप्ति पर्य्यन्त वही विषय बार बार उद्धृत हुआ है—

१–'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, स तऽआत्मान्तर्याम्यमृतः'। २–'यो ऽप्सु तिष्ठन् अद्भ्योऽन्तरः, यमापो न विदुः, यस्यापः शरीरं, योऽपोऽन्तरो यमयति, स त ऽआत्मान्तर्याम्यमृतः:'। ३–'यो ऽग्नौ तिष्ठन्०'। ४–य आकाशे तिष्ठन्०'। ५–'यो वायौ तिष्ठन्०'। ६–'य आदित्ये तिष्ठन्०'। ७–'यश्चन्द्रतारके तिष्ठन्०' ८—'यो दिक्षु तिष्ठन्०'। ९—'यो विद्युति तिष्ठन्०'। १०—य स्तनयित्नौ तिष्ठन्०'। ११–'यः सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्०'। १२–'यः सर्वेषु वेदेषु तिष्ठन्०'। १३—यः सर्वेषु यज्ञेषु तिष्ठन०'। १४—यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्०'। १५—'यः प्राणे तिष्ठन्०'। १६—'यो वाचि तिष्ठन०'। १७—'यश्चक्षुषि तिष्ठन्०'। १८—'यः श्रोत्रे तिष्ठन्०'। १९—'यो मनसि तिष्ठन०'। २०—यस्त्वचि तिष्ठन्०'। २१–'यस्तेजसि तिष्ठन्०'। २२–'यस्तमसि तिष्ठन्०'। २३–'यो रेतसि तिष्ठन्०'। २४—'य आत्मनि तिष्ठन्०'।

—शत० ब्रा० १४।६।७।

यद्यपि इसका यह तात्पर्य्य नहीं कि, सर्वलोकोपकारक भाषा-ग्रन्थों में भी ठीक वैदिक-शैली का अनुकरण करते हुए प्रत्येक विषय का पुनः पुनः आवर्त्तन किया जाय। तथापि प्रधान, तथा स्वतन्त्रविषय निरूपण करते समय अवश्यमेव कुछ एक सामान्य परिभाषाओं का प्रतिपादन, तथा सिंहावलोकन करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा न करने पर ग्रन्थ सर्वथा लक्ष्यहीन बना रह जाता है। हम तो समझते हैं, दृष्टिकोण भेद से प्रतिपादित ये परिभाषा-प्रकरण सर्वसाधारण के लिए विशेष हितकर ही होते हैं। हाँ, जिन महानुभावों

का लक्ष्य एकमात्र मनोरञ्जन ही है, साथ ही अन्यान्य अर्थसाधक लौकिक कार्य्यों में अहोरात्र व्यस्त रहने के कारण जिन्हें बुद्धिगम्य, अतएव 'यत्तदग्रे विषमिव' न्याय से कटुवत् प्रतीयमान आर्षसाहित्य-स्वाध्याय के लिए समय ही न मिलता हो, उनके लिए अवश्यमेव हमारा प्रयास व्यर्थ बन सकता है, जिस व्यर्थता को हम अपने लिए 'इष्टापत्ति' मानते हैं। जो इस विषय के जिज्ञासु हैं, परमात्मानुग्रह से जिन्हें ऐसे साहित्य-स्वाध्याय की सुविधा प्राप्त है, साथ ही जन्मान्तरीय, किंवा ऐहिक संस्कारानुग्रह से जो आर्षशैली से परिचित हैं, उनके लिए पुनरुक्ति-मूला यह आर्षशैली कदापि उद्वेग का कारण नहीं बन सकती।

दूसरे समालोचनात्मक सुझाव के सम्बन्ध में इसलिए विशेष वक्तव्य अनावश्यक है कि, सत्यासत्यविवेक की दृष्टि से शिष्टभाषानुगत समालोचना-प्रसङ्ग ग्रन्थ का आवश्यक अङ्ग माना गया है। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' न्याय से यत्र तत्र संक्षेप से निरूपित समालोचना-प्रसङ्ग परम्परया मूल-विषय का समर्थन ही कर रहे हैं। यदि श्राद्ध-तत्त्व प्रतिपादनप्रसङ्ग में हम श्राद्ध की अवैदिकतासिद्ध करने वाले भावों का दिग्दर्शन करा देते हैं, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। अपना मन्तव्य,—भले ही वह शास्त्र विरुद्ध ही क्यों न हो—स्वभावतः प्रेयः पदार्थ है। उसका उद्घाटन करना अवश्य ही तत्पक्षानुयायी के लिए थोडी देर के लिए उद्वेगकर बन जाता है। परन्तु यही उद्वेग कालान्तर में उसे सत्यनिष्ठ भी बना देता है।

तीसरे भाषानुगत सुझाव के सम्बन्ध में हम क्या कहें, जब कि भाषाज्ञान से हम सर्वथा वञ्चित हैं। और सम्भवतः अपने आवश्यक वेदस्वाध्यायकर्म्म में विघ्न उपस्थित कर भाषा-पाठशाला में प्रविष्ट होना भी हम अपने लिए असम्भव मानते हैं। वर्त्तमान युग में 'हिन्दी' मातृभाषा है, तत्पुत्रत्वेन उसके क्रोड का आश्रय ग्रहण करना स्वाभाविक है। पुत्र जिस वृत्ति से भी माता का आश्रय ग्रहण करे, माता स्वयं उसे संभाल लेती है। जहां तक हमारा विश्वास है, आर्षदृष्टिकोण से जिस हिन्दी को भारतवर्ष की (न कि हिन्दुस्तान की) मातृ-भाषा कहना उचित है, उसका आश्रय हमें प्राप्त हुआ है। हमने प्रयास किया है कि, कलिवात्याहित झञ्झावातों से मातृभाषा के स्वरूप को यथासम्भव सुरक्षित रक्खा जाय। यदि समुद्रपार की विदेशी भाषाएं हमारे अन्तस्तल में स्थान पा सकती हैं, तो कोई कारण नहीं आर्षप्रजा थोड़े से प्रयास से अपनी चिरसंस्कारानुगता सुसंस्कृता मातृभाषा के अवबोध में सफलता प्राप्त न कर सके। 'आम्राश्च सिक्ताः, पितरश्च प्रीणिताः' न्याय से हमारे ये निबन्ध प्रतिपाद्य विषयों के साथ साथ—आर्षशैली, आर्षभाषा, आदि के भी परिचायक बनें,

यही प्रधान लक्ष्य है। अब इस लक्ष्य के प्रति जितने भी सामयिक सुझाव हैं, व सब आगन्तुकधर्म्मलक्षण परधर्म्मस्थानीय बनते हुए न केवल भयावह ही हैं, अपितु स्वधर्म्म ( आर्षधर्म्म ) के स्वरूपविघातक भी हैं। फलत –'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः, परधर्म्मो भयावहः' न्याय से उक्त सुझाव हमारे लिए दूर से ही प्रणम्य हैं।

सर्वान्त में प्रास्ताविक वक्तव्य समाप्त करते हुए केवल यह कहना शेष रह जाता है कि, प्रस्तुत **'श्राद्धविज्ञान'** ग्रन्थ आज से लगभग ७ वर्ष पहिले ही सम्पन्न हो गया था। परन्तु कई एक सामयिक विप्रतिपत्तियों के कारण इसे प्रकाशित न किया जा सका।

प्रस्तावनोपसंहार— पितृदेवता के श्रद्धासूत्रानुगत अव्यर्थ अनुग्रह से चिरकालानन्तर यह वाङ्मय पिण्डपितृयज्ञ सम्पन्न होने जा रहा है। प्रस्तुत प्रस्तावना के साथ **''आत्मविज्ञानोपनिषत्'** प्रथमखण्ड ही सर्वप्रथम प्रकाशित हो रहा है। आर्षप्रजा का आवश्यक सहयोग ही आगे के तीन खण्डों के प्रकाशन का प्रधान निमित्त है, और प्रतीक्षामय दृढ विश्वास है कि, आर्षप्रजा अवश्य ही इस प्रधान निमित्त का शीघ्र से शीघ्र स्वरूप सम्पादन करेगी।

हम अपने इस प्रयास में कहां तक सफल हुए हैं ? इसका निर्णय भार तो विचारशील पाठकों पर ही निर्भर है। हा, अपनी ओर से इस सम्बन्ध में यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि, अत्यावश्यक श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में आज जो कुतर्कवाद प्रक्रान्त हैं, वेद को निमित्त बना कर धार्म्मिक जगत् की श्रद्धा पर जो आघात किया जा रहा है, श्रद्धालु जनता इस परप्रलय के मोहजाल में बद्ध होकर जिस पिण्डदानादि-लक्षण श्राद्धकर्म्म से विमुख होती जा रही है, वे सब विप्रतिपत्तियां बहुत अंशों में इस निबन्ध से हट जायगी। किसी पर आक्षेप न करते हुए वैदिकविज्ञानदृष्टि से, प्रधानतः श्रौतप्रमाणों का आश्रय लेते हुए, साथ ही तर्क, तथा युक्तिवाद को भी लक्ष्य बनाते हुए 'श्राद्धविज्ञान' सम्पन्न हुआ है। यद्यपि अनृतसंहित मनुष्य से भ्रान्ति हो जाना उसका स्वाभाविक धर्म्म है। परन्तु सद्भावना, अथवा कुभावना, उभयथा प्रदर्शित उस भ्रान्ति के संशोधन के लिए अन्तरात्मा सदा सन्नद्ध है।

विज्ञान-मन्दिर
भूरागीवा, जयपुर
प्रथम ज्येष्ठ कृ० अमावास्या
वि० सं० १९९९

विधेय —
मोतीलालशर्म्मा
भारद्वाज (गौड़)

श्री

समाप्तञ्चेदं किमपि प्रास्ताविकम्

(प्रथमखण्डप्रस्तावनासमाप्त)

—×—

अथ

आत्मविज्ञानोपनिषदि ( प्रथमखण्डे )

## अमृतात्मविज्ञानोपनिषत् प्रथमा

१

—:o:—

अथ

श्राद्धविज्ञाने—

# 'आत्मविज्ञानोपानिषत्'-प्रथमा

## १

**तस्यामेतस्यामात्मविज्ञानोपनिषदि प्रथमायां-एता उपनिषदो व्याख्याता द्रष्टव्याः**

१—अमृतात्मविज्ञानोपनिषत् —प्रथमा
२—अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्—द्वितीया
३—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत् —तृतीया
४—विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत् —चतुर्थी
५—महदात्मविज्ञानोपनिषत् —पञ्चमी
६—प्राणात्मविज्ञानोपनिषत् —षष्ठी

—⁂—

१—स्वयमेवात्मानमात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम !
भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते !
२—मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १०-१५।७-७।

# १—आत्मस्वरूपपरिचयः—(सर्वमूर्त्तिः सर्वात्मा)

१—कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषेति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥
—श्वे० उ० १।२।

२—ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥
—श्वे० उ० १।३।

३—तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्द्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥
—श्वे० उ० १।४।

४—पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्म्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्व्वामधीमः ॥
—श्वे० उ० १।५।

५—सर्व्वाजीवे सर्व्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥
—श्वे० उ० १।६।

६—य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥
—श्वे० उ० ४।१।

७—बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥
—मुण्डक० उ० ३।१।७।

८—न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥
—मुण्डक० उ० ३।१।८।

९—एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्व्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥
—मुण्डक० उ० ३।१।९।

१०—यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मात्—
"आत्मज्ञं ह्यर्च्चयेद्भूतिकामः" ॥
—मुण्डक० उ० ३।१।१०।

( १ )- { १—अधिदैवतम्—महामायावच्छिन्नश्चिदात्मा ( पूर्णमदः )
{ २—अध्यात्मम् —योगमायावच्छिन्नश्चिदंशः ( पूर्णमिदम् )

अथ

श्राद्धविज्ञानान्तर्गत-'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां

# "अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्"-प्रथमा

# १

## *अमृतात्मा-पुरुषात्मा-'षोडशीप्रजापतिः'*

१—निष्कलः परात्परः ( १ )
२—पञ्चकलोऽव्ययः ( ५ )
३—पञ्चकलोऽक्षरः ( ५ )
४—पञ्चकल आत्मक्षरः ( ५ )

## सोऽयं चतुष्कलः, षोडशकलो वा पुरुषात्मा-षोडशी

१—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
२—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः 'परमात्मे' त्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय 'ईश्वरः' ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १५ अ० ।१६,१७, ।

१—अमृतात्मस्वरूपपरिचयः—( विद्या-कर्ममयो गूढोत्मा )—

१—अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो 'अमृतस्य' नाम।
यो मा ददाति स इ देव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥
—सामस० पू० ६।३।

२—अहमिद्धि पितुः परि मेधा 'मृतस्य' जग्रह।
अहं सूर्य इवाजनि॥
—सामसं० पू० २।२।

३—यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं 'पुरुषेण' सर्वम्॥
—श्वे० उ० ६।२।

४—वेदाहमेत 'मजरं पुराणं' सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥
—श्वे० उ० ३।२१।

५—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति 'एकं' वा इदं वि बभूव सर्वम्॥
—ऋक्स० ८।१८।२

७—ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म 'तदेवामृत' मुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन- एतद्वैतत्॥
—कठोपनिषत् ६।१

८—सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
—श्वे० उ० ३।१६

६—अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं 'पुरुषं' महान्तम्॥
—श्वे० उ० ३।१९।

१०—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु 'महेश्वरम्'।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
—श्वे० उ० ४।१०।

—:४—

ॐ अमृतात्मब्रह्मणे नम

# अमृतात्मा-षोडशीप्रजापतिः

'अमृतं ब्रह्म' त्युपास्य

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ —ईशोपनिषत् १ *

श्राद्ध कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा ( शरीर से ) भिन्नात्मसत्तावाद ही माना गया है। "आत्मा पाञ्चभौतिक मर्त्य शरीर से भिन्न तत्त्व है, अमृतलक्षण नित्य पदार्थ है। स्थूलशरीर परित्यागानन्तर आत्मा अङ्गुष्ठमात्र आतिवाहिक शरीर ( सूक्ष्मशरीर ) धारण कर शुभाशुभ कर्म्मानुसार शुभाशुभ उदर्क (फल) भोगने के लिए शुभाशुभ लोकान्तरों मे गमन करता है" इस सिद्धान्त की मान्यता के आधार पर ही श्राद्धकर्म्म प्रतिष्ठित है। निधनानन्तर परलोक गमन करते हुए, एवं चान्द्रसम्वत्सरानन्तर परलोक मे पहुँचे हुए प्रेतात्मा को पिण्डदानादि से तृप्त करना ही सिद्धान्तपक्ष मे 'श्राद्धकर्म्म' है। इस सिद्धान्तपक्ष की रक्षा एकमात्र शरीर भिन्न नित्य आत्मसत्ता स्वीकृति पर ही अवलम्बित है। आस्तिक शास्त्रों ( उपनिषदादि ) मे उपवर्णित आत्मस्वरूप सर्व साधारण के लिए दुरधिगम्य है। यही कारण है कि, आत्मस्वरूप के सम्बन्ध मे नाना प्रवाद पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं। एक ही आत्मतत्त्व के उन सोपाधिक विविध रूपो के सम्यक् परिज्ञान के विना श्राद्ध-कर्म्माधिष्ठाता आत्मा का स्वरूप-परिचय प्राप्त कर लेना कठिन है। अतएव प्रतिपाद्य श्राद्ध विज्ञान के आरम्भ मे ही आत्मस्वरूपपरिचय निर्जिज्ञास्य बन जाता है, जिसका स्पष्टीकरण आवश्यकरूप से अपेक्षित है।

आत्मस्वरूपजिज्ञासा—

---

* इस मन्त्र के राजनीति धर्म्मनीति, विज्ञाननीति भेद से तीन अर्थ हुए है। देखिए-'ईशोपनिषद्विज्ञान-भाष्य' १ खण्ड, १ मन्त्रभाष्य।

चिजिज्ञास्य आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में चिरकाल से दार्शनिक विद्वानों में मतभेद चला आ रहा है। आत्मानुगत उन यच्चयावत् मतवादों को 'आस्तिक-नास्तिक-' इन दो वादों में अन्तर्भूत माना जा सकता है। शरीरातिरिक्त आत्मसत्ता स्वीकार करने वाला विद्वद्वर्ग 'आस्तिक' नाम से, तथा शरीरात्मवादी लौकायतिकवर्ग 'नास्तिक' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। दोनों ही मतवाद पुरातन हैं [१]। स्वयं ऋग्वेदसंहिता में 'सद्वाद, असद्वाद' नाम से दोनों का उपबृंहण हुआ है। अस्तिलक्षण 'ब्रह्म' तत्त्वोपासक विद्वद्वर्ग 'ब्राह्मण' कहलाया है, नास्तिलक्षण 'श्रम' ( कर्म्म ) तत्त्वोपासक लौकायतिकवर्ग 'श्रमणक' कहलाया है। ब्रह्मात्मक 'रस' तत्त्वानुगामी ब्राह्मणवर्ग में, श्रमात्मक 'बल' तत्त्वानुगामी श्रमणकवर्ग में सदा से प्रतिस्पर्द्धा चली आ रही है। ब्राह्मणवर्ग 'सरोवर' को दृष्टान्त मानता हुआ आत्मनित्यता का समर्थन कर रहा है, एवं श्रमणक वर्ग 'रथ' को दृष्टान्त बनाता हुआ शरीर को ही आत्मा मान रहा है। दोनों मतवादों में से सर्व प्रथम 'श्रमणकवाद' ( नास्तिकवाद ) का ही संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जाता है।

नास्तिकाभिमत आत्मस्वरूप—

आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में श्रमणकों का यह कहना है कि,—"यातायातसाधनभूत 'रथ' सर्वथा अनित्य, तथा जड़ पदार्थ है। 'धुरा, चक्र, कस्तम्भी, प्रउग, ईषा,' आदि कतिपय परिगणित अवयवों की समष्टि ही रथ है। जब तक यह समष्टि बनी रहती है, तभी तक 'रथ' (अवयवी) स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, गतिमान् बना रहता है। जिस दिन इसके धुरा-चक्र-आदि अवयव ग्रन्थिबन्धन से पृथक् हो जाते हैं, उसी क्षण रथ की स्वरूपविच्युति हो जाती है। रथरूप अवयवी चक्रादिरूप अवयवों से पृथक् तत्त्व नहीं है। अपितु जिस प्रकार अनेक वृक्षों की समष्टि 'वन' है, अनेक आप्यकणों का समूह 'सरोवर' है, अनेक क्रियाओं का कूट 'द्रव्य' है, एवमेव धुर-चक्रादि अनेक अवयवों की समष्टि ही 'रथ' रूप में परिणत हो रही है। जिस दिन अवयवों का ग्रन्थिबन्धन टूट जाता है, उसी दिन उसी काल में अवयवी का भी विनाश हो हो जाता है। अनेक अवयवों के समन्वय से जो 'रथ' कहलाता था, अवयवों के श्लथ हो जाने पर, अथवा नष्ट हो जाने पर वह 'रथ' नाम का पदार्थ लोकान्तर में नहीं जाता, अपितु अवयवों का नाश ही उस का विनाश है। यही अवस्था आत्मा की है। 'रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-ओज-त्वक्-चर्म्म'-आदि अनेक अवयवों की समष्टि ही शरीर है। यही शरीर आत्मा है। यही अवयवी है। इन अवयवों के समन्वय से तात्कालिक अपूर्व क्रियाभाव उत्पन्न

---

[१] इन सदसद्वादादि पुरातन वादों का वैज्ञानिक विवेचन 'गीताभाष्यभूमिका' २ खण्ड 'ख' विभाग 'ब्रह्म-धर्म्मपरीक्षा' में देखना चाहिए।

हो जाता है। जिस प्रकार यन्त्र के अवयव ( पुर्जे ) पृथक पृथक् कर देने से यन्त्र की क्रियाशक्ति नष्ट हो जाती है, एवमेव शरीर के अवयवो के पृथक्करण से क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। ऐसी परिस्थिति मे केवल क्रियाधर्म्म को देख कर आत्मा को शरीर से पृथक् मानना, साथ ही मे उस को नित्य मानना सर्वथा भ्रान्ति है। जिस प्रकार अवयवी रूप रथ परलोक मे नहीं जाता, एव मेव शरीर के नष्ट हो जाने पर अवयवी रूप आत्मा का परलोकगमन मानना, साथ ही मे उसे शरीर से पृथक् नित्य तत्त्व मानना सर्वथा असङ्गत है। इस प्रकार नास्तिक लोग कई एक हेत्वाभासों के आधार पर स्वतन्त्र आत्मसत्ता का विरोध करते हुए 'रथवत्' शरीर को ही आत्मा मान रहे है।

आस्तिक मतानुसार आत्मा शरीर से सर्वथा पृथक, एव नित्य तत्त्व है। एक सरोवर मे पानी भरा हुआ है। चातुर्मास्य ( चौमासा ) समाप्त होने पर सरोवर का सारा पानी सूख जाता है। क्या सरोवर का पानी नष्ट हो गया? कदापि नहीं। दक्षिणाकाशस्थ जलशोषक 'अगस्त्यप्राण' के सहयोग से "नाड्यो वायुसयोगादारोहणम्" ( वै० द० ५।२।६ ) इस कणाद सिद्धान्त के अनुसार सूर्य्य ने नाडी रूप अपनी रश्मियों से सारे पानी को खींच कर उसे वाष्परूप ( वायुरूप ) मे परिणत कर विशाल अन्तरिक्ष में वायुधरातल पर प्रतिष्ठित कर लिया है। बस जिस प्रकार सरोवर का पानी सूक्ष्मरूप मे परिणत होकर लोकान्तर मे चला जाता है, नष्ट नहीं होता, ठीक इसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर यह जीवात्मा भी सूक्ष्मशरीर धारण कर लोकान्तर मे चला जाता है। अपि च वाष्प रूप मे परिणत होकर लोकान्तर मे जाने वाले वायुरूप पानी को जैसे हम चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते साथ ही मे वह किस प्रदेश मे प्रतिष्ठित हुआ, यह भी हम नहीं देख पाते, एवमेव शरीरसत्ताकाल मे क्रियादि धर्म्मों से जिस आत्मा का हम एक प्रकार से प्रत्यक्ष कर रहे थे शरीरत्यागानन्तर वही सूक्ष्मावस्थापन्न होता हुआ न शरीर से निकल कर लोकान्तर मे जाता हुआ ही दिखाई देता, एव न जिस लोक मे वह जाकर प्रतिष्ठित होता है, वह लोक एव तत्रस्थ लोकी आत्मा ही दिखलाई पडता। इस प्रकार ऐसे ऐसे दृष्टान्तो द्वारा आस्तिक विद्वान् 'सरवत्' आत्मा को शरीर से सर्वथा पृथक एव नित्य मान रहे है।

आस्तिकाभिमत आत्मस्वरूप

आस्तिक विद्वान् केवल नित्य आत्मतत्त्व की ही सत्ता स्वीकार नहीं करते अपितु अनित्य शरीर भी इनकी दृष्टि मे एक तत्त्व है। इन परमवैज्ञानिकों का कहना है कि ससार के प्रत्येक पदार्थ मे हम प्रतिक्षण परिवर्त्तन देख रहे हैं। इस क्षणिक परिवर्त्तन के साथ साथ एक अपरिवर्त्तनीय अक्षण नित्यभाव का भी साक्षात्कार कर रहे है। उदाहरण के लिए उत्पन्न शिशु को ही लीजिए। उत्पत्तिकाल से आरम्भ कर मृत्यु

आस्तिकों का तत्त्ववाद

काल पर्य्यन्त इस शिशु की 'शिशु पौगण्ड-बाल किशोर तरुण-युवा-प्रौढ़-स्थविर-वृद्ध-दशमी'- ये १० अवस्थाएं होती हैं। इन दशो मे से प्रत्येक अवस्था की अवान्तर अनेक अवस्थाए हो जाती हैं। इन अवस्थाओ के परिवर्त्तन के साथ साथ 'रसासृड्मासमेदादि' शारीरधातु भी बदलते रहते हैं। आगे जाकर इस परिवर्त्तन का विश्राम क्षणिक भाव पर माना गया है। प्रतिक्षण परिवर्त्तन हो रहा है। क्षण भी एक काल है, स्थिरभाव है। वस्तुत उक्त परिवर्त्तन की इस क्षणभाव के साथ भी तुलना नहीं की जा सकती। वह परिवर्त्तन तो "रामरावणयोर्युद्ध रामराव-णयोरिव" के अनुसार अपने जैसा आप ही है। यह सब कुछ होने पर भी व्यवहार-सौकर्य के लिए उक्त परिवर्त्तन का "क्षणिक" शब्द से व्यवहृत कर दिया गया है। इसी क्षणिक परि-वर्त्तन के कारण प्रतिक्षण वस्तु नए नए रूप धारण करती रहती है। वस्तु का जैसा स्वरूप पूर्व क्षण मे रहता है, उत्तरक्षण मे उस स्वरूप का सर्वथा अभाव है। यदि यह परिवर्त्तन क्षणिक न होता, तो एक प्रादेश का शिशु प्राप्तवयस्क होने पर कभी साढे तीन हाथ का न बनता, साथ ही मे इस के शरीर मे कभी विविध अवस्थाओ का उदय न होता। इन्हीं सब कारणो से हम शरीर को प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील मानने के लिए तय्यार हैं।

इस परिवर्त्तन के साथ साथ ही एक अपरिवर्त्तनीय स्थिरभाव का भी साक्षात्कार हो रहा है। इसी स्थिरभाव के लिए 'स एवाय' ( यह वही है ) यह प्रत्यभिज्ञा होती है। देवदत्त जन्म काल मे भी है, मृत्युकाल मे भी है, मरे बाद भी है। तभी तो तीनो कालो के साथ सामान्य रूप से देवदत्त उत्पन्न हुआ है, देवदत्त मरने वाला है, देवदत्त मर गया, इस प्रकार देवदत्त का सम्बन्ध पाया जाता है। शरीर बदलता है, आत्मोपलक्षित देवदत्त नहीं बदलता। प्रतिक्षण बदलते हुए भी शरीर के 'यह वही देवदत्त है, जिसे हमने बचपन मे जयपुर मे देखा था' इस प्रकार 'वही' भाव नहीं बदलता। इस प्रकार परस्पर मे अत्यन्त विरुद्ध दो भावों का एक ही पदार्थ मे समन्वय हो रहा है। परिवर्त्तनशील क्षणिक पदार्थ 'शरीर' है, अपरिवर्त्तनीय अक्षण नित्य तत्त्व आत्मा है। दोनो का समन्वितरूप ही 'अध्यात्म अधिदैवत-अधिभूत सस्था' है।

अपि च क्रिया प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है। परिवर्त्तनशीला इस क्रिया की स्थिति ( स्वरूप सत्ता ) तब तक सर्वथा अनुपपन्न है, जब तक कि इस का कोई अपरिवर्त्तनीय स्थिर आधार न मान लिया जाय। क्षणमात्र ठहरनेवाली स्वय क्रिया क्रिया का आधार बन नहीं सकती। इस युक्तिवाद के आधार पर भी क्षणिक क्रिया के साथ नित्य तत्त्व का समन्वय मानना पड़ता है। उसी नित्य तत्त्व को आधार बना कर क्रियात्मक बलतत्त्व अपनी चिति ( समूह ) के कारण 'नाम-रूप कर्म' भेद से तीन स्वरूपो मे परिणत होकर 'सम्मूर्तिभाव' को प्राप्त होता हुआ 'वस्तु' नाम से व्यवहृत होता है। जब तक क्रियात्मक बल पर इस निष्क्रिय आत्मरूप

रस-तत्त्व का अनुग्रह रहता है, तभी तक चितिभावापन्न नामरूपकर्म्मात्मक उस बल की 'संभूति' है। रसानुग्रह-परित्याग ही उस का विनाश है। संभूति और विनाश, दोनों का एक ही स्थान पर समन्वय हो रहा है। इसी समन्वय-विज्ञान को लक्ष्य मे रख कर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।*
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥ —ई० उपनिषत् १४।

शरीर अनेक बलों की समष्टि होने से 'काय' ( निकाय-समूह ) नाम से प्रसिद्ध है। इन-अनन्त बलों का शासक प्रभु एक रस-तत्त्व ( आत्मा ) है। 'वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मनो-बुद्धि-हस्त-पाद-उपस्थ' आदि सारे अवयव 'गुणाना च परार्थत्वादसम्बन्ध समत्वात्' इस न्याय के अनुसार परस्पर मे सर्वथा पृथक् हैं। "तेषामिष्टानि विहितानि धामश" ( ऋक् सं० १।१६४।१५ ) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सब के धाम ( स्थान ) एवं इष्ट ( विषय ) नियत हैं। इन भिन्नों मे एक अभिन्न तत्त्व ( आत्मा ) सामान्यरूप से व्याप्त हो रहा है। आख देखती है, कान सुनते हैं, जिह्वा स्वाद लेती है, नाक सूंघता है, पैर चलते हैं, हाथ काम करते हैं, मन मनन करता है, बुद्धि विचार करती है। व्यवहार होता है-मैं देखता हूं, मै सुनता हूं, मै स्वाद ले रहा हूं, मैं सूंघता हू, मैं चलता हूं, मै काम कर रहा हूं, मैं-मनन करता हूं, इत्यादि। इस प्रकार सर्वथा विभिन्न चक्षु, प्राणादि के साथ यह "मैं" ( आत्मा ) युक्त हो रहा है। इसी आधार पर इस "मैं" (अहम्) तत्त्व को, किंवा आत्मतत्त्व को शरीरावयवों से पृथक् मानना आवश्यक, एवं वास्तविक हो जाता है। प्रकारान्तर से यों समझिए कि, नास्तिकवर्ग 'प्रजातन्त्ररूपा संघशक्ति' को प्रधान मानता है। एवं आस्तिकवर्ग 'राजतन्त्ररूपा प्राजापत्यशक्ति' को प्रधानता देते हुए संघशक्ति का स्वागत करता है। जिस दृष्टि से इन दोनों दलों ने आत्मा के स्वरूप का विचार किया है, वही दृष्टि 'दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है। नास्तिकदर्शन, एवं आस्तिकदर्शन, दोनों ही आचार्यभेद से निम्न लिखित रूप से ६-६-भागों मे विभक्त माने गए हैं।

* इस विषय का विशद विवेचन 'ईशोपनिषद्-हिन्दी-विज्ञान-भाष्य' के उक्त मन्त्रभाष्य में देखना चाहिए।

| नास्तिकदर्शन और उनके प्रवर्त्तक | | आस्तिकदर्शन और उनके प्रवर्त्तक | |
|---|---|---|---|
| १—चार्वाकदर्शन | बृहस्पति | १—न्यायदर्शन | गौतम |
| २—माध्यमिकदर्शन | गौतमबुद्ध और उनके शिष्य | २—वैशेषिकदर्शन | कणाद |
| ३—योगाचारदर्शन | | ३ सांख्यदर्शन | कपिल |
| ४—सौत्रान्तिकदर्शन | | ४ कर्म्ममीमांसादर्शन | जैमिनि |
| ५—वैभाषिकदर्शन | | ५—ब्रह्ममीमांसादर्शन | व्यास |
| ६—आर्हतदर्शन | श्रमणकाचार्य | ७—योगदर्शन | पतञ्जलि |

वस्तुतस्तु वैज्ञानिक दृष्टि से आत्मदर्शन नास्तिक, आस्तिक, भेद से कुल ६ भागों मे ही विभक्त समझने चाहिएँ। तीन नास्तिकदर्शन हैं, एवं तीन ही आस्तिकदर्शन हैं। नास्तितत्त्व की मूलप्रतिष्ठा 'असद्बल' है, अस्तितत्त्व की मूलभित्ति 'सद्रस' है। रस 'अमृत' है, बल 'मृत्यु' है। अमृत-मृत्यु की समष्टि ही आत्मप्रपञ्च है। इसे अस्तिरूप से भी देखा जा सकता है, एवं नास्तिरूप से भी देखा जा सकता है। 'मन प्राण वाक्' ये तीन अमृतकलाएँ हैं, तीनों की समष्टि ही 'अस्ति', किंवा 'सत्ता' है। 'नाम रूप कर्म्म', ये तीन मृत्युकलाएँ हैं। इन तीनों की समष्टि ही 'नास्ति' है। सुतरां आत्मदृष्टि, किंवा आत्मदर्शन का सभूय ६ भागों में ही पर्यवसान सिद्ध हो जाता है।

अपि च ईश्वर प्रजापति पूर्णेन्द्र होने से वर्त्तुलाकार ( गोलाकार ) है। अतएव इसे 'सर्वत पाणिपाद, सर्वतोऽक्षिशिरोमुख' कहा जाता है। गोलाकार वस्तु को ६ भागों मे विभक्त करके ही सर्वात्मना देखा जा सकता है। इन दृष्टियों मे तीन दृष्टियों का बलात्मक नास्तिभाग के साथ सम्बन्ध है, एवं तीन ही दृष्टियों का रसात्मक अस्तिभाग के साथ सम्बन्ध है। इस दृष्टि से भी दर्शन कुल ६ ही होते हैं। अस्तु कुछ भी हो, इस अप्राकृतिक दर्शन प्रसङ्ग का उपबृंहण करना अप्राकृतिक है। उक्त दर्शनचर्चा से प्रकृत मे हमें केवल यही कहना है कि, आत्मा के सम्बन्ध में भारतवर्ष मे सदा से ही मतवाद चले आ रहे हैं।

जो महानुभाव नास्तिकवाद के अनुयायी हैं जिन्होंने शरीर को ही आत्मा समझ रक्खा है, जो—' भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत " के उपासक हैं, उनके लिए कुछ भी वक्तव्य नहीं है। श्रद्धेय उदयनाचार्य्य के निम्न लिखित शब्दों में ऐसे दयनीय महानुभावों की कल्याण-कामना करते हुए, एवं आस्तिकवर्ग की ओर से जगदीश्वर से यामीयातना के निरोध की प्रार्थना करते हुए स्वान्त सुखार्थ आत्मप्रकरण आरम्भ किया जाता है। आस्तिकों के महाप्रतिनिधि सर्वभी उदयनाचार्य अपने सुप्रसिद्ध 'न्यायकुसुमाञ्जलि' ग्रन्थ का उपसहार करते हुए लिखते हैं—

इत्येवं श्रुति-नीतिसंप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते।
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलमाराशयाः॥
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः।
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः॥१॥

अस्माकं तु —

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्दनिधे! तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते॥
तन्नाथ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां-
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः॥२॥

—न्या० कु० ५ स्तबक १८-१९ श्लोक।

ईश्वरसत्ता पर विश्वास करने वाले, शरीर से पृथक् नित्य आत्मतत्त्व को स्वीकार करने वाले, वेदशास्त्र-सिद्ध आत्मा की आगति-गति पर श्रद्धा करने वाले ब्रह्मवादी ब्राह्मणों के मतानुसार श्राद्धकर्म्म अवश्यमेव श्रद्धा की वस्तु है। 'भृग्वाथ' ऋषि के दौहित्र, 'जन्दावस्था' के रचयिता, पारसीधर्म्म के प्रवर्त्तक 'श्रीजरथुस्त्र' भी आत्मसत्ता स्वीकार नहीं करते थे। आसुरधर्म्म को प्रधान मानते हुए वे आरम्भ मे शरीर को ही आत्मा समझते थे। संयोगवश भूमण्डल की परिक्रमा करते हुए एक बार भगवान् 'बादरायण (व्यास)' उधर आ निकले। *जन्दावस्ता में यह उल्लेख मिलता है कि "व्यास के आगमन से पहिले ही वहा आकाशवाणी हुई कि, हे जरथुस्त्र! हिन्दुस्तान से एक महाबुद्धिमान् व्यास नाम का ब्राह्मण तुम से शास्त्रार्थ करने आ रहा है"। फलतः व्यास भगवान् वहा (आर्यायण, वर्त्तमान मे ईरान) पहुचते हैं, एवं अपने योगबल के द्वारा जरथुस्त्र को शरीर से अतिरिक्त आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करवाते हैं। तभी से जरथुस्त्र ने अपने धर्म्मग्रन्थ मे यह आदेश दिया है कि "वास्तव मे आत्मा शरीर से पृथक् पदार्थ है, एवं शरीर त्यागानन्तर वह स्वकर्म्मानुसार शुभाशुभ लोको मे गमन करता है। उस के

---

* "वैव हिन्द वाजगश्ते"। "अकनू बिरहमने व्यास नाम, अज हिन्द आमद, वसदान के आक्लि चुना नेस्त"। (जरथुस्त की ६५ वीं आयत)। 'च व्यास हिन्दी बलख आमद। गस्तस्य जरतुस्ता बखवांद" (१६ वी आयत)।

निमित्त उसके पुत्रादि को अन्नदानादि करना चाहिए"। इस प्रकार वैदिक काल में भी कुछ एक महानुभाव आत्मसत्ता स्वीकार करने लगे थे। विगत शताब्दी में कई एक पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से आत्मा का अमरत्व स्वीकार किया है। उनमें से स्वनामधन्य 'सुकरात, पाइ-थागोरस, प्लेटो, प्रसिद्ध जर्मन् विद्वान् 'शेगल' निरन्तर 'अनहल्क' (अहं ब्रह्मास्मि) का उद्घोष करने वाले दिव्यप्रेमी 'मन्सूर' आदि कतिपय महानुभावों के नाम उल्लेखनीय हैं। आज तो 'मैसमरेजम' द्वारा मृतात्मा का आह्वान तक सफल सिद्ध हो चुका है। आगत आत्मा जिज्ञासु के प्रश्नों का यथावत समाधान करता है। स्वनामधन्य 'डी० बी० ऋषि' की कृपा से हरिद्वार में हमें भी एक बार कुछ एक मृतात्माओं के संसर्ग का अवसर मिला है। यद्यपि साधारण मनुष्य इस रहस्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, साथ ही में—'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' के अनुसार प्रत्यक्षदृष्ट घटनाओं के सम्बन्ध में भी वे गजनिमीलिका किया करते हैं, परन्तु विचारशील मनुष्य शीघ्र ही आत्मसत्ता पर विश्वास करने लगते हैं। छान्दोग्य उपनिषत् में बड़ी युक्ति के साथ आत्मसत्ता सिद्ध की गई है। प्रसंगोपात्त उस आख्यान को उद्धृत कर देना भी अनुचित न होगा।

स्वयम्भूप्रजापति का आत्मोपदेश—

भारतीय वैदिक सभ्यता के आदि प्रवर्त्तक भगवान् स्वयम्भू प्रजापति थे। जिसे आज 'एशिया माइनर'* कहा जाता है, वहीं पर प्रजापति निवास करते। देवत्रिलोकी में रहने वाले देवता (मनुष्यदेवता), एवं अग्नीकादि असुरत्रिलोकी में रहने वाले असुर, दोनों ही इन को पितृतुल्य समझ कर इन का आदर करते थे, एवं इन का अनुशासन मानते थे। देवता, और असुर, दोनों ही परम्परया यह सुनते आ रहे थे कि "जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहिचान जाता है, वह सम्पूर्ण लोकों में यथेच्छ भ्रमण करता है, एवं उस (आत्मज्ञानी) की कोई कामना व्यर्थ नहीं जाती"। इसी प्रलोभन से देवता, और असुर, दोनों को ही आत्मा के उस 'अजर-अमर-अभय-क्षुत्पिपासा रहित आत्मा के वास्तविक स्वरूप जानने की जिज्ञासा हुई। आत्मस्वरूप-सम्बन्धिनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए देवताओं की ओर से 'इन्द्र', एवं असुरों की ओर से 'कायाधव

---

* इस विषय का विशद ऐतिहासिक विवेचन 'शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत भुवनकोशविज्ञान' में देखना चाहिए।

विरोचन' दोनों* समित्-पाणी बन कर स्वयम्भूप्रजापति की सेवा मे पहुंचे। अभी दोनों ही आत्मोपदेश श्रवण के अयोग्य थे। फलत प्रजापति ने दोनों को आज्ञा दी कि, तुम (आत्म-विशुद्ध्यर्थ) पहिले ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत पालन करो। आज्ञानुसार योग्यता सपादन करने के लिए दोनो ने ही ३२ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत का सम्यगरूप से अनुष्ठान किया। ३२ वर्ष समाप्त हो जाने पुन समित्पाणी बन कर दोनो प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए। "बोलो क्या चाहते हो' प्रजापति के यह पूछने पर उत्तर मे दोनों ने ही बडे विनीतभाव से 'सत्यकाम-सत्यसंकल्प जरामरणक्षुत्पिपासा शोक मोह आदि पाप्माओं से रहित आत्मस्वरूप की जिज्ञासा प्रकट की। आत्मा का साक्षात्कार करवाते हुए प्रजापति कहने लगे कि "हे इन्द्र, विरोचन! तुम अपनी दोनों आखो मे जो एक (प्रतिबिम्बित) पुरुष देखते हो, वही आत्मा है"। हमारे सामने जब कोई मनुष्य खड़ा होता है, तो हमारी दोनों आंखो मे उस का चित्र चित्रित हो जाता है। इसी की ओर प्रजापति का लक्ष्य था। जब प्रजापति ने अक्षिपुरुष (प्रतिबिम्बित पुरुष) को आत्मा बतलाया, तो कुछ काल के अनन्तर दोनो प्रश्न करने लगे कि "भगवन्! पानी मे और काच में जो हम अपना प्रतिबिम्बित रूप देखते हैं, वह क्या है?" उत्तर मे प्रजापति ने कहा कि "अरे! यह भी वही है, जो कि चक्षु मे पुरुष बतलाया गया है।" आगे जाकर प्रजापति ने कहा कि "अच्छा ठहरो हम तुमको आत्मज्ञान का और भी सरल उपाय बतलाते हैं। पानी से भरे हुए एक उदशराव (मृतपात्र) मे अपने आपको देखो। यदि ऐसा करने से आत्मा का स्वरूप तुम्हारी समझ में आ जाय, तो अच्छा है, यदि नहीं तो फिर पूछना"। आज्ञानुसार दोनो ने ऐसा ही किया। प्रजापति ने पूछा—क्या देखा' उत्तर मिला—"भगवन! हमने पानी मे अपने शरीर को ज्यो का त्यो प्रतिबिम्बित देखा"। प्रजापति ने कहा कि "अब तुम सुन्दर सुपरिष्कृत वस्त्राभूषणो से सुसज्जित हो कर उदशराव की ओर देखो'। आज्ञानुसार दोनों ने ऐसा ही किया। प्रजापति के 'क्या देखा? यह प्रश्न करने पर उत्तर मिला कि "भगवन्! वेशभूषा से सुपरिष्कृत अपने आप को उस पानी मे हमने ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित देखा"। प्रजापति ने कहा "बस अब तुम आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहिचान गए। जिसे तुमने पानी मे देखा है, वही आत्मा है"। दोनो की जिज्ञासा शान्त हुई। दोनों अभिवादन कर

---

* प्राचीन समय म जिज्ञासु प्रादेश परिमित समिधा हाथ मे लेकर गुरु के सम्मुख खड़ा होजाता था। इससे वह यही सूचित करता था कि, मैं आप का शिष्य बनना चाहता हूं। यदि गुरु उसे योग्य समझते थे, तो उसके हाथ से समिधा ले लेते थे अन्यथा योग्यतासम्पादनानुकूल उपाय बतला देते थे। प्रादेशमित समिधा क्यों हाथ में ली जाती है? इस विषय का वैज्ञानिक रहस्य 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' १खण्ड में देखना चाहिए।

वापस लौट आए। उन के लौट जाने पर प्रजापति ने विचार किया कि "दोनों ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को विना पहिचाने हीं चले गए। दोनों में से जो इस शरीररूप आत्मोपनिषत् पर विश्वास कर लेगा, निःसन्देह वह पराभव को प्राप्त होगा। अर्थात् हमारे कथनमात्र पर विश्वास कर जो शरीर को ही आत्मा समझ बैठेगा, उस का पतन अवश्यंभावी है।"

इधर प्रजापति उक्त विचार कर रहे थे, उधर प्रजापतिकृत शरीरलक्षण आत्मोपदेश का मनन करते हुए असुरप्रतिनिधि विरोचन असुरमण्डली में पहुंचे। विरोचन के हृदय में आज पूर्ण शान्ति थी। मानों उसे आज वास्तव में आत्मज्ञान हो गया हो। इस प्रकार अपने आप को आत्मज्ञान के सम्बन्ध में कृतकृत्य मानता हुआ विरोचन असुरमण्डली को सम्बोधित कर कहने लगा कि—"हे भाइयों! इस भौतिक शरीर का ही नाम आत्मा है, इसी को समुन्नत करो, इसी की अहर्निश आराधना करो। इसी की उपासना से परमानन्द मिल जाता है।" विरोचन का अभिप्राय यही था कि, जैसे बने वैसे शरीर को सुखी रक्खो। खाओ! पीओ!! मौज उड़ाओ!!! "यदि अमुक वस्तु खालेंगे, तो शरीर अवश्य पुष्ट होगा, परन्तु आत्मा मलिन हो जायगा। परलोक बिगड़ जायगा" आज से ऐसे उपदेशों को केवल कल्पना समझो। विश्वास करो कि, शरीर से अतिरिक्त कोई नित्य आत्मतत्त्व नहीं है। अपि तु शरीर ही आत्मा है।

विरोचन ने जब असुरों से कहा कि शरीर ही आत्मा है, तो तब से उन्होंने शव को न जलाने की प्रथा को ओर भी दृढ़ कर दिया। आत्मा के निकल जाने पर भी उनका विश्वास है कि, अभी आत्मा ज्यों का त्यों विद्यमान है, केवल मूर्च्छामात्र है। अतएव वे लोग अन्न-वस्त्र आभूषणादि उपकरणों के साथ मुर्दों को सुरक्षित स्थान में रख देते हैं, जलाते नहीं। आगे जाकर श्रुति कहती है कि—'इन असुरों का ऐसा विश्वास है कि, ऐसा करने से इसे परलोक में सुख मिलेगा'। सुप्रसिद्ध 'आर्मिनिया' स्थान में एक बार महा-देवासुरसंग्राम हुआ था। वहां पर युद्ध में जो असुर मरते थे, उन्हें वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर वहीं नियत सुरक्षित स्थानों में रख देते थे। श्मशानभूमि के लिए आसुरीभाषा में 'अर्मक' शब्द नियत है, एवं जहां शव रक्खा जाता है वह स्थान ( कबरिस्तान ) "वैल" नाम से प्रसिद्ध है। जो प्रतिष्ठित असुर होते थे, उन के लिए बड़े बड़े प्रासाद बनाए जाते थे। उनमें चिरकाल तक के लिए पर्याप्त भोग्य सामग्री रक्खी जाती थी। यही महाशवस्थान ऋग्वेद में "महावैल" * नाम से प्रसिद्ध है। एवं अवर-कोटि के असुरों का शवस्थान "वैल' नाम से प्रसिद्ध है। वैल, एवं महावैल रूपा श्मशान भूमि ही 'अर्मक' नाम से प्रसिद्ध है। इसी 'अर्मक' के सम्बन्ध से यह स्थान 'आर्मिनिया' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। पुरातत्ववेत्ताओं ने आज ऐसे कई स्थानों का अन्वेषण कर यह सिद्ध कर दिया है कि, वास्तव में पुरायुग मे शव रखने के लिए बड़े बड़े स्थान बनाए जाते थे, एवं वहां खाद्य-वस्त्रादि उपकरण सामग्री प्रचुर मात्रा मे रक्खी जाती थी। उस युग की रक्खी हुई जीर्ण शीर्ण वस्तुएं आज भी उपलब्ध हो रही हैं।

आत्मसत्ता का वास्तविक स्वरूप न समझने वाले असुर-सम्प्रदायानुयायी मनुष्य आज भी मुर्दों को पुष्पमालादि से अलंकृत कर गाड़ते मात्र हैं। बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि 'भस्मान्तं शरीरम्' ( ईशोपनिषत ) सिद्धान्त को मानने वाले आत्मनित्यवादी आस्तिक भी आसुरभावापन्न यवनों के संसर्ग से शव को वस्त्रालङ्कारादि से सुसज्जित कर बाजे गाजे के साथ उसे श्मशानभूमि में ले जाते हैं। उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए, कि—"प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति, संस्कुर्वन्ति, एतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते" इस श्रौत कथन के अनुसार यह आसुरसम्प्रदाय है। इस से कोई फल नहीं है।

यह तो हुई असुरों की कथा। अब इन्द्र की दशा पर दृष्टि डालिए। प्रजापति के पास से लौट कर इन्द्र देवताओं के पास न गए। अपि तु मार्ग में ही एक स्थान पर ठहर गए, एवं प्रजापति के बतलाए हुए आत्मस्वरूप पर विचार करने लगे। उन्होंने अपनी बुद्धि से विचार

---

* अवासां मघवञ्जहि शर्धो यातुमतीनाम्।
वैलस्थानके अर्मके महावैलस्थे अर्मके ॥ —ऋक् सं० १ मं० १३३ सू० ३ मन्त्र।

किया कि, प्रजापति ने शरीर को आत्मा बतलाया है। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती। यदि हम सुन्दर वस्त्र पहिन कर पानी में देखते हैं, तो उस में वैसी ही परछाई पड़ती है। यदि आखें बंद कर देखते हैं, तो प्रतिबिम्ब की भी आंखें मिच जाती हैं। यदि कटे हुए हाथ से देखते हैं, तो प्रतिबिम्ब भी कटे हाथ वाला हो जाता है। इन सब परिस्थितियों से तो यही सिद्ध होता है कि, यदि हमारा हाथ कट गया, तो उतना आत्मा कट गया, आंखें फूट गईं, तो आत्मा अन्ध बन गया। ये बातें आत्मा के सम्बन्ध में समझ में नहीं आतीं। प्रजापति ने तो आत्मा को 'अमृत-अभय-नित्य-अविनाशी' बतलाया था। परन्तु मैं तो उक्त लक्षणों से इसे सर्वथा भयरूप देख रहा हूं, मरणधर्मा पा रहा हूं। सम्भवतः प्रजापति का अभिप्राय कुछ ओर ही होगा। अपन ने आत्मस्वरूप समझने में अवश्य भूल की है। इन्द्र वापस लौटे। समित्पाणी बन कर पुनः प्रजापति के सामने विनीत भाव से खड़े हुए।

प्रजापति ने पूछा कि—"मघवन्! तुम तो विरोचन के साथ साथ ही कृतकृत्य होकर लौट गये थे। हमने तो समझा था कि, तुम्हारा समाधान हो गया। फिर वापस लौटने का क्या कारण"? इन्द्र के हृदय में आत्मा के सम्बन्ध में जो सन्देह हुआ था, उस का विश्लेषण करते हुए इन्द्र ने कहा कि, भगवन् आपने (प्रतिबिम्बरूप) जिस आत्मा का स्वरूप बतलाया है, वह तो नाशवान् है, सभय है। इधर आत्मा का लक्षण बतलाते हुए आपने कहा था कि, आत्मा नित्य है, अभय है, अपहतपाप्मा है। उत्तर में प्रजापति ने कहा कि, मघवन्! हमने आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, ठीक कहा था। हमने कभी शरीर को आत्मा नहीं बतलाया। तुम्हारे समझने में भूल हुई है। अच्छा, कोई चिन्ता नहीं। ३२ वर्ष पर्य्यन्त पुनः ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान करो। तत्पश्चात तुम्हारे लिए आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करूंगा। आज्ञानुसार इन्द्र ने पुनः ३२ वर्ष तक उसी कठिनतम व्रत का अनुष्ठान किया अनुष्ठान समाप्त हो जाने पर प्रजापति की सेवा में इन्द्र उपस्थित हुए।

प्रजापति ने इन्द्र को लक्ष्य कर कहा कि, मघवन्! जिस आत्मा को हमने आरम्भ में—चक्षुर्द्वारा बतलाते हुए 'चाक्षुषपुरुष' कहा था, आगे जाकर उदशराव के दृष्टान्त से प्रतिबिम्ब द्वारा जिस आत्मा का परिज्ञान करवाया था, वास्तव में वही आत्मा है। यदि तुम इस दृष्टान्त से न समझे, तो 'स्वाप्नजगत' (सपने की दुनिया) पर दृष्टि डालो, तुम्हारा समाधान हो जायगा। तुम रात्रि में स्वप्न देखा करते हो। स्वप्न में तुम्हारा शरीर तो जहां का तहां रहता है, किन्तु आत्मतत्त्व बाहिर घूमा करता है। "रथ-स्त्री-अन्न-पानादि महिमाओं से युक्त होकर वह इतस्ततः विचरा करता है। वही स्वप्नद्रष्टा महात्मा अभय-अमृत-भावापन्न आत्मा है।" प्रजापति के उक्त आत्मोपदेश को हृदयङ्गम कर इन्द्र वापस लौटे। परन्तु अभी वे देवताओं के पास न जाकर मार्ग में ही विचार करने लगे कि-"इस वार प्रजापति ने स्वप्नद्रष्टा को आत्मा कहा है।

यद्यपि यह ठीक है कि, शरीर के क्षत विक्षत होने पर स्वप्नद्रष्टातत्त्व क्षत विक्षत नहीं होता, शरीर के दोष उस का कोई अनिष्ट नहीं कर सकते। स्वप्नावस्था में एक व्यक्ति मर जाता है। साथ ही में यह अपने मरे हुए शरीर को ही देखा भी करता है। इस से उसका शरीर से पार्थक्य भी सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार शरीरात्मवाद में जो भय था, वह तो यहां नहीं है। तथापि हम देखते हैं कि, इस स्वप्नद्रष्टा को स्वप्नावस्था में अन्य व्यक्ति यथेच्छ पीड़ा पहुंचा सकता है। स्वप्नद्रष्टा पर स्वप्न में प्रहार होता है, वह मार दिया जाता है। यद्यपि वह मरता नहीं, परन्तु मरने की प्रतीति होने लगती है। भौतिक जगत् के आक्रमण स्वप्नद्रष्टा में क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं। पुत्रादिमरण का उसे शोक होता है। अपि च दुःख से पीड़ित होकर स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में कभी कभी रोने भी लगता है, अतएव जगने पर अश्रुबिन्दु उपलब्ध होते हैं। उधर आत्मा अजर है, अभय है, अशोक है, अपिपास है, अमृत है। इधर स्वप्नद्रष्टा सभय, सशोक, मरणधर्मा है। इसे प्यास लगती है, भूख लगती है। ऐसी अवस्था में स्वप्नद्रष्टा को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। अवश्य ही प्रजापति के तात्पर्य्य समझने में हमने फिर भूल की है।

उक्त संदेहों के निराकरण के लिए इन्द्र समित्पाणी बन कर पुनः प्रजापति की सेवा में उपस्थित होते हैं। एवं अपने संदेह का उल्लेख करते हुए कहते हैं, 'भगवन्! जिस स्वप्नद्रष्टा को आपने आत्मा बतलाया है, वहां भी मैं अभिलषित फल नहीं देखता'। अर्थात् आत्मा के जिस विशुद्ध अमृत-अभय रूप को मैं जानना चाहता था, उसे न जान सका। प्रजापति ने उत्तर दिया कि "मघवन्! हमने जिसे स्वप्नद्रष्टा कहा है, वह अवश्यमेव आत्मा है। तुम हमारे आभ्यन्तर अभिप्राय को यथावत् समझ न सके। अस्तु, कोई चिन्ता नहीं। ३२ वर्ष तक और एक बार ब्रह्मचर्य का अनुगमन करो। पश्चात् आत्मा के मौलिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करूंगा"। आज्ञानुसार पुनः ३२ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य व्रत को समाप्त कर समित्पाणी इन्द्र प्रजापति के सामने उपस्थित हुए। आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए प्रजापति ने कहा कि "मघवन्! जो आत्मतत्त्व आंखों में रहता है, जो महीयान् बन कर स्वप्न देखा करता है, एवं जो तत्त्व सुषुप्तिकाल में संप्रसादभाव को प्राप्त होता हुआ स्वप्नज्ञान से विमुक्त हो जाता है, जिस अवस्था में सम्पूर्ण बाह्य-आभ्यन्तर विषयों से जिसका सम्बन्ध टूट जाता है, सुषुप्ति का अधिष्ठाता संप्रसादमूर्त्ति वही तत्त्व आत्मा है। वह अमृत है, अभय है।" इन्द्र सन्तुष्ट हुए, वापस लौटे, परन्तु अभी देवताओं के पास न जाकर प्रजापति द्वारा निर्दिष्ट आत्मस्वरूप पर विचार करने लगे। यहां भी भय ने इन्द्र का पीछा न छोड़ा। इस में भी उन्हें भय दिखलाई पड़ा।

इन्द्र ने विचार किया कि, "सुषुप्ति अवस्था में जो तत्त्व रहता है; प्रजापति ने उसे आत्मा

कहा है। परन्तु यह बात भी समझ में नहीं आती। यह अवस्था तो सर्वशून्यावस्था है। इस में तो 'अहमस्मि' ( मैं हूं ) इस अपनी सत्ता का भी ज्ञान नहीं रहता। साथ ही में ज्ञान-साधक सम्पूर्ण भौतिक विषयों का भी इस अवस्था में आत्यन्तिक अभाव रहता है। दूसरे शब्दों में इस अवस्था में आत्मा विनाश की ओर झुका रहता है। ऐसी स्थिति में सुषुप्ति-अवस्था युक्त तत्त्व को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। अवश्य मैं अपने ही बुद्धिदोष से प्रजापति के वास्तविक अभिप्राय को यथावत नहीं समझने पाता।" इस प्रकार अपने आप की प्रतारणा करते हुए इन्द्र समित्पाणी बन कर पुनः प्रजापति के समीप उपस्थित हुए। पुनः ३२ वर्ष के अनुष्ठान का आदेश हुआ। परम धीर देवेन्द्र ने पुनः ३२ वर्ष का अनुष्ठान किया। अनन्तर आत्मस्वरूप जिज्ञासा प्रकट की। इन्द्र का यह अद्भुत धैर्य, एवं वास्तविक जिज्ञासा देख कर प्रजापति हृदय से प्रसन्न होते हुए आत्मा के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहने लगे–

मघवन्! यह शरीर मर्त्य है, मृत्युधर्म्म से नित्य आक्रान्त है। ऐसा मरणधर्म्मा यह शरीर उस अमृत-अशरीर-आत्मतत्त्व का अधिष्ठान है। इस मरणधर्म्मावच्छिन्न शरीर से युक्त होने के कारण सोपाधिक बनता हुआ शरीरावच्छिन्न अमृतात्मा शरीर से सम्बन्ध रखने वाले प्रियाप्रियभाव से नित्य आक्रान्त हो रहा है। तुम उसे शरीरावच्छिन्न समझ रहे हो। जब तक आत्मा, और शरीर का तुम विवेक नहीं कर लोगे, तब तक प्रियाप्रिय ( पुण्यापुण्य-सुखदुःख-शोकमोह-लक्षण द्वन्द्वभाव ) से कभी छुटकारा नहीं पा सकोगे। विनाशधर्म्म शरीर का है, आत्मा का नहीं है। "चाक्षुषपुरुष, स्वप्नद्रष्टा, सुषुप्ति का अधिष्ठाता' तीनों एक तत्त्व है, यह अवश्य ही आत्मा है। परन्तु तुमने अब तक इसे शरीर की दृष्टि से देखा है। अतएव आत्मा के इन तीनों विवर्त्तों में तुम्हें भय के ही दर्शन हुए। इस लिए हम सर्वान्त में तुम्हें यह आदेश कर देते हैं कि, तुम आत्मा को शरीर से सर्वथा पृथक् समझा करो। जिस दिन तुम्हारा यह विवेक दृढ़मूल बन जायगा, उस दिन तुम अपने आप आत्मा के वास्तविक विशुद्ध रूप को समझ लोगे। आत्मा स्वयं विज्ञाता है—'विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्'। तुमने हमसे आत्मा का विशुद्ध रूप पूछा। आत्मा कभी विशुद्ध रहता नहीं। अतः हमें सोपाधिक भावों को आगे कर तटस्थ लक्षणों द्वारा आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करना पड़ा। सोपाधिक रूपों में भय की आत्यन्तिक निवृत्ति वास्तव में नहीं है। अतः तुम्हारा पुनः पुनः संदेह करना ठीक था। परन्तु हम इस से अधिक शब्द द्वारा कहने में असमर्थ थे। यह तो स्वानुभवैकगम्य है—"सो जाने जेहि देहि जनाई"—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"। बात यथार्थ है। 'शर्करा-मिश्री-इक्षुरस-द्राक्षा' सभी तो मधुर हैं। हम अपने पाठकों से पूछते हैं कि, इन की मधुरता में जो अन्तर है, यह शब्द द्वारा बतलाइए? 'जिह्वा जानती है, कह नहीं सकते' यही उत्तर होगा। जब लौकिक विषयों के स्पष्टीकरण में भी शब्द की गति रुक जाती है, तो फिर उस लोकातीत आत्मतत्त्व का

विश्लेषण शब्द द्वारा कैसे संभव हो सकता है। आत्मतत्त्व की इसी अनिर्वचनीयता, एवं स्वानुभवैकगम्यता का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

—कठोपनिषत् १।२।२२।

"आप आत्मा के सम्बन्ध मे बड़े बड़े व्याख्यान देते हैं, आप बहुत बुद्धिमान् हैं, आप रात दिन तपश्चर्या में रत रहते हैं, आपने पर्य्याप्त विद्याध्ययन किया है, उपदेश सुने हैं, परन्तु इन सबसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता। यज्ञ तपो दान लक्षण निष्कामकर्म्म के प्रभाव से जिस दिन आवरण हट जाता है, उस दिन 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' ( गी० ४।३८ । ) के अनुसार अपने आप आत्मदेवता आप पर अनुग्रह कर देते हैं। उस योगी का आत्मा अपने स्वरूप को खोलकर उसके सामने रख देता है"।

"परलोक कोई वस्तु नहीं है। संपत्ति ही सुख का मूल है। जिसे ( आत्मा ) कभी आँखों से नहीं देखा, उसे मान कर सासारिक सुख छोड़ बैठना मूर्खता है। आत्म परमात्म-परलोक-आगति-गति-पाप-पुण्य-श्राद्ध-दान यज्ञ-तप-ये सब अकर्मण्यों की लीला है" इस प्रकार के कुतर्कों से आत्मतत्त्व का तिरस्कार करने वालों की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए, साथही में उन्हें सन्मार्ग पर लाने के लिए कारुणिक महर्षि आदेश करते हैं—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥१॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥२॥

१—सांसारिक धन के मोह से उन्मत्त बने हुए उस बालबुद्धि की दृष्टि में परलोकगति कोई वस्तु नहीं है। वह अभिमानी, जो अभिमानवश "यही लोक है, परलोक कोई वस्तु नहीं है" यह कहा करता है, वही बार बार मेरे ( यमलक्षणमृत्युचक्र के ) वश में आया करता है॥

२—बहुत उपदेश सुनने से भी जिसका स्वरूप ज्ञान नहीं होता, सुन कर भी कितने ही मनुष्य उसके ज्ञान से वञ्चित रह जाते हैं। आत्मस्वरूप को बतलाने वाला, इसे पहिचान नेवाला, एवं इस का साक्षात्कार करने वाला कोई विरला ही है॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ३ ॥
नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ४ ॥

—कठोपनिषत् १।२।६,७,८,९।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ५ ॥

—कठोपनिषत् १।२।२१

इस प्रकार प्रजापति ने उक्त रूप से तटस्थलक्षण द्वारा इन्द्र को आत्मसाक्षात्कार करवाया । प्रजापति के अनुग्रह से इन्द्र आत्मा के वास्तविक रूप को यथावत् हृदयङ्गम कर पूर्ण-सन्तुष्ट होकर देवमण्डली में लौट आए । ( देखिए छा० उपनिषत् ८।७,८,९,१०,११,१२ खं० )

उक्त आख्यान के सम्बन्ध में केवल यही प्रश्न शेष रह जाता है कि, "प्रजापति ने आत्म-स्वरूप बतलाने में आरम्भ में इन्द्र की वञ्चना क्यों की ? । जिस तत्त्व का विश्लेषण उन्होंने सर्वान्त में किया, उसे आरम्भ में ही क्यों न बतला दिया" ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में पहिले तो हम यही कहेंगे कि, प्रजापति ने आत्मा के सम्बन्ध में जितने उत्तर दिए, वे सब यथार्थ थे । उदाहरण के लिए पहिले चक्षु में प्रतिबिम्बित पुरुष को ही लीजिए । प्रजापति ने कहा था कि, हमारी आँखों में तुम्हें जो पुरुष दिखलाई पड़ता है, वही आत्मा है । हमारी आँखों में तभी तक अन्य पुरुष का प्रतिबिम्ब विकसित रहता है, जब तक कि आत्मसत्ता रहती है । मुर्दे की आँख में कभी अन्य मनुष्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता । शरीर को ही आत्मा मानने वालों से हम पूंछते हैं कि, यदि शरीर ही आत्मा है, तो जिस प्रकार जीवित अवस्था में पुरुष की आँखों

---

३—यह आत्मतत्त्व किसी साधारण व्यक्ति का कहा हुआ नहीं है । चिरन्तन काल के ध्यानयोग से प्राप्त होने वाला आत्मावबोध सुगम नहीं है । यह आत्मधर्म्म सुसूक्ष्म है, स्वानुभवैकगम्य होने से इस के सम्यक् परिज्ञान के लिए अन्य ( गुरु आदि ) के उपदेश के अतिरिक्त और गति नहीं है ॥

४—पुत्रो ! [illegible] यह आत्मभावना कभी नहीं हटानी चाहिए । तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि, साक्षात्कृतधर्म्मा दूसरे श्रेष्ठ मनुष्यों से कही हुई यह उपदेशधारा सर्वथा उपयुक्त होती है । अर्थात् आत्मज्ञान के लिए आप्तोपदेश का आश्रय लेना परम आवश्यक है । हमने तुम्हारे ज्ञानोदय के लिए ही इतना कष्ट उठाया है । + + + + + ।

इस विषय का विस्तार विवरण 'कठविज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए ।

मे अन्य पुरुष प्रतिबिम्बित होता है, उस प्रकार शवशरीर की आंखों में प्रतिबिम्ब क्यों नहीं प्रतिष्ठित होता ? । इस प्रश्न के समाधान के लिए आपको शरीर से सर्वथा भिन्न प्रतिबिम्ब-ग्राहक एक तत्त्वविशेष ( आत्मा ) मानना पडेगा। जब वह उत्क्रान्त हो जाता है, तो प्रतिबिम्ब का उदय नहीं होता । प्रतिबिम्बित पुरुष को आत्मा बतलाने का अभिप्राय यही था कि जिस तत्त्व के आधार पर यह प्रतिबिम्ब स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित है, वही ग्राहकतत्त्व आत्मा है। 'मरने के अनन्तर प्रतिबिम्ब क्यो नहीं रहता' यदि इन्द्र यह विचार करते, तो उन्हें 'आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता ।

अपि च सर्वाङ्गशरीर मे चक्षुरिन्द्रिय ही आत्मविकास का मुख्य द्वार है। 'शरीर की 'श्री' ( कान्ति-शोभा ) चक्षुरिन्द्रिय पर ही निर्भर है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, एक चतुर शिल्पी के द्वारा बनाई गई पाषाणप्रतिमा के जब तक चक्षुर्गोलक मे कृष्णकनीनिका नहीं बना दी जाती, तब तक मूर्त्ति महाभयावह प्रतीत होती है। बिना चक्षु सम्बन्ध के पाषाण-प्रतिमा शव-समान दिखलाई पडती है। चक्षु सम्बन्ध होते ही मूर्त्ति जीवित सी हो उठती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो मूर्त्ति अभी मुख से कुछ कहने वाली है। इस प्रकार एक जीवित मनुष्य का शरीर जहा अभयभाव से आक्रान्त रहता है, वहा वही शरीर आत्मा के निकल जाने पर भयावह प्रतीत होने लगता है। इस भय की मूल प्रतिष्ठा चक्षुर्गोलक ही है। शवशरीर की आखें ही भय का कारण बनती है। क्यों ? उत्तर वही 'आत्मश्री' है। चक्षु ही सत्य आत्मा की प्रधान प्रतिष्ठा होने से 'सत्य' कहलाया है। चक्षु ही आत्मयश की विकास भूमि होने से 'यश' कहलाया है। जैसा कि—"एतद्ध वै मनुष्येषु सत्यं निहित यच्चक्षु" ( ऐ० ब्रा० १।६। ), "चक्षुर्वै प्रतिष्ठा" ( शत० १४।६।२।३। ) "चक्षुरेव यश" ( गो० ब्रा० पू० भा० ५।१५। ) इत्यादि श्रौत वचनों से भी चाक्षुषपुरुष का आत्मत्व सिद्ध होता है।

अपि च वास्तव मे 'चाक्षुषपुरुष' का ही नाम आत्मा है, जो कि आत्मा ( विज्ञानात्मा ) उपनिषदों मे 'दक्षिणाक्षिपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। आत्मतत्त्व का अभिमानी देवता इन्द्र है। यह उक्थात्मक विज्ञान, यह विज्ञानघन इन्द्रतत्त्व उक्थ रूप से हृदयस्थ प्रज्ञान मन पर प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्क ( रश्मि ) रूप से दक्षिण नेत्र पर्य्यन्त वितत रहता है। इसी के लिए श्रुति कहती है —

> यदेतन्मण्डलं तपति, यश्चैष रुक्म-इदं तच्छुक्लमक्षन्। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, यच्चैतत् पुष्करपर्णमिदंतत् कृष्णमक्षन्। अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, यश्चैष हिरण्मयः पुरुषोऽयमेव स-योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः"
>
> —शत० १०।५।२।६।

इसी इन्द्रतत्त्व से कृतात्मा इन्द्र ने आत्मा का स्वरूप पूछा, प्रजापति ने प्रतिबिम्बित पुरुष के व्याज से इसी आत्मरूप चाक्षुषपुरुष को सामने रख दिया। इन्द्र की उधर दृष्टि न गई, यह दूसरी बात है, परन्तु प्रजापति के उत्तर मे किसी प्रकार के क्षोदक्षेम का अवसर नहीं है।

आगे जाकर प्रजापति ने उदशरावस्थ प्रतिबिम्ब को सामने रक्खा। मिट्टी का पात्र है, उस में पानी भरा हुआ है, उस पर शरीर का प्रतिबिम्ब है। आत्मस्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में इस से अन्य अनुरूप दृष्टान्त नहीं मिल सकता। यदि इस दृष्टान्त के वास्तविक रहस्य को समझ लिया जाता है, तो निःसन्देह आत्मस्वरूप परिज्ञात हो जाता है। हमारा शरीर पार्थिवभाग-प्रधान है, मृण्मय है, दूसरे शब्दों मे मिट्टी का उदशराव है। लोम-केश-नखाग्रों को छोड़ कर सर्वाङ्ग शरीर में रस रूप पानी भरा हुआ है। पारमेष्ठ्य 'महान्' आपोमय है, रसमय है। 'षोडशी-पुरुष' नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा का प्रतिबिम्ब (चिदाभास) इसी महद्ब्रह्म पर प्रतिष्ठित होता है, जैसा कि—"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" (गी० १४।३) इत्यादि स्मृतिवचन से स्पष्ट है। मृण्मयशरीररूप पात्रस्थ अप्रूप, महद्रस जहां तक व्याप्त है, "यावानु वै रसस्तावानात्मा" (शत० ब्रा० ७।२०१, अ० १ ब्रा० ११ कं०।) के अनुसार वहां तक चिदंश (आत्मा) व्याप्त रहता है। इसी चिदाभास का नाम जीवात्मा है। दूसरे शब्दों में उदशरावरूप शरीर मे चिद्रूप पुरुष प्रतिबिम्बित है। इन्द्र यदि इस परिस्थिति को समझ लेते, तो उन्हें आगे सन्देह करने का अवसर न मिलता। इस प्रकार इस उपदेश की सत्यता भी अक्षुण्ण ही माननी पड़ती है।

तीसरा उपदेश स्वप्नद्रष्टा से सम्बन्ध रखता है। प्रज्ञानमन पर प्रतिष्ठित सौर विज्ञानात्मा ही (मनोऽवच्छेदेन) स्वप्नद्रष्टा है। इन्द्रियों के द्वारा मन पर आए हुए वासनारूप संस्कारिक विषयों को विज्ञानात्मा स्वप्नावस्था मे देखा करता है। मन चान्द्र है, विज्ञान सौर है। दोनों ही जड़ हैं। विज्ञान (बुद्धि) का विज्ञानत्त्व उसी चिज्ज्योति पर निर्भर है। विज्ञान-ज्योति से प्रज्ञानमन प्रकाशित रहता है। चिदात्मा से विज्ञान प्रकाशित रहता है। विज्ञानात्मा द्रष्टा नहीं है, अपि तु विज्ञानप्रतिष्ठ चित्प्रकाश द्रष्टा है। चिदाभासलक्षण आत्मा ही वास्तव में स्वप्नद्रष्टा है, किंवा सर्वद्रष्टा है—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। (मुण्डकोपनिषत् २।२।१०) ऐसी अवस्था मे द्रष्टा को आत्मा बतलाना यथार्थ ही है। इन्द्र ने शुद्ध द्रष्टा पर लक्ष्य न देकर मनोहृदयावच्छिन्न द्रष्टा पर दृष्टि डाली। 'भय-शोक-मृत्यु-क्षुधा-पिपासा-मोह' आदि मन के लक्षण है, न कि द्रष्टा के। यदि इन्द्र शुद्ध द्रष्टाभाव पर दृष्टि डालते, तो उन्हें वास्तव मे आत्मबोध हो जाता। इसी द्रष्टा अंश को सबसे पृथक् छांट कर बतलाते हुए प्रजापति ने अन्त में कहा है कि—"जो सुप्तावस्था में जाकर किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता, वही आत्मा है"। विज्ञानात्मा जब प्रज्ञानात्मा को साथ लेकर 'पुरीतति नाड़ी' में चला

जाता है, तो उस अवस्था में स्वप्न का भी अभाव हो जाता है। उस समय केवल शुद्ध द्रष्टा का साम्राज्य रहता है। इन्द्र ने शङ्का की थी कि, "यह तो उस की विनाशावस्था है, उस समय उसे अपना स्वरूपज्ञान ही नहीं रहता'। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

"यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन्वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्"। —बृ० आ० उप०, ४।३।२३।

इत्यादि के अनुसार द्रष्टा त्रिकालाबाधित है। भौतिक विषय ही तो देखने की वस्तु हैं। जब इस अवस्था में विषय ही नहीं, तो फिर देखे किसे। इस अवस्था में तो यह आत्मतत्त्व अपने विशुद्धरूप से अपने आप में ही डूबा हुआ रहता है। अतएव 'स्वमपीतो भवति' (छान्दोग्य उप० ६।८।१) के अनुसार इस अवस्था के लिए 'स्वपिति' कहा गया है—(प्रश्नोपनिषत् ४।२)। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृ० आ० उप० १।४।२) "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते-अथ तस्य भयं भवति" (तैत्ति० उप० २।७) इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तों के अनुसार जब तक द्वैत बना रहता है, तब तक अवश्य ही भय का सञ्चार रहता है। इन्द्रदेव शरीरदृष्टि से ही उसे देख रहे थे। क्योंकि शरीरावच्छिन्न, किंवा विषयावच्छिन्न आत्मतत्त्व शरीर के सभय होने से भयाक्रान्त-सा ही दिखलाई पड़ता है। सुषुप्ति में इन सब विप्रतिपत्तियों का अभाव है। इसी शोकातिग आत्मस्वरूप का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है—

"स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥ १॥
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥ २॥
स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्॥ ३॥
—बृ० आ० उप० ४।३।११,१२,१३,

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा, अपहतपाप्माऽभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरं, एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम्। तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्"। —बृ० आ० उप० ४।३।२१।

इसी विशुद्ध रूप को लक्ष्य में रखकर प्रजापति ने आगे जाकर कहा है कि, "जब तक तुम्हारी दृष्टि शरीर पर है, तब तक भय है, तभी तक प्रियाप्रिय का सम्बन्ध है। शरीररूप फल भाग से दृष्टि हटाओ, आत्मरूप रसभाग पर दृष्टि डालो। तभी तुम्हें अभयपद प्राप्त होगा"।

उक्त आख्यान से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि, आत्मा अवश्य ही शरीर से अतिरिक्त नित्य पदार्थ है, एवं वह शुभाशुभ फल भोगने के लिए आतिवाहिक शरीर धारण कर लोकान्तर में गमन करता है।

वेदान्त वचनों ( उपनिषद्वचनों ) का समन्वय करने वाले 'अक्षरब्रह्म'-प्रतिपादक 'शारीरकदर्शन' के आरम्भ के दो अध्यायों में परमतनिरूपण, एवं तन्निराकरण पुर सर 'आत्म अनात्मभाव' के विवेक का 'व्यासभगवान्' ने विशद रूप से निरूपण किया है। यहां यह सिद्ध किया गया है कि, "आत्मा शरीर से भिन्न पदार्थ है। नाम-रूप कर्म्म की समष्टि शरीर है, यह सर्वथा असत् है। एवं अस्ति भाति-प्रिय ( सत्ता चेतना आनन्द ) की समष्टि आत्मा है, यह सर्वथा सत् है। यह सदात्मा यथाविद्य, यथाकर्म्म नवीन नवीन शरीर धारण करता रहता है"। इस प्रकार वहां यह भलीभांति सिद्ध कर दिया गया है कि, पूर्व शरीर को छोड़ने के अनन्तर यह आत्मा अवश्य ही दूसरा शरीर धारण करता है। एवं इस सूक्ष्मशरीर को धारण कर आत्मा लोकान्तर में गमन करता है। इसी 'आत्मगति' का निरूपण करते हुए निम्न लिखित व्याससूत्र हमारे सामने आते हैं :

व्याससम्मत आत्मतत्त्व परीक्षा —

१—"तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्"।

२—"त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्"।

३—"प्राणगतेश्च"।

४—"अग्न्यादिगतिश्रुतिरिति चेन्न, भाक्तत्वात्"।

५—"प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न, ता एवह्युपपत्तेः"।

६—"अश्रुतत्वादिति चेन्न, इष्टादिकारिणां प्रतीतेः"।

७—"भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति"।

—शारीरकदर्शन ३ अ०। १ पा०। १-२-३-४-५-६-७-सूत्र

प्राचीन व्याख्याताओं ने उक्त 'आरोहोपक्रमाधिकरण' का जो अर्थ किया है, पहिले हम उसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

१—"अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति" ( बृ० आ० उप० ४।४।१ ) यहां से आरम्भ होकर "अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते" ( बृ० आ० उप० ४।४।४ ) इस वाक्य पर समाप्त होने

वाली बृहदारण्यक-श्रुति से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि, सेन्द्रिय, समनस्क, मुख्य-प्राणयुक्त, विद्या कर्म्म पूर्वप्रज्ञा-आदि परिग्रहों से युक्त यह जीवात्मा ( कर्म्मभोक्ता भोक्तात्मा ) पूर्व देह को छोड़ने के अनन्तर अवश्य ही देहान्तर धारण करता है। द्वितीय देह धारण करने वाला बतलाने वाली उक्त बृहदारण्यक-श्रुति ने—"स एतास्तेजोमात्राः समभ्यादधानः" ( बृ० आ० उप० ४।४।१। ) इत्यादिरूप से जाते हुए जीवात्मा के साथ तेजोमात्रा का ही सम्बन्ध बतलाया है। उक्त वाक्य में भूतभाग का गमन अश्रुत है। अतः सिद्ध होता है कि, द्वितीय देह धारण करने वाला जीवात्मा इस पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर को छोड़ता हुआ भूतमात्रा से अपरिष्वक्त ( पृथक् ) होता हुआ ही लोकान्तर में गमन करता है। इस पर बादरायण कहते हैं कि, ऐसा नहीं है। तेजोमात्रा के साथ साथ ही जीवात्मा के साथ भूतमात्रा का भी सम्बन्ध रहता है। इसी सिद्धान्त को दृढ़ करते हुए व्यास कहते हैं —

(१) "तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति, संपरिष्वक्तः–प्रश्ननिरूपणाभ्याम्"।

"पूर्व शरीर छोड़ने के अनन्तर जीवात्मा अवश्यमेव नवीन शरीर धारण करता है" जब ( पूर्व के दो अध्यायों से ) यह सिद्ध हो गया है—तो मानना पड़ेगा कि, जीवात्मा भूतमात्राओं से संपरिष्वक्त होकर ही लोकान्तर में रंहण करता है—( जाता है )। क्योंकि ताण्ड्यश्रुति में पञ्चाग्निविद्याप्रकरण में 'उद्दालक' और 'प्रवाहण' के परस्पर में होने वाले आत्मगति-सम्बन्धी प्रश्नोत्तरों से यही सिद्ध होता है। इस प्रश्नोत्तरी के सम्बन्ध में निम्न लिखित श्लोक सुप्रसिद्ध हैं—

"तदन्तरेत्यादिकसूत्रमेतद् ब्रूत तदर्थं यदि वेत्थ किञ्चित्।
स प्राह जीवः करणाग्रमादे संवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मैः॥
ताण्ड्यश्रुतौ गोतमजैवलीयप्रश्नोत्तराभ्यां प्रथितोऽयमर्थः॥"

उद्दालक प्रवाहण से प्रश्न करते हैं—"वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" ( छान्दो० उप० ५।३।३। ) ( यदि जानते हो तो बतलाओ ! पानी पांचवीं आहुति में कैसे पुरुष बन जाता है ? )। श्रुति उत्तर देती है—"चान्द्रमण्डल में श्रद्धा नाम का पानी व्याप्त हो रहा है। "चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि" ( यजु० सं० ३३।९०। ) के अनुसार उसी श्रद्धासमुद्र में चन्द्रमा परिभ्रमण किया करता है। इस अप्रूप 'श्रद्धातत्त्व' की द्युरूप 'आदित्याग्नि' (दिव्याग्नि) में आहुति होती है, इससे 'सोम' उत्पन्न होता है। सोम की 'पर्जन्याग्नि' में आहुति होती है, इससे 'वृष्टि' ( स्थूलपानी ) उत्पन्न होती है। वृष्टि की पार्थिव अग्नि मे आहुति होती है, इससे 'अन्न' उत्पन्न होता है। अन्न की 'वैश्वानर पुरुष' में ( मानवशरीर में व्याप्त पुरुष

नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर अग्नि में ) आहुति होती है, इससे 'रेत' ( शुक्र ) उत्पन्न होता है। रेत की 'योषाग्नि' ( स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आग्नेय शोणित ) में आहुति होती है, इसी आहुति से 'पुरुष' उत्पन्न होता है। इस प्रकार 'द्यु पर्जन्य पृथिवी पुरुष योषा' इन पांच अग्नियों में क्रमश 'श्रद्धा सोम-वृष्टि अन्न रेत' इन पाच आहुतिद्रव्यो की आहुति होती है। इस में पांचवीं रेत आहुति में वही श्रद्धारूप आप क्रमश रेतोरूप में परिणत होकर पुरुष का आरम्भक ( उपादान ) बनता है।" ( छा० उ० ५।३। ) 'पानी पाचवी आहुति में कैसे पुरुष बन जाता है ?' इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

उक्त प्रश्नोत्तर प्रकरण से अवरोहक्रम में ( ऊपर से नीचे की ओर आने में ) पानी को पुरुष का उपादान बतलाया गया है। ऐसी अवस्था में यदि आरोहक्रम में ( नीचे से ऊपर की ओर जाने में ) पानी का जीवात्मा के साथ गमन न माना जायगा, तो अवरोहक्रम में पानी से पुरुष की उत्पत्ति मानना सर्वथा असगत हो जायगा। कारण स्पष्ट है। उक्त श्रुति के अनुसार पुरुषसृष्टि का उपादान बनते बनते सारा पानी यहां आ गया। यहां से आप पानी का ऊर्ध्वगमन मानते नहीं। ऐसी परिस्थिति में प्रथमा सृष्टि के अनन्तर आगे पुरुषसृष्टि का मार्ग अवरुद्ध हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। सृष्टि प्रलय प्रवाह नित्य है। इससे सिद्ध हो जाता है कि, जिस प्रकार अवरोहक्रम में पानी उपादान बनता है, एवमेव आरोहक्रम में भी पानी जीवात्मा के साथ लोकान्तर में जाता है। पानी भौतिक पदार्थ है। अतएव हम कह सकते हैं कि, जीवात्मा भूतसूक्ष्मों से सपरिष्वक्त होकर ही लोकान्तर में जाता है।" प्रथम सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ १ ॥

२—उक्त कथन के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। पूर्व की प्रश्नोत्तर श्रुति से केवल पानी का ही आरोह अवरोह सिद्ध होता है। ऐसी दशा में जीवात्मा के साथ केवल अप्भूत का ही गमन सिद्ध होता है। परन्तु अर्थ किया जाता है—"भूतसूक्ष्मैः सह सपरिष्वक्तो गच्छति" यह। यह अर्थ कैसे सगत हुआ ?, इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

( २ ) "त्र्यात्मकत्वात्तु"।

१ पुरुषदेह के आरम्भक पानी त्र्यात्मक हैं। "तासां त्रिवृत त्रिवृत—मेकैकां करवाणि" ( छा० उ० ६।३।३। ) इस छान्दोग्य-श्रुति के अनुसार पानी त्रिवृद्भावापन्न है। इस त्रिवृत्करणप्रक्रिया के कारण केवल पानी में भी सब भूतों का समावेश है। वेदान्तदर्शन की पञ्चीकरण प्रक्रिया ही उपनिषदों में त्रिवृत्करण नाम से प्रसिद्ध है। मार्ग भिन्न है, फलितार्थ समान है। 'तेज-अप्-अन्न' इन तीनों के त्रिवृत्करण से 'पृथिवी-जल तेज-वायु-आकाश' इन पांच महाभूतों का जन्म हुआ है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो रहा है।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| *१—तेजः— | १—तेजः | | ... सत्यम् (१) | आकाशः (१) |
| | २—आपः | | ... तपः (२) | |
| | ३—अन्नम् | १—तेजः | ... जनत् (३) | वायुः (२) |
| २—आपः | | २—आपः | ... महः (४) | |
| | | ३—अन्नम् १—तेजः | ... स्वः (५) | तेजः (३) |
| ३—अन्नम्— | | २—आपः | ... भुवः (६) | जलम् (४) |
| | | ३—अन्नम् | ... भूः (७) | पृथिवी (५) |

उक्त प्रक्रिया के अनुसार अप्तत्त्व में तेज भी है, अन्न भी है। शुद्ध आपः रसमात्रा नाम से प्रसिद्ध 'गुणभूत' है, यही 'तन्मात्रा' है। गुणभूत नाम से प्रसिद्ध इन तन्मात्राओं से 'अणुभूतों' का विकास हुआ है। अणुभूतों के समन्वय से 'रेणुभूतों' का विकास हुआ है। एवं रेणुभूतों के यौगिक संम्मिश्रण से महाभूत उत्पन्न हुए हैं। महाभूतों से सत्त्व (अस्मदादि प्राणी) उत्पन्न हुए हैं। प्रत्येक महाभूत पञ्चीकृत है। प्रत्येक महाभूत में इतर चारों भूतों का गौणरूप से समन्वय रहता है। ऐसी स्थिति में पुरुष-सत्त्वोपादानभूत आपः नाम के महाभूत को हम पांचों भूतों की समष्टि मानने के लिए तय्यार हैं। इस प्रकार पानी के त्र्यात्मक होने से केवल पानी का ही आरोह अवरोह यह सूचित करता है कि, आत्मा पांचों सूक्ष्म भूतों से युक्त होकर ही आरोहावरोहक्रम का भोक्ता बनता है।

एक प्रश्न और उपस्थित होता है। यदि पांचों ही भूत पुरुषशरीर के आरम्भक हैं, तो फिर "आपः पुरुषवचसो भवन्ति" इत्यादि रूप से केवल पानी को ही पुरुष का आरम्भक क्यों माना गया ?, फिर तो "महाभूतानि पुरुषवचसो भवन्ति" यह कहना चाहिए था।" इस प्रश्न का समाधान करते हुए व्यास कहते हैं—"भूयस्त्वात्"। यद्यपि देहारम्भक द्रव्य सार्वभौतिक (पाञ्चभौतिक) हैं, तथापि पुरुष की उत्पत्ति मे पानी ही प्रधान, एवं अधिक मात्रा मे रहता है। शुक्र-शोणित के मिथुनभाव से पुरुष उत्पन्न हुआ है। शुक्र भी तरल पदार्थ है, शोणित भी तरल पदार्थ है। बीजरूप शुक्र-शोणित में मे द्रवभाग ही अधिक है। एवं—"आपो द्रवाः स्निग्धाः" (वै० द० २।१।२) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार यह द्रवता पानी का ही धर्म्म है। अपि च सौम्यशुक्र 'भृगु' है, आग्नेय शोणित 'अङ्गिरा' है। एवं—"आपो भृग्वङ्गिरो रूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्" (गोपथब्रा० पू० २।३६) इस आथर्वण सिद्धान्त के अनुसार दोनों ही अप्प्रधान हैं।

---

* इस त्रिवृत्करणप्रक्रिया का विशद विवेचन मनः-प्राण-वाक्-रूप से ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

अतएव अप्प्रधान शुक्र शोणित के समन्वय से उत्पन्न पुरुष-शरीर में अन्य भूतों की अपेक्षा पानी ही अधिकमात्रा में उपलब्ध होता है। इस प्रकार सब भूतों के रहने पर भी—'वैशेष्यात्तु-तद्वादस्तद्वाद' (शा० द० २।४।२२ सू०) के अनुसार इतर भूतों का नाम निर्देश न कर 'आपः पुरुषवचसो भवन्ति' यही कह दिया गया है"—द्वितीय सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ २ ॥

३—प्रश्न होता है कि, परलोक जाते हुए आत्मा के साथ सूक्ष्मभूत भी रहते हैं, इस में क्या प्रमाण है ?, किस आधार पर यह अनुमान लगाया गया ?, उत्तर देते हैं 'प्राणगतेश्च'-"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" (बृ० आ० उप० ४।४।२।) इत्यादि श्रुतियाँ शरीर से उत्क्रान्त जीवात्मा के साथ मुख्यप्राण, एवं इतर अनूचीन प्राणो की भी उत्क्रान्ति बतला रहीं हैं। दूसरे शब्दों में जीवात्मा के साथ प्राणों का गमन बतलाया जा रहा है। प्राणतत्त्व बिना भूत के कभी भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। प्राण, एवं भूत का परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवित दशा में हम प्राणों को भूतों के साथ नित्ययुक्त देखते हैं, साथ ही में उत्क्रान्तिकाल में प्राणगति सुनी जाती है, फलतः प्राणगति ही भूतगति के अनुमान के लिए पर्य्याप्त कारण बन जाती है, तीसरे सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ ३ ॥

४—"प्राणगति के कारण भूतगति का अनुमान किया जाता है" यह पूर्वसूत्र से सिद्ध किया गया। इस अनुमान के सम्बन्ध में थोडी सी विप्रतिपत्ति है। उक्त अनुमान तभी अन्वर्थ बन सकता है, जब कि प्राण, एवं प्राणों की जीवात्मा के साथ गति सिद्ध हो जाती है। परन्तु ऐसा नहीं है। "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राण, चक्षुरादित्य." (३ २।१३।) के अनुसार जब पुरुष मर जाता है, तो इस की वागिन्द्रिय स्वप्रभव अग्नि में, प्राणेन्द्रिय वायु में, चक्षुरिन्द्रिय आदित्य में लीन हो जाती है। इस प्रकार तत्तत् प्राणो (इन्द्रियों) की स्वप्रभवरूप अग्नि वायु-आदित्यादि प्रभवदेवताओं में अपीति (लय) सुनी जाती है। जब प्राण स्वप्रभवों में लीन हो जाते हैं, तो ऐसी अवस्था में जीवात्मा के साथ प्राणों का गमन सिद्ध नहीं होता। फलत. "प्राणगतेश्च", यह पूर्वोक्त अनुमान नहीं बन सकता।" भूतगति के सम्बन्ध में उक्त विप्रतिपत्ति, एवं उस के निराकरण का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रधार कहते हैं—

(४) "अग्न्यादिगतिश्रुतिरिति चेन्न,-भाक्तत्वात्" ।

श्रुति वचनों में भी परस्पर गौणमुख्यभाव का समादर करने वाले व्याख्याता उक्त सूत्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि—"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्य वागग्निमप्येति" यह अग्न्यादिश्रुति यद्यपि तत्तत् प्राणों की तत्तत् प्रभव अग्न्यादि देवताओं में अपीति बतला रही है, परन्तु इस अग्न्यादि श्रुति को 'भाक्त (गौण)' समझना चाहिए। "ओषधीर्लोमानि, वनस्पतीन् केशाः (बृ० आ० उप० ३।२।१३।) यह श्रुति भी उसी प्रकरण में पढी हुई है। इस श्रुति का तात्पर्य यही है कि,

पुरुष के लोम मरने के अनन्तर ओपधियों में, एवं केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं। क्या यह कथन ठीक है ?। अग्नि सम्बन्ध से प्रत्यक्ष मे दग्धकेश-लोमों का ओपधि-वनस्पतियों मे लय मानना कैसे संगत हो सकता है। देखते देखते भस्मीभूत हो जाने वाले केश-लोमों का ओपधि-वनस्पतियों के साथ क्या सम्बन्ध। केवल श्रुति ने कह दिया है। जिस प्रकार यह श्रुति गौण है, एवमेव "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्य०" यह भी केवल कहना ही कहना है। जिस प्रकार ओपधि-वनस्पतियां केश-लोमों की उपकारक मात्र हैं, एवमेव अग्नि-वायु-आदि देवता वाक् प्राणादि इन्द्रियप्राणों के उपकारक मात्र हैं। दोनों श्रुतियां उपकारभाव का ही प्रतिपादन कर रहीं हैं। अग्न्यादिश्रुति गौण है, "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" इत्यादि उत्क्रमणश्रुति ही मुख्य है। श्रुति मे "अनु" शब्द पढ़ा है। इसका "अनुलक्ष्य" यही अर्थ हो सकता है। फलतः प्राण-गतिप्रतिपादिका श्रुति की मुख्यता से ही पूर्वोक्त "प्राणगतेश्च" यह अनुमान ठीक बन जाता है।" चतुर्थ सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ ४ ॥

५—"प्रथमसूत्रार्थ प्रकरण मे प्रतिपादित पञ्चाग्निविद्या मे द्युरूप ( आदित्यरूप ) प्रथमाग्नि मे श्रद्धा की आहुति बतलाई गई है। इसी श्रद्धा-शब्द के आधार पर पानी को पुरुष का उपादान मान लिया गया है। वस्तुत. देखा जाय, तो पानी से पुरुष की उत्पत्ति कथमपि सिद्ध नहीं होती। कारण स्पष्ट है। प्रथमाग्नि मे आहुति होने वाले द्रव्य को "श्रद्धा" कहा गया है, न कि आपः ( पानी )। आपः शब्द प्रथमाग्निसम्बन्ध में सर्वथा अश्रुत है। ऐसी दशा मे श्रद्धा शब्द से अश्रुत पानी का ग्रहण कैसे किया जा सकता है ? जब पानी का ग्रहण अनुपपन्न है, तो भूतसूक्ष्मों का सम्बन्ध भी सर्वथा अनुपपन्न है" इसी आशङ्का का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

( ५ ) "प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न, ता एवह्युपपत्तेः" ।

यद्यपि द्युरूप प्रथमाग्नि के सम्बन्ध मे 'आप.' शब्द सर्वथा अश्रुत है, वहां आप' न कहकर श्रद्धा का ही उल्लेख हुआ है, तथापि यहां के श्रद्धा शब्द को पानी का ही वाचक मानना न्याय-संगत होता है। क्योंकि गोतम का—"आप पुरुषवचसो भवन्ति" यह प्रश्न था। उत्तरश्रुति ने इसी प्रश्न का समाधान किया है। उक्त प्रश्न की संगति तभी बन सकती है, जब कि उत्तर-श्रुति के श्रद्धा शब्द को 'अप्' परक मान लिया जाय। अपिच श्रद्धा को अप्परक मानते हुए ही पञ्चाग्निविद्या का उपसंहार करते हुए श्रुति ने—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति" इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों मे यह सिद्ध कर दिया गया है कि, प्रश्न का श्रद्धा शब्द पानी का ही वाचक है। अपि च सामान्यदृष्टि से लौकिक व्यवहार मे यद्यपि श्रद्धा-शब्द का प्रत्ययविशेष के साथ ही सम्बन्ध देखा जाता है। "हम आपपर श्रद्धा करते हैं" इससे सेव-कत्व प्रकट किया जाता है, तथापि श्रद्धा शब्द से आप. का ग्रहण भी उपपन्न माना जा सकता

७—जीवात्मा लोकान्तर में भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर जाता है, यह तो सिद्ध होगया। परन्तु लोकान्तर में जाकर यह शुभाशुभ कर्म्मों का फल भोगता है, इस सम्बन्ध में थोड़ी सी विप्रतिपत्ति है। अथवा यों कहिए कि, कर्म्मफल भोगने के लिए ही तो जीवात्मा की परलोक में गति बतलाई जाती है। जब निम्न लिखित श्रौत वचन के अनुसार जीवात्मा का फल भोगना ही सिद्ध नहीं होता, तो उसकी गति मानना ही व्यर्थ हो जाता है। "एष सोमो, राजा, तद्देवानामन्नं, तं देवा भक्षयन्ति" ( छां० ५।१०।४ ) इत्यादि श्रुति सोम को देवताओं का अन्न बतलाती है। उक्त छान्दोग्य श्रुति के साथ "ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति, तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति" ( बृ० आं० ६।२।१६ ) इस बृहदारण्यक श्रुति की समानता है। उक्त श्रुति से यही सिद्ध होता है कि, जिस प्रकार सोमतत्त्व को आकाशस्थ, किंवा परलोकस्थ देवता खाया करते हैं, तथैव परलोकगत जीव भी सोमसाहचर्य्य से इन देवताओं के अन्न बन जाते हैं। जब जीव स्वयं देवताओं के भोग्य हैं, तो ऐसी अवस्था में ये भोक्ता ( कर्म्मफल भोक्ता ) कैसे बन सकते हैं ?, इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

( ७ ) "भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति"।

उक्त बृहदारण्यक श्रुति ने सोमवत् यद्यपि इन जीवों को भी देवताओं का अन्न बतलाया है। परन्तु इन का यह अन्नत्व भाक्त ( गौण ) समझना चाहिए। खाने पीने की वस्तुओं को ही अन्न नहीं कहा जाता, अपितु सामान्य भोग्यमात्र को 'अन्न' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। उदाहरण के लिए प्रजा राजा का अन्न कहलाती है, पशु-अस्मदादि मनुष्य-प्रजा के अन्न माने गए हैं। इस अन्नभाव का तात्पर्य्य यही है कि, प्रजा पर राजा का अधिकार है। प्रजा से राजा को करादि ग्रहण द्वारा सुख मिलता है। हम पशुओं से लाभ उठाते हैं। पशु स्वतन्त्र नहीं रह सकते। इस प्रकार प्रजा, और पशुओं का अन्नत्व पारतन्त्र्य लक्षण ही है। चर्वण-निगरणादि-लक्षण अन्नत्व का यहा सर्वथा अभाव है। एवमेव परलोक गत जीवात्मा वहां के अधिष्ठाता प्राण-देवताओं द्वारा शासित होते हैं। एतावता ही राजा-प्रजावत् बृहदारण्यक श्रुति ने जीवों को इन का अन्न बतला दिया है। अपि च—"न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति" ( छा० उप० ३।६।१ ) इत्यादि श्रुतियां स्पष्ट ही देवताओं को चर्वण-निगरण लक्षण अन्न मर्य्यादा से भी बहिर्भूत मान रही हैं। जिन्हें आत्मा का परिज्ञान नहीं होता, ऐसे अनात्मवित् जीव ही परलोक में जाते हैं। एवं इसी अनात्मभाव के कारण उसी प्रकार इन्हें देवताओं का भोग्य बनना पड़ता है, जैसे कि आत्मस्वरूप न जानने वाले गौ-अश्वादि पशु हमारे

भोग्य बने रहते हैं। जीवात्मा के इसी पारतन्त्र्य प्रवर्त्तक अनात्मलक्षण पशुभाव को दिखलाती हुई श्रुति कहती है—

"अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद। यथा पशुः, एवं स देवानाम्"

—बृ० आ० उप० १।४।१०।

जीवनपर्य्यन्त केवल इष्टादि कर्म्मों में ही रत रहने वाले ये जीवात्मा ज्ञानसमुचित मुक्ति-प्रवर्त्तक निष्काम कर्म्म से पराङ्मुख रहते हैं। इसी विशुद्ध कर्म्म के प्रभाव से इन की आत्म-विद्या आवृत हो जाती है। एतावता ही इन्हें गौणरूप से देवभोग्य अन्न मान लिया गया है। यह सब कुछ होने पर भी इन का भोक्तृत्व भी बना रहता है। श्रुति में स्पष्ट ही इन का भोक्तृत्व देखा जाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः, स एकः कर्म्मदेवानामानन्दः। ये कर्म्मणा देवत्त्वमभि संपद्यन्ते"। "स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते" इति।

—बृ० आ० उप० ४।३।३३।

इस प्रकार अपशब्दोपात्त भूतसूक्ष्म, एवं प्राणों से संपरिष्वक्त जीवात्मा का कर्म्मफल भोगने के लिये लोकान्तर में जाना उक्त 'आरोहोपक्रमाधिकरण' से भलीभांति सिद्ध हो जाता है।

प्राचीन व्याख्याताओं ने उक्त अधिकरण की जिस प्रकार से उत्थानिका मानी है, एवं अधिकरण के सात सूत्रों के जो अर्थ किए हैं, उन का संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया गया। अब वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकृत अधिकरण का विचार किया जाता है। वैज्ञानिक लोग प्राचीन मत में थोड़ा सा संशोधन आवश्यक समझते हैं। उन के मतानुसार उक्त अधिकरण की उत्थानिका भी दूसरी है, एवं सूत्रार्थों में भी कहीं कहीं थोड़ा बहुत अन्तर है, जैसा कि निम्न लिखित प्रक-

व्यापक तत्त्व का शरीर से निकल कर विशुद्धरूप से गमन बन नहीं सकता। उधर आत्मा की लोकान्तर में प्रतिपत्ति शास्त्र-सम्मत है। ऐसी स्थिति में क्या माना जाय ?, इसी प्रश्न का निराकरण करते हुए व्यास कहते हैं—

( १ )—"तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति-संपरिष्वक्तः, प्रश्ननिरूपणाभ्याम्" ।

"आत्मा शरीर से बाहिर निकल कर लोकान्तर में जाता है" यह मान लेने पर, दूसरे शब्दों में आत्मा का बहिर्मण्डल के साथ सम्बन्ध मान लेने पर विशुद्ध रूप से इस का उत्क्रमण कथमपि संभव नहीं है। अतः मानना पड़ता है कि, यह आत्मा भूतसूक्ष्मों से संपरिष्वक्त हो कर ही लोकान्तर में जाता है। "पूर्वशरीर के छूट जाने पर भी शरीरारम्भक भूत-प्राण- इन्द्रियादि कितने ही पदार्थों से संश्लिष्ट होकर ही आत्मा गमन करने में समर्थ होता है"। यह बात उद्दालक और प्रवाहण के प्रश्न प्रतिवचन से सिद्ध है। वहां पर पानी को पुरुष का उपादान बतलाया गया है। यदि शुद्ध जीवात्मा ही लोकान्तर में जाय, तो पुनः जन्म ग्रहण करता हुआ भी वह शुद्ध रूप से ही पृथिवी पर आवे। ऐसी दशा में पानी को पुरुष का उपादान बतलाना सर्वथा असङ्गत हो जाय। इन्हीं सब परिस्थितियों से यह सिद्ध हो जाता है कि, आत्मा भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर ही जाता है ॥ १ ॥

२-३-४-६-७ इन सूत्रार्थों के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। यदि कुछ है भी, तो यह विस्तारभय से छोड़ा जाता है। वक्तव्य है—"अग्न्यादिगतिश्रुतिरिति चेन्न-भाक्तत्वात्" इस चतुर्थ सूत्र के सम्बन्ध में। "शेषं कोपेन पूरयेत्"-"अशक्तास्तत् पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते" इत्यादि वचनों की आराधना छोड़ कर विचार कीजिए। श्रौत वैज्ञानिक रहस्यों का निष्पक्षपात दृष्टि से अवलोकन कीजिए। आप को मानना पड़ेगा कि-"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" यह वचन वास्तव में बहुत सोच समझ कर कहा गया है। उक्त सूत्रार्थ के सम्बन्ध में आज हम एक ऐसे व्यक्ति की समालोचना करने चले हैं, जो विद्वत् समाज में मूर्द्धन्य माना जाता है। हमारे हृदय में भी उस महापुरुष के प्रति कम श्रद्धा नहीं है। फिर भी "शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि" इस सूक्ति का हम निरादर नहीं कर सकते। पूर्व प्रकरण में चतुर्थ सूत्र का अर्थ बतलाते हुए हम कह आए हैं कि, भगवान् 'शङ्कराचार्य' के मतानुसार "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति" ( बृ० ३।२।१३। ) इत्यादि श्रुति उसी प्रकार गौण है, जैसा कि-"ओषधीर्लोमानि, वनस्पतीन् केशाः" ( बृ० ३.२ १३। ) इत्यादि श्रुति गौण अर्थ का प्रतिपादन कर रही है। अपने अभिप्राय का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर आचार्य कहते हैं—"लोम और केशों का ओषधि वनस्पतियों में अप्यय नहीं देखा जाता"। तात्पर्य इस कथन का यही है कि, जैसे श्रुति ने लोम-केशों का ओषधि-वनस्पतियों में लय बतलाया है, परन्तु वास्तव में

ऐसा नहीं है। केश लोमों को हम शव के साथ साथ प्रत्यक्ष में जलता हुआ देखते हैं। बस जिस प्रकार लोम केश का ओषधि वनस्पतियों में अप्यय बतलाने वाली उक्त श्रुति गौण है, एवमेव "यत्रास्य पुरुषस्य०" इत्यादि अग्न्यादिगति श्रुति भी गौण अर्थ का ही प्रतिपादन कर रही है। ऐसी अवस्था में अग्न्यादि श्रुति का "अग्नि वायु आदित्यादि देवता वाक्-प्राण चक्षु आदि इन्द्रिय प्राणों की अधिष्ठात्री देवता हैं, वागादि की उपकारिकाएं हैं" इस उपकार भाव को सूचित करने के लिए ही "वागादि अग्नि आदि की ओर जाते हैं" यह कह दिया गया है"। "वस्तुतः अग्न्यादि में वागादि का अप्यय नहीं है"— आचार्य की दृष्टि में यही अभिप्राय है। आचार्य के मतानुसार उक्त अग्न्यादि श्रुति, एवं ओषध्यादि श्रुति, दोनों गौण हैं, एवं "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" इत्यादि उत्क्रमण श्रुति ही मुख्य है।

इस प्रकार भगवान् शंकर के मतानुसार व्याससूत्र में पठित "भाक्तत्वात्" पद का गौण अर्थ है। वैज्ञानिक श्रुति के सम्बन्ध में उक्त अर्थ मानने में अणुमात्र भी सहमत नहीं हैं। श्रुतियों में गौणमुख्यभाव मानना सर्वथा अनुचित है। श्रुति कोई अलङ्कारशास्त्र नहीं है, जहां मिथ्याकल्पनाओं का यथाभिरुचि समावेश मान लिया जाय। अपितु श्रुति साक्षात्कृतधर्म्मा-ऋषियों का आर्षदृष्टि से देखा हुआ निश्चित अर्थ है। "अमुक विषय गौण है, अमुक विषय मुख्य है, इसे सत्य समझो, इसे केवल कल्पना समझो" श्रौतशास्त्र के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना करना भी अपने आपको प्रत्यवायी बनाना है। जब श्रुति ही गौणमुख्यभाव का आश्रय लेगी, तो निःसंदिग्ध अर्थ का प्रतिपादन कौन करेगा ? अपने इसी निःसंदिग्ध भाव को सूचित करती हुई, सर्वत्र मुख्यार्थभावना को ही दृढ़मूल बनाती हुई स्वयं श्रुति ही एक स्थान पर कहती है—

* सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति ।
य एवेदमिति ब्रवत् ॥ १ ॥
समु पूष्णा गमेमहि यो गृहाँ अभिशासति ।
इम एवेति च ब्रवत् ॥ २ ॥

— ऋक्सं० ६।५४।१-२।

श्रुति जो कुछ कहती है, अक्षरशः सत्य है। श्रुति का प्रत्येक प्रतिपाद्य विषय मुख्य अर्थ से ही सम्बन्ध रखता है। श्रौत वचनों में गौणभाव का, शून्यकल्पना का किञ्चित् भी समा-

---

* हे पूषा देवता मुझे ( मुझ जिज्ञासु को ) ऐसे विद्वान् से मिलादें। जो वहीं सरलरीति से समझाता है। एवं जो ( प्रत्येक विषय के लिए ) "यह ऐसा ही है" इस प्रकार निःसंदिग्ध रूप से प्रतिपादन करता है।

लेश नहीं है। जिस ओषध्यादि श्रुतिवचन को शङ्कराचार्य गौणभाव का प्रतिपादक समझते हैं, हमारी दृष्टि में वह मुख्यार्थ का ही निरूपण कर रही है।

हमारे शरीर में जितने भी रोमकूप हैं, उन सब का नाक्षत्रिक प्राणों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। चान्द्रमण्डल नक्षत्रयुक्त है। अतएव चन्द्रमा को उडुपति माना गया है। जिस समय गर्भाशय में डिम्भ 'कलल' रूप में परिणत रहता है, उसी समय नक्षत्रों की निराकार प्राणात्मिका रश्मियाँ इसमें प्रविष्ट होकर सुषिर ( छिद्र ) उत्पन्न कर देती हैं। वे ही छिद्र 'रोमगर्त्त' किंवा 'रोमकूप' नाम से प्रसिद्ध होते हैं। जितने भोग्य नक्षत्र हैं, हमारे शरीर में उतने ही रोमगर्त्त हैं। चान्द्र सौम्य-प्राणावच्छिन्न नक्षत्रों की रश्मियों से ही रोमकूपों का निर्म्माण होता है। इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई वाजिश्रुति कहती है —

"एभ्यो लोमगर्त्तेभ्य ऊर्ध्वानि ज्योतींष्यान्। तद्यानि तानि ज्योतींषि; एतानि तानि नक्षत्राणि। यावन्त्येतानि नक्षत्राणि, तावन्तो लोमगर्त्ताः। यावन्तो लोमगर्त्तास्तावन्तः सहस्रसंवत्सरस्य मुहूर्त्ताः"।

—शत० ब्रा० १०।४।४।२। इति।

रोमकूप नक्षत्रप्राणयुक्त चान्द्रप्राण-प्रधान होते हुए सोमप्रधान हैं। "सोमो वै राजा ओषधीनाम्" ( तै० ब्रा० ३।९।१७।१ ) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण ओषधियों का उपादान-कारण नक्षत्रप्राणावच्छिन्न चान्द्रसोम ही है। ओषधियों में सौर रस ( आग्नेयरस ) न हो, यह बात तो नहीं है। परन्तु इनमे प्रधानता चान्द्रसोम की ही रहती है, अतएव ओषधियों को सोमरस ही मान लिया जाता है। सौर ऊष्मा ( सौरअग्नि ) गर्भित चान्द्रसोम ही ओषधियों का आरम्भक बनता है। ओषधियों का स्थूल द्रव्य भाग सौम्य है, इनके गर्भ में सौर अग्नि प्रतिष्ठित रहता है, अतएव "ओषं ( ऊष्मभावं सौराग्निं स्वगर्भे ) धत्ते" इस व्युत्पत्ति से इन्हें 'ओषधी' कहा जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है —

"( प्रजापतिः ) तां ( आहुतिं ) व्यौक्षत् ( अग्नावत्यजत् ) ओषधय-इति ( ब्रुवन् ), तत ओषधयः समभवन्। तस्मादोषधयो नाम"।

—शत० २।२।४।५। इति।

इन ओषधियों की शारीराग्नि में आहुति होती है। इस से अग्नि प्रज्वलित हो जाता है। यह अग्निगर्भित सोम ही सजातीय सम्बन्ध के कारण रोमकूपों से निरन्तर बाहिर निकला करता है। बाहर से रुद्रवायु ( रूक्षवायु-यमवायु ) का आघात होता है। इस आघात से रोमद्वारों पर आया हुआ सोमगुणक रुधिरमूर्त्ति वह अग्नि जम जाता है। इस प्रकार रोमकूपों से

बाहिर निकल कर रुद्रवायु की रूक्षता से जमने वाला, सौराग्निगर्भित ओषधि नाम से प्रसिद्ध चान्द्ररस ही हमारी रोमावलियां हैं। ओषधिरस ही रोमावलियां बनता है। वास्तव में ओषधियां ही (भुक्त ओषधि लक्षण अग्निगर्भित सोमरस ही) लोमों का प्रभवस्थान है।

जिस प्रकार ओषधियों का निर्माण चान्द्रसोम से होता है, एवमेव वनस्पतियों में सौर-अग्नि की प्रधानता है। यहां सोम गर्भ मे है। सोमगर्भित सौर अग्नि ही वनस्पतियों का उपादान कारण है। वनस्पतियों की आहुति से शारीराग्नि प्रज्वलित रहता है। अग्नि बाहिर निकलता है, रुद्रवायु के आघात से जमकर वहीं केशरूप मे परिणत हो जाता है। लोमों में जहां सौम्य प्राण की प्रधानता थी, अत एव लोम जहां अस्थिर, सूक्ष्म, मृदु थे, वहां इन केशों मे अग्नितत्व प्रधान है। एवं ये घन हैं, स्पर्श में कर्कश हैं। केश अग्नि का मल भाग हैं, अग्नि से निवारित है। इसी निवारण भाव से (अग्नि से निवारित होने से) इन्हें 'वार' किंवा 'बाल' कहा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने मलभाग से घृणा करता है, एवमेव यह शारीराग्नि भी अपने मलरूप इन केशों से घृणा करता है। अतएव जिसके शरीर पर जितने अधिक केश होते हैं, उसे उतनी ही कम ठंड लगती है। केशों से घृणा करने वाला अग्नि शरीर से बाहिर नहीं निकलता। अतएव शीत का सामना करने के लिए जितना अग्नि चाहिए, केशों से अवरुद्ध उतना अग्नि शरीर मे प्रतिष्ठित रह जाता है। केशादि से विनिर्म्मित जिस कम्बल को लोकभाषा मे गरम कहा जाता है, विज्ञानदृष्टि से वह केशनिर्म्मित कम्बल महा ठंडा है, अग्नि का उच्छिष्ट है। फिर भी जो इसे गरम कहा जाता है, इसका कारण यही है कि, कम्बल के आवरण से स्वमल से घृणा करने वाला अग्नि अन्तर्मुख बन जाता है। फलतः शीत का अनुभव नहीं होता। कहना यही है कि, वनस्पतिरस केशों का, एवं ओषधिरस लोमों का प्रभवस्थान है।

पृथिवी के गर्भ में प्रज्वलित रहने वाला अन्नाग्नि पृथिवी का आत्मा है। सम्पूर्ण भूपिण्ड इस आत्मा का शरीर है। भूपिण्ड मे इतस्ततः व्याप्त रहने वाली ओषधि-वनस्पतियां इस पार्थिव प्रजापति के केश-लोम हैं। वनस्पतियां केश हैं, ओषधियां लोम हैं। यही स्थिति अध्यात्मसंस्था की है। 'अग्नि-वायु-इन्द्र प्रधान वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ' की समष्टि जीवात्मा है। पाञ्चभौतिक पार्थिव पिण्ड इस का शरीर है। लोम ओषधियां हैं, केश वनस्पतियां हैं। शरीर परित्यागानन्तर ये केश लोम अग्नि सम्बन्ध से विशकलित होकर भूपिण्ड मे सर्वत्र व्याप्त ओषधि-वनस्पति-प्राणों में चले जाते हैं। दोनों का स्वमूलस्थानों में विलयन हो जाता है। पार्थिव प्रजापति के रोमगर्त्तों से ओषधियां निकलती हैं, इन ओषधियों से हमारे लोम बने हैं। इसी लोमविज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है —

"प्रजापतेर्विस्रस्तस्य यानि लोमान्यशीयन्त, ता इमा ओषधयोऽभवन्"

—शत० ७।४।२।११। इति।

सामने आती है। इसका तात्पर्य्य यह नहीं कि, इन वागादि का उत्क्रान्त आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता, किंवा वागादि का अपने प्रभव में अप्यय हो जाता है। अपितु उक्त श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि जिस–प्रकार उत्क्रान्त आत्मा के साथ भूतसूक्ष्मों का सम्बन्ध रहता है, भूताधिष्ठाता इन्द्रियप्राणों का समन्वय रहता है, एवमेव इन प्राणों के आधारभूत देवता भी संपरिष्वक्त रहते हैं। 'देवता, प्राण, भूतसूक्ष्म, विद्या, कर्म्म पूर्वप्रज्ञा' आदि सारी सामग्रियों से सपरिष्वक्त होकर ही आत्मा–'रंहति'। यही कारण है कि, अन्य श्रुति ने भूत-प्राणवत् उक्त देवताओं का भी आत्मा के साथ गमन बतलाया है, जैसा कि महर्षि पिप्पलाद कहते हैं —

"विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः, प्राणा, भूतानि, संप्रतिष्ठन्ति यत्र।
*तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य स सर्वज्ञः सर्वमाविवेश" ॥

—प्रश्नोपनिषत् ४।११।

इस प्रकार उक्त प्रकरण से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि "भूतसूक्ष्म, मुख्यप्राणानुगृहीत इन्द्रियप्राण, इन्द्रियप्राणाधिष्ठाता अग्निवाय्वादि देवता, इन सब से युक्त होकर ही आत्मा लोकान्तर में जाता है"।

पूर्व प्रतिपादित 'आरोहोपक्रमा प्रकरण' से बतलाना हमें यही था कि, आर्षसाहित्य का सर्वमान्यदर्शन ( वेदान्त दर्शन ) आत्मा को शरीर से भिन्न तत्त्व मानता है, एवं स्थूलशरीर परित्याग के अनन्तर वह इसे सूक्ष्मशरीर धारण कर कर्म्मफल भोगने के लिए लोकान्तर में गमन करने वाला मानता है। ऐसी अवस्था में आस्तिक कहलाने वाले किसी भी आर्ष व्यक्ति को आत्मा की नित्यता, उस के परलोक गमन, एवं वहां पर शुभाशुभ फल भोगने के सम्बन्ध में अविश्वास नहीं हो सकता। लोकान्तर में जाने वाले 'प्रेत' संज्ञक आत्मा को श्रद्धासूत्र द्वारा अन्नादि से तृप्त करना ही श्राद्धकर्म्म है। श्राद्ध का शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं है अपि तु आत्मा के साथ सम्बन्ध है। सुतरां श्राद्धकर्म्म पर निष्ठा प्राप्त करने से पहिले आत्मा को शरीर से पृथक् मान लेना, साथ ही में उस की लोकान्तर गति में विश्वास कर लेना आवश्यक हो जाता है। हमारा यह निबन्ध नास्तिकों के

हमारी अध्यात्मसंस्था—

---

* "जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्" इस स्मार्त सिद्धान्त के अनुसार 'पराप्रकृति' नाम से प्रसिद्ध 'अक्षर' ही जीवात्मा है। इस अक्षररूप जीवात्मा के साथ प्रज्ञानसम्परिष्वक्त विज्ञान भूत, प्राण, देवता आदि का नित्य सम्बन्ध रहता है। इस विषय का विशद विवेचन 'प्रश्नोपनिषद्विज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

बुद्धिदोष का सम्यक् रूप से परिमार्जन करता हुआ आस्तिकों की श्रद्धा को दृढ़मूल करने में पर्य्याप्त रूप से सहायक सिद्ध होगा।

"आत्मा अखण्ड है, व्यापक है। न उस की आगति है, न गति है। न कभी वह जन्म लेता, न कभी मरता। जिस स्थान पर चिद्ग्राहक तीव्र (स्वच्छ स्निग्ध) पदार्थ रहता है, उसी स्थान पर प्रतिबिम्बित होकर वह चमक पड़ता है। सम्पूर्ण रोदसी त्रैलोक्य में सूर्य्य व्यापक है। यह सब कुछ होने पर भी सभी स्थानों में, सभी काल में वह प्रकट नहीं होता। आप पानी का पात्र रख दीजिए, वहीं प्रतिबिम्ब रूप से सूर्य्य प्रकट हो जायगा। पात्र तोड़ दीजिए, प्रतिबिम्बित सूर्य्य जहां का तहां विलीन हो जायगा। ठीक यही स्थिति 'ईश्वर' एवं तदंशभूत जीवों की समझिए। सम्पूर्ण विश्व में 'परमात्मा' नाम से प्रसिद्ध ईश्वरतत्त्व समानरूप से व्याप्त हो रहा है। "तेनेदं पूर्णं-पुरुषेण सर्वम्"। जहां जहां उसे तीव्र महत्सोम मिलता है, प्रतिबिम्बरूप से वहां वहां वह प्रकट हो जाता है। महत्सोमावच्छिन्न इसी प्रतिबिम्बभाव का नाम जीव है। महद्भेद से जीवों में भेद है। जिस प्रकार एक पात्र के टूट जाने से केवल तत्पात्रस्थ प्रतिबिम्बित सूर्य्य का ही परज्योति में लय होता है, अन्य प्रतिबिम्बों पर इस दशा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, एवमेव एक महत् पात्र के विच्छिन्न होने से केवल उसी संस्था का लय होता है। अन्य जीव संस्थाएं ज्यों की त्यों सुरक्षित रहती हैं। अपि च जिस प्रकार प्रतिबिम्बित सूर्य कोई अपूर्वभाव नहीं है, न वह कहीं से आया है, न वह कहीं जायगा। उद्बोधक, किंवा अभिव्यञ्जक सामग्री के उपस्थित हो जाने पर वह उसी स्थान पर प्रकट हो जाता है, एवं आधार के नष्ट हो जाने पर वहीं उन्मुग्धावस्था में परिणत हो जाता है। एवमेव त्रैलोक्य व्यापक आत्मा का प्रतिबिम्बभूत जीव न कहीं से आता है, न कहीं जाता है। महत् के आ जाने से वह यहीं प्रकट हो जाता है, अन्यथा यहीं विलीन हो जाता है—"इहैव समवलीयन्ते"। "व्यापक आत्मा का गमनागमन सर्वथा अनुपपन्न है"। क्या यह कथन, यह आत्मा की व्यापकता, उस के गमना-गमन का अभाव, श्राद्धकर्म की मूलभित्ति (जड़) को कम्पित करने के लिए पर्य्याप्त नहीं है ? जब न वह कहीं जाता, न कहीं से आता, तो फिर किस का जन्म ?, किस का मरण ?, किस का लोकान्तर में गमन ?, किस का श्राद्ध ?, सभी मत्तप्रलापकोटि में आ जाते हैं।

यदि अभ्युपगमवाद से, किंवा तुष्यतुदुर्जनन्याय से थोड़ी देर के लिए आत्मा का लोकान्तर में गमन मान भी लिया जाता है, तब भी आद्यपक्षों का समाधान नहीं हो सकता। आत्मगति का स्वरूप बतलाते हुए, उस समय की अवस्था का चित्रण करते हुए भगवान् व्यास ने एक स्थान पर कहा है—

व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
यथा तृणजलौकैवं देही कर्मगतिं गतः॥ —[illegible]

तृणजलौका ( चातुर्मास्य में उत्पन्न होने वाला, प्रान्तीय भाषा में 'कंचुआ' नाम से प्रसिद्ध जन्तुविशेष ) जब आगे के भाग से आगे की भूमि पकड़ लेता है, तब वह पिछली जमीन छोड़ता है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा तभी अपने पूर्वशरीर को छोड़ता है, जब कि वह अपनी स्वरूप रक्षा के लिए पहिले नवीन शरीर ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य्य इस का यही है कि, पूर्वशरीर से निकलते निकलते वह नवीन शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। दूसरा शरीर इस के लिए पहिले से तय्यार रहता है। पहिले को छोड़ता जाता है, दूसरे में प्रविष्ट होता जाता है। पूर्वशरीर का परित्याग, उत्तर-शरीर का ग्रहण, दोनों काम समान काल में होते हैं। "प्रथम शरीर धारण करते ही द्वितीय शरीर धारण कर लेता है" इसका तात्पर्य्य यही मानना पड़ता है कि, वह जीवात्मा पूर्व योनि को छोड़ कर अन्य योनि में चला जाता है। इस प्रकार तृण-जलौका-न्याय से योन्यन्तर में गए हुए उस जीव के साथ इसके पुत्रादि का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी अवस्था में उसे श्राद्ध द्वारा हम किसी प्रकार की सहायता पहुंचावें, यह सर्वथा असंगत है। मान लीजिए, कर्म्मविधान के वैचित्र्य से किसी का आत्मा अश्व-शूकरादि किसी योनिविशेष में प्रविष्ट हो गया। क्या पुत्रादि द्वारा प्रदत्त श्राद्धान्न इस पशु को मिलेगा ?, क्या हमारा श्राद्धकर्म्म पशुयोनि में प्रविष्ट अश्वादि पशुओं की तृप्ति का कारण बनता है ?, भला एक प्रमत्त के अतिरिक्त कौन विचारशील ऐसे अवैज्ञानिक, युक्तिविरुद्ध श्राद्धकर्म्म पर विश्वास करेगा।

अच्छा, हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लेते हैं कि, आत्मा स्थूलशरीर छोड़ने के अनन्तर पश्वादि योनियों में न जाकर सूक्ष्म ( आतिवाहिक ) शरीर धारण कर लोकान्तर में जाता है। एवं यह भी मान लेने में हम कोई आपत्ति नहीं समझते कि, परलोकगत आत्मा के साथ इसके वंशधरों का श्रद्धासूत्र द्वारा सम्बन्ध बना रहता है। यह सब कुछ मान लेने पर भी श्राद्धकर्म्म तो सर्वथा अप्रतिष्ठित ही रहता है। कारण स्पष्ट है। स्वस्वरूप से व्यापक आत्मा को स्वकर्म्मवश परिच्छिन्न होना पड़ता है। कर्म्मों के तारतम्य से ही इसे यथावसर सुख दुःख का भागी बनना पड़ता है। साथ ही में प्रत्येक जीवात्मा अपने अपने शुभ अशुभ कर्म्मों का अपने आप उत्तरदायी है। "एक कर्म्म करे, दूसरा उस का फल भोगे" कर्म्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह सर्वथा असंभव है। कर्म्म की इसी नियत, एवं वैयक्तिक व्यवस्था को लक्ष्य में रख कर "देही कर्म्मगतिं गतः" यह कहा गया है। इसी आधार पर निम्न लिखित सूक्ति प्रचलित है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
स्वकर्म्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥

जब यह बात है, तो अपने कर्म्मभोग से परलोक गए हुए, कर्म्मानुसार सुख दुःख भोगते हुए प्राणी को एक तटस्थ व्यक्ति श्राद्धादि से तृप्त करने का क्या अधिकार रखता है ? यदि पुत्रादि द्वारा प्रदत्त अन्न से प्राणी तृप्त हो जाता है, तो कर्म्मसिद्धान्त छिन्न भिन्न हो जाता है। यदि उसने बुरे कर्म्म किए होंगे, तो अवश्यमेव उसे क्षुधा-पिपासा-यामीयातना-आदि जनित दुःख भोगने पड़ेंगे। यदि शुभ कर्म्म किए होंगे, तो विधि विधान उसे स्वयं सुखी बना देगा। फलतः उक्त कर्म्म सिद्धान्त के आधार पर भी श्राद्धकर्म्म की निःसारता सिद्ध हो जाती है।

अपिच, श्राद्धकर्म्म का फल बतलाने वाले आचार्यों ने कहा है कि, जो मनुष्य विधिपूर्वक श्राद्ध करता है, उस का वंश कभी नष्ट नहीं होता। उस की सम्पत्ति, आयु, कीर्त्ति, सब कुछ समृद्ध रहते हैं। बिलकुल मिथ्या ! सर्वथा कल्पना !! श्राद्ध करने वाले थोड़े, न करने वाले बहुत। श्राद्ध करने वाले भी निःसन्तान, दुःखी, अल्पायु देखे जाते हैं, न करने वाले भी बहु-सन्तानयुक्त, सुखी, दीर्घायु होते हैं। इस वैषम्य का क्या कारण ?

इस प्रकार आत्म-सम्बन्धी इस श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में अनेक संदेह उपस्थित होते हैं। इन सब सन्देहों का मूल कारण है—आत्मा का यथावत् न जानना। यदि आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान लिया जाता है, तो पूर्वोक्त सन्देहों का कोई मूल्य नहीं रहता। यद्यपि उप-निषदादि शास्त्रों में आत्मा का स्वरूप सर्वथा निर्णीत है, परन्तु जैसा कि हम प्राक्कथन में निवे-दन कर चुके हैं, वेदार्थपरिशीलन के अभाव से, साथ ही में साम्प्रदायिक मताभिनिवेश से आज उन सद्ग्रन्थों का सदाशय सर्वथा विलुप्त-सा हो गया है। एक ही शास्त्र का चिन्तन करने वाले भारतीय विद्वानों ने अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैला रक्खी हैं। सब अपने अपने मताभिनिवेश में पड़ कर धर्म्म का स्वरूप विकृत कर देश का सर्वनाश करने पर तुले हुए हैं। वर्त्तमान युग की इसी क्षुद्र स्वार्थमयी मनोवृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए महात्मा तुलसीदास ने कहा है :—

> हरित भूमि तृण संकुल, समुझि परै नहीं पन्थ।
> जिमि पाखण्ड विवाद तें, लुप्त भए सद ग्रन्थ॥
>
> —तु॰ रा॰ कि॰ कां॰ २२ दो॰।

इन्हीं सब विषम समस्याओं को श्राद्धविज्ञान में विघ्नभूत देखकर सर्वप्रथम हमने 'आत्म-विज्ञानोपनिषत्' लिखना आवश्यक समझा है। आत्मस्वरूप परिज्ञान के बिना श्राद्धसम्बन्धी उक्त सन्देहों का निराकरण कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है।

व्याख्याताओं के मताभिनिवेश की कृपा से आज दिन विद्वानों ने आत्मशब्द से किसी अखण्ड तत्त्व का ग्रहण कर रक्खा है। उनका विश्वास है कि, आत्मा अखण्ड बनता हुआ भी

चिदाभासरूप से सखण्ड दिखलाई पड़ता है। इधर वैज्ञानिकों का कहना है कि, अखण्डतत्त्व को तो आत्मा कहना ही अशुद्ध है। 'अहं' शब्द वाच्य आत्मा सर्वथा सखण्ड है। वह भी एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, अपितु प्रतिशरीर में संख्या में १५-१५ हैं। हम 'आत्मा' नहीं हैं, अपितु 'आत्मग्राम' हैं। "पन्द्रह आत्माओं की समष्टि अहं पदार्थ है" यह सुनकर संभव है, आजकल के कल्पना रसिक विद्वान् हमारे उक्त सिद्ध अर्थ को केवल कल्पना ही समझने लगे। परन्तु हमारा दृढ़ निश्चय है कि, जिन १५ सखण्ड आत्माओं का इस प्रकरण में हम दिग्दर्शन कराने वाले हैं, उनकी प्रामाणिकता में अणुमात्र भी सन्देह का अवसर नहीं है। साथ ही हमें यह भी विश्वास है कि, यदि उन्होंने आद्योपान्त इस 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' को पढ़ने का कष्ट किया, तो चिरकाल से चली आने वाली वेदविरुद्ध एकात्मवाद की भावना ( 'कर्म उपासना-श्राद्ध' आदि की अपेक्षा से ) सर्वथा छिन्न भिन्न हो जायगी, एवं उन्हें बाध्य होकर अनेकात्मवादानुगृहीत एकात्मवाद पर विश्राम करना पड़ेगा।

वैज्ञानिकों ने आत्मा के १—'अखण्डात्मा,' २—'परात्परात्मा,' ३—'षोडशीपुरुषात्मा,' ४—'यज्ञपुरुषात्मा,' ५—'विराट्पुरुषात्मा,' ये पांच प्रधान विवर्त्त माने हैं। इन पांचों का ही निरूपण आगे होने वाला है। प्रकृत में केवल इनके विवर्त्तभावों को जान लेना ही पर्य्याप्त होगा। उक्त पांचों आत्मविवर्त्तों में पांचवां 'विराट्पुरुषात्मा' 'ईश्वर' एवं 'जीव' भेद से दो प्रकार का है। दोनों में प्रत्येक के १५-१५ विवर्त्त हैं। इन पन्द्रहों आत्माओं की समष्टि "प्राकृतात्मा" नाम से प्रसिद्ध है। पन्द्रह आत्माओं की समष्टि ही 'ईश्वरविराट्' ( महाविराट् ) है, एवं पन्द्रह आत्माओं की समष्टि ही 'जीवविराट्' ( क्षुद्रविराट् ) है। इनकी प्रतिष्ठा 'यज्ञपुरुषात्मा' है। यज्ञात्मा की सत्ता 'षोडशीपुरुषात्मा' पर निर्भर है। पुरुषसत्ता परात्परात्मा पर प्रतिष्ठित है। सब की परमप्रतिष्ठा सर्वप्रतिष्ठारूप 'अखण्डात्मा', किंवा अखण्डब्रह्म है। यज्ञात्मा पर प्रतिष्ठित रहने वाले, प्राकृतात्मा नाम से प्रसिद्ध पन्द्रह सखण्डात्मा वेद में निम्न लिखित नामों से प्रसिद्ध हैं। इनके सम्यक् परिज्ञान से सब सन्देह मिट जाते हैं, इसी अक्षरानुगृहीत खण्डात्मविज्ञानज्ञान-जनित फल का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

—मुण्डकोपनिषत् २।२।८।




## प्राकृतात्मविवर्त्तपरिलेख

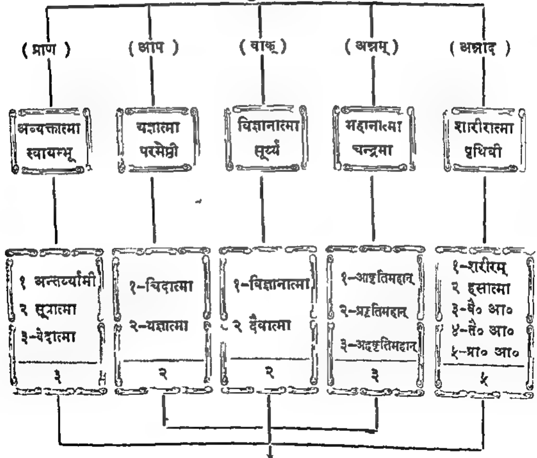
| ५ | | | ५ | | | ५ | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्वायम्भुवाः ३ | १–अन्तर्यामी<br>२–सूत्रात्मा<br>३–वेदात्मा | स्वयम्भूः | सौरौ २ | १–विज्ञानात्मा<br>२–दैवात्मा | सूर्यः | वायव्यः १ भौमः १ | १–वाह्यात्मा | भूपिण्डः |
| | | | | | | | २–हंसात्मा | भूवायुः |
| पारमेष्ठ्यौ २ | ४–चिदात्मा<br>५–यज्ञात्मा | परमेष्ठी | चान्द्राः | ३–आकृतिमहान्<br>४–प्रकृतिमहान्<br>५–अहङ्कृतिमहान् | चन्द्रमाः | पार्थिवाः ३ | ३–वैश्वानरात्मा<br>४–तैजसात्मा<br>५–प्राज्ञात्मा | उख्यापृथिवी |
| | | | | १५ | | | | |

ईश्वर शरीर मे 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी' ये पाच मुख्य प्राकृतात्मा हैं। इन पांचों का '३-२-२-३-५' यह क्रम है। १ 'प्राण'-प्रकृतिप्रधान 'स्वयम्भू' की '१ अन्तर्यामी,' '२ सूत्र,' '३ वेद,' ये तीन कलाएं हैं। २ 'अप्'-प्रकृतिप्रधान 'परमेष्ठी' की '१ चित,' '२यज्ञ,' ये दो कलाएं हैं। ३ 'वाक्'प्रकृतिप्रधान 'सूर्य्य' की '१ विज्ञान,' '२ प्राणदेवता,' ये दो कलाएं हैं। ४ 'अन्न'-प्रकृतिप्रधान 'चन्द्रमा' मे '१ आकृति,' '२ प्रकृति,' '३ अहंकृति' भेदभिन्न महत्सोम का साम्राज्य है। एवं ५ 'अन्नाद्'-प्रकृतिप्रधान 'पृथिवी' मे १'चित्याग्नि,' '२ वायु,' '३ वैश्वानर,' '४ हिरण्यगर्भ,' '५ सर्वज्ञ,' इन पाच कलाओं की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार संभूय पांच विवर्त्तों के पन्द्रह विवर्त्त हो जाते हैं। ईश्वरसंस्था की स्वयम्भू आदि पाच प्रधान कलाएं अध्यात्मसंस्था में क्रमशः 'अव्यक्तात्मा-यज्ञात्मा-विज्ञानात्मा-महानात्मा-शारीरात्मा ( प्राणात्मा )' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। '१-अन्तर्यामी, २-सूत्रात्मा, ३-वेदात्मा,' इन तीनो खण्डात्माओं की समष्टि प्राण-प्रकृतिप्रधान स्वायम्भुव १ अव्यक्तात्मा है। प्राकृतात्माधिकरण का यही पहिला १ 'अव्यक्तात्माधिकरण' है। '१ चिदात्मा'-'२ यज्ञात्मा' की समष्टि-अप्प्रकृतिप्रधान पारमेष्ठ्य '२ यज्ञात्मा' है। यही दूसरा २ 'यज्ञात्माधिकरण' है। १-विज्ञानात्मा, २-दैवात्मा की समष्टि वाक्प्रकृतिप्रधान सौर '३-विज्ञानात्मा' है। यही तीसरा '३ विज्ञानात्माधिकरण' है। १ आकृति-२ प्रकृति-३ अहंकृति की समष्टि अन्नप्रकृतिप्रधान चान्द्र '४ महानात्मा' है। यही चौथा ४ 'महदात्माधिकरण' है। १-वाह्यात्मा-२-हंसात्मा ३-वैश्वानरात्मा-४-तैजसात्मा-५-प्राज्ञात्मा, इन पांचों की समष्टि अन्नादप्रकृतिप्रधान पार्थिव ५ शारीरात्मा है। यही पाचवां ५ शारीरात्माधिकरण है,

जैसा कि तत्तदधिकरणों में स्पष्ट हो जायगा। इन सब खण्डात्माओं का आधार (इनकी अपेक्षा से अखण्ड) सोलहवाँ षोडशी पुरुष ही 'अमृतात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। क्रमप्राप्त सर्वप्रथम इसी की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

## आत्मवंशावली-

मूलाधारः सर्वव्यापको विश्वव्यापकः पुरुष षोडशी




"अध्यात्मसंस्था"

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥

—शत० ब्रा० १०।५।१।४।

यदस्ति किञ्चित् तदिदं प्रतीमोऽविचालि शश्वत्स्थमनाद्यनन्तम् ।
प्रतिक्षणान्यान्य-विकार-सृष्टि-प्रवाहवत्तद् द्विविरुद्धभावम् ॥

—श्रीगुरु० सशयतदुच्छेदवाद १।१।

श्राद्धविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले निरूपणीय आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में उपस्थित होने वाले १५ आत्मविवर्त्तों में से मूलाधार, सर्वव्यापक, विश्वव्यापक, 'अमृत' संज्ञक षोडशीप्रजापति का ही सर्वप्रथम दिग्दर्शन कराया जाता है। 'यदस्ति किञ्चित्०' इत्यादि वचन के अनुसार अमृत मृत्युलक्षण, स्थिति-गतिलक्षण, ज्योतिस्तमोलक्षण, अनिरुक्त-निरुक्तलक्षण, इत्यादि दृष्टिभेद से विविध भावापन्न इस महाविश्व की ओर यदि हम दृष्टि डालते हैं, तो वहां हमें दो भावों के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। आप समष्टिरूप से विश्व को देखिए, अथवा व्यष्टिरूप से प्रत्येक पदार्थ पर भिन्न भिन्न रूप से दृष्टि डालिए, उभयथा आपको परस्परात्यन्त विरुद्ध दो भावों के दर्शन होंगे। साक्षी के लिए लोकसाक्षी, जगच्चक्षु सूर्य्य को सामने रख लीजिए। सूर्य्य ने अपनी ज्योति से त्रैलोक्य को प्रकाशित कर रक्खा है। सृष्टिविद्या के ज्ञाता वैज्ञानिक महर्षियों के मतानुसार सूर्य्य * की उत्पत्ति विश्व की उत्पत्ति है, सूर्य की स्थिति विश्व की स्थिति है, एवं सूर्य्य का विनाश विश्व का विनाश है। सूर्य्यस्थिति काल 'अह काल है', यही 'अहरागम' नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य्य-विनाश-काल रात्रिकाल है, यही 'रात्र्यागम' नाम से प्रसिद्ध है। सृष्टिलक्षण महा अह काल ही श्रुतियों में "पुण्याह" नाम से व्यहृत हुआ है। यही 'महादिन' नाम से प्रसिद्ध है। सर्व-साधारण के समझे हुए अह ( दिन ) का, एवं इस महाकालात्मक पुण्याह का स्वरूप समान है। अपने ( मनुष्य ) अह के स्वरूपज्ञान से पुण्याह का स्वरूपज्ञान गतार्थ हो जाता है। केवल काल परिमाण में तारतम्य है। अहोरात्र की ( दिन रात की ) षष्टि ( ६० ) घटिका ( घड़ी ) मानी गई हैं। एवं 'मुहूर्त्तो घटिकाद्वयम्' इस सिद्धान्त के अनुसार दो घड़ी का एक मुहूर्त्त माना

सृष्ट्यनुगता आगमत्रयी—

---

* शिर प्रधान स्वयम्भूमूलासृष्टि, हृदयप्रधान सूर्य्यमूलासृष्टि, पादप्रधान पृथिवीमूलासृष्टि, भेद से ऋषियों ने सृष्टिविद्या को तीन भागों में विभक्त मान रक्खा है। इन तीनों में हिरण्यगर्भ महर्षि के मतानुसार सूर्य्य ही विश्व का प्रभव प्रतिष्ठा-परायण है। इन तीनों मतों का विशद विवेचन 'मुण्डकोपनिषद्विज्ञान-भाष्य' में देखना चाहिए।

गया है। इस व्यवस्था से अहोरात्र के त्रिंशत् ( ३० ) मुहूर्त्त हो जाते हैं। १५ मुहूर्त्त अहःकाल है, १५ मुहूर्त्त रात्रिकाल है। इन में एक मुहूर्त्त का भोग प्रातःसन्ध्या में हो जाता है, एवं एक मुहूर्त्त का भोग सायं संध्या में हो जाता है। इस प्रकार दो मुहूर्त्त दोनों सन्ध्या-कालों में चले जाते हैं। शेष २८ मुहूर्त्त रह जाते हैं। इन में १४ मुहूर्त्त का दिन है, १४ मुहूर्त्त की रात्रि है। चौदह मुहूर्त्तात्मक अहःकाल में सूर्य्य प्रकाशित रहता है, एवं चतुर्दशमुहूर्त्तात्मक रात्रिकाल में सूर्य हम से पृथक् हो जाता है।

अहोरात्रस्वरूपदिग्दर्शन—

अहः, एवं रात्रि क्या पदार्थ हैं ?, इस प्रश्न का उत्तर है—'इन्द्रगर्भित सौरसावित्राग्नि', एवं 'पार्थिवसोम'। दिन में सौर अग्नि की प्रधानता रहती है, एवं रात्रि में पार्थिव कृष्णसोम का साम्राज्य रहता है। सोम दाह्य पदार्थ है, अग्निदाहक है। दिन में इस दाहक अग्नि के सम्बन्ध से विशाल अन्तरिक्ष में व्याप्त सोम जलने लगता है। "त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ" ( ऋक् सं० १।९१।२२ ) के अनुसार अग्नि में आहुत प्रज्वलित सोम ही प्रकाश का कारण बनता है। रात्रि में दाहक सौर अग्नि का अभाव रहता है, अतएव रात्रि में प्रकाश नहीं होने पाता। इस से यह भी सिद्ध हो जाता है कि, अहः-आग्नेय है, रात्रि सौम्या है। अहःकाल में पितृस्थानीय सूर्य्य अपनी प्राणप्रधान रश्मियों से हमारे रस को जितनी मात्रा में आकर्षित कर लेता है, रात्रिकाल में सोम द्वारा उतना रसभाग हमें पुनः प्राप्त हो जाता है। अतएव इसे 'रात्रि' कहा जाता है। रात्रि क्या है, दात्री है। वर्त्तमान में विद्वत्समाज में 'अहोरात्र-पक्ष-मास-चातुर्मास्य-अयन-संवत्सर' आदि शब्द काल के वाचक माने जा रहे हैं। विद्वानों का यह व्यवहार सर्वथा अवैज्ञानिक है। उक्त सभी शब्द अग्नि-सोम की तत्तद्विशेष अवस्थाओं के ही नाम हैं। अग्नितत्त्व ही अहः-शुक्लपक्ष-उत्तरायण-संवत्सर है। सोमतत्त्व ही रात्रि-कृष्णपक्ष-दक्षिणायन है। १२ घन्टे-१५ दिन-६ मास-१ वर्ष में अग्नि का भोग होता है, अतएव अहः-पक्षादि शब्द आगे जाकर गौणविधि से काल के वाचक बन गए हैं।

मनुस्वरूपदिग्दर्शन—

अग्नि, एवं सोम, इन दोनों में अग्नितत्त्व विशुद्धरूप से उपलब्ध नहीं होता। 'इन्द्र-प्रजापति-परोरजाप्राण' आदि कतिपय तत्त्वों से यह नित्य युक्त रहता है। इन से युक्त होकर ही यह अहः स्वरूप में परिणत होता है। दूसरे शब्दों में सूर्य्येन्द्र से उक्त विभूतियों को लेकर चारों ओर व्याप्त होता हुआ अग्नि ही अहःस्वरूप में परिणत होता है। सूर्य्येन्द्रस्थ ऋषिप्राणप्रवर्त्तक इन्द्र-प्राजापत्यप्राण-परोरजाप्राणादियुक्त यह सौर नभ्य अग्नितत्त्व ही पुराणभाषा में 'मनु' नाम से व्यवहृत हुआ है। ऐन्द्रावस्थापन्न यही अग्नितत्त्व 'मनु' है। महिमामण्डल में आकर यही 'अग्नि' कहलाने लगता है। इन्द्रप्राण-

मय होने से यही 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। प्राजापत्यप्राण के सम्बन्ध से 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः" ( प्रश्नोपनिषत् १। ८) "नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः" ( ऋक् सं० ७।६३।४ ) 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' ( ऋक् सं० १।११५।१ ) इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार सम्पूर्ण प्रजा का उपादान होने से वही हिरण्मय मनु 'प्रजापति' कहलाने लगता है। सौरमण्डलस्थ परोरजाप्राणमूर्त्ति षोडषीपुरुष नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा के सम्बन्ध से वही 'शाश्वतब्रह्म' नाम से भी प्रसिद्ध हो जाता है। इस प्रकार अवस्थाभेदमूलक दृष्टिकोणभेद से अह स्वरूप निर्म्माता एक ही सौरतत्त्व अग्नि-मनु-इन्द्र-प्रजापति-प्राण-शाश्वतब्रह्म आदि अनेक नाम धारण किए हुए हैं। इसी अग्निप्रधान मनुविज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान मनु कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥१॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥२॥ ( मनुः१२।१२२-१२३। )।

केन्द्रस्थ तत्त्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता है, वही मनु है। अतएव इसके लिए—"अणीयांसमणोरपि" यह कहा गया है। यहाँ इन्द्रियों की गति नहीं है। जिस प्रकार स्वाप्नजगत् में इन्द्रियज्ञान अवरुद्ध हो जाता है, केवल मन के अन्तर्जगत् का व्यापार रहता है, एवमेव यह केवल मनोगम्य है। अतएव "स्वप्नधीगम्यम्" कहा गया है। केन्द्र में उक्थ रूप से प्रतिष्ठित होता हुआ यह प्राणमूर्त्ति मनु-अग्नि ही अर्करूप से अहोरूप में परिणत होता है। यह मनु अग्नि, किंवा मनु-अग्निरूप महा अह- सृष्टिविद्या के क्रम की अपेक्षा से चौदह भागों में विभक्त है। मनुतत्त्व के यह चौदह अन्तर ही "मन्वन्तर" नाम से प्रसिद्ध हैं। हम अपने छोटे अह' के जिन चौदह विभागों के लिए 'मुहूर्त्त' शब्द प्रयुक्त करते हैं, महा अहः के इन्हीं विभागों के लिए पुराण में "मन्वन्तर" शब्द प्रयुक्त हुआ है।

**मनु, और मन्वन्तर—**

मन्वन्तर की उक्त व्याख्या के आधार पर ही अहः—मास—वर्ष, ये तीनों शब्द विचाली माने गये हैं। कर्म्ममीमांसा ( पूर्वमीमांसा ) के ६ ठे अध्याय के १३ वें अधिकरण में महर्षि जैमिनि ने उक्त सिद्धान्त को ही दृढ किया है। ब्राह्मणग्रन्थों में सहस्रसम्वत्सरात्मक सत्रयज्ञ का विधान मिलता है। "स्वर्गप्राप्ति के लिए यजमान को सहस्रवर्षात्मक सत्रयज्ञ करना चाहिए"—इस विधि में प्रश्न

**काल के विचालीभाव—**

उपस्थित होता है कि "शतायुर्वै पुरुषः" ( शत० ४।३।४।३ ) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी गई है। विज्ञानदृष्टि से यही सिद्धान्त ठीक भी है। कारण, हमारा आयुःसूत्र विश्वामित्रप्राण के आधार पर प्रतिष्ठित है। यह प्राण बृहतीप्राण नाम से प्रसिद्ध मनःप्राणवाङ्मय सौर इन्द्र प्राण के आधार पर प्रतिष्ठित है। विष्वद्वृत्त नाम से प्रसिद्ध बृहतीछन्द पर सूर्य्य स्थिर रूप से प्रतिष्ठित है—'सूर्य्यो बृहती मध्यूढस्तपति।" 'षट्त्रिंशदक्षरा बृहती' ( शत० ८।३।३।८ ) इत्यादि छन्दोविज्ञान के आधार पर बृहतीछन्द ३६ अक्षर का माना गया है। सूर्य्य में ज्योतिः-गौः-आयुः-नाम के तीन मनोता माने गये हैं। ये ही तीनों मनोता क्रमशः ज्योतिष्टोम—गोष्टोम—आयुष्टोम—यज्ञों के प्रवर्त्तक हैं। इन्द्रप्राणात्मक आयुःप्राण छन्दोऽक्षर भेद से ३६ भागों में विभक्त हो जाता है। आगे जाकर माहन्नी विद्या की कृपा से प्रत्येक आयुःप्राण सहस्र-सहस्र भागों में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार मनःप्राणवाङ्मय ( ज्ञानक्रियार्थमय ) आयुःप्रवर्त्तक विश्वामित्रप्राणावच्छिन्न सौर इन्द्रात्मक बृहतीप्राण ३६००० ( छत्तीस हजार ) भागों में विभक्त हो जाता है—( देखिए शत० ब्रा० १०।४।३ब्रा० )। हम प्रतिदिन मनःप्राणवाङ्मय एक एक आयुःसूत्र का भोग करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार यह भोगकाल छत्तीस हजार दिन में समाप्त हो जाता है। छत्तीस हजार दिन की समष्टि ही १०० वर्ष है। यह आयु का साधारण मान है। 'छन्दोमा' यज्ञादि के सम्बन्ध से १२० वर्ष की भी आयु हो जाती है—( देखिए ऐ० ब्रा० ४।१६ )। कहना यही है कि उक्त आयुर्विज्ञान के अनुसार मनुष्य की आयु १००-१५०-वर्षों से अधिक नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में इसके लिए एक सहस्र ( १००० ) वर्ष में पूरे होने वाले सत्र यज्ञ का विधान कैसे किया गया ? यही विप्रतिपत्ति उठाते हुए ऋषि कहते हैं—

"सहस्रसम्वत्सरं तदायुषामसंभवान्मनुष्येषु" (पूर्व मी० ६।७।१३।३१)

आगे जाकर अन्त में— सम्वत्सरो विचालित्वात्'–(पू० मी० ६।७।१३।३८) 'अहानि वाऽभिसंख्यत्वात्" (पू० ६।७।१३।४०) इत्यादि रूप से सम्वत्सरादि शब्दों को विचाली मानते हुए वर्ष को अहः का वाचक मानते हुए उक्त श्रुतिविधान का समन्वय किया गया है।

देखना यह है कि 'वर्ष' कहते किसे हैं। अग्नि की एक परिक्रमा का नाम ही वर्ष, किंवा सम्वत्सर है। किसी एक बिन्दु से चलकर अग्नि अपने उसी स्थान पर जितने काल में आजाता है, वह काल-समष्टि ही 'वर्ष' कहलाया है। भूपिण्ड अपने अक्ष पर परिक्रमा लगाता हुआ

क्रान्तिवृत्त पर घूम रहा है। स्वाक्षपरिभ्रमण से अहोरात्रसम्पादिका दैनंदिनगति का, एवं क्रान्ति-परिभ्रमण से उत्तर--दक्षिणायनविभाजिका साम्वत्सरिकगति का स्वरूप निष्पन्न होता है। स्वाक्षपरिभ्रमण से होने वाली अग्निपरिक्रमा २४ घन्टे में ही समाप्त होजाती है। फलतः स्वाक्ष-गति से सम्बन्ध रखने वाला वर्ष पूर्व परिभाषा के अनुसार २४ घण्टे में ही समाप्त होजाता है। इस वर्ष का मनुष्यायु के साथ सम्बन्ध है। क्यों कि मनुष्य पार्थिव प्राणी है। मनुष्य-पितर-देवता, भेदसे प्रजा तीन भागों में विभक्त है। मनुष्य प्रजाका पृथिवी से सम्बन्ध है, पितर प्रजा का चन्द्रमा से सम्बन्ध है, एवं देवप्रजा का सूर्य्य के साथ सम्बन्ध है। चन्द्रमा २७ दिन कुछ काल में अपनी एक परिक्रमा लगाता है। फलतः चान्द्र अहोरात्र इतने दिन में ही समाप्त माना जाता है। पार्थिव प्रजा की अपेक्षा चन्द्रवृत्त मासात्मक है, परन्तु चान्द्रप्रजा की अपेक्षा से तो यह एकमात्र एक अहोरात्र ही है। इसी प्रकार पार्थिव प्रजा की अपेक्षा से जो सम्वत्सर ३६० दिन का है, सौर देवताओं की अपेक्षा तो वह एक अहोरात्र ही है। इसी को दिव्य अहोरात्र कहते हैं। इस विज्ञान सिद्ध परिभाषा के अनुसार वर्ष देवताओं का अहोरात्र है, हमारा अहोरात्र एक वर्ष है। वर्ष-अहः दोनों विचाली हैं। फलतः सहस्रवर्ष का अर्थ सहस्र दिन होजाता है, एवं सत्रयज्ञ का विधान चरितार्थ होजाता है। इसी परिभाषा के आधार पर आप को यह विश्वास कर लेना चाहिए कि, पुराण में मनुष्यायुःसम्बन्ध में, एवं तपश्चर्य्याकालादि के सम्बन्ध में जहाँ भी कहीं सहस्रवर्षादि शब्द प्रयुक्त हुये हैं, उन सबको अहः परक मानते हुए ही काल की व्यवस्था करनी चाहिए *।

मन्वन्तरविज्ञान—

मन्वन्तर प्रकरण चल रहा है। सृष्टिकाल अहःकाल बतलाया गया है, साथ ही में इसमें १४ मन्वन्तरों का भोग बतलाया गया है। इन १४ मन्वन्तरों में से सात मन्वन्तरों तक उद्ग्राभ (चढाव) है, सात मन्वन्तरपर्यन्त निग्राभ (उतार) है। जैसी स्थिति पहिले मन्वन्तर की है, ठीक वैसी ही स्थिति चौदहवें मन्वन्तर की है। इसी प्रकार २-१३, ३-१२, ४-११, ५-१०, ६-९, ७-८, यह क्रम है। इसी क्रम के कारण उत्तर के सात मन्वन्तरों को 'सावर्णि' (सवर्ण-समानधर्म्मवाले) कहा जाता है। सूर्य्य, किंवा सूर्य्यकेन्द्रस्थ प्राणतत्त्व ही इन सब मन्वन्तरों की जन्मभूमि है, अत एव ये मन्वन्तर पुराण में 'सूर्य्यपुत्र' कहलाए हैं।

---

* इन सब विषयों का विशद विवेचन "पौराणिकमन्वन्तररहस्य" नाम के निबन्ध में देखना चाहिए।

मन्वन्तरपरिलेख—

प्रातःकाल. ←

→ सायङ्कालः

| | |
|---|---|
| १-स्वायम्भुवः सूर्य्यः | १४-सूर्य्यसावर्णिः |
| २-स्वारोचिषो दक्षः | १३-दक्षसावर्णिः |
| ३-उत्तमो ब्रह्म | १२-ब्रह्मसावर्णिः |
| ४-तामसो धर्म्मः | ११ धर्म्मसावर्णिः |
| ५-रैवतो रुद्रः | १०-रुद्रसावर्णिः |
| ६-चाक्षुषो देवः | ९-देवसावर्णिः |
| ७-वैवस्वतो इन्द्रः | ८-इन्द्रसावर्णिः |

मध्याह्नकालः

अपराह्नोपक्रमः

सोऽयं सहस्रयुगपर्य्यन्तिकचतुर्दशमन्वन्तरात्मको—

ब्राह्मदिनः—पुण्याहः

पार्थिव स्वाक्षपरिभ्रमण के कारण मानुष अहोरात्र २४ घन्टे का होता है। पैत्रअहोरात्र चान्द्रपरिभ्रमण की अपेक्षा से ३० मानुष अहोरात्रों का होता है, जैसाकि 'मासेन स्याद-

हौरात्रः पैत्र." इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। एवं उत्तरायण दक्षिणायन भेदसे हमारा एक वर्ष "वर्षेण दैवतः" के अनुसार सौर देवताओं का एक दिन है। ऐसे ३० दिव्य अहोरात्रों की समष्टि देवताओं का एक मास है। ऐसे दिव्य १२ मास की समष्टि एक दिव्य वर्ष है। दूसरे शब्दो में हमारे ३६६ वर्षों का देवताओं का एक वर्ष होता है। ऐसे ४००० चार हजार दिव्य-वर्षों का सत्ययुग, ३००० तीन हजार दिव्य वर्षों का त्रेतायुग, २००० दो हजार दिव्य वर्षों का द्वापरयुग, एवं १०००एक हजार दिव्य वर्षों का कलियुग होता है। इन चारों युगों के आदि में क्रमश ४००—३००—२००—१०० इन दिव्य वर्षों का सन्ध्याकाल है, एवं ४००—३००—२००—१०० ये सन्ध्यांश हैं। इस प्रकार ४८०० वर्ष का सत्ययुग, ३६०० वर्षों का त्रेतायुग, २४०० वर्ष का द्वापरयुग, एवं १२०० वर्ष का कलियुग होजाता है। इन सबका सङ्कलन किया जाता है तो १२००० (बारह हजार) दिव्य वर्ष होजाते हैं। यही एक "देवयुग" कहलाया है। इस एक देवयुग में सूर्य की देवप्राणमयी एक रश्मि का भोग होजाता है। सूर्य में ऐसी सहस्र रश्मियाँ हैं। इन्हीं रश्मियों के सम्बन्ध से सूर्य्य को "सहस्रांशु' सहस्रदीधिति" इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। एकसहस्र दिव्य युगों में सूर्य का सर्वात्मना भोग होजाता है। यही सूर्य्य का जीवनकाल है, यही सौर अह काल है, यही पुराणभाषा के अनुसार ब्रह्मा का अहःकल्प है। एव ऐसे दिव्य सहस्रयुगों की समष्टि ही रात्रिकल्प है। दूसरे शब्दों में १००० दिव्ययुगात्मक काल ब्रह्मा का एक दिन है, एवं १००० दिव्ययुगात्मक काल ही ब्रह्मा की एक रात्रि है। सूर्य्य का नष्ट होजाना खण्डप्रलय है। सहस्र दिव्ययुगों में सहस्रांशु की सहस्रकलाओं का जब भोग होजाता है, तो वह उसी स्वप्रभव अव्यक्त मे विलीन होजाता है। जैसा कि स्मृति कहती है—

> यदा स देवो जागर्त्ति तदेद चेष्टते जगत्।
> यदा स्वपिति शान्तात्मा (अव्यक्तात्मा) तदा सर्वं निमीलति ॥
> —मनु १।५१।

> अव्यक्ताद् व्यक्तय सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
> रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ॥ —गीता ८।१८।

पूर्वोक्त अह कल्प के १४ मन्वन्तरो में से प्रत्येक मन्वन्तर में ७१ दिव्य चतुर्युगी का भोग होता है। इस क्रम म १४ मन्वन्तरा की ६६४ चतुर्युगियाँ हो जातीं हैं। शेष ६ चतुर्युगी सन्ध्या-सन्ध्यांश मे अन्तर्भूत मानली जाती हैं। संकलन से पूरी १००० चतुर्युगी हो जातीं हैं। यही

ब्रह्म का एक कल्प है। जिसप्रकार लोकभाषा का मुहूर्त्त शब्द पुराणों में मन्वन्तर नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव लोक-प्रसिद्ध तिथि शब्द के स्थान में पुराण में "कल्प" शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिसप्रकार हमारी ३० तिथियों का एक मास होता है, एवमेव ३० कल्पों का एक ब्राह्म मास होता है। ऐसे १२ मासों का एक ब्राह्म वर्ष होता है। ऐसे १०० वर्षों का एक ब्रह्मयुग होता है। सौ वर्षों में ब्रह्मा की आयु समाप्त होजाती है। इसी ब्रह्मतत्त्व को 'अव्यक्त' कहा जाता है। १०० वर्ष समाप्त होने पर वल्शेश्वर नाम से प्रसिद्ध एक विश्वेश्वर का पुरुष में लय होजाता है। लयभाव को "प्रलय" (अव्यक्त नामसे प्रसिद्ध प्रकृति का लय) कहा जाता है। ध्यान रहे, महामायावच्छिन्न अश्वत्थमूर्त्ति षोडशी पुरुष में ऐसी एक सहस्र अव्यक्तधाराएं हैं। प्रत्येक-धारा में 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी' ये पांच पांच पर्व हैं। इसी को विज्ञानभाषा में 'पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शा' कहा गया है। इन पांचों में स्वयम्भू ब्रह्मा है, परमेष्ठी विष्णु है, सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी(पृथिव्युपलक्षित अग्नि) की समष्टि त्रिनेत्र महादेव हैं। ब्रह्मा प्राणपति हैं, विष्णु देवपति हैं, महादेव भूतपति हैं। ब्रह्मा अव्यक्त हैं, विष्णु व्यक्ताव्यक्त हैं, महादेव व्यक्त हैं। जिस क्रम से सर्ग (सृष्टि) होता है, उसी क्रम से प्रतिसर्ग (प्रलय) होता है। पहिले सचन्द्र सपृथिवी सूर्य्य का आपोमय परमेष्ठी में लय होता है। यह पहिला खण्ड प्रलय है। क्योंकि इस में विश्वखण्डभूत पृथिवी चन्द्र-सूर्य्यका ही लय होता है। इन का आयुःकाल ही दिव्य-सहस्रयुगकाल है। आगे जाकर ब्राह्मयुगसमाप्ति पर सविष्णु ब्रह्माका स्वप्रभव उसी अश्वत्थ पुरुष में लय होजाता है। ब्रह्मा अपनी वल्शा की प्रकृति है। अतएव इस लय भाव को प्रकृति-सम्बन्ध से "प्रलय" कहा जाता है। कोई समय ऐसा भी आता है, जिस में पुरुष की सहस्रों-वल्शाओं का भी लय होजाता है। उस समय पुरुषस्वरूपसमर्पक-पुरभाव सम्पादक महामाया का बन्धन टूट जाता है। सखण्ड पुरुष महामाया के तिरोहित होते ही स्वप्रतिष्ठा रूप 'परात्पर' नाम से प्रसिद्ध अखण्ड परमेश्वर में लीन होजाता है। यही विश्वेश्वर की मृत्यु है, महा विश्वका लय है। इसमें महामाया का बन्धन टूटता है, अतएव इस लयभाव को "महाप्रलय" कहाजाता है। इसप्रकार 'महामायीमहेश्वर' (सहस्रवल्शेश्वर), पञ्चपुण्डीरात्मकवल्शेश्वर (अव्यक्त ब्रह्म), 'त्रिकलउपेश्वर' (सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवीरूप), इन तीन संस्थाओं के भेद से लयभाव भी महाप्रलय, प्रलय, खण्डप्रलय, भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन तीनों में से मनुष्यसर्ग का प्रधान सम्बन्ध वल्शेश्वर के साथ है। अतएव उपेश्वर-वल्शेश्वर की आयु का समय तो दिव्ययुग-ब्राह्मयुग भेद से शास्त्रकारों ने निश्चित कर दिया है। परन्तु मायीमहेश्वर का काल-निर्णय नहीं हुआ है। इस के सम्बन्ध में महर्षियों का—

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ।" यही समाधान है ।

अविज्ञेय—१-सर्वाधिष्ठाता-अखण्डपरात्पर
दुर्विज्ञेय—१-सहस्रवल्शावच्छिन्न, अश्वत्थमूर्त्तिमहामायी विश्वेश्वर-महाप्रलयाधिष्ठाता
विज्ञेय —५-पञ्चपुण्डीरावच्छिन्न, एकवल्शेश्वरयोगमायी वल्शेश्वर-प्रलयाधिष्ठाता
सुविज्ञेय—३-त्रिपर्वावच्छिन्न सू. चं. पृ. मूर्त्ति योगमायी उपेश्वर-खण्डप्रलयाधिष्ठाता

१— 
२४—घन्टो का —१—मानुष अहोरात्र
३०—अहो रात्रोका-१—मानुष मास
१२—मासो का—१—मानुष वर्ष
१००—वर्षों का—१—मनुष्ययुग
]—मानुषयुग (नित्यप्रलय) जीवसंस्था

---

२—
१—मानुषवर्षका—१—दिव्यदिन
३०—दिव्यदिनोंका-१—दिव्यमास
१२—दिव्यमासोंका-१—दिव्यवर्ष
१२०००—दिव्यवर्षों का-१—खण्डदिव्ययुग
१०००—दिव्ययुगों का-१—महादिव्ययुग
]—दिव्ययुग(खण्डप्रलय) उपेश्वरसंस्था

---

३—
१—महादिव्ययुगका १—ब्राह्मदिन
३०—ब्राह्मदिनोंका—१—ब्राह्ममास
१२—ब्राह्ममासों का -१—ब्राह्मवर्ष
१००—ब्राह्मवर्षों का—१—ब्राह्मयुग
]—ब्राह्मयुग (प्रलय) वल्शेश्वरसंस्था

---

४— सहस्रब्रह्मयुगों की समष्टि—१—विश्वेश्वरयुग ]—ईश्वरयुग (महाप्रलय) महेश्वरसंस्था

अहोरात्र इस व्यवस्था का स्थूल उपक्रम है। वस्तुतः कालगणना स्वेदायन से आरम्भ करनी चाहिए। १५ स्वेदायनों का १ लोमगर्त्त है, १५ लोमगर्त्तों का १ निमेष है, १५ निमेषों का १ अन है, १५ अनों का १ प्राण है, १५ प्राणों का १ इदम् है, १५ इदंका १ इदानि है। १५ इदानिका १ एतर्हि है। १५ एतर्हिका १ एतर्हीणि है। १५ एतर्हीणि का १ क्षिप्रं है, १५ क्षिप्रंका एक क्षिप्राणि है। १५ क्षिप्राणि का १ मुहूर्त्त है। ३० मुहूर्त्तों का १ अहोरात्र है। यह कालविभाग वार्कलि नाम के महर्षि के मतानुसार है। पुराण-अमरकोष-साधारण भेद से अन्यप्रकारों से भी इन भेदों का उपबृंहण किया जा सकता है। इन सब विषयों का सोपपत्तिक निरूपण हमने 'मन्वन्तर-रहस्य' नाम के निबन्ध में कर दिया है। अतः प्रकृत में अधिक विस्तार न कर प्रकरण सङ्गति के लिए केवल तालिकाओं द्वारा काल का स्वरूप दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

## वार्कलिऋषि के मतानुसार कालपरिमाण

१५—स्वेदायनो का—१—लोमगर्त्त
१५—लोमगर्त्तों का—१—निमेष
१५—निमेषों का—१—अन
१५—अनो का—१—प्राण
१५—प्राणों का—१—इदम्
१५—इदानि का—१—एतर्हि
१५—एतर्हि का—१—क्षिप्र
१५—क्षिप्रों का—१—मुहूर्त्त
३०—मुहूर्त्तों का—१—अहोरात्र

## पुराण के मतानुसार

१५—निमेषों की—१—काष्ठा

३०—काष्ठा की—१—कला

३०—कला का—१—मुहूर्त्त

३०—मुहूर्त्तों का—१—अहोरात्र

## अमरमतानुसार

१८—निमेषों की—१—काष्ठा
३०—काष्ठाओं की—१—कला
३०—कलाओं का—१—क्षण
१२—क्षणों का—१—मुहूर्त्त
३०—मुहूर्त्तों का—१—अहोरात्र
३०—अहोरात्रों का १—मास
१२—मासों का—१—संवत्सर

## साधारण मतानुसार

१५—कला की—१—घड़ी
२—घड़ियों का-१—मुहूर्त्त
१५—मुहूर्तों का--१—दिन
२—दिन का—१—दिनरात
१५—अहोरात्र का-१—पक्ष
२—पक्षों का—१—मास
६—मासों का-१—अयन
२-अयनों का—१—सम्वत्सर

—:※:—

| युगनाम | | सन्धिकाल | मध्यकाल | सन्ध्यांश | संकलन | हिन्दुवर्षों से युगमान |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | सत्ययुग | ४०० | ४००० | ४०० | ४८०० | |
| २ | त्रेतायुग | ३०० | ३००० | ३०० | ३६०० | |
| ३ | द्वापरयुग | २०० | २००० | २०० | २४०० | |
| ४ | कलियुग | १०० | १००० | १०० | १२०० | |
| चतुर्युग | | ........ | | | १२००० | |
| दिनकल्प | | ........ | | | १२००००००० | |
| रात्रिकल्प | | ........ | | | १२००००००० | |

| | | |
|---|---|---|
| मानुष वर्षों से युगमान | सत्ययुग | १७२८००० |
| | त्रेतायुग | १२९६००० |
| | द्वापरयुग | ८६४००० |
| | कलियुग | ४३२००० |
| | चतुर्युग | ४३२०००० |
| | दिनकल्प | ४३२२०००००००० |
| | रात्रिकल्प | ४३२२०००००००० |

सत्रहलाख अठाईस हजार मानुषवर्ष, चारहजार आठसौ दिव्यवर्ष—सत्ययुगमान।
बारहलाख छिनवें हजार मानुषवर्ष, तीन हजार छःसौ दिव्यवर्ष—त्रेतायुगमान।
आठलाख चार हजार मानुषवर्ष, दोहजार चारसौ दिव्यवर्ष—द्वापरयुगमान।
चारलाख बत्तीस हजार मानुषवर्ष, एकहजार दोसौ दिव्यवर्ष—कलियुगमान।
तियाँलीसलाख बीसहजार मानुषवर्ष, बारहहजार दिव्यवर्ष—चतुर्युगमान।
तैंतालीस अर्ब, बत्तीस क्रोड़ मानुषवर्ष; बारह करोड़ दिव्यवर्ष—दिनकल्पमान।
" " " —रात्रिकल्पमान।

—:—

१—एकमन्वन्तर के मानुषवर्ष—३०६७३२००० ( तीस करोड़ सड़सठलाख बत्तीसहजार )
२—छ मन्वन्तर के मानुषवर्ष—१८४०३२०००० (एकअर्ब चोरासी करोड़ तीनलाख बीसहजार
३—२७ दिव्ययुगों के मानुषवर्ष—११६६४०००० ( ग्यारह करोड़ छाछट लाख चालीस हजार)
४—सत्ययुग के मानुषवर्ष—१७२८००० ( सत्रह लाख अट्ठाईस हजार )
५—त्रेतायुग के मानुषवर्ष—१२९६००० ( बारह लाख छिनवें हजार )
६—द्वापर के मानुषवर्ष—८६४००० ( आठ लाख चौसठ हजार )
७—कलियुग के भुक्त मानुषवर्ष—५००० ( पाँच हजार )

—०—

आज तक बीता हुआ सृष्टिकाल—१९६०८५३००० —एक अर्ब छिनवें करोड़ आठ लाख तेपन हजार

—०—

१—कलियुग के बाकी भोग्यवर्ष——४२७००० ( चार लाख सत्ताईस हजार )
२—७१ चौयुगियों में से बाकी बची हुई ४४ चौयुगियों के भोग्यवर्ष —१८५७६०००० (अठारहकरोड़ सत्तावनलाख साठहजार)
३—उत्तर दिन के भोग्य सात मन्वन्तरों के वर्ष —२१४७०४०००० ( दो अर्ब चौदह करोड़ सत्तर लाख चालीस हजार )
४—चौदह मन्वन्तरों के अन्त में भोग्य सन्धिकाल —२५९२०००० ( दो करोड़ उनसठ लाख बीस हजार )

—०—

एक कल्प में बाकी बचा हुआ काल—२३५९१४०००० —( दो अर्ब पैंतीस करोड़ इकानवें लाख चालीस हजार )

—०—

पूर्व में बतला दिया गया है कि, वायुयुग के मास में तिथिस्थानीय ३० कल्प होते हैं। इन कल्परूप तिथियों में से वर्तमान में शुक्लपक्ष के प्रतिपत् ( पड़वा ) स्थानीय श्वेतवराह नाम के प्रथम कल्प का ( ब्रह्मा की आयु के प्रथम दिन का ) भोग चल रहा है। इसमें से ६ मन्वन्तरों का भोग समाप्त हो गया है, सातवाँ 'वैवस्वतमन्वन्तर' चल रहा है। इसकी ७१ चौयुगियों से २७ चतुर्युगियों का भोग हो चुका है। अट्ठाईसवीं चतुर्युगी चल रही है। इसमें से

भी सत्य-त्रेता-द्वापर, इन तीन युगों का भोग हो चुका है। कलियुग चल रहा है। कलियुग के भी ५००० ( पाँच हजार वर्ष- मानुषमान के अनुसार ) समाप्त हो गए हैं। अभी ब्रह्मा के दिन के साढ़े ग्यारह (११॥) बजे हैं।इस शेष कलि के भुक्त हो जाने पर २६ वीं चतुर्युगी का आरम्भ होगा। इस प्रकार शेष चतुर्युगियों के भोग के अनन्तर वैवस्वत मन्वन्तर समाप्त हो जायगा। अनन्तर सात मन्वन्तरों का उक्त धारा क्रम से उपभोग होगा। जिस समय पूरे चौदह मन्वन्तर समाप्त हो जायँगे, प्रतिपत् तिथिरूप वराहकल्प समाप्त हो जायगा, * सूर्य्य नष्ट हो जायगा। सर्वत्र अप्प्रकृतिप्रधान घोर तम व्याप्त हो जायगा। इस रात्रिकल्प में रात्रि के चौदह मन्वन्तरों का भोग होगा। अट्ठाईस की परिसमाप्ति पर नीललोहित नाम की द्वितीय कल्पस्थानीया द्वितीया तिथि का आरम्भ होगा। और इस प्रकार कालपुरुष की महामहनीय-महत्ता हमे सदा आश्चर्य-युक्त बनाती रहेगी।

---

* चतुर्दशमन्वन्तरात्मक ब्राह्मकल्प का सम्बन्ध सूर्य्य से है। एक कल्प सूर्य्य की पूर्णायु है। कल्पान्त में चतुर्दशमन्वन्तराधिष्ठाता सूर्य्य स्वप्रभव परमेष्ठी में लीन होजाता है। पुनः भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी से नवीन सूर्य्य उत्पन्न होता है। यह धाराक्रम परमेष्ठी के आधार पर ब्रह्मायु-पर्य्यन्त निरन्तर यों ही चलता रहता है। ये मन्वन्तरात्मिका खण्डसृष्टि, एवं खण्डप्रलय के अधिष्ठाता आपोमय परमेष्ठी हैं, यही निष्कर्ष है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ( मनुः १।८० )

# चतुर्दश 'मन्वन्तर' एवं कल्पपरिलेख

| | |
|---|---|
| १-श्वेतवराहः ( प्रतिपत् ) * | * १—१६—नारसिंहः ( प्रतिपत् ) |
| २-नीललोहितः( द्वितीया ) * | * २—१७—समानः ( द्वि० ) |
| ३-वामदेवः ( तृतीया ) * | * ३—१८—आग्नेयः ( तृ० ) |
| ४-रथन्तरः ( चतुर्थी ) * | * ४—१९—सौम्यः ( च० ) |
| ५-रौरवः ( पञ्चमी ) * | * ५—२०—मानवः ( प० ) |
| ६-प्राणः ( षष्ठी ) * | * ६—२१—तत्पुरुषः ( ष० ) |
| ७-बृहत् ( सप्तमी ) * | * ७—२२—वैकुण्ठः ( स० ) |
| ८-कन्दर्पः ( अष्टमी ) * | * ८—२३—लक्ष्मी ( अ० ) |
| ९-सत्यः ( नवमी ) * | * ९—२४—सावित्री ( नव० ) |
| १०-ईशानः ( दशमी ) * | * १०—२५—अघोरः ( द० ) |
| ११-व्यानः (एकादशी) * | * ११—२६—वराहः ( एका० ) |
| १२ सारस्वतः ( द्वादशी ) * | * १२—२७—वैराजः ( द्वा० ) |
| १३-उदानः (त्रयोदशी) * | * १३—२८—गौरी ( त्रयो० ) |
| १४ गारुड. (चतुर्दशी) * | * १४—२९—महेश्वरः ( च० ) |
| १५-कूर्म्मः ( पूर्णिमा ) * | * १५—३०—पितृकल्पः (अमावास्या) |



शुक्लपक्षः — कृष्णपक्षः

त्रिंशत्कल्पास्त्रिंशद्दिनान्येको-ब्राह्ममासः

| तिथिरूपकल्प में १४ मन्वन्तर—प्रतिमन्वन्तर में दिव्ययुग |
|---|
| १—स्वायम्भुव ——→७१ — ७१ |
| २—स्वारोचिष ——→७१ — १४२ |
| ३—उत्तम —— ——→७१ —२१३ |
| ४—तामस ———→७१ —२८४ |
| ५—रैवत— ———→७१ — ३५५ |
| ६—चाक्षुष ———→७१ – ४२६ |
| ७—वैवस्वत ———→७१ —४९७ |
| ८—इन्द्रसावर्णि ——→७१ —५६८ |
| ९—देवसावर्णि ——→७१ —६३९ |
| १०—रुद्रसावर्णि ——→७१ —७१० |
| ११—धर्म्मसावर्णि——→७१ —७८१ |
| १२—ब्रह्मसावर्णि——→७१ —८५२ |
| १३—दक्षसावर्णि——→७१ —९२३ |
| १४—सूर्य्यसावर्णि——→७१ —९९४ |
| सन्ध्या———→६——१००० |

पूर्वोक्त कालपुरुष का परिमाण साधारण मनुष्यों की दृष्टि में केवल कल्पना है, परन्तु वैज्ञानिकों की दृष्टि में यह सब कुछ वेदसिद्ध है। पाश्चात्य जगत् की भौतिक समुन्नति को ही वास्तविक उन्नति समझने वाले, पाश्चात्यशिक्षादीक्षित स्वधर्म्मविमुख भारतीयों के धर्म्मविरोधी आन्दोलन को ही राष्ट्र समृद्धि का कारण मानने वाले, वैदिक विज्ञान की गहनाटवी से सर्वथा अपरिचित, अपने आपको विद्वान समझने वाले कतिपय भारतीय सज्जन भी पूर्वोक्त युग परिमाण को कल्पना समझते हुए सत्ययुग का स्वप्न देख रहे हैं। उनके मतानुसार शास्त्रसिद्ध—"अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे, ब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे०" इत्यादि संकल्प आज मिथ्या हो चुका है। सुप्रसिद्ध ज्योतिर्वित् जयपुर राज्य निवासी ( वर्त्तमान में इन्दौर निवासी ) श्री दीनानाथजी शास्त्री ने कुछ समय पूर्व हमारे पास 'वेदकालनिर्णय-युगपरिवर्त्तन' नाम

की दो पुस्तकें भेजने का अनुग्रह किया था। युगपरिवर्त्तन में शास्त्रीजी ने सुपर्णचिति के आधार पर वेदकालीन पञ्चाङ्गनिर्माण पद्धति का जो दिग्दर्शन कराया है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। वास्तव में उक्त विषय की खोज अपूर्व, एव विद्वानों को ऋणी बनाने वाली है। परन्तु उसी पुस्तक में—

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पतिः।
एकराशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम्॥
(महाभारत, वनपर्व १८८ अ०।)

इत्यादि कतिपय प्रमाणों का रहस्यार्थ न समझते हुए सत्ययुग मानने का साहस कर डाला है। क्या ही उत्तम हो, यदि अब भी शास्त्रीजी अपने अभिनिवेश को छोड़कर उक्त कल्पना का संशोधन प्रकाशित कर आर्यजाति को इस मिथ्या कलङ्क से बचालें। इसी प्रकार बाबा—राजनारायणजी पट्शास्त्री ने अपनी 'चेतावनी' नाम की पुस्तक में इसी प्रकार अनर्गल प्रलाप किया है। हाल ही में गणितरत्न पं० श्री ऋरदेवजी त्रिवेदी ज्योतिःशास्त्री (मेवाड़ी) ने "चेतावनी समीक्षा" नाम से उक्त अशास्त्रीय मत का गणित के आधार पर खण्डन करने का स्तुत्य प्रयास किया है। प्रकृत में हमें आत्मस्वरूप का दिग्दर्शन कराना है, अतः यहाँ उक्त मत की समालोचना का अवसर नहीं है। इन सब विषयों का सोपपत्तिक निरूपण करते हुए युगपरिवर्त्तन का सशास्त्र सयुक्ति निराकरण करते हुए मन्वन्तर का स्वरूप स्वतन्त्र रूप से निरूपित हुआ है। विशेष जिज्ञासुओं को उसी के प्रकाशन की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

उक्त कालगणना से यहाँ हमें केवल यही बतलाना है कि लोकसाक्षी सूर्य्य की उत्पत्ति, स्थिति, भङ्ग, तीनों काल निश्चित हैं। जिस समय सूर्य्य उत्पन्न होता है, वह काल पुण्याह (पवित्र दिन) का आरम्भकाल माना गया है। सातवें मन्वन्तर का सन्धिकाल मध्याह्न माना जाता है, एवं चौदहवें मन्वन्तर का समाप्तिकाल सायंकाल कहा जाता है। इस प्रकार प्रथम मन्वन्तर के उपक्रम के उपक्रम में जन्म लेकर, दूसरे शब्दों में उदित होकर सहस्रांशु सूर्य्य चौदहवें मन्वन्तर के अन्त में अस्त हो जाता है। उदयास्तभावापन्न यह सूर्य्य यद्यपि अस्मदादि साधारण मनुष्यों की दृष्टि में सदा के लिए एकरूप सा ही दिखलाई देता है, परन्तु वास्तव में सूर्य्य प्रतिक्षण बदल रहा है। इस सूर्य्यदृष्टान्त से प्रकृत में केवल यह क्षणिक भाव ही हमें सिद्ध करना है, जैसा कि आगे के प्रकरण से स्पष्ट हो जायगा।

पूर्व के कालस्वरूप-दिग्दर्शन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि, सूर्य्य किसी दिन उत्पन्न हुआ था, आज वह वर्त्तमान है, किसी दिन न रहेगा। "किसी समय उत्पन्न सूर्य्य का विनाश होगा" यह निश्चित है—"संयोगा विप्रयोगान्ताः"।

लयकाल मीमांसा—

इस सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि, क्या प्रत्यक्ष दृष्ट सूर्य्य का यह महागोल सहसा एक क्षण में ही नष्ट हो जायगा ? वैज्ञानिक उत्तर देते हैं कि, सूर्य्य के नाश के लिए चिरकाल अपेक्षित है। प्रतिक्षण सूर्य्य पुराना पड़ रहा है। इस क्षणिक विनाश की धारा ही किसी युग में ( चौदहवें मन्वन्तर के अन्त में ) सूर्य्यविनाश का कारण बनती है। यद्यपि स्थूलदृष्टि से यह क्षणिक परिवर्त्तन दृष्टिगोचर नहीं होता, तथापि विज्ञानदृष्टि से ऐसा ही मानना पड़ता है। इस प्रकार सूर्य्य में प्रतिक्षण विलक्षणता का होना सर्वथा सिद्ध हो जाता है। जो सूर्य्य पूर्वक्षण में था, उत्तरक्षण में उसका सर्वथा अभाव है। इस क्षणिक परिवर्त्तन के कारण यद्यपि सूर्य्य सर्वथा विनाशी ही है, तथापि साथ साथ ही एक नित्य अपरिवर्त्तनीय भाव भी हम प्रत्यक्ष में देख रहे हैं। प्रतिदिन हम उसी सूर्य्य के दर्शन कर रहे हैं। सूर्य्य कल भी था, आज भी है, कल भी रहेगा। सूर्य्य प्रतिक्षण बदलता है, परन्तु सत्तातत्त्व कभी नहीं बदलता। सत्ता एक है, *नित्य है*। सत्तातत्त्व के आधार पर *प्रतिष्ठित* रहने वाला क्षणिकबलसंघातरूप सूर्य्य निरन्तर बदलता ही रहता है। सर्वथा बदलने वाला सूर्य्य न बदलने वाले सत्तातत्त्व पर प्रतिष्ठित है। अतएव वह बदलता सा नहीं दिखलाई देता। उदयकाल से अस्तकाल पर्य्यन्त सूर्य्य की "हिंकार-प्रस्ताव-आदि-उद्गीथ-प्रतिहार-उपद्रव-निधन" ये सात स्थूल अवस्थाएँ मानी गई हैं। अवस्थाएँ सात हैं, सूक्ष्मदृष्टि से अनन्त हैं, परन्तु सूर्य्य एक है। यह एकत्व उसी सत्तातत्त्व की महिमा है।

इस प्रकार हम सूर्य्य में प्रतिक्षण बदलने वाले नानाभाव का भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं, एवं साथ ही में अक्षरण अपरिवर्त्तनीय एकत्वभाव भी उपलब्ध हो रहा है। तमःप्रकाशवत् अत्यन्त विरुद्ध एकत्व-अनेकत्वभावों का एक ही सूर्य्य में उसी प्रकार समन्वय हो रहा है, जैसे कि परस्पर में सर्वथा विरुद्ध 'पृथिवी-जल-अग्नि वायु-आकाश' इन पाँचों भूतों का एक ही पाञ्चभौतिक शरीर में समन्वय देखा जाता है। इन दोनों विरुद्ध भावों में एकत्वधर्म अविचाली है, शाश्वत है। अनेकत्वधर्म्म विचाली है, अनित्य है। नित्यानित्य शान्ताशान्त की समष्टि सूर्य है। उत्पत्ति क्षण से लयक्षण पर्य्यन्त एक ही प्राणी की दस अवस्थाएँ होती हैं, जैसा कि प्रस्तावना में बतलाया जा चुका है। एक नूतन काष्ठ में लौहकील भी सरलता से प्रविष्ट नहीं

हो सकती। परन्तु १०० वर्ष पश्चात् वही काष्ठखण्ड ऐसा जीर्ण हो जाता है कि, बिना बल-प्रयोग के जहां उस का स्पर्श किया जाता है, वही भाग गिर पड़ता है। इस स्थिति से मानना पड़ेगा कि, किसी नियत क्षण में ही काष्ठ की यह दशा नहीं हुई है, अपितु प्रतिक्षण मे होने वाले परिवर्त्तन से ही काष्ठ उक्त दशा में परिणत हुआ है। यह सब कुछ है, परन्तु काष्ठ अब भी है। काष्ठरूप एकत्व सर्वथा अक्षुण्ण है। निदर्शन मात्र है। संसार में स्थिर चर जितने भी पदार्थ हैं, सब में समानरूप से परमाणु संघठन के तारतम्य से आप को एक परिवर्त्तनशील तत्त्व मिलेगा, एवं एक अपरिवर्त्तनीय तत्त्व उपलब्ध होगा। इन्हीं दो भावों के कारण संसार को "**द्विनियति**", (दो नियत भावों का समुच्चय) कहा जाता है। "**दुनियां**" शब्द द्विनियति का ही अपभ्रंश है। दुनिया को दुरङ्गी कहा जाता है।

उक्त दोनो तत्त्वों मे परिवर्त्तित होने वाला तत्त्व '**नाम रूप-कर्म्म**' की समष्टि है। यही वस्तु है। न बदलने वाला तत्त्व '**अस्ति**' (**है**) है। यह '**मनः-प्राण-वाक्**' का समुचित रूप है।

नित्यानित्यविवर्त्त— मन'प्राणवाङ्मय अमृतलक्षण अस्तितत्त्व पर नामरूपकर्म्ममय मृत्युलक्षण पदार्थ प्रतिष्ठित हैं। जब तक वस्तु है, तब तक तो उस सत्ता ने उस वस्तु को पकड़ रक्खा है, वस्तु के नष्ट हो जाने पर वही सत्तातत्त्व वस्तु के अभाव का अनुमाहक बन जाता है। "**देवदत्त है**" इस वाक्य में भी सत्ता लक्षण "**है**" विद्यमान है, एवं "**देवदत्त नहीं है**" इस अभावात्मक वाक्य के अन्त में भी (नहीं है—इस के अन्त में भी) "**है**" विद्यमान है। "**है**" (अस्ति) नहीं है, यह बात नहीं है। अपितु "**है-नहीं है**" इस प्रकार के "**अस्ति**"— '**नास्ति**' दोनों भावाभावात्मक व्यवहारों मे अस्तितत्त्व अक्षुण्ण है। जिसे आप "**नास्ति**" कहते हैं, उस में भी "**न-अस्ति**" इस विवेक से अस्ति-भाव विद्यमान है। नामरूपकर्म्मात्मक बलसमुच्चय बदलता है, मन.प्राणवाङ्मय अस्तित्त्व कभी नहीं बदलता। इस प्रकार कारणभूत ईश्वर प्रजापति से उत्पन्न कार्यरूप इस विश्व में समष्टि-व्यष्टि रूप से उभयथा पूर्वोक्त दोनो विरुद्ध भावों को हम देख रहे हैं। "**कारणगुणाः कार्य-गुणानारभन्ते**" यह न्याय सुप्रसिद्ध है। इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार मानना पड़ता है कि, भावद्वययुक्त कार्य्यात्मक विश्व मे जब अस्ति-नास्ति लक्षण दो विरुद्ध भावो की हमें निर्भ्रान्त रूप से उपलब्धि होती है, तो अवश्य ही उस अदृष्ट कारण रूप ईश्वर प्रजापति में भी उक्त दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय होगा। यदि वहां (कारण मे) ये दोनों न होते, तो यहां (कार्य मे) उन की उपलब्धि कथमपि नहीं हो सकती थी।

ये ही दोनों तत्त्व श्रुतियों मे अपेक्षा से भिन्न भिन्न प्रकरणों में भिन्न भिन्न नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। रस–अमृत, आभू–सत्, ज्योति–विद्या, इत्यादि नामो से नित्यतत्त्व प्रसिद्ध है। एवं बल—मृत्यु, अभ्व—असत्, वीर्य्य—अविद्या, इत्यादि नामों से अनित्य तत्त्व व्यवहृत हुआ है। पूर्व कथनानुसार बदलने वाला तत्त्व सर्वथा विनश्वर है। "१-नास्ति (अव्यक्त ;– २-अस्ति (व्यक्त), ३-नास्ति (अव्यक्त)," इन तीन क्षणों से नित्य आक्रान्त है। मध्य का अस्ति क्षण भी परमार्थतः बदलता हुआ होने से नास्तिरूप ही है। अत एव इसे भी हम सर्वथा अस्थिर ही मानने के लिए तय्यार हैं। इसी क्षणिक भाव के कारण वह तत्त्व नास्तिसार है, "कुछ नहीं है" के समान है। परन्तु सदसद्विलक्षण मायाबल के प्रभाव से रसरूप नित्य तत्त्व से अनुगृहीत होकर वह कुछ न होता हुआ भी सम्भूति–भाव को प्राप्त होता हुआ "सब कुछ" बन रहा है, अस्तिवत् प्रतीत हो रहा है। सच पूछिए तो सम्पूर्ण विश्व में नामरूपकर्म्मात्मक यह असत् तत्त्व ही आज सर्वत्र प्रभु बन रहा है। इस प्रकार यह तत्त्व स्व–स्वरूप से कुछ न होता हुआ भी रसानुग्रह से सब कुछ बन रहा है। इस के इसी स्वरूप–धर्म्म को लक्ष्य में रख कर— "अभूत्वा भवति" "अभूत्वा भाति,प्रतीयते सर्वत्र" "अभवन् भवति" इत्यादि निर्वचनों के अनुसार वैज्ञानिकों ने इस नास्तिसार तत्त्व को "अभ्व" नाम से व्यवहृत किया है। लोक–प्रसिद्ध "हाबू" (हौआ) शब्द इसी अभ्व शब्द का अपभ्रंश है। छोटा बालक जब उपद्रव करने लगता है, तो माता "अरे हाबू आता है, चुप होजा" यह कहती है। 'हाबू' नाम का कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है, कुछ नहीं है, परन्तु बालक डर जाता है। इसी प्रकार कुछ नहीं होता हुआ भी वह अभ्व है। हाबूरूप महाविश्व के सामने हम सब बच्चे हैं। इन विश्वविभीषिकाओं से जगज्जननी महामाया हम सबको डरा रही है। ऐसा यह अभ्व क्षणिक होने से ही स्व–लक्षण है। एक क्षणिक अभ्व दूसरे क्षणिक अभ्व का लक्षण नहीं बन सकता। "अमुक अभ्व अमुक अभ्व जैसा है" यह बोलने का अवसर ही नहीं मिलता। क्यो कि जिस समय एक अभ्व को हम अन्य अभ्व का लक्षण बतलाते हैं, उसी समय दोनो विनष्ट हो जाते हैं। अतः हम इसे अवश्य ही "स्वलक्षण" कह सकते हैं। जब यह क्षणस्थायी भी नहीं, तो मानना पड़ेगा कि यह कुछ नहीं है। इसी स्वलक्षण भाव के कारण हम इसे "शून्य" कह सकते हैं। स्थिरता में शान्ति है, शान्ति में सुख है, किंवा शान्ति ही सुख है। सर्वथा अस्थिर क्षोभरूप उस अभ्व मे स्थितिमूलक शान्ति–सुख का नितान्त अभाव है। अपि च "यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्पे सुख-मस्ति" इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार भूमा सुख है, अल्पता दुःख है। क्षणिक अभ्व

सर्वथा शून्य होता हुआ अल्पतम है। इन्हीं सब कारणों से हम इसे "दुःखरूप" कह सकते हैं। इस प्रकार इस अभ्व तत्त्व की १-क्षणिकता, २-स्वलक्षणता, ३-शून्यता, ४-दुःखरूपता भलीभांति सिद्ध हो जाती है। यह अभ्व तत्त्व दिग्-देश-काल से सर्वथा परिच्छिन्न होता हुआ ससीम है, खण्ड खण्ड है, तमो रूप है, संख्या में अनन्त है, (इसी आनन्त्य से अभ्वरूप विश्व में वैचित्र्य उपलब्ध होता है), आवरणधर्म्मा है, साञ्जन है, पाप्मा है।

दूसरा है अपरिवर्त्तनीय नित्य तत्त्व। यह एकरूप से सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है, अतएव "आ (समन्तात्-सर्वतः) भवति" "आ-अभवत्" इत्यादि निर्वचनों से इस व्यापक नित्य तत्त्व को "आभू" कहा जाता है। व्यापक होने से ही यह सर्वथा निष्क्रिय, अतएव शान्त है। अतएवच नित्य है। नित्यता, एवं व्यापकता ही इसे पूर्ण कहने को बाध्य करती है। पूर्णता में शान्ति है। पूर्णता ही भूमाभाव है। भूमा ही सुख है। अतएव यह आनन्द रूप है—'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (व्या० सू०)। बल के द्वारा इस का विश्व में विकास होता है। दूसरे शब्दों में बल ही (अभ्व ही) इस आभू (रस) की उपलब्धि का कारण है। यह अपने विशुद्ध रूप से सर्वथा निर्धर्म्मक-निराकार बनता हुआ अनुपलब्ध है। अत एव हम इसे बल-लक्षण मानने के लिए तय्यार है। यह आभू दिग्-देश-काल संख्या से अपरिच्छिन्न होता हुआ असीम है, अखण्ड है, ज्योति-(ज्ञानज्योति)-र्म्मय है, संख्या से एक है (इसी एकत्व भाव से भिन्नों में अभिन्नता की प्रतीति होती है), निरावरण है, निरञ्जन है, विशुद्ध है। हमने इसे एक कहा है। यह एकत्व भावात्मक समझना चाहिए। एकत्व संख्या द्वित्वादि संख्या सापेक्ष है। इसी को अयुतसिद्ध एकत्व कहते हैं। द्वित्वादि संख्या की अपेक्षा रखने वाले अयुतसिद्ध इस एकत्व का उस में अभाव है। जब यहां कोई संख्या नहीं, तो समझने मात्र के लिए उस में एकत्व व्यवहार हो जाता है। यह समझना भाव, किंवा भावना है। इन्हीं सब कारणों से हम इसे भावरूप एकत्व से ही युक्त मानने के लिए तय्यार हैं।

विशुद्ध अभ्व तत्त्व के उपासक नास्तिक लोग जहाँ—"क्षणिकं क्षणिकं अतएव स्व-लक्षणं स्वलक्षणं, अतएव शून्यं शून्यं, अतएव दुःखं दुःखम्" यह कह कर सर्वप्रपञ्च को दुःखरूप बतलाते हैं, वहां आभू तत्त्व के उपासक आस्तिक 'नित्यं नित्यं, अतएव बल-लक्षणं बललक्षणं, अतएव पूर्णं पूर्णं, अतएव आनन्दं आनन्दम्" कहते हुए ब्रह्म को

आनन्दघन बतला रहे हैं। जीवनसत्ता वास्तव में आनन्द पर ही निर्भर है। हम जब तक जीते हैं-आनन्द से, एवं आनन्द की आशाप्रतीक्षा से ही जीते हैं। जिस दिन आनन्द की मात्रा एकान्ततः निःशेष हो जाती है, तत्काल जीवनलीला समाप्त हो जाती है। इसी सर्वानुभूत लोकसिद्ध अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन—
जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" - (तै०उप० ३। ६।)।

उक्त अभ्व-आभू विवेचन से कहना यही है कि, इन दोनों विरुद्ध तत्त्वों की समष्टि ही विरुद्धभावद्वयापन्न विश्व का मूल है। विश्व में प्रतीयमान कार्यरूप क्षणिकभाव का मूलकारण विश्वातीत अभ्व है, एवं कार्यरूप से प्रतीयमान नित्यभाव का मूल विश्वातीत आभू है। लौकिक दृष्टि से समझने के लिए हम इन दोनों को द्रष्टा एवं दृश्य कह सकते हैं । विश्वविद्या को आप इन्हीं दो भागों में विभक्त कर डालिए,-विश्वातीत आभू और अभ्व के इस विश्व में ही (द्रष्टा एवं दृश्यरूप से) साक्षात् दर्शन हो जायँगे। दृश्य अभ्व है। आप इसे निरन्तर बदलता हुआ देखेंगे। एवं द्रष्टा आभू है, इसे सर्वथा एक रस देखेंगे। उदाहरण के लिए दर्पण (काच-आइना) को दृष्टान्त समझिए। एक स्थान पर काच सर्वथा स्थिर रूप से रक्खा हुआ है। उस पर मार्ग में आते जाते मनुष्य पशु पक्षी आदि दृश्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। दृश्य बदल रहे हैं, द्रष्टा काच सर्वथा स्थिर है। नए नए दृश्यों को लेता जाता है, छोड़ता जाता है। इसी प्रकार शरीरावच्छिन्न शरीराकाशगर्भित हृदयाकाशस्थ दभ्राकाश में प्रतिष्ठित ज्ञानज्योतिर्घन हमारा आत्मा द्रष्टा है। हम इन्द्रियों द्वारा जिन विषयोंको देखा करते हैं, वे सब दृश्य हैं। अहं-भाव एक है, दृश्य नाना है। इस प्रकार द्रष्टा-दृश्य के विवेक से आप सर्वत्र इसी विश्व में आभू-अभ्व का साक्षात्कार कर सकते हैं। इसी रहस्य का प्रतिपादन करते हुए रहस्यवेत्ता वैज्ञानिक कहते हैं—

यदस्ति किञ्चित्तदिमं प्रतीमोऽविचालि-शश्वत्स्थमनाद्यनन्तम्।
प्रतिक्षणान्यान्य-विकार-सृष्टि-प्रवाहवत् तद्द्विविरुद्धभावम् ॥ १ ॥
विरुद्धभावद्वयसंनिवेशात् संभाव्यते विश्वमिदं द्विमूलम्।
आभ्वभ्व-संज्ञेस्त इमे च मूले द्रष्टाथ दृश्यं तु मतं तदभ्वम् ॥ २ ॥

यद् दृष्टं तज्ज्ञानमिति प्रसिद्धं ज्ञाने प्रतीतो विषयस्तु कर्म्म।
ज्ञानं प्रकाशोऽस्त्यविचालिभावस्तत्रान्यदन्यद् भवदस्ति कर्म्म ॥ ३ ॥

दिग्देशकालैरमितं तु यत् तज्ज्ञानं हि तद् दृष्टं तदाभु विद्यात्।
दिग्देशकालैः प्रमितं त्वसद्वत् तत्कर्म्म तद् दृश्यमिदं तदभ्वम् ॥ ४ ॥

(श्रीगुरुप्रणीतमंशयतदुच्छेदवाद, सच्चिदानन्दखण्ड)

आभू तत्त्व एक है, अभ्व अनेकधा विभक्त है। दोनो ही अविनाभूत हैं, नित्यसम्बद्ध हैं। इन दोनों तत्त्वों की उन्मुग्धावस्था का नाम "निर्गुणब्रह्म" है, एवं ये ही दोनों अंशरूप से किसी कारणविशेष की प्रेरणा से उद्बुद्धावस्था में आकर "सगुणब्रह्म" नाम धारण कर लेते हैं। योगमायावच्छिन्न अस्मदादि मायिक जीवों का उपास्य एकमात्र यही सगुणब्रह्म है। निर्गुणब्रह्म विश्वातीत होने से व्यापक होता हुआ अवाङ्मनसगोचर है। शब्दातीत होने से शास्त्रानधिकृत होता हुआ एकान्ततः अनुपास्य है। प्रत्येक शब्द की "यत्किंचित्पदार्थताव-च्छेदकावच्छिन्न" में ही शक्ति रहती है। घट शब्द की घटत्वावच्छेदकावच्छिन्न में शक्ति है। वह घटत्व घट शब्द की पटादि इतर पदार्थों से व्यावृत्ति (पृथक्करण-छांट) करवाता है। उस व्यापक ब्रह्म में सब कुछ प्रतिष्ठित है, वह सब में अनुस्यूत है, अत एव उसकी किसी शब्द से किसी में से व्यावृत्ति नहीं कराई जा सकती। अत एव अवच्छेदकावच्छिन्न मे शक्त शब्द-जाल उस का निरूपण करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। विश्व की उत्पत्ति-स्थिति-भंग, तीनों ब्रह्मलक्षण ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-(पुराण मतानुसार महेश) भेदभिन्न देवत्रयी पर ही निर्भर है। तीनों क्रमशः विश्व के उत्पादक-पालक-संहारक हैं। इन तीनों में इन्द्र ज्ञानप्रधान हैं, विष्णु अर्थप्रधान हैं, ब्रह्मा क्रियाप्रधान हैं। सत्व-रज-स्तमोभेदभिन्ना प्रकृतिरूपा महा-शक्ति के आश्रय से ही क्रियाशक्तिप्रधान ब्रह्मा, अर्थशक्तिप्रधान विष्णु, ज्ञानशक्तिप्रधान इन्द्र, किंवा महेश उत्पत्ति-स्थिति-नाश के कारण बनते हैं। ज्ञान उस व्यापक ब्रह्म का वास्तविक रूप है। इस का विकास विश्व मे 'इन्द्र' रूप से ही होता है। अत एव इस के लिए "इन्द्रो वै देवा-नामोजिष्ठो बलिष्ठः, श्रेष्ठो ज्येष्ठः" (कौषीतकि ब्रा० ६। १४।) यह कहा गया है। अत एव ब्रह्मादि इतर देवता देवता हैं, एवं इन्द्रापरपर्य्यायक ज्ञानप्रद तत्त्व "महादेव" है "ज्ञानमिच्छे-न्महेश्वरात्"। ब्रह्मा विष्णु क्रमशः क्रिया एवं अर्थमूर्ति हैं। दोनों का विकास कार्य-विश्व में ही होता है। विश्वातीत अवस्था में केवल ज्ञानशक्ति का ही विकास है। इसी रहस्य को लक्ष्य

में रखते हुए केनोपनिषत् में बतलाया गया है कि "जब इन्द्र उस यक्ष के सामने गए तो यक्ष अन्तर्हित (गायब) होगया' (देखिए केनोप० ३ । २४ ।) । इस का तात्पर्य्य यही है कि, पूर्व कथनानुसार इन्द्र ज्ञानशक्तिघन है, उधर यक्षमूर्त्ति ब्रह्म ज्ञानघन है । दोनों अभिन्न हैं। क्रियाप्रधान ब्रह्मा, अर्थप्रधान विष्णु, ज्ञानप्रधान इन्द्र (महादेव), इन तीनों में से ब्रह्मा विष्णु की तो वहा गति नहीं है, परन्तु ज्ञानमूर्त्ति इन्द्र वहाँ अवश्य ही पहुँच जाते हैं। दूसरे शब्दों में यह शब्दातीत होता हुआ भी ध्यानापरपर्य्यायक ज्ञानगम्य अवश्य है। "तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा' के अनुसार इन्द्ररूप विज्ञान (बुद्धि) से अवश्य ही तटस्थ लक्षण के द्वारा वहाँ गति हो जाती है। परन्तु अर्थप्रधान कर्म्मकाण्ड एवं क्रियाप्रधान उपासनाकाण्ड, दोनों मार्ग वहा अवरुद्ध हैं। इसी गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य में रख कर आचार्य्य कहते हैं—

स विदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥ (तै० उ० २ । ४ ।)

श्रुति ने विष्णु, एवं विधि (ब्रह्मा) से उस की अविज्ञेयता बतलाई है, विष्णु-विधि में नित्य सम्बद्ध इन्द्र में नहीं । कारण इस का यही है कि, ज्ञानमूर्त्ति इन्द्र (विज्ञानात्मा) वहां पहुँच सकता है। बतलाना यही है कि, विश्वातीत वह व्यापक तत्त्व शब्द-शास्त्र की दृष्टि से सर्वथा अविज्ञेय, एवं अनिर्वचनीय है।

सुप्रसिद्ध मायाबल के कारण आभू-अभ्वात्मक व्यापक ब्रह्म के विश्वातीत—विश्वचर विश्व, ये तीन रूप हो जाते हैं। वही ब्रह्मतत्त्व अपने यत्किञ्चित् प्रदेश से (अक्षरानुगृहीत क्षर भागसे) विश्व बना हुआ है । अत एव—'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' ब्रह्मैवेदं सर्वम्' प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रौत वचन चरितार्थ हो रहे हैं। इसी दृष्टि को लेकर 'ब्रह्म ही विश्व है' इस कथन में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। अपने एकांश से सम्पूर्ण जगत् का निर्म्माण कर, दूसरे शब्दों मे एक पाद से विश्वरूप में परिणत होकर 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार वह ब्रह्म अंशरूप मे अपने स्रष्टरूप इस विश्व में प्रविष्ट होकर विश्व का आत्मा बना हुआ है। विश्व उस का शरीर है, प्रविष्ट भाग विश्व-शरीर का आत्मा है। इसी प्रविष्ट रूप को आधार मान कर—

ब्रह्म का त्रेधा वितान—

'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' 'नवद्वारे पुरे देही' 'सर्वस्य प्रभुमीशानम्' 'यो, विश्वं भुवनमाविवेश' 'तेनेदं ( विश्वं ) पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' 'विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्' 'विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्' इत्यादि श्रौत वचनों का समन्वय हो रहा है। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रख कर—''ब्रह्म विश्व में प्रविष्ट है'' इस कथन में भी कोई आपत्ति नहीं उठाई जा-सकती। यही ज्ञान (उत्पन्न-विश्व) है, वही उत्पन्न होने वाला है, वही गर्भ में प्रविष्ट रहने वाला आत्मा है। इन्हीं विश्व-विश्वचर, दोनों आत्मविवर्त्तों का समष्टि रूप से निरूपण करते हुए महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

ब्रह्म का यही दूसरा रूप विश्वेश्वर-विश्वाध्यक्ष-विश्वात्मा-जगदीश्वर, आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है। जो भाग विश्व, एवं विश्वेश्वर से पृथक् विशुद्ध बच जाता है, वही तीसरा सर्वव्यापक भाव विश्वातीत नाम से प्रसिद्ध है। यही ब्रह्म का निरुपाधिक रूप है। न यह जन्म लेता, न इस की मृत्यु होती। न यह किसी का आत्मा (विश्वेश्वर) बनता, न किसी का शरीर (विश्व) बनता। इसी तीसरे विश्वातीत विवर्त्त को लक्ष्य में रख कर ऋषि कहते हैं—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ १ ॥
—श्वे० उप० ६।८।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्च नैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥
—श्वे० उ० ४।२०।

नैनमूर्ध्वं तिर्य्यंचं न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥ ३ ॥
—श्वे० उप० ४।१९।

इसी विश्वातीत दृष्टि से 'न ब्रह्म विश्व बनता, न विश्वात्मा बनता यह सब प्रपञ्च केवल मायिक है' इस कथन में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। ये ही तीनों विवर्त्त 'प्रवि-

वित्तब्रह्म–प्रविष्टब्रह्म–सृष्टब्रह्म इन नामों से भी व्यवहृत किए जासकते हैं। इन में प्रविवित्त (विश्वातीत), एवं प्रविष्ट (विश्वचर), ये दो विवर्त्त तो अमृतप्रधान हैं। तीसरा सृष्टरूप (विश्व) मृत्युप्रधान है। दूसरे शब्दों में उक्त दोनों रूप आभूप्रधान (रसप्रधान) हैं, तीसरा रूप अभ्व-प्रधान (बलप्रधान) है। कुछ भी कहिए, तीनों ही रूपों में आभू–अभ्वात्मक रस–बल का ही साम्राज्य मानना पडेगा। अतएव श्रुति की 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्, इस कथन में जरा भी संकोच नहीं होता। ब्रह्म के आभू-अभ्व लक्षण रस बल नाम के दो रूप हैं' यह सुन कर 'ब्रह्मैवेदं सर्वं-एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन' इस अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले अद्वैतभक्तों को विरोध बतलाने का अवसर मिल जाता है। हम उन्हें बता देना चाहते हैं कि, रस–बल, इन दो भावों के मान लेने पर भी अद्वैत सिद्धान्त पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती।

सजातीय–विजातीय–स्वगत, इन तीनों भेदों का निराकरण करने के लिये श्रुति में '१एकं-२एव-३अद्वितीयम्' ये तीन पद प्रयुक्त हुए हैं। इन में अद्वितीयं पद विजातीयभेद का, एकं पद सजातीयभेद का, एव एव पद स्वगतभेद का निराकरण कर रहा है। आम का वृक्ष केले के वृक्ष से भिन्न है, यह दोनों का विजातीय भेद है। एक आम का वृक्ष दूसरे आम्रवृक्ष से भिन्न है, यह दोनों का सजातीयभेद है। एक ही आम्रवृक्ष में आम्रफल, आम्रमञ्जरी, आम्र-पत्र, शाखा, मूलस्तम्भ, आदि अनेक अवयव हैं। सभी अवयव परस्पर में भिन्न होते हुए एक आम्रवृक्ष के आश्रित हैं। यही भेद तीसरा स्वगतभेद है, अपने आप में रहने वाला भेद है। मनुष्य–पशु का भेद विजातीय है, मनुष्य मनुष्य का भेद सजातीय है, हस्त–पाद–मस्तक–उदर–हृदय–आदि अवयव भेद स्वगतभेद है। हमारा ब्रह्मतत्त्व उक्त तीनों भेदों से पृथक् है। ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा भिन्न स्वरूप वाला ब्रह्म नहीं है, इसलिए ब्रह्म विजातीय भेदशून्य है। 'सर्वत्र इस अद्वितीय का साम्राज्य है'। इस ब्रह्म के जैसा कोई अन्य ब्रह्म नहीं है, अतएव यह सजातीयभेद शून्य है। 'सर्वत्र इस अद्वितीय एक का साम्राज्य है'। साथ ही में आम्रवृक्षादि की तरह उस में अवयव भेद भी नहीं है, नीचे–ऊपर–आगे–पीछे–सामने–सब ओर वही एक है, अत वह स्वगतभेद से भी बहिर्भूत है। इस प्रकार 'भेदत्रयशून्य उस अद्वितीय एक ही (एकमेवाद्वितीयं) ब्रह्म का साम्राज्य है'। ऐसी परिस्थिति में अद्वैतवादियों की ओर

से प्रश्न उपस्थित होता है कि "ब्रह्म के रस-बल, ये दो विवर्त्त मान लेने पर सजातीय-विजातीय भेद को तो अवसर नहीं मिलता, परन्तु स्वगतभेद बना रह जाता है। तुम्हारे कथनानुसार स्वगतभेद उत्पन्न करने वाला रस-बलात्मक कलाभेद रह जाता है। फलत: विशुद्ध अद्वैतवाद सुरक्षित नहीं रहने पाता"। प्रश्न यथार्थ है। अवश्य ही हम दो कला मानते हैं। फिर भी उक्त प्रश्न का हमारी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। हम दो कला मानते हुए भी उन दोनों की पृथक् पृथक् दो सत्ता स्वीकार नहीं करते। मानना दूसरी बात है, सत्ता स्वीकार करना दूसरी बात है। जिसे आप मानना कहते हैं, वह मानने से भी सम्बन्ध रखता है, एवं सत्ता से भी मानने का सम्बन्ध है। सर्वसाधारण ने आकाश को नीला मान रक्खा है, क्योंकि उस का उसी रूप से भान हो रहा है। परन्तु कोई भी वैज्ञानिक आकाश के नील वर्ण की सत्ता स्वीकार करने के लिए तय्यार नहीं है। भावात्मक एकत्व को छोड़ कर २-३-४-५ आदि सब संख्याएं केवल मानी हुई हैं। सत्ता केवल एक ही संख्या की है। जिसे आप २-३-४-५ कहते हैं, सर्वत्र २-३-४-५ इस क्रम से एक संख्या का ही प्रभुत्व है। "अयमेक-अयमेक" की समष्टि ही तो दो है। विज्ञानदृष्टि से उत्तर दिशा ऊंचा स्थान है, दक्षिण दिशा अवाची (नीचा स्थान) है। परन्तु साधारण मनुष्य अपने मस्तक के ऊपर के भाग को ऊंचा मानते हैं, पैरों के नीचे के स्थान को नीचा कहते हैं। इसी प्रकार पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, आदि सहस्रों पदार्थ (जो कि अहोरात्र हमारे व्यवहार में आते हैं, जिन के न मानने से लौकिक व्यवहारों का एकान्तत: उच्छेद हो जाता है) ऐसे हैं, जिन को आप, हम, सभी केवल मानते ही मानते हैं, किन्तु उन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। यही परिस्थिति रस-बल की भाति के सम्बन्ध में समझिए। द्वैत व्यवहार का मूलकारण सत्ताभेद है, न कि भातिभेद। भातिभेद से प्रतीत होता हुआ भी द्वैत परमार्थत: द्वैत नहीं माना जाता। पुरोऽवस्थित एक घट का आप को भान हो रहा है, साथ ही में जिस मिट्टी से घट बना है, उसे भी आप देख रहे हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष दृष्ट इन दो भातिभावों को देखते हुए भी भातिद्वैत से घट के लिए—"यह घड़ा है, और मिट्टी है" ऐसा द्वैतव्यवहार नहीं करते। कारण? भान वास्तव में दो हैं, परन्तु "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" के अनुसार सत्ता एक है। मिट्टी की सत्ता से ही घट सत्तावान् बन रहा है। ठीक इसी प्रकार उस ब्रह्म तत्त्व में भी रस-बल भेद से भाति दो हैं, सत्ता एक है। अतएव स्वगतभेद को अवसर नहीं मिलता। यदि इस समाधान से आप का

सन्तोष नहीं होता, तो हम आप से पूछते हैं कि—"आप ब्रह्म की सच्चिदानन्दता में कोई सन्देह नहीं करते। 'सत्ता-चेतना-आनन्द'—ये तीन कलाएँ आप भी मानते हैं। रस-बल, इन दो भातिभेदों के कारण इस पक्ष में जो स्वगतभेद प्रयुक्त दोष आप बतलाते हैं, वह दोष आप के भी समान है। जिस अभिन्ना अद्वितीया सत्ता को आगे कर आप स्वगतभेद हटाते हैं, वही सत्तात्मक-अद्वैत हमारे रस-बलात्मक अद्वैतवाद का भी समर्थक बन रहा है।

उपर्युक्त रसबलात्मक सर्वव्यापक यही विश्वातीतब्रह्म "अखण्डब्रह्म" नाम से प्रसिद्ध है। यह ब्रह्मभाव औपाधिक अहंभाव से सर्वथा पृथक् है। यह सब में समान है। चेतन-अचेतन-विश्व-विश्वात्मा विश्व के बाहिर सर्वत्र समानरूप से व्याप्त है। मायोपाधिशून्य, अतएव—सर्वव्यापक, परात्पर, प्रविविक्त, विश्वातीत, निर्धर्म्मक, निरञ्जन, अद्वय, अखण्ड, असीम, आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध, पूर्व कथनानुसार शास्त्रानधिकृत, वाङ्मनसपथातीत इस अविज्ञेय अनिर्वचनीय विलक्षण ब्रह्मतत्त्व का इस श्राद्धप्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्राद्धप्रकरण से ही क्या, वह तो सभी शास्त्रीय कर्म्मों से एकान्ततः बहिर्भूत है। हमारे आचार, व्यवहार, पुण्य-पाप, जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक, संस्कार, आदि किसी से भी उस का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में जो महानुभाव "आत्मा तो व्यापक है, अखण्ड है। उस की गति—आगति कैसी ? गति नहीं तो श्राद्ध कैसा ?" ऐसे ऐसे कुतर्कों के द्वारा श्राद्ध की इतिकर्त्तव्यता पर, उस की शास्त्रीयता पर आक्षेप करने का साहस करते हैं, उन्हें पूर्व प्रतिपादित अखण्ड ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप समझते हुए आज से अपना भ्रम छोड़ देना चाहिए। उन्हें यह विश्वास कर लेना चाहिए कि, अखण्ड आत्मा को हम शास्त्रों में प्रतिपादित आत्मा कहने के लिए तय्यार नहीं हैं। शास्त्रीय आत्मा कोई दूसरा ही सखण्ड आत्मा है। वह भी एक नहीं, अनेक हैं।

पूर्व में हमने अमृतात्मा के प्रविविक्त-प्रविष्ट भेद से दो रूप बतलाए हैं। इन दोनों में से पहिले प्रविविक्त ब्रह्म की चर्चा हम छोड़ते हैं। उस के विषय में केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि—' सर्वबलविशिष्ट रसप्रधान सर्वव्यापक एक तत्त्वविशेष ही प्रविविक्त ब्रह्म है वह शास्त्रानधिकृत है। व्यापक होने से अनुपास्य है। गतिशून्य होने से जन्म-मरण रहित होता हुआ श्राद्धमर्य्यादा से बहिर्भूत है"। दूसरा है प्रविष्टब्रह्म नामक अमृतात्मा।

इस प्रकरण के शीर्षक में जिसे हमने अमृतात्मा कहा है,'जिस के प्रतिपादन की प्रकरणारम्भ में प्रतिज्ञा की गई है, वह यही प्रतिष्ठाब्रह्म है। थोड़े शब्दों में इसी का दिग्दर्शन कराते हुए इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

रसबलात्मकब्रह्म की अनन्तविभूति-

रस-बलात्मक जिस अखण्ड ब्रह्म का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उस के रस भाग को हमने संख्या से (भावात्मिका एकत्व संख्या से) एक बतलाया है, साथ ही में उसे दिग्-देश-काल से अनन्त कहा है। दूसरे बलतत्त्व को संख्या से अनन्त, एवं दिग्देशकाल से सादि-सान्त कहा है। दिग्देशकालावच्छिन्न अभ्वरूप यह अनन्त बल सृष्टिविकास के पूर्व जिन महाबलों में अन्त प्रविष्ट रहते हैं, एवं सृष्टिकाल में जिनमें से अनन्त बल उद्भूत होते रहते हैं, आधार रूप उन महाबलों को शास्त्र में—" 'कोशबल" नाम से व्यवहृत किया गया है। वे कोशबल संख्या में कुल १६ हैं। इन सोलह बलकोशों में इतर सारे अनन्त बल समाए हुए हैं। इन सब बलकोशों का विशद निरूपण 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' के प्रथम खण्ड में निरूपित होचुका है। प्रकरणसंगति के लिए यहां उन के नाम मात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं। इन सोलहों में एक बलकोश विद्यात्मक है, शेष १५ बलकोश अविद्यात्मक हैं। विद्यात्मक बलकोश मुक्ति का अधिष्ठाता है, शेष सृष्टि के प्रवर्त्तक हैं। वे बलकोश १–विद्या, २–माया, ३–जाया, ४–धारा, ५–आपः, ६–हृदय, ७–भूति, ८–यज्ञ, ९–ब्रह्म, १०–सत्य, ११–यक्ष, १२–अभ्व, १३–मोह, १४–वय १५–वयोनाध, १६–वयुन, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। विद्याबल उस का स्वाभाविक बल है, यह हृद्ग्रन्थिविमोकपूर्वक मुक्ति का कारण बनता है। शेष पन्द्रहों आगन्तुक हैं। हृद्ग्रन्थि-प्रवृत्तिपूर्वक ये ही सृष्टि के प्रवर्त्तक हैं। इन में प्रधानता मायाबल की ही है। अपरिमित को परिमित बना कर उसे सकेन्द्र बनाते हुए, उस अशनाया शून्यतत्त्व में अशनाया उत्पन्न कर देना मायाबल का मुख्य कर्म्म है। विश्वमर्य्यादा से सर्वथा पृथक् रहने वाला, स्व स्वरूप से सर्वथा निरञ्जन वह तत्त्व अपने ही प्रत्यंश से कैसे साञ्जन विश्व बन गया, ? इस आश्चर्य्यमूलक प्रश्न का उत्तर एकमात्र इसी मायास्वरूपविज्ञान पर अवलम्बित हैं। सम्पूर्ण संसार माया की क्रीड़ा (खेल) मात्र है। हां, एक बात पर विशेष ध्यान रखिए। माया नामरूपकर्म्ममयी बन कर ही विश्व में व्याप्त होती है। रसबलात्मक सत्यब्रह्म की अंशभूता बलात्मिका नामरूपमयी माया भी अवश्य ही सत्य है। ऐसी अवस्था में नामरूपात्मक सत्यविश्व को मिथ्या कहना—

असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्" (गीता १६।८)

भगवान के उक्त शब्दों में गुप्तरूप से अनीश्वरवाद का प्रचार करता है। जब कि—"नामरूपे सत्यम्" (शत० ब्रा० १४।४।४।३) इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट ही मायिक विश्व को सत्य बतला रही हैं, तो ऐसी दशा में इसे असत्य मानना प्रौढिवादमात्र है। यह बात सच है कि, मायिक विश्व का यथार्थ ज्ञान हमें नहीं होता। अनन्तब्रह्म की तरह उस से नित्यसम्बद्धा वह महामाया भी अनन्तरूपा ही है। जो माया उस अनन्तब्रह्म की अनन्तता हटा कर उसे विश्वप्राङ्गण में लाकर उसे लीलामय बना डालती है-( लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्—व्या० सू), उस के यथार्थस्वरूप को यह क्षुद्र जीव जान जाय, यह असम्भव है। माता के प्रभव-प्रतिष्ठा-लय का स्वरूप पुत्र जान सकता है क्या ?, असम्भव। माना कि वह बलरूपा है, बलप्रधाना है। परन्तु बल असत् है। सद्विश्व में हम उसी का प्राधान्य देख रहे हैं, दूसरे शब्दों में विश्व का सद्भाव उसी पर निर्भर है। ऐसी अवस्था में उसे असत् क्योंकर माना जा सकता है। साथ ही में बल के विद्यमान असत् स्वरूप को भी तो तिरोहित नहीं किया जा सकता। फलतः उसे सत् भी नहीं कहा जा सकता। सत्-असत् का पारस्परिक विरोध उसे 'सदसती' न कहने के लिए भी बाध्य कर रहा है। ऐसी स्थिति में—

न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधतः।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुप्रकृतिरिष्यते" ॥ यह अभियुक्तोक्ति माया के यथार्थ स्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में हमारी सब इन्द्रियों का द्वार बंद कर देती है। बात सच है। वह माया ही क्या हुई, जिस का स्वरूप माया के क्रोड में पले हुए हम जान जांय। हम उस के यथार्थ स्वरूप को जानने में असमर्थ हैं, एतावता ही क्या उसे मिथ्या कहने का असह्य अपराध करना उचित है ? कदापि नहीं। अस्तु मायिक जगत् मिथ्या है, अथवा सत्य ?, इन सब प्रश्नों का विशद विवेचन ईशोपनिषद्भाष्य में हो चुका है। अतः प्रकृत में माया के सम्बन्ध में केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि, माया एक ऐसा बल है, जो रसबलात्मक असीम ब्रह्म को (आंशिकरूप से) ससीम बना डालता है। परात्पर ब्रह्म असीम था, व्यापक था, अतएव हृदयशून्य था, अतएव मन शून्य था, अतएव च कामना रहित था। कामनाएँ मन से प्रादुर्भूत होती हैं, यह निश्चित सिद्धान्त है। "हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पम-

स्तु" इस यजुश्रुति के अनुसार मन का आधार हृदय है। इधर व्यापक में हृदयभाव (केन्द्र) का सर्वथा अभाव है। अतएव मन का, अतएवच कामना का अभाव सिद्ध हो जाता है। अपि च, अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही कामना हुआ करती है। उधर व्यापक परात्पर में कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है। सब कुछ उस के उदर में प्रतिष्ठित है, सब में वह है, सब वही है। फिर उस आत्मकाम, अतएव आप्तकाम, अतएवच निष्काम में कामना कैसी। बिना कामना के सृष्टि नहीं। अतएव इसे 'विश्वातीत' शब्द से व्यवहृत करना समन्वित हो जाता है।

ऐसे कामना रहित विश्वातीत ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में उसी पूर्वपरिचित मायाबल का उदय होता है। जितने प्रदेश में मायाबल उदित होता है, तद्वच्छिन्न रसबलात्मक परात्परब्रह्म परिच्छिन्न होता हुआ हृदयबल से युक्त हो जाता है। हृदय-

पञ्चकल मायोपाधिक ब्रह्म— बलावच्छिन्न मायिक रसबलात्मक इसी तत्त्व को वैज्ञानिक महर्षियों ने 'श्वोवसीयसब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है। अभी (विकार सृष्टि की उत्पत्ति से पहिले) मनोमय इस मायिक ब्रह्म में अन्य किसी आवरण का अभाव है, अतएव उपनिषदोंने इसे "भारूप" माना है। उस परमाकाश में भारूप-मनोमय-आकाशात्मा पुरुष व्याप्त है। अब तक वह पुर-(घेरा-सीमा-अवच्छेद)-मर्य्यादा से बहिर्भूत था, परन्तु आज वह मायापुर से वेष्टित हो गया है, अतएव वह 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। परस्पर में सर्वथा विभिन्न स्त्री-पुरुष-नपुंसक-भेदभिन्न विश्वान्तर्गत यच्चयावत् पदार्थों में वह समानरूप से व्याप्त रहता है, कोई प्रदेश उस से विरहित नहीं है। विविधभावों में परिवर्तित होने वाले पदार्थों में वह एक रूप से व्याप्त रहता है, अतएव उक्त मनोमय पुरुष को ऋषियों ने 'अव्यय' नाम से व्यवहृत किया है, जैसा कि गोपथश्रुति कहती है—

> सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
> वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥ (गो० ब्रा० पू० १।२६)

रसबलात्मक मनोमय इस अव्यय पुरुष से सर्व प्रथम 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस कामना का उदय होता है। कामना मन का पहिला रेत है। इस को हमने असंग, एवं बल को ससंग कहा है। रस हटना चाहता है, बल मिलना चाहता है। सर्ग सृष्टि है, विसर्ग मुक्ति है, अवसान का द्योतक है। इसीलिए तो शब्दब्रह्म मर्य्यादा में भी रामः—हरिः इत्यादि रूप से शब्दा-

रूप से व्याप्त रहता है, जैसा कि—"तस्यैष एव शारीरात्मा यः पूर्वस्य' (तै० उप० ब्रा० २) इत्यादिरूप से उपनिषत् में ही स्पष्ट कर दिया गया है। यह है अमृतसंस्था के मूलस्तम्भरूप पञ्चकल अव्यय पुरुष का संक्षिप्त निदर्शन।

अव्ययपुरुष पुरुष है। "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि'(गी० १३ १६) इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार पुरुष अपनी स्वभावभूता प्रकृति के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भेद से प्रकृतितत्त्व दो भागों में विभक्त है। इन दोनों में से अन्तरङ्ग प्रकृति के साथ ही पुरुष का नित्यसाहचर्य्य उक्त वचन से बतलाया गया है। यही अन्तरङ्गप्रकृति अव्ययपुरुष का "स्व"—भाव है। बहिरङ्गप्रकृति बदली जा सकती है, स्वयं भी बदल जाती है, परन्तु स्वभावभूता अन्तरङ्गप्रकृति का विपर्य्यय कथमपि सम्भव नहीं है। इसी प्रकृतिविज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

दशकल-प्रकृतिब्रह्म—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ (गी० ३। ३३)

पूर्वोक्त सोलह बलकोशों में एक "हृदय"नाम के बलकोश का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही में यह भी कहा गया है कि, मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही मायावच्छिन्न, अतएव परिच्छिन्न उस रसबलमूर्त्ति ब्रह्म से हृदय (केन्द्र) भाव का उदय हो जाता है। इस प्रकार केन्द्रबल, तथा मायापुर सम्बन्ध से पुरुष नाम से प्रसिद्ध अव्यय ब्रह्म, दोनों का विकास एक ही काल में होता है। दोनों के पूर्वापरभाव की चर्चा ही अवैज्ञानिक है। इसी सहोदित केन्द्रबल को, किंवा हृच्छक्ति को महर्षियों ने "प्रकृति" नाम से व्यवहृत किया है। जिस प्रकार अव्ययपुरुष में रसबल के तारतम्य से आगे जाकर पांच कलाओं का उदय हो जाता है, एवमेव रसबल के ही तारतम्य से इस हृदयरूपा प्रकृति के भी पांच विवर्त्त हो जाते हैं। हृदयबल बल है, क्रियारूप है, गतिस्वरूप है। इस गति की ही '**स्थिति आगति-गति-स्थितिगर्भितागति-स्थितिगर्भिता-आगति**' ये पांच अवस्थाएं हो जातीं हैं। उक्थरूप से हृच्छक्ति स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहती है। अर्करूप से हृच्छक्ति के दो विकास होते हैं। एक शक्ति निरन्तर इस प्रतिष्ठा को उच्छिन्न करने में प्रयत्नशील बनी रहती है, एक शक्ति निरन्तर प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठित रखने का प्रयास करती रहती है। आगे जाकर इन दोनों स्वतन्त्र विकासों का उसी मूलप्रतिष्ठा के साथ ग्रन्थिबन्धन हो

जाता है। एक शक्ति प्रतिष्ठा से बद्ध होकर निरन्तर बाहिर निकला करती है, एवं एक शक्ति प्रतिप्रायुक्त बनी हुई निरन्तर भीतर की ओर आया करती है। ये ही पांचों शक्तिविभाग 'गतिसमुच्चय-(स्थिति), विशुद्धआगति, विशुद्धगति, स्थितिगर्भिताआगति, स्थितिगर्भितागति इन नामों से व्यवहृत किए जा सकते हैं। जिसे आप स्थिति कहते हैं, वह गतिसमुच्चयमात्र है। सर्वतोदिग्गति, किंवा समानबलानुयायिनी विरुद्धदिग्द्वयगति ही स्थितिरूप में परिणत होती है। इसी स्थितितत्त्व को, किंवा प्रतिष्ठातत्त्व को "१ब्रह्मा" कहा जाता है। आगतितत्त्व २' विष्णु' है, गतितत्त्व ३"इन्द्र" है, स्थितिगर्भिता आगति ४"सोम" है, एवं स्थितिगर्भिता गति ५ 'अग्नि' है। इस प्रकार गतितारतम्य से गतिरूप हृदयभावमयी एक ही प्रकृति पाँच रूप धारण कर लेती है। "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया" (गी० ४।६।) के अनुसार पञ्चधा विभक्त स्वभावभूता इसी प्रकृति के द्वारा सर्वथा आज अव्यय को विश्वका आलम्बन बनना पड़रहा है।

पूर्व मे कहा जाचुका है कि, सर्वत्र अमृत-मृत्यु लक्षण रस-बल का ही साम्राज्य है। दो से भिन्न तीसरे तत्त्व का सर्वथा अभाव है। साथ ही ये दोनों सर्वत्र अभिन्न रूप से ही प्रतिष्ठित रहते हैं। फलतः उक्त प्रकृति में भी इन्हीं दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। प्रकृति में अमृत भी है, मृत्यु भी है। अमृत मृत्यु की प्रधानता-अप्रधानता के कारण इस एक ही प्रकृति के दो रूप हो जाते हैं। बलगर्भिता रसप्रधाना प्रकृति 'अमृत" है। रसगर्भिता बलप्रधाना प्रकृति "मृत्यु" है। अमृतभाग अविकुर्वाण है, मृत्युभाग विकुर्वाण है। प्रकृति का अमृतभाग, प्रकृति का मर्त्यभाग, दोनों अविनाभूत हैं। अतएव दोनों में ही ब्रह्मादि उक्त पाँचो कलाओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है। अमृता प्रकृति, किंवा प्रकृति का अमृतभाग अपनी ब्रह्मादि पाँचों अमृत-कलाओं से विश्व का निर्माण करता है, एवं मर्त्या प्रकृति, किंवा उस एक ही प्रकृति का मृत्युभाग अपनी ब्रह्मादि पाँचों मर्त्य-कलाओं से विश्वरूप में परिणत होता है। प्रकृति का उक्त पञ्चकल अमृतभाग ही अविकुर्वाण होने से अक्षर (क्षीण न होने वाला) नाम से, एवं पञ्चकल मृत्युभाग ही विकुर्वाण होने से "क्षर" (क्षीण होने वाला) नाम से प्रसिद्ध है।

उक्त कथनानुसार अक्षर अमृत है, क्षर मर्त्य है। वस्तुतस्तु क्षर को भी मर्त्य मानना एक दृष्टि से असङ्गत ही है। थोड़ी देर के लिए अक्षर की दृष्टि से क्षर को भले ही मर्त्य मान लिया जाय, परन्तु विकारस्वरूप वैकारिक विश्व की अपेक्षा से तो अन्तरङ्गप्रकृतिभूत यह क्षर भी एक प्रकार से 'अक्षर" ही है। विश्व में जितने भी उपादान कारण हैं, वे कार्य्यरूप में परिणत होकर

त्मक विसर्ग (:) पद वाक्यादि के अवसान का स्वरूप समर्पक बन रहा है। रसबल के सम्बन्ध से मन मे दोनों वृत्तियों हैं—'उभयात्मकं मनः'। अतएव उभयात्मक मन से निकलने वाली कामना भी दो ही भागो में विभक्त हो जाती है। बलगर्भिता रसानुग्राहिणी कामना बन्धनविमोक का कारण बनती हुई "मुमुक्षा" (मुक्ति की इच्छा) नाम से व्यवहृत होती है, एवं रसगर्भिता बलानुग्राहिणी कामना सृष्टिबन्धन का कारण बनती हुई—"सिसृक्षा" (सृष्टि की इच्छा) नाम धारण कर लेती है। इस प्रकार उस पुरुष में 'बनाऊं-बिगाडूं' प्रधानरूप से इन दो कामनाओं का ही समावेश रहता है। सम्पूर्ण विश्व के प्राणी भी उक्त दोनो कामनाओं से अतिरिक्त तीसरी कामना नहीं कर सकते। क्योंकि जिस के ये अंश हैं, उस अंशी में ही तीसरी कामना का सर्वथा अभाव है। मन ने इच्छा की, परन्तु रसबल के अतिरिक्त और वहां है क्या। फलतः कामुक पुरुष इच्छा द्वारा इन्हीं का अपने ऊपर चयन करने लगता है। रसानुग्राहिणी कामना से इस पर 'रसचिति' होती है, बलानुग्राहिणी कामना से 'बलचिति' होती है। रसचिति में बल गौण है, बलचिति में रस गौण है। रसचिति में उत्तरोत्तर रस की वृद्धि है। एक स्थिति ऐसी है, जिस में बल सर्वथा तिरोहित हो रहा है, वहां रसमात्र की प्रतीति है। इसी प्रकार बलचिति मे उत्तरोत्तर बल की वृद्धि है। स्थिति विशेष में रस सर्वथा तिरोहित है, वहां बलमात्र की प्रतीति है। इस प्रकार रसबल की चिति के तारतम्य से १-बलगर्भितारसचिति, २-बलतिरोभावलक्षणारसचिति, ३-रसगर्भिताबलचिति, ४-रसतिरोभावलक्षणाबलचिति, भेद से उस काममय ऐन्द्रस्थ मन पर चार चितियाँ हो जाती हैं। मन के रस भाग पर दोनों रसचितियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं, इन पर मुमुक्षा बल का अनुग्रह रहता है। मन के बलभाग पर दोनों बल-चितियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं, इन पर सिसृक्षा बल का अनुग्रह रहता है। पहिली रसचिति 'विज्ञान' नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञान में बल भी है, परन्तु रस की प्रधानता है। दूसरी रसचिति 'आनन्द' नाम से प्रसिद्ध है। इस मे बल एकान्तत सुप्त है। संसार में इन दोनों चितियों की अप्रधानता है, विश्व में ये दोनों अन्तर्मुख रहती हैं, अतएव इन दोनों चितियों की समष्टि को 'अन्तश्चिति' कहा जाता है। तीसरी बलचिति 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। यही पहिली बल-चिति है। प्राण में बल के साथ रस भी है, अतएव यहां क्रियाभाव का उदय रहता है। चौथी बलचिति 'वाक्' नाम से प्रसिद्ध है। यही दूसरी बलचिति है। यहां रस सर्वथा सुप्त है। अतएव वाक्तत्त्व अर्थशक्ति का अधिष्ठाता बनता हुआ जडकोटि में मान लिया जाता है। विश्वरचना मे इन्हीं दोनो बलचितियों की प्रधानता है। दोनों बहिर्मुख हैं। अतएव इन दोनों की समष्टि को

'वहिश्चिति' कहा जाता है। आनन्दविज्ञानमयी अन्तश्चिति मनोमय अव्यय का विद्याभाग है, इसी से आगे जाकर पराविद्यालक्षण अक्षर तत्त्व का विकास होता है। इस विद्याभाग में रस की ही प्रधानता रहती है। प्राणवाङ्मयी वहिश्चिति अव्यय का कर्म्मभाग है, किंवा अविद्याभाग है। इसी से आगे जाकर अपराविद्यालक्षण क्षरतत्त्व का विकास होता है। इस कर्म्मभाग में बल की ही प्रधानता है। विद्याभाग अमृतप्रधान (रसप्रधान) होता हुआ सत् है, कर्म्मभाग मृत्युप्रधान (बलप्रधान) होता हुआ असत् है। अमृतमृत्युलक्षण सदसत् की समष्टिरूप विद्याकर्म्म-समुच्चय ही अव्ययपुरुष का वास्तविक स्वरूप है—'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' (गी० ९। १९)। मध्यस्थित स्वयं मन काममय है। इस प्रकार रस बलके तारतम्य से यह प्रविष्टब्रह्म 'विद्यात्मा-कामात्मा-कर्म्मात्मा' इन तीन कलाओं में परिणत होता हुआ १आनन्द-२-विज्ञान, ३-मन-४-प्राण, ५-वाक्' भेद से पञ्चकल बनजाता है। चिति सम्बन्ध से ही यह पञ्चकल अव्यय पुरुष शारीरकदर्शनादि में 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। मध्यस्थित उभयात्मक मन मुमुक्षाबल की प्रधानता से विज्ञान की ओर जाता हुआ आनन्दप्राप्ति का कारण बन कर मुक्ति का अधिष्ठाता बन जाता है, एवं सिसृक्षाबल की प्रधानता से प्राण की ओर जाता हुआ वाक् प्राप्ति का कारण बनकर सृष्टिबन्धन का हेतु बन जाता है। मन ही बन्धन का कारण है, मन ही मुक्ति का कारण है। इसी अभिप्राय से अभियुक्त कहते हैं—

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप !
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥

अव्यय पुरुष की उक्त पांचों कलाएँ उपनिषदों में 'कोशब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हैं—(देखिए तै० उप० ब्रा० २)। मोद-प्रमोद-हर्ष-उल्लास-स्मितभाव-आदि संसार के सम्पूर्ण आनन्द अव्यय के 'आनन्दमयकोश' में प्रतिष्ठित हैं। मति-धिषणा-प्रज्ञा-धी-आदि जितने भी विज्ञान हैं, सब की प्रतिष्ठा 'विज्ञानमयकोश' है। प्रज्ञानमन-इन्द्रियमन-सत्त्वमन-चित्त-आदि जितने मन हैं, सब की प्रतिष्ठा 'मनोमयकोश' है। परोरजा--अप्सु--वालखिल्या--अरकाश--स्तृन्-एकर्षि-द्व्यर्षि-सप्तर्षि-साकञ्ज-आदि भेद भिन्न सब प्राणों की मूलप्रतिष्ठा 'प्राणमयकोश' है। यच्चयावत् अन्नों की प्रतिष्ठा 'वाङ्मयकोश' है। उपनिषत् ने इस पांचवें कोश को ही 'अन्नमयकोश' कहा है। इन पांचो कोशों में, किंवा विज्ञानभाषानुसार पांचों चितियों में अव्ययात्मा एक

रूप से व्याप्त रहता है, जैसा कि—"तस्यैष एव शारीरात्मा यः पूर्वस्य" (तै० उप० ब्रा० २) इत्यादिरूप से उपनिषत् में ही स्पष्ट कर दिया गया है। यह है अमृतसंस्था के मूलस्तम्भरूप पञ्चकल अव्यय पुरुष का संक्षिप्त निदर्शन।

अव्ययपुरुष पुरुष है। "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि"(गी० १३ १६) इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार पुरुष अपनी स्वभावभूता प्रकृति के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भेद से प्रकृतितत्त्व दो भागों में विभक्त है। इन दोनों में से अन्तरङ्ग प्रकृति के साथ ही पुरुष का नित्यसाहचर्य,उक्त वचन से बतलाया गया है। यही अन्तरङ्गप्रकृति अव्ययपुरुष का "स्व"—भाव है। बहिरङ्गप्रकृति बदली जा सकती है, स्वयं भी बदल जाती है, परन्तु स्वभावभूता अन्तरङ्गप्रकृति का विपर्य्यय कथमपि सम्भव नहीं है। इसी प्रकृतिविज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

दशकल-प्रकृतिब्रह्म—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ (गी० ३। ३३)

पूर्वोक्त सोलह बलकोशों में एक "हृदय"नाम के बलकोश का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही में यह भी कहा गया है कि, मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही मायावच्छिन्न, अतएव परिच्छिन्न उस रसबलमूर्त्ति ब्रह्म में हृदय (केन्द्र) भाव का उदय हो जाता है। इस प्रकार केन्द्रबल, तथा मायापुर सम्बन्ध से पुरुष नाम से प्रसिद्ध अव्यय ब्रह्म, दोनों का विकास एक ही काल में होता है। दोनों के पूर्वापरभाव की चर्चा ही अवैज्ञानिक है। इसी सहोदित केन्द्रबल को, किंवा हृच्छक्ति को महर्षियों ने "प्रकृति" नाम से व्यवहृत किया है। जिस प्रकार अव्ययपुरुष में रसबल के तारतम्य से आगे जाकर पांच कलाओं का उदय हो जाता है, एवमेव रसबल के ही तारतम्य से इस हृदयरूपा प्रकृति के भी पांच विवर्त्त हो जाते हैं। हृदयबल बल है, क्रियारूप है, गतिस्वरूप है। इस गति की ही 'स्थिति आगति-गति-स्थितिगर्भितागति-स्थितिगर्भिता-आगति' ये पांच अवस्थाएँ हो जाती हैं। उक्थरूप से हृच्छक्ति स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहती है। अर्करूप से हृच्छक्ति के दो विकास होते हैं। एक शक्ति निरन्तर इस प्रतिष्ठा को उच्छिन्न करने में प्रयत्नशील बनी रहती है, एक शक्ति निरन्तर प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठित रखने का प्रयास करती रहती है। आगे जाकर इन दोनों स्वतन्त्र विकासों का उसी मूलप्रतिष्ठा के साथ ग्रन्थिबन्धन हो

जाता है। एक शक्ति प्रतिष्ठा से बद्ध होकर निरन्तर बाहिर निकला करती है, एवं एक शक्ति प्रतिष्ठायुक्त बनी हुई निरन्तर भीतर की ओर आया करती है। ये ही पाचों शक्तिविभाग 'गतिसमुच्चय-(स्थिति), विशुद्धआगति, विशुद्धगति, स्थितिगर्भिताआगति, स्थितिगर्भितागति इन नामों से व्यवहृत किए जा सकते हैं। जिसे आप स्थिति कहते हैं, वह गतिसमुच्चयमात्र है। सर्वतोदिग्गति, किंवा समानबलानुयायिनी विरुद्धदिग्द्वयगति ही स्थितिरूप में परिणत होती है। इसी स्थितितत्त्व को, किंवा प्रतिष्ठातत्त्व को "१ब्रह्मा" कहा जाता है। आगतितत्त्व २' विष्णु' है, गतितत्त्व ३"इन्द्र" है, स्थितिगर्भिता आगति ४"सोम" है, एवं स्थितिगर्भिता गति ५'अग्नि' है। इस प्रकार गतितारतम्य से गतिरूप हृदयभावमयी एक ही प्रकृति पाँच रूप धारण कर लेती है। "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया" (गी० ४।६।) के अनुसार पञ्चधा विभक्त स्वभावभूता इसी प्रकृति के द्वारा सर्वथा आज अव्यय को निरवका आलम्बन बनना पड़रहा है।

पूर्व में कहा जाचुका है कि, सर्वत्र अमृत-मृत्यु लक्षणा रस-बल का ही साम्राज्य है। दो से भिन्न तीसरे तत्त्व का सर्वथा अभाव है। साथ ही में दोनो सर्वत्र अभिन्न रूप से ही प्रतिष्ठित रहते हैं। फलतः उक्त प्रकृति में भी इन्हीं दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। प्रकृति में अमृत भी है, मृत्यु भी है। अमृत मृत्यु की प्रधानता-अप्रधानता के कारण इस एक ही प्रकृति के दो रूप हो जाते हैं। बलगर्भिता रसप्रधाना प्रकृति 'अमृत" है। रसगर्भिता बलप्रधाना प्रकृति"मृत्यु" है। अमृतभाग अविकुर्वाण है, मृत्युभाग विकुर्वाण है। प्रकृति का अमृतभाग, प्रकृति का मर्त्यभाग, दोनों अविनाभूत हैं। अतएव दोनों में ही ब्रह्मादि उक्त पाँचों कलाओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है। अमृता प्रकृति, किंवा प्रकृति का अमृतभाग अपनी ब्रह्मादि पाँचों अमृत-कलाओं से विश्व का निर्म्माण करता है, एवं मर्त्या प्रकृति, किंवा उस एक ही प्रकृति का मृत्युभाग अपनी ब्रह्मादि पाँचों मर्त्य-कलाओं से विश्वरूप में परिणत होता है। प्रकृति का उक्त पञ्चकल अमृतभाग ही अविकुर्वाण होने से अक्षर (क्षीण न होने वाला) नाम से, एवं पञ्चकल मृत्युभाग ही विकुर्वाण होने से "क्षर" (क्षीण होने वाला) नाम से प्रसिद्ध है।

उक्त कथनानुसार अक्षर अमृत है, क्षर मर्त्य है। वस्तुवस्तु क्षर को भी मर्त्य मानना एक दृष्टि से असङ्गत ही है। थोड़ी देर के लिए अक्षर की दृष्टि से क्षर को भले ही मर्त्य मान लिया जाय, परन्तु विकारक्षररूप वैकारिक विश्व की अपेक्षा से तो अन्तरङ्गप्रकृतिभूत यह क्षर भी एक प्रकार से 'अक्षर" ही है। विश्व में जितने भी उपादान कारण हैं, वे कार्य्यरूप में परिणत होकर

अपने कारणस्वरूप को खो बैठते है। लौह जंग का कारण है, दुग्ध शर (थर-मलाई) का कारण है, शुक्रशोणित की समष्टि प्रजोत्पत्ति का कारण है। किसी समय सारा लौह जंग बन जाता है, सारा दुग्ध थर रूप में परिणत हो जाता है; प्रजोत्पत्ति के अनन्तर तत्कारणभूत शुक्रशोणित सदा के लिए स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाते हैं। अब आप प्रयास करने पर भी लौह-दुग्ध शुक्रशोणित को कारणस्वरूप में प्राप्त नहीं कर सकते। उक्त क्षर उपादान कारण अवश्य है, परन्तु इस को उपादान कारणता ऐसी नहीं है। क्षर से अनन्त विकार उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु वह उसी स्वरूप से अक्षुण्ण बना रहता है। इसी को दर्शन भाषा में 'अविकृतपरिणामवाद' कहा गया है। क्षर की इसी अविकृत उपादानता को लक्ष्य में रख कर ही श्रुति कहती है—

एष नित्यो महिमा *ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्।
तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न कर्म्मणा लिप्यते पापकेन॥

—शत० १४।७।२।२८

जिस प्रकार अव्यय, अक्षर, नित्य हैं, विश्व विकारों से जैसे ये दोनों असंसृष्ट रहते हैं, एवमेव यह क्षर (आत्मक्षर) विकार उत्पन्न करता हुआ भी विकारों से असंसृष्ट रहता हुआ आत्मकोटि में प्रविष्ट होता हुआ अव्ययाक्षरकोटि में आजाता है। अतएव वैज्ञानिकों ने अन्तरङ्ग प्रकृतिभूत क्षर को 'आत्मक्षर' नाम से व्यवहृत किया है। अक्षर, एवं आत्मक्षर पूर्वकथनानुसार अव्ययपुरुष से अविनाभूत है। दूसरे शब्दो में अव्ययपुरुष का पुरुषपना इन्हीं दोनों पर निर्भर है। कारण स्पष्ट है। हृदय ही प्रकृति का वास्तविक स्वरूप है, एवं हृत्प्रतिष्ठ काममय मन ही आनन्दादि चितियों का कारण बनता हुआ इस चिदात्मा का स्वरूप समर्पक बनता है। अतएव प्रकृति को पुरुष मर्य्यादा से बहिर्भूत होने पर भी पुरुषस्वरूप-समर्पकता के कारण— "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' (गीता १५।१६) इत्यादि रूप से पुरुष मान-

---

* विज्ञान परिभाषा के अनुसार जैसे अव्यय 'पर' नाम से, अक्षर 'अमृत' नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव कुछ एक विशेष स्थलों को छोड़ कर सर्वत्र 'ब्रह्म' शब्द क्षर का ही वाचक है। क्षर का विकास अक्षर से हुआ है, क्षर ब्रह्म है, अतएव "ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्" (गीता ३।१५) यह कहा गया है। अपिच, इसीलिए "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च" (गीता १४।२७)। यहाँ पर अक्षर के लिए अमृत शब्द, क्षर के लिए ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। उक्त श्रुति का "ब्रह्म" शब्द भी इसी क्षर का वाचक है।

लिया जाता है। अक्षरतत्त्व अव्यय की पराप्रकृति है, क्षरतत्त्व अपराप्रकृति है। समष्टि अन्तरङ्गप्रकृति है, स्वभाव है।

आनन्द-विज्ञानादि अव्यय की जिन पाँच कलाओं का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उन में आनन्द-विज्ञान-मन को मुक्तिसाक्षी कहा गया है, एवं मनःप्राणवाक् समष्टि को सृष्टिसाक्षी बतलाया गया है। अभी हमें सृष्टिधारा का विचार करना है। आनन्द-विज्ञानादि सृष्टि में गौण है। सृष्टिप्रक्रिया में सर्वत्र सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाङ्मय अव्यय की ही प्रधानता है। इसी दृष्टि को प्रधान मान कर विचार कीजिए। अव्यय मनोमय (मनोघन-मनरूप) है, प्राणमय है, वाङ्मय है। 'सामान्ये सामान्याभावः' इस सिद्धान्त के अनुसार मन में मन नहीं, प्राण में प्राण नहीं वाक् में वाक् नहीं। अतएव अव्यय अमना है, अप्राण है, अतएव सृष्टि से बहिर्भूत है। मनस्वी-प्राणवान्-वाग्मी तत्त्व ही सृष्टि कर सकता है। ऐसा है पूर्वोक्त अक्षर। अक्षरतत्त्व अव्यय के मन से सर्वज्ञ है, प्राण से सर्वशक्तिमान है, वाक् से सर्ववित् है। एतल्लक्षण अक्षर ही विश्वकर्त्ता विश्व का निमित्त कारण) माना गया है। यही अक्षर 'अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुः' इत्यादि रूप से अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध है। अक्षर के इसी सृष्टिकर्तृत्व का निरूपण करती हुई श्रुति-स्मृति कहती है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथा ऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ १ ॥

—मुण्डकोपनिषत् २-१-१

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥ २ ॥

—मुण्डकोपनिषत् १-१-६

अव्यक्तादीनि भूतानि—व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव— तत्र का परिदेवना ॥ ३ ॥

—गीता २-२८

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ ३ ॥

—गीता ८-१८

मनोऽवच्छेदेन अव्यय ज्ञानशक्तिघन है, प्राणावच्छेदेन क्रियाशक्तिघन है, वागवच्छेदेन अर्थशक्तिघन है। इन तीनों का ही यद्यपि अक्षर के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है, परन्तु और भी सूक्ष्म विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि, ज्ञानशक्तिमूर्ति मन की पूर्ण विकास भूमि अव्यय ही है। क्रियाशक्तिमूर्त्ति, अतएव गतिरूप प्राण की पूर्णविकास भूमि अक्षर ही है। एवं अर्थशक्तिमूर्त्ति वाक्तत्त्व की पूर्णविकासभूमि क्षर ही है। दूसरे शब्दों में अव्यय ज्ञानप्रधान है, अक्षर क्रियाप्रधान है, एवं क्षर अर्थप्रधान है। ज्ञानमूर्त्ति अव्यय भी निष्क्रिय है, अर्थमूर्त्ति-क्षर भी जड़धर्म्म के कारण निष्क्रिय ही है। सक्रिय है एकमात्र मध्यस्थित प्राणमूर्त्ति अक्षर सृष्टि-व्यापार सापेक्ष है, व्यापार क्रिया है। क्रिया एकमात्र सक्रिय अक्षर का ही धर्म्म है। अतः तीनों पुरुषों में से अव्यक्तमूर्त्ति अक्षर पुरुष का ही सृष्टिकर्त्तृत्व सिद्ध होता है। मध्यस्थित अक्षर उस ओर से अव्यय की ज्ञानविभूति को लेकर सर्वज्ञ बना हुआ है, इस ओर से क्षर की अर्थ-विभूति को लेकर सर्ववित् बना हुआ है। स्वप्राणशक्ति से **तपोमूर्त्ति** बना हुआ है। इतर दोनों पुरुषविभूतियों का इस में समन्वय हो रहा है। अतएव *देहलीदीपकन्याय से मध्यस्थ अक्षर-ज्ञान से त्रिपुरुषज्ञान गतार्थ हो जाता है। अक्षर की इसी सर्वता को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

> एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
> एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १ ॥
>
> —कठोपनिषत् १-२-१६
>
> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
> क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ २ ॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् २-२-८।

"ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध क्षर भी यही अक्षर है, पर नाम से प्रसिद्ध अव्यय भी यही अक्षर है। ब्रह्म-पर (क्षराव्यय) की विभूति से युक्त परावर नाम से प्रसिद्ध इसी अक्षर ज्ञान से सब कुछ विज्ञात हो जाता है— "एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति"। जिस प्रकार अव्यय

---

* द्वार की देहली में यदि दीपक रख दिया जाता है, तो द्वार के भीतर भी प्रकाश रहता है, द्वार के बाहिर भी प्रकाश रहता है। इसी को 'देहलीदीपकन्याय' कहा जाता है।

अक्षर से परे होने के कारण 'पर' नाम से, क्षरपुरुष अक्षर से इस ओर (अवरकक्षा में) प्रतिष्ठित रहने के कारण 'अवर' नाम से प्रसिद्ध है। एवमेव अवरक्षर की अपेक्षा से पर, एवं पर अव्यय की अपेक्षा से अवर होने के कारण मध्यस्थित यह अक्षर "परावर" नाम से प्रसिद्ध है। इस परावरमूर्त्ति, अतएव त्रिमूर्त्ति, अतएवच सर्वमूर्त्ति अक्षर के यथार्थ परिज्ञान से हृद्ग्रन्थि टूट जाती है, सारे सन्देह निवृत्त हो जाते हैं, सम्पूर्ण कर्म्मबन्धन विलीन हो जाते हैं' उक्त दोनों श्रुतिवचनों का यही तात्पर्य्य है।

पञ्चकल अव्ययपुरुष सृष्टि का, किंवा सृष्टब्रह्म (विश्व) का आलम्बन—(अधिष्ठान-आयतन) कारण है, पञ्चकल अक्षर निमित्तकारण है, एवं पञ्चकल आत्मक्षर उपादानकारण है। दूसरे शब्दों में आनन्दविज्ञानमनोमय मुक्तिसाक्षी विद्यात्मक अव्यय स्थिर धरातल है, सृष्टि के लिए मूलप्रतिष्ठा है। मनप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी कामात्मगर्भित कर्म्मात्मक अव्यय गतिस्थितिमत् कुलालचक्र (कुम्हार का घूमता हुआ चक्र) है। अक्षर कुम्भकार है, क्षर मिट्टी है। इस प्रकार 'मुक्तिसाक्षीरूप स्थिर धरातल पर, सृष्टिसाक्षीरूप चलाचलचक्र पर, अक्षररूप कुम्भकार, क्षररूप मिट्टी से विश्वरूप घटादि पात्रों का निर्म्माण किया करता है। मानों त्रिभुवन विधाता प्रजापति घटनिर्म्माता कुम्भकार के साथ प्रतिस्पर्द्धा कर रहा है

इस प्रकार उस महामाया के गर्भ में रस-बल के तारतम्य से वह मायी महेश्वर 'पुरुष-प्रकृति' इन दो विवर्तों में परिणत होता हुआ 'अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर' भेद से त्रिमूर्त्ति बन कर स्व स्व कलाभेद से पञ्चदशकल (१५) बन रहा है। इन

षोडशकल अमृतब्रह्म—

पन्द्रहों के साथ उस मायातीत अखण्ड परात्पर कला का भी समन्वय स्वतः सिद्ध मानना पड़ता है। इस परात्पर के सम्बन्ध से ही पञ्चदशकल पुरुष 'षोडशकल' बन जाता है। इन्हीं सोलह कलाओं के सम्बन्ध से इसे 'षोडशीपुरुष', किंवा 'षोडशीप्रजापति' कहा गया है। इन सोलह कलाओं को १-परात्पर—२अव्यय—३अक्षर ४आत्मक्षर, इन चार स्थूल विभागों में विभक्त किया जा सकता है। इसी आत्मचतुष्टयी के आधार पर "षोडशकलं वा इदं सर्वम्" (कौषीतकिब्रा० ८-१), "चतुष्टयं वा इदं सर्वम्" (कौषीतकिब्रा० ७-१), "षोडशकलं वै ब्रह्म" (जै०उ० ३-८-८)-' षोडशकलः प्रजापतिः" (शत० ७-७-२-१७) इत्यादि अनुगम-निगम वचन प्रतिष्ठित हैं।

समाज में सब से बड़ा मृत्युबन्धन है। बन्धन ही मृत्यु देवता का प्रधान पाश है। भक्तों के रहस्य को बतलाते हुए हमें विवश होकर कहना पड़ता है कि, सम्पूर्ण विश्व प्रजा को मृत्यु पाश में बद्ध रखने वाला स्वयं मायी महेश्वर किंवा विश्वेश्वर भी मृत्युपाश से पृथक् नहीं है। महामाया का महाबन्धन ही उस का महतो महीयान् मृत्युपाश है। इसी मायामय मृत्युपाश से उस अखण्ड अमात्र को 'अव्यय अक्षर क्षर' इन तीन मृत्युमात्राओं में परिणत होना पड रहा है। एक आत्मा का यह त्रित्व भाव ही इस के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, सृष्टिकाल में वह अवश्य ही मृत्युभाव से आक्रान्त है। जब तक यह महामाया आवलित है, तब तक वह अवश्य ही उक्त तीन मृत्युमात्राओं से युक्त रहता है। मायाबल के तिरोहित होने पर ही वह पुनः अपने उस एक अखण्ड परात्परस्वरूप में आता है। इन्हीं दोनों अवस्थाओं के लिए—'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयं, त्रयं सदेक-मयमात्मा' (शत० १४ ४ ४ ३) यह कहा गया है। जिस अमात्र अखण्ड तत्त्व की ये (अव्यय अक्षर-क्षर) तीन मृत्युमती मात्राएँ हैं, वही चौथा परात्पर है। अर्द्धप्रदेश में ये तीन मर्त्य मात्राएँ हैं, अर्द्ध में यह एक है, अतएव उसे (परात्परको) अर्द्धमात्रा कहा जाता है। यह अर्द्धमात्रिक तत्त्व माया विरहित (किन्तु त्रिपुरुषदृष्ट्या मायासाक्षी) होने से व्यापक होता हुआ सर्वथा नित्य है, अनुच्चार्य है। अर्द्धमात्रिक का यह अर्थ नहीं है कि, उस कि आधी मात्रा है। जितने धरातल पर तीन मनुष्य प्रतिष्ठित रहते हैं, उतने धरातल पर एक प्रतिष्ठित है अर्द्धमात्रिक का यही तात्पर्य्य है। जितने प्रदेश में तीन पुरुष प्रतिष्ठित हैं, उस सारे प्रदेश में वह व्याप्त हो रहा है। अमात्रिक ही प्रकृत में अर्द्धमात्रिक शब्द से व्यवहृत हुआ है। यहां सारा प्रपञ्च उपशान्त है। यही वस्तुतत्त्व है। इसी त्रिमात्र विज्ञान को लक्ष्य में रखकर महर्षि पिप्पलाद कहते हैं—

प्राणब्रह्म के चार पाद—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ता ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ १ ॥

—प्रश्नोपनिषत् ५ ६ ।

इसी अमात्रिक, व्यवहार के लिए अर्द्धमात्रिक, त्रिमात्रातीत कला का स्पष्टीकरण करता हुआ रहस्य शास्त्र कहता है—

अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ।
त्वमेव सा त्वं सावित्री त्वं देवी जननी परा ॥ (सप्तशती)

उक्त चतुष्कल आत्मब्रह्म की उपासना का मुख्य आधार है—'प्रणव'। मायीमहेश्वर का वाचक प्रणव ('ओङ्कार') ही है। शब्दब्रह्मप्रपञ्च में जो स्वरूप ओङ्कार का है, परब्रह्म विवर्त्त में यही स्वरूप "मायीमहेश्वर" का है। इसी अभिप्राय से 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मुण्डकोपनिषत् २-२-६) यह कहा गया है। ओङ्कार में '१अर्द्धमात्रा–२अकार–३उकार ४मकार' ये चार विभाग हैं। कितने ही अवैज्ञानिकों ने अर्द्धमात्रा से ओङ्कार के ऊपर लगने वाले ँ इस चिन्ह का ग्रहण किया है। विज्ञान न जानने के कारण उन का यह अपराध क्षम्य है। अर्द्धमात्रा को अनुच्चार्य बतलाया है, उधर ँ इस चिन्ह का उच्चारण से सम्बन्ध है। फलत. अर्द्धमात्रा किसी अनिर्वचनीय व्यापक ब्रह्म की ही निरूपिका बन जाती है। यह अर्द्धमात्रा विशुद्ध अमृतभाग है। 'अकार-उकार-मकार', ये तीनों शब्दसृष्टि के आदि-मध्य-अवसान स्थान हैं। अस्पृष्ट–स्पृष्टास्पृष्ट–स्पृष्ट–इन तीनों भावों का क्रमशः अकार–उकार–मकार से सम्बन्ध है। अकार मूलस्थानीय है, उकार मध्यस्थानीय है, मकार अन्तस्थानीय है। अकारोच्चारण में कण्ठ-ताल्वादि का किञ्चित् भी संसर्ग नहीं है। यह सर्वथा अस्पृष्ट रहता हुआ ही उच्चारण का विषय बनता है। बस जो स्थान शब्दब्रह्म में 'अकार' का है, परब्रह्म संस्था में वही स्थान 'अव्यय' का है। अव्यय विश्व में प्रतिष्ठित रहता हुआ भी असङ्ग है, असस्पृष्ट है। इसी समानधर्म्म के कारण अकार को अव्यय का वाचक माना गया है। आप अकार का ओष्ठ (होठ) से उच्चारण कीजिए, परन्तु होठों को बिलकुल न मिलाइये, केवल उन को सिकोड़ लीजिए, वही अकार उकार रूप में परिणत हो जायगा। अकार का विकास कम होजाना ही उकार की स्वरूप निष्पत्ति है। सर्वथा विकास, सर्वथा संसर्ग न होने से उकार स्पृष्टास्पृष्ट है। यही स्थिति आप को अक्षर में मिलेगी। ज्ञानमूर्त्ति अव्यय सर्वथा विकासरूप है। उस का क्रियाभाव ही अक्षर है। क्रिया में सर्वथा जड़ता भी नहीं है, एवं ज्ञानवत् पूर्णविकास भी नहीं है। जो स्थिति शब्दब्रह्म में उकार की है, परब्रह्म संस्था में वही स्थिति मध्यस्थ अक्षर की है। अतएव उकार को अक्षरपुरुष का वाचक माना गया है। दोनों होठों को मिला कर जिस समय आप उकारोच्चारण करने का प्रयास करेंगे, उस समय वह उकार ही मकार रूप में परिणत हो जायगा। यहां स्पर्श की पराकाष्ठा है। यद्यपि प–फ–ब–भ– ये भी ओष्ठ से ही सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु मकार में पूर्ण स्पर्श की प्रतीति होती है। इधर क्रियामूर्त्ति अक्षर ही अर्थरूप में आकर सर्वथा स्पृष्ट बनता हुआ क्षररूप में परिणत हो जाता है। "ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्"। शब्दसृष्टि में जो स्थिति मकार की है, परब्रह्म संस्था में वही स्थिति अर्थमूर्त्ति, अतएव सर्वथा स्पृष्ट क्षर की है। अतएव मकार को क्षर का वाचक माना गया है।

'वाग्ब्रह्म' के परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी ये चार विवर्त्त माने गए हैं। इन चारों में परा का सम्बन्ध अर्द्धमात्रिक परात्पर से है, पश्यन्ती का अकारसधर्म्मा अव्यय से, मध्यमा का उकारसधर्म्मा अक्षर से, एवं वैखरी का मकारसधर्म्मा क्षर से सम्बन्ध है। इन चारों में जिस प्रकार वैखरीवाक् का सब समानरूप से व्यवहार करते हैं, एवमेव आत्मा की चारों संस्थाओं में से हमें पूर्णज्ञान वैखरीवाक्स्थानीय विश्वरूप क्षर का ही है। वाक्प्रपञ्च के'परा-पश्यन्ती मध्यमा' ये तीन विवर्त्त जैसे गुहानिहित हैं, एवमेव आत्मप्रपञ्च के 'परात्पर-अव्यय-अक्षर' ये तीनों विवर्त्त अस्मदादि साधारण मनुष्यों के लिये गुहानिहित ही हैं। इसी वाग्विज्ञान से आत्मविज्ञान की ओर सङ्केत करती हुई श्रुति कहती है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

—ऋक्सं० १-१६४-४७

| शब्दब्रह्म ——→ | | परब्रह्म | | |
|---|---|---|---|---|
| १—१—अर्द्धमात्रा ——→ | पराचाक् ——→ | परात्पर | | ओङ्कारः |
| | —०— | | | |
| २—१—अकारः ——→ | पश्यन्तीवाक् ——→ | अव्ययः | | |
| ३—२—उकारः ——→ | मध्यमावाक् ——→ | अक्षरः | | |
| ४—३—मकारः ——→ | वैखरीवाक् ——→ | आत्मक्षर | | |

द्वे वाव ब्रह्मणी रूपे शब्दब्रह्म-परं च यत्।
शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म के इसी तादात्म्य को लक्ष्य में रखकर निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुतियाँ हमारे सामने आती हैं।

तस्मै स होवाच—एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म, यदोङ्कारः।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति । स यद्येकमात्राममिध्यायीत, स

तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभि सम्पद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते । स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति । अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते, सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सोमलोकम् । स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते । यः पुनरेतं त्रिमात्रेणैवोमित्येतनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये संपन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते, एवं ह स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम् । स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते । तदेतौ श्लोकौ भवतः—

+ + + × + + × + + + + ॥ १ ॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत् कवयो वेदयन्ते ।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥ २ ॥

—प्रश्नोपनिषत् ५-३, ४, ५, ६ ।

"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं, तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं—तदप्योङ्कार एव । सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म । सोऽयमात्मा चतुष्पात् । जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् वैश्वानरः प्रथमः पादः । स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः । यत्र सुप्तो न कश्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत् सुषुप्तम्, सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः । एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्यामी, एष योनिः सर्वस्य । प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् । नान्तःप्रज्ञं, न बहिःप्रज्ञं, नोभयतःप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञं, अदृष्टं, अव्यवहार्यं, अग्राह्यं, अलक्षणं, अचिन्त्यं, अव्यपदेश्यं, ऐकात्म्यप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमं, शान्तं, शिवं, अद्वैतं, चतुर्थं मन्यन्ते—स आत्मा विज्ञेयः । सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्राः, मात्राश्च पादा अकार—उकार-मकार-इति । अकार- प्रथमा मात्रा, उकारो द्वितीया मात्रा, मकारस्तृतीया मात्रा । अमात्रश्चतुर्थोऽव्यव-

हार्य प्रपञ्चोपशम शिवोऽद्वैतः । एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं-य एवं वेद" ।—माण्डूक्योपनिषत्

शैव्य सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया है कि, भगवन् ! ओङ्कार के अभिध्यान से मनुष्य किस प्रकार लोकविजय करने में समर्थ हो जाता है ? । इसी प्रश्न का समाधान करते

अमृतात्मस्वरूपपरिचय—

हुए ऋषि कहते है—हे सत्यकाम ! यह ओङ्कार ही परब्रह्म है, ओङ्कार ही अपरब्रह्म है । इस रहस्य को जानने वाला इन्हीं मार्गों में से किसी एक मार्ग का आश्रय लेता है । 'परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर'—इन चारों की प्राप्ति के क्रमशः 'अर्द्धमात्रा-अकार उकार-मकार' ये चार 'साधन हैं । इन में तीन पुरुषों का क्रमशः 'मनुष्यलोक, सोमलोक (पितृलोक), ब्रह्मलोक' इन तीनों [illegible] सम्बन्ध है । क्षरप्रधान ऋङ्मूर्त्ति पृथिवीलोक मनुष्यलोक है, यह वाक्प्रधान होता हुआ अर्थप्रधान है । अक्षरप्रधान यजुर्मूर्त्ति अन्तरिक्षलोक (जो कि चन्द्रमा के सम्बन्ध से सोमलोक कहलाता है) पितृलोक है, यह प्राणप्रधान होता हुआ क्रियामूर्त्ति है । अव्ययप्रधान साम–(अवसान अन्तिम प्रतिष्ठारूप)–मूर्त्ति दिव्यलोक (सूर्यलोक) ब्रह्मलोक है । यह मन प्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्त्ति है । चौथा परात्पर लोक वेदातीत है । एक एक कला की उपासना करने वाला उपासक एक एक लोक विभूति का उपासक बनता है । मकार पर प्रधान लक्ष्य रखता हुआ कर्मठ तत्सम आत्मक्षर का साक्षात्कार करता हुआ तपो ब्रह्मचर्य श्रद्धा से युक्त होकर भौतिक सम्पत्ति से पूर्ण समृद्ध हो जाता है । क्योंकि भूत की योनि मकारस्थानीय ऋङ्मय आत्मक्षर ही है । उस का भौतिक जगत् पर पूर्ण आधिपत्य हो जाता है । जिस का लक्ष्य मकार उकार, इन दो मात्राओं पर रहता है, वह उपासक तत्सम अक्षर का साक्षात्कार करता हुआ चान्द्रविभूतियों का भोग करने में समर्थ होता है । विभूतिभोगानन्तर पुनः उसे जन्म लेना पड़ता है । जो महापुरुष समष्टि की उपासना करता है, वह अपनी, किंवा आत्मा की अव्ययपुरुष को प्राप्त करता हुआ सारे पाप्माओं से (जन्ममरणचक्र से) उसी प्रकार विमुक्त हो जाता है, जैसे कि एक पादोदर (सर्प) अपनी त्वचा (कञ्चुकी) से विनिर्मुक्त हो जाता है । इस समष्टिरूपा ज्ञानमयी उपासना के प्रभाव से वह अपनी जीवसंस्था से निकल कर उस परात्पर (ईश्वराव्ययपुरुष) संस्था का साक्षात्कार करलेता है । परात्पर की उपासना स्वतन्त्ररूप से नहीं हो सकती, कारण वह अर्द्धमात्रिक होता हुआ अमात्र है । समष्टि की उपासना से ही वहां पर दृष्टि चली जाती है । कर्मकाण्डका मकारकला से सम्बन्ध है, उपासनाकाण्ड का उकारकला से सम्बन्ध है, एवं ज्ञानकाण्ड का समष्टि से सम्ब

न्ध है। ज्ञानयोग से आत्मक्षर की पाँचो कलाओं का अक्षर में लय होता है, अक्षर की पाँचों कलाओं का अव्यय में लय होता है। इन पन्द्रह कलाओं की समष्टिरूप जीवाव्यय का उस ईश्वराव्यय में लय हो जाता है। ईश्वराव्ययद्वारा इस ओङ्कार की सहायता से ही यह त्रिकालातीत बनता हुआ उस शान्त-अभय-परात्पर नाम के अखण्ड ब्रह्म में विलीन होता हुआ 'समवलय' नाम से प्रसिद्ध परामुक्ति का अधिष्ठाता बन जाता है। 'परात्परं पुरिशयं पुरुषम्' में परात्पर शब्द उस अखंण्ड परात्पर का वाचक नहीं है, अपितु ईश्वराव्यय का ही वाचक है। इसी लिए 'पुरिशयं पुरुषम्' कहा है। अव्यय का 'पर' यह साधारण नाम है। जीवपर (जीवाव्यय) की अपेक्षा से ईश्वरपर (ईश्वराव्यय) परे है, अतः "परात् (जीवाव्ययात्) परः" इस निर्वचन से ईश्वराव्ययपुरुष को परात्पर कह दिया है। इस प्रकार 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इन अन्य श्रुतियों के आधार पर यहां का परात्पर शब्द भी ईश्वराव्यय (ससीम मायी महेश्वर) का ही वाचक है। पहिले जीवकलाओं का जीवाव्यय में अव्यय होता है। इस से जीवविभूति समृद्ध बन जाती है। यही बतलाने के लिए इस अवस्था के लिए श्रुतिने—"स एतस्माज्जीवघनात्" यह कहा है। आगे जाकर इस का स्वप्रभव परात्परपुरुष में अव्यय हो जाता है। इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई अन्य श्रुति कहती है—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति ॥

—मुण्डकोपनिषत् ३-२-७।

इसी अर्थ का स्पष्टीकरण माण्डूक्य ने किया है। यहां लोकसम्बन्ध को प्रधान न मान कर कर्म्मात्मा द्वारा आत्मतत्त्व का बोध कराया गया है। क्षरपुरुष भूतकाल का, अक्षरपुरुष भवत् (वर्त्तमान) का, अव्ययपुरुष भविष्य का अधिष्ठाता है। इस का तात्पर्य यही है कि, क्षणिक भौतिक विश्व अपने क्षणिकभाव के कारण नास्तिभाव में परिणत होता हुआ अतीतकोटि में प्रविष्ट है। उस का कभी इदंत्त्वेन (वर्त्तमानत्त्वेन) भान नहीं होता। वह सदा विनष्टप्राय है। पदार्थों में जो अस्तिप्रतीति है, वह कूटस्थ अक्षर की महिमा है। यही वर्त्तमानकाल है। यह दोनों धाराएँ उसी तटस्थ अव्यय पर अवलम्बित हैं। विश्व इसी प्रकार बनता रहेगा, एवं बिगड़ता रहेगा—इस भविष्यमयी आशा का एकमात्र आलम्बन अव्ययपुरुष ही है। अतएव इसे भविष्यत् का अध्यक्ष मानना उचित हो जाता है। इस प्रकार तीनों पुरुष त्रैकालिक हैं,

चौथा परात्पर त्रिकालातीत, किंवा सर्वातीत है। चतुष्पाद् ओङ्कार इन चारों का अनुग्राहक है। खण्डात्माओं की अपेक्षा से क्षर के आधार पर वैश्वानरात्मा का, अक्षराधार पर तैजसात्मा का, एवं अव्ययाधार पर प्राज्ञात्मा का विकास होता है। इन तीनों की समष्टि ही 'कर्मात्मा' है। यही 'कर्मभोक्ता-जीवात्मा-भोक्तासुपर्ण-महद्' आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। वैश्वानर क्षरमूर्त्ति है। प्राज्ञतैजसयुक्त क्षरप्रधान वैश्वानर ही जाग्रदवस्था का अधिष्ठाता है। सप्तधातु इस के सात अङ्ग हैं। प्रकारान्तर से 'चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ ,पुच्छं प्रतिष्ठा' रूप से सप्तर्षिप्राण सम्बन्ध से भी यह सप्ताङ्ग है। ५-ज्ञानेन्द्रियाँ, ५-कर्मेन्द्रियाँ, ५-प्राण (प्राण-उदान-व्यान-अपान-समान,) १-मन, १-बुद्धि, १-चित्त, १-अहंकार, नामों से प्रसिद्ध अन्तःकरण चतुष्टयी, ये १६ इस के विनिर्गम के द्वार हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से यह 'एकोनविंशतिमुख' है। यह आत्माका पहिला पाद है। तैजस अक्षरमूर्त्ति है। प्राज्ञयुक्त तैजसात्मा ही स्वप्नावस्था का सञ्चालक है। यह अन्तर्मुख है, अन्तःप्रज्ञ है। प्राज्ञ अव्यय प्रधान है। विशुद्ध रूप से यही सुषुप्ति का अधिष्ठाता है। यह आनन्दघन है, आनन्द ही तो अव्यय का वास्तविक रूप है। इस में अक्षर-क्षर दोनों अपीत हैं। दूसरे शब्दों में तैजस-वैश्वानर दोनों का लय है। क्षरदृष्ट्या यह भूतों की योनि है, भूतों का प्रभवाप्यय है। अक्षरदृष्ट्या यही सर्वज्ञ, एवं अन्तर्यामी है। अव्ययदृष्ट्या यही सर्वेश्वर है—'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' (गी०-१५-१७)। इन तीनों से अतिरिक्त चौथा वही अखण्ड परात्पर है यही चतुर्थ पाद वस्तुतः अपाद है। यही चतुष्पाद्ब्रह्म है। ओङ्कार द्वारा इसी का अभिनय किया जाता है। चतुर्मात्र ओङ्कार शब्दब्रह्म है, चतुष्पाद्ब्रह्म परब्रह्म है। दोनों का तादात्म्य है। इसी रहस्य को बतलाने के लिएं श्रुतिने ओङ्कार की चारों मात्राओं को 'पाद' नाम से व्यवहृत किया है, एवं परब्रह्म के चारों पादों को 'मात्रा' नाम से व्यवहृत किया है।*

इसी श्रौतविज्ञान को लक्ष्य में रखकर महर्षि पतञ्जलिने "तस्य वाचकः प्रणवः" यह कहा है। इस चतुष्कल, किंवा षोडशकल अमृतात्मा के आत्मक्षरभाग से विकार उत्पन्न होते हैं। इन्हीं विकारों से वैकारिक विश्व का स्वरूप निष्पन्न होता है, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में ही बतलाया जाचुका है। षोडशी पुरुष वैकारिक विश्व में सर्वत्र समानरूप से व्याप्त रहता हुआ भी पुष्करपलाशवन्निर्लिप्त रहता है। विश्व मृत्युमय है, विश्वापेक्षया विश्वप्रविष्ट षोडशी

* इस विषय का विशद विवेचन माण्डूक्योपनिषद्विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

पुरुष सर्वथा अमृत है। अतएव हम इसे अवश्य ही "अमृतात्मा" कह सकते हैं। अपने नर-भाग से वैकारिक विश्व का निर्माण कर यह अन्त बहि, सब ओर विश्व में प्रविष्ट रहता है, अतएव इसे "प्रविष्टब्रह्म" "विश्वचर" "विश्वेश्वर" "विश्वात्मा" इत्यादि नामों से व्यवहृत करना अन्वर्थ हो जाता है। अखण्ड परात्पर सर्वथा व्यापक है, तो यह विश्व व्यापक है। परात्पर की भाँति यह भी सम्पूर्ण विश्व में समानरूप से व्याप्त है। यह जड चेतन सब में समान है। इस से कोई स्थान रिक्त नहीं है। यह वृक्षवत् स्तब्ध है, अविचाली है। यह जन्म मृत्यु से परे है। जन्म-मृत्यु का अधिष्ठाता आत्मा तो कोई अन्य ही है।

पञ्चदशभेदभिन्न विराडात्मा की एक अन्यतम कलाविशेष का ही कर्मभोग से सम्बन्ध है, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। प्रकरण के आरम्भ में बतलाए हुए अखण्ड-परात्पर षोडशी-यज्ञ-विराट्, इन नामों का प्रकरण के अन्त में एक बार और स्मरण कर लीजिए सर्वबलविशिष्ट रस को हमने परात्पर कहा है, एवं इसी को अखण्डात्मा बतलाया है। रसबल के विवेक से इस अखण्ड ब्रह्म के दो विवर्त्त हो जाते हैं। यदि बलसमुचित रसभाग पर दृष्टि डाली जाती है, तो इस अखण्ड का अखण्ड मना कुछ देर के लिए खण्ड खण्ड हो जाता है। कारण-वश खण्ड खण्ड हैं, नाना हैं। एकान्तत अखण्ड तो विशुद्ध रस ही है। इसी पहिले विवर्त्त को १-"निर्विशेष" कहा जाता है। यदि खण्डखण्डात्मक यावयावत् बलों से युक्त रस पर दृष्टि डाली जाती है, तो सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति २-"परात्पर" के दर्शन होते हैं। अखण्डरूप निर्विशेष (शुद्धरस), एवं परात्पर (बलविशिष्टरस), दोनों की समष्टि ही "विश्वातीत" ब्रह्म है। यही तुरीय अविज्ञेय अर्द्धमात्रिक पाद है। इस तुरीय परात्पर के उदर में मायाबलोदय से उक्तलक्षण षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध ३ "अमृतात्मा" का उदय हुआ है। इससे ४-यज्ञात्मा का विकास होगा। सर्वान्त में ५ विराट्पुरुष उत्पन्न होगा। इन विराट् पर प्रजाधारा समाप्त हो जायगी।

जिस प्रकार विश्वातीत सर्वव्यापक परात्पर के साथ श्राद्ध का कोई सम्बन्ध नहीं है, एवमेव विश्वव्यापक इस अमृतात्मा के साथ भी श्राद्ध का कोई सम्बन्ध नहा है। गति-आगति विश्वसीमा के भीतर होती है। जो विश्वव्यापक है, उस की विश्व-सीमा में गति-आगति असम्भव है। प्रसङ्गोपात्त एक बात और ध्यान में रखिए। पूर्व में जिस षोडशी आत्मा का दिग्दर्शन कराया गया है, उस के अक्षर-क्षर भागों की अवान्तर कलाओं को ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रादि नामों से व्यवहृत किया है। साथ ही में समष्टि को 'आत्मा' कहा है। उधर गीताशास्त्र ने आत्मा और देवताओं का पार्थक्य माना है।

प्रकरणोपसहार—

"जो उपासक ब्रह्मादि देवताओं का यजन करते हैं, वे भी परम्परया मेरी (षोडशी पुरुष लक्षण आत्मा की) ही उपासना करते हैं" (गी० ९।२३) यह व्यवस्था की गई है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उपस्थित होता है कि, गीता तो आत्मा, एवं ब्रह्मादि देवताओं का भेद बतलाती

है। परन्तु पूर्व में ब्रह्मादि देवताओं का आत्मकोटि में ही अन्तर्भाव बतलाया गया है। इस विरोध का परिहार कैसे सम्भव है ? । इस प्रश्न के सम्बन्ध में अभी हम केवल यही कहना पर्याप्त समझते हैं कि, आत्मस्वरूप सम्बन्ध में जिन ब्रह्मा विष्णु आदि का उल्लेख किया गया है, इन के साथ उपास्य ब्रह्मादि देवताओं का कोई सम्बन्ध नहीं है। गीतोक्त देवता विश्व के भीतर उत्पन्न होने वाले चरपदार्थ हैं। 'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः" इस सिद्धान्त के अनुसार इन्हीं वैकारिक देवताओं की समष्टि भौतिक विश्व है। उधर षोडशी पुरुष के ब्रह्मादि अक्षर-आत्मक्षरमूर्त्ति होते हुए वैकारिक देवसर्ग से सर्वथा बहिर्भूत है। वैसे इन्हें भी देवता कहा जाय, तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। उपास्यतत्त्व ही देवता है। इसी आधार पर आत्मा को भी देवता कहा जाता है। जिन्हें सर्वसाधारण देवता समझते हैं, गीता में जिन की उपासना का उल्लेख है, उन का जन्म तो बहुत आगे जाकर सौरसृष्टि में होता है, जैसा कि आगे के तत्तत् प्रकरणों में स्पष्ट हो जायगा। अमृतात्मा के सम्बन्ध में इतना ही कह कर 'अव्यक्तात्मविज्ञान' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

| अव्ययब्रह्म | परात्परब्रह्म | विश्वातीतब्रह्म |
|---|---|---|
| ↓ | ↓ | |
| निशुद्धरस | सर्वबलविशिष्टो रसः | |

परात्परः—अर्द्धमात्रा

| | अकार—अव्यय | | उकार—अक्षर | | मकार—आत्मक्षर | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गृहिमार्गी—मुक्तिमार्गी | १ आनन्द | पुरुष पञ्चकल | १-अमृतब्रह्मा | पराप्रकृति पञ्चकला | १-मर्त्यब्रह्मा | अपराप्रकृति पञ्चकला | विश्वात्मा ब्रह्म—षोडशी |
| | २ विज्ञानम् | | २- ,, विष्णु | | २ ,, विष्णु | | |
| | ३ मन | | ३ ,, इन्द्र | | ३ ,, इन्द्र | | |
| | ४ प्राण | | ४ ,, अग्नि | | ४ ,, अग्नि | | |
| | ५ वाक् | | ५ ,, सोम | | ५- ,, सोम | | |

अमृतात्माषोडशी—'तस्य वाचकः प्रणवः'

तदित्थं—परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षरभेदेन चतुष्पात्–
कलाभेदेन षोडशकलोऽयममृतात्मा षोडशी व्याख्यातो द्रष्टव्यः
समाप्ता चेयं श्राद्धविज्ञानान्तर्गत-'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमाया प्रथमखण्डात्मिकायां
'अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

ओ.

समाप्ता चेयं

'अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

१



अथ

'आत्मविज्ञानोपनिषदि'—( प्रथमखण्डे )

# 'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

२

—:[०]:—

(२) { १—अधिदैवतम्→स्वयम्भू (पूर्णमद) }
{ २—अध्यात्मम्→अव्यक्तम् (पूर्णमिदम्) }

# अथ

## श्राद्धविज्ञानान्तर्गत–'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां—

## "अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्"–द्वितीया

२

### अव्यक्तात्मा–प्राकृतात्मा–स्वयम्भूः (१)

१-नियति सत्यम् (अन्तर्यामी)
२-सूत्रं सत्यम् (सूत्रात्मा)
३-वेदा सत्यम् (वेदात्मा)

### सोऽयं त्रिकलोऽव्यक्तात्मा–प्राकृतात्मा वा–स्वयम्भूः

१—अव्यक्ताद् व्यक्तय सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
२—अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ८ अ० १९। २ अ० २८।

# ॐ अव्यक्तात्मब्रह्मणे नमः

## अव्यक्तात्मा—स्वयम्भूः

### * 'अव्यक्तं ब्रह्मे' त्युपास्व

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोकायन्ति पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ श्वे० उ० २,५
तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ श्वे० उ० ५, ६
स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ श्वे० उ० ६, १
येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म्म विवर्त्तते ह पृथिव्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ श्वे० उ० ६, २
नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यतमाय च ।
अचिन्त्याप्रमेयाय अनादिनिधनाय च ॥ —मैत्रायण्युपनिषत् ४, १५ ।

अमृतात्मा नाम से प्रसिद्ध षोडशी–पुरुष के मनःप्राणवाङ्मय, ऋषिसाक्षी कर्म्मात्मभाग की बलप्रधान सिसृक्षा से सम्बन्ध रखने वाले मनोमय–काम, प्राणमय–तप, तथा वाङ्मय श्रम, नामक सृष्टिकर्म्मों के सामान्य तीन अनुबन्धों के व्यापार से सर्वप्रथम जिस 'अक्षरेश्वरात्मा' का विकास होता है, वही प्राकृतात्मा 'अव्यक्तात्मा' कहलाता है, जो मानव-परिभाषा में 'शान्तात्मा' नाम से भी प्रसिद्ध है । अमृतात्मा का उपादानकारण लक्षण-आत्मक्षर ही अपरलक्षण विश्व का प्रभव ( उपादान ) बनता हुआ 'अपराप्रकृति' नाम

ब्रह्म की विकारसृष्टि—

* त्रिकल अव्यक्तात्मा, द्विकल यज्ञात्मा, त्रिकल महानात्मा, द्विकल विज्ञानात्मा, पञ्चकल शारीरकात्मा' भेदभिन्न इन १५ सखण्डात्माओं का 'ईशाविज्ञानभाष्य' तथा 'गीताभूमिका–आत्मपरीक्षाखण्ड' में विस्तार से निरूपण हुआ है । अतः यहाँ संक्षेप से ही (दृष्टिकोणभेद से) इन का स्पष्टीकरण किया जाता है ।

से प्रसिद्ध है। उपादानकारण सङ्केतभाषानुसार 'ब्रह्म' कहलाया है। आत्मक्षर ही स्व-विकारों से विश्व का उपादान बनता है, अतः इसे भी अवश्य ही 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया जासकता है। निमित्तकारणात्मक, 'पराप्रकृति' नामक अक्षर ही इस क्षर की विकासभूमि है, इसी आधार पर 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' (गीता ३।१५) यह कहना अन्वर्थ बनता है। 'ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्नि-सोम' जो पाँच अमृतकलाएँ अक्षर की हैं, ये ही पाँचों मर्त्यकलाएँ इस आत्मक्षर की हैं। अन्तर दोनों के पञ्चक में यही है कि, अक्षरकलापञ्चक अपने अविकृत (अपरिणामी) भाव से जहां एकरस है, वहां क्षरकलापञ्चक स्व विकृत (परिणामी) भाव से भिन्नरस है। क्षर की इन ब्रह्मादि पाँचों मर्त्यकलाओं से निरन्तर विकार उत्पन्न होते रहते हैं। क्षर का मूलरूप (अव्यक्त-रूप) अक्षर सहयोग से सर्वथा अविकृत रहता है, एवं तूलरूप (व्यक्तरूप) विकृत रहता है। विकृतावस्थापन्न क्षर का विश्व में अन्तर्भाव माना जाता है, एवं मूलात्मक (अव्यक्तात्मक), अतएव अविकृतावस्थापन्न क्षर को आत्मकोटि में माना जाता है। इस प्रकार आत्मक्षर का आत्मा से भी (प्रविष्ट-विश्वचरब्रह्म से भी) सम्बन्ध है, एवं विश्व (सृष्टब्रह्म) से भी सम्बन्ध है। इसी उभयधर्म्म के कारण इसे 'आत्मक्षर' इस नाम से व्यवहृत करना चरितार्थ होता है अविकृतदृष्टि से वही "आत्मा" है, विकारदृष्टि से वही "क्षर" है। समष्टिरूप से वही 'आत्म-क्षर' है। आत्मभूत इस की ब्रह्मकला से जो विकार उत्पन्न होता है, वह १-'प्राण' नाम से, विष्णुकला का विकार २-'आपः' नाम से, इन्द्र का विकार ३-'वाक्' नाम से, अग्नि का विकार ४-'अन्नाद' नाम से, एव सोम का विकार ५-'अन्न' नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं विकारों के सम्बन्ध से आत्मरूप यह पराप्रकृतितत्त्व क्षर बन जाता है। पाठकों को इतना ध्यान रखना चाहिए कि, एक ही नामों से निर्दिष्ट प्राण-वागादि-तात्त्विक दृष्टि से सर्वथा पृथक् पृथक् पदार्थ हैं। उदाहरण के लिए वाक्तत्त्व को ही सामने रख लीजिए। पञ्चकल अव्यय में भी पाँचवीं वाक्कला है प्राणादि पांचो विकारों में भी अन्त की वाक्कला है। एक तीसरा वाक्तत्त्व शुक्र से सम्बन्ध रखता है। चौथी वाक् सूर्य्य में उत्पन्न होती है। इस प्रकार वाक् के अनेक विवर्त्त हैं। नाम सादृश्य मात्र से इन्हें अभिन्न नहीं समझना चाहिए। अव्ययवाक् पुरुषवाक् है। इस का सृष्टि के उपादान से कोई सम्बन्ध नहीं है। आनन्दविज्ञानघनमनोमयप्राणगर्भिता यह वाक् केवल विश्व का आलम्बन है। प्राणादि वाली दूसरी वाक् प्रकृतिवाक् है। शुक्रवाक् विकृतिवाक् है। चौथी सौरीवाक् (जो कि वाक् बृहती-गौरीचित्ता-ऐन्द्री-स्वर-आदि विविध नामों

से प्रसिद्ध है) देवताओं की जननी है। देवपात्ररूप वषट्कार (वाक् का षट्कार-वाक् के ६ विभाग स्तोम) का सम्बन्ध इसी सौरीवाक् से है। इसी को "इन्द्रपत्नी" कहा जाता है। आगे जाकर वाक्तत्त्व का भिन्न भिन्न कार्यों मे उपयोग बतलाया जाने वाला है। इन के नामसादृश्य से पदार्थतत्व में भ्रान्ति न हो जाय, अत पहिले स इन भेदों को ध्यान मे रखना चाहिए।

पुरुषवाक् के आधार पर प्रतिष्ठित अक्षर के व्यापार से क्षर की पाचा कलाओं से क्रमश प्राणादि उपर्युक्त पाच विकार उत्पन्न हुए। ये पाचों ही वैकारिक विश्व के मौलिक तत्त्व हैं। इन्हीं के रासायनिक सयोग से यौगिक विश्व उत्पन्न होने वाला है। विज्ञानतत्त्वानुयायी दार्शनिक जिन्हें "गुणभूत" कहते हैं,

वाङ्मय अव्यक्तात्म —

प्राधानिक समय (साम्य) मे जो तत्त्व "तन्मात्रा" नाम से प्रसिद्ध है, विज्ञानखण्ड मे वे ही हमारे प्राणादि पाच विकारक्षर हैं। इन्हीं से आगे जाकर अणु भूत भौतिक-सर्गादि विविधभावों का विकास होता है। अस्तु दार्शनिक क्रम का वैज्ञानिक क्रम के साथ समन्वय करने का यहा अवसर नहीं है। "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (शा० सू० १पा० १ अ० ३ सू० ) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार दर्शनशास्त्र को अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए इस स्वत प्रमाण वैदिक विज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक है। इस की प्रामाणिकता के लिए अन्य प्रमाण सवथा अनपेक्षित है। अत सब मर्य्यादाओं को एक ओर रख कर आप को मानना चाहिए कि, विकारक्षर ही विश्व के मौलिक उपादान है। इन्हीं से विश्व उत्पन्न होता है, अतएव इन की समष्टि को विज्ञानभाषा में "विश्वसृट्" कहा जाता है। पाचों ही विकारक्षर विशुद्ध रूप से कभी उपलब्ध नहीं होते। पाचो क्षर पाचो में नित्य सश्लिष्ट होकर ही अपनी स्वरूपसत्ता रखने में समर्थ होते हैं। सकेतभाषानुसार जिस तत्त्व मे आहुति होती है, आहुति ग्रहण करने वाला, आहुति की प्रतिष्ठारूप वह तत्त्व "अग्नि" कहलाता है, एव आहुत होने वाला तत्त्व "सोम" नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि मे सोम का आहुत होना ही यज्ञ है। पहिले प्राणतत्त्व में आप -वाक्-अन्न-अन्नाद , इन चारो मौलिक क्षरो की आहुति होती है। यहा उक्त परिभाषा के अनुसार प्राण को अग्नि समझिए, एव शेष चारो को सोम समझिए। समन्वय को यज्ञ समझिए। इसी प्रकार आप वाक अन्न अन्नाद,—इन चारो को आधार मान कर शेष चारो की क्रमश प्रत्येक में आहुति होती है। इस पञ्चीकरण प्रक्रिया से जो इन पाचो पञ्चीकृतो का अपूर्वस्वरूप निष्पन्न होता है, वही 'पञ्चजन' नाम से प्रसिद्ध है। "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद.'

इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार इन पांचों के नामों में कोई अन्तर नहीं होता। दूसरे शब्दों में ये भी प्राण-आपः-वाक् आदि नामों से ही व्यवहृत होते हैं। इन प्राणः-आपः-वागादि-प्रत्येक में प्राण-आपः-वागादि पांचों विद्यमान हैं। अर्द्धभाग में प्राण है, अर्द्धभाग में शेष चारों है। अर्द्धभाग में आपः है, अर्द्धभाग में प्राणादि शेष चारों हैं। यही क्रम सर्वत्र समझिए। आगे जाकर इन पांचों पञ्चीकृतों का पुनः समन्वय होता है। यह दूसरी पञ्चीकरण प्रक्रिया है। पञ्चीकृतप्राण में पञ्चीकृत आपः-वागादि शेष चारों की आहुति होती है। इस से 'प्राण" नाम के 'पञ्चपञ्चजन" का विकास होता है। इसी प्रकार पञ्चीकृत आपः में प्राणादि शेष चारों पञ्चीकृतों की आहुति से 'आपः' नाम के "पञ्चपञ्चजन" का विकास होता है। यही क्रम शेष चारों में समझिए। पञ्चजनों में प्राणादि का वैषम्य न था, परन्तु इन पञ्चपञ्चजनों के संस्थान में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। इसी विषमता के कारण इन के नामों में भी अन्तर हो जाता है। पञ्चीकृत पञ्चजनों की यह द्वितीयावस्था ही विषमभाव के कारण पुरभाव (पिण्डभाव) की उत्पादिका बनती है, अतएव इसे 'पुरञ्जन' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। पञ्चीकृत प्राण से विकसित होने वाला पुरञ्जन 'वेद' नाम से, आपः सम्बन्धी 'लोक' नाम से, वाक् सम्बन्धी 'देव' नाम से, अन्नसम्बन्धी 'पशु' नाम से, एवं अन्नाद सम्बन्धी 'भूत' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रत्येक पुरञ्जन में पञ्चीकृतपञ्चजनों के समन्वय से २५-२५—कलाएँ हैं। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि, प्रत्येक पुरञ्जन में २५-२५ कलाओं के रहने पर भी प्रधानता मूलभूत प्राण-आपः-वागादि-स्व-स्व कलाओं की ही रहती है। वेदपुरञ्जन की २५ सों कला प्राणमयी हैं, अप् पुरञ्जन की २५ सों कला आपोमयी हैं। यही व्यवस्था शेष तीनों में समझिए। प्राणात्मक वेदपुरञ्जन से स्वयम्भूपुर का निर्माण होता है। प्राणतत्त्व नित्य है, अतएव प्राण का विवर्त्तभूत 'ब्रह्मनिश्वसित' नाम से प्रसिद्ध अपौरुषेय वेद भी नित्य ही है। यह स्वयं उत्पन्न है, स्वयं उद्भूत है। अतएव तद्रूप पहिला पुर 'स्वयमेव भवति' इस निर्वचन 'स्वयम्भू' नाम से व्यवहृत होता है। यद्यपि अमृतात्मा (षोडशीपुरुष) की अपेक्षा से यह प्राणमूर्त्ति, किंवा वेदमूर्त्ति स्वयम्भू व्यक्त है, तथापि पाङ्क्त (पञ्चावयव) विश्व के इतर चारों पर्वों की अपेक्षा हम इसे अव्यक्त ही कहेंगे। इस 'ब्रह्म' नाम के अव्यक्त स्वयम्भू के चार मुखों से ही आगे की सम्पूर्ण सृष्टियाँ होती हैं।

हमने बतलाया है कि पञ्चजन-प्राण से समन्वय द्वारा वेदपुरञ्जन प्रादुर्भूत होता है, एवं वेदपुरञ्जन से स्वयम्भू का विकास हुआ है। ऐसी अवस्था में स्वयम्भू में पञ्चीकृत प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद, इन पांचों प्राकृत प्राणों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। स्वयम्भू ब्रह्मा प्राण-मुख है, आपोमुख है, वाङ्मुख है, अन्नादमुख है, अन्नमुख है। अग्नितत्त्व ही अन्नाद है, सोमतत्त्व ही अन्न है। एवं–"अग्निर्वा रुद्रः-तस्यैते द्वे तन्वे घोरान्या च, शिवान्या च" (शत० ५।३।१।१०) इस सिद्धान्त के अनुसार अग्नितत्त्व ही 'रुद्र' है। इस अग्निमय, अतएव अन्नादमय रुद्रदेवता की कृपा से सोमान्नरूप एक मुख कट जाता है। सोम के अग्निगर्भ में आहुत होते ही इस की स्वतन्त्र सत्ता उच्छिन्न हो जाती है। अग्निगर्भित सोम स्वस्वरूप को खोता हुआ अग्निमय ही बन जाता है। दूसरे शब्दों में आद्य (अन्नरूप सोम) जब अत्ता (भोक्ता अग्नि) में चला जाता है, तो अत्तारूप में परिणत होता हुआ वह आद्य अपने स्वतन्त्र व्यवहार को छोड़ कर अत्ता ही कहलाने लगता है, जैसा कि वाजिश्रुति कहती है—

"तद्यदोभयं समागच्छति, अत्तैवाख्यायते नाद्यम्। स वै यः सोऽत्ता-अग्निरेव सः"–शत० १०।६।३।१।२। इति॥

इस प्रकार अन्नाद-अन्न के पारस्परिक आहिति (आहुति) सम्बन्ध से ब्रह्म के चार ही मुख रह जाते हैं। इन चारों मुखों में पहिला प्राणमुख है, इस से वेदसृष्टि होती है। दूसरे आपोमुख से लोकसृष्टि होती है। तीसरे वाङ्मुख से देवसृष्टि होती है। अन्नगर्भित चौथे अन्नादमुख से पशुसमन्विता भूतसृष्टि होती है। महाभारत के मतानुसार वाङ्मुख से प्रजा-सृष्टि होती है, एवं अन्न-अन्नादमुख से धर्म्मसृष्टि होती है। चतुर्विधसृष्टिप्रवर्त्तक प्राणप्रधान यही ब्रह्मा आधिदैविक संस्था में स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं अध्यात्मसंस्था में यही 'शान्तात्मा' नाम से व्यवहृत हुए हैं। अव्यक्तात्मा इन दोनों का साधारण नाम है।

इस अव्यक्तात्मा के अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा, भेद से तीन प्रधान विवर्त्त हैं। अव्यक्तात्मा के तीन विवर्त्त—तीनों का संक्षिप्त स्वरूप बतला देना भी अप्रासङ्गिक न होगा। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहकर उस का नियत रूप से सञ्चालन करना इस अव्यक्तात्मा का प्रधान कर्म्म है। सर्वप्रथम आधिदैविक संस्था का

ही विचार कीजिए। इस संस्था में भूः–भुवः–स्वः नाम के तीन प्रधान लोक हैं। **"त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः"** इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार उक्त तीनों लोकों में प्रत्येक लोक त्रिवृत् (त्रिगुणित) है। महाव्याहृति नाम से प्रसिद्ध तीनों के अवान्तर 'भूः-भुवः-स्वः' ये तीन भेद हैं। यद्यपि इस त्रिवृद्भाव के कारण ६ लोक होना चाहिएँ, परन्तु दो लोकों का भूः-स्वः, इन दोनों के साथ सम्बन्ध होजाने से सात ही लोक रह जाते हैं। जिसे आप पृथिवी कहते हैं, उसे भूलोक समझिए। प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्य को स्वर्लोक समझिए, सूर्य्य और पृथिवी का मध्यस्थान अन्तरिक्ष समझिए। इन तीनों की समष्टि को "भूः" नाम की पहिली महाव्याहृति समझिए। लोकत्रयात्मिका यही 'भू' नाम की पहिली **रोदसीत्रिलोकी** है। इस त्रिलोकी को पृथिवी समझिए, परमेष्ठी को स्वर्लोक समझिए, मध्यस्थान को अन्तरिक्ष समझिए। इन तीनों को समष्टि को "भुवः" नाम की दूसरी महाव्याहृति समझिए। लोकत्रयात्मिका 'भुवः' नाम की यही दूसरी **क्रन्दसीत्रिलोकी** है। इस क्रन्दसी की समष्टि को भूः समझिए, स्वयम्भू को स्वर्लोक समझिए। मध्यस्थान को अन्तरिक्ष समझिए। तीनों की समष्टि को "स्वः" नाम की महाव्याहृति समझिए लोकत्रयात्मिका स्वः नाम की यही तीसरी **संयतीत्रिलोकी** है। इस प्रकार इस त्रैलोक्य त्रिलोकी के क्रम मे निम्न लिखित रूप से सात लोक हो जाते हैं–

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| ३—स्वः | संयतीत्रैलोक्य | ३—स्वः | सत्यलोकः३ | ——→स्वयम्भूः | (७) |
| | | २—भुवः | तपोलोकः२ | ——→अन्तरिक्षम् | (६) |
| | | १—भूः / क्रन्दसीत्रैलोक्य ३—स्वः | जनलोकः३-१ | —→परमेष्ठी | (५) |
| २—भुवः | | २—भुवः | महर्लोकः २ | ——→अन्तरिक्षम् | (४) |
| | | १—भूः / रोदसीत्रैलोक्य ३—स्वः | स्वर्लोकः३-१ | ——→सूर्य्यः | (३) |
| | | २—भुवः | भुवर्लोकः२ | ——→अन्तरिक्षम् | (२) |
| १—भूः | | भूः | भूलोकः १ | ——→पृथिवी | (१) |

उक्त सातों लोकों में संयतीत्रलोक्य का स्वर्लोकस्थानीय स्वयम्भू सत्यलोक है। इतर ६ओं लोक विचाली हैं, अस्थिर हैं, परिभ्रमणशील हैं। सातवाँ सत्यस्वयम्भू अविचाली है, एक स्थान

पर स्थिररूप से प्रतिष्ठित है। अपने अन्तरिक्ष (भुवर्लोक) के साथ पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रही है। सान्तरिक्ष पृथिवी को अपने उदर में (महिमामण्डलमें) प्रतिष्ठित किये हुए अपने अन्तरिक्ष (महर्लोक) के साथ स्वर्लोकाधिष्ठाता सूर्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। सान्तरिक्ष सूर्य्य को अपने उदर में प्रतिष्ठित किए हुए अपने अन्तरिक्ष (तपोलोक) के साथ जनल्लोकाधिष्ठाता परमेष्ठी सत्यस्वयम्भू के चारो ओर परिक्रमा लगा रहा है। इन ६ओं रजो को स्वोदर में प्रतिष्ठित रखने वाले, अपनी प्राणशक्ति से ६ ओं का विधरण करने वाले स्वयम्भू इन के भार से कभी खिन्न नहीं होते। षड्रजोधिष्ठाता, 'परोरजा' नाम से प्रसिद्ध इसी स्वायम्भुव सत्य तत्त्व का निरूपण करते हुए वेद भगवान कहते हैं—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांसि, अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥ १॥
तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥ २॥

—ऋक्सं० १। १६४। ६ मं० १०।

सत्यलोकाधिष्ठात्री, किंवा सर्वलोकाधिष्ठात्री उक्त स्वायम्भुवी शक्ति का **१-नियति-२-विष्टम्भन-३-उपलब्धि**, भेद से तीन प्रकार से विकास होता है। ये ही तीनों विज्ञानभाषानुसार स्वयम्भू के मनोता कहलाये हैं। अव्यक्त स्वयम्भू की दृष्टि से तीनो मनोता एकरूप हैं, अव्यक्तात्मरूप हैं। एवं परस्पर की अपेक्षा से तीनों सर्वथा पृथक् कर्म्मा, पृथक् धर्म्मा हैं। इन्हीं गुणभूत अवयवों के सम्बन्ध से एक ही स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा के **'अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा'** ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इन तीनों मे वेदात्मा **मकार** स्थानीय है, सूत्रात्मा **उकार** स्थानीय है, अन्तर्य्यामी **अकार** स्थानीय है। तीनों खण्डों मे समान रूप से व्याप्त अखण्ड अव्यक्त अर्द्धमात्रा-स्थानीय है। समष्टि **"ओङ्कार"** है। जिस प्रकार सर्वत पाणिपाद-षोडशीपुरुष प्रणवमूर्त्ति है, एवमेव यह वृतीजा अव्यक्तात्मा भी प्रणवमूर्त्ति ही है—**"यदेवेह तदमुत्र"**। इस के तीनों विवर्त्तो मे से पहिले नियति विवर्त्तकी ओर ही पाठकोका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

नियतिर्लक्षण अन्तर्यामी—

सूर्य्य-चन्द्रमा-नक्षत्र-ग्रह-पृथिवी-आदि आधिदैविक पदार्थों, पुरुष-पशु-पक्षी-कृमी-कीटादि चेतन पदार्थों, औषधि-वनस्पति-पुष्प-पल्लव-वल्लरी-आदि अर्द्धचेतन पदार्थों, सुवर्ण-रजत-ताम्र-सीसक-लौह-पाषाण-आदि अचेतन पदार्थों के स्वभाव वैचित्र्य पर जब हमारी दृष्टि जाती है, तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। चेतनाद्ध चेतनाचेतन तत्तत् पदार्थों का निर्म्माण बड़े ही

विचित्र शिल्प (कारीगरी) से हुआ है। ऐसा विदित होता है कि, मानो कोई चतुर शिल्पी बड़ी ही सावधानी से इन सब पदार्थों का निर्म्माण कर रहा हो। स्थान स्थान पर किसी अलौकिक शिल्पी के बुद्धि वैभव का विकास प्रतीत हो रहा है। सब काम नपा तुला, कहीं अणुमात्र भी अव्यवस्था नहीं। एक शरीर की रचना पर ध्यान दीजिए। मस्तक-चक्षु-नासिका-श्रोत्र-उदर-मुख-पाद-अंगुली-नख-केश-लोम आदि प्रत्येक अवयव यथास्थान प्रतिष्ठित हैं। क्या बिना किसी चेतन-देवता के इस प्रकार का शिल्प सम्भव है ?, कदापि नहीं। एक मृग के उन दो शृङ्गों (सींगों) की उस विचित्रता को देख कर कहना पड़ता है कि, यह कृति किसी उत्कृष्ट देवता की प्रेरणा से सम्बन्ध रखती है। दोनों सींग जहां से निकले हैं, वहां दोनों का समानान्तर, समान स्वरूप। दोनो उपर की ओर गए हैं, तो समानान्तर से, समान रूप से। एक वृक्ष के पर्वों को देखिए। मूल—शाखा—पल्लव—पुष्प—फल—आदि प्रत्येक पर्व में अद्भुत कारीगरी। पानी को आप जब कभी जिस स्थान पर भी डालेंगे, वह सदा नीचे की ओर ही बहेगा। भला सोचिए तो सही, इस जड़ पानी को किस ने सिखलाया कि, तू नीचे की ओर ही बहना। कैसा नियत धर्म्म है। अग्नि सदा ऊपर की ओर ही जाता है। वायु सदा तिर्य्यक् ही चलता है। चन्द्रमा कभी दक्षवृत्त को नहीं छोड़ता। पृथिवी कभी क्रान्तिवृत्त से च्युत नहीं होती। सूर्य्य कभी अहोरात्र मर्य्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। पर्जन्य देवता कभी अपने वृष्टिकर्म्म से उपरत नहीं होते। विष कभी अपनी मादकता नहीं छोड़ता। महादि कभी अपने मार्गों से विचलित नहीं होते। प्राप्तकाल में मृत्यु देवता कभी किसी पर उदारता नहीं दिखलाते। सारांश में (एकमात्र असत्य संहित मनुष्य को छोड़कर) कोई भी इस नियत मर्य्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता। "मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति" शत० २।४।२।६)। तभी तो शास्त्रोपदेश एकमात्र मनुष्य के लिए ही उपयुक्त बना है। इतर सारे प्राणी स्वत एव अपनी अपनी नियत चर्य्या से बद्ध हैं। इन के लिए शास्त्रोपदेश अनपेक्षित है। हम बुभुक्षा शान्त करने के लिए अन्न खाते हैं। यहां तक तो हमारा (जीवात्मा का) व्यापार है। परन्तु शारीराग्नि में हुत अन्न किस क्रम से रसासृगादि धातु रूपों में परिणत हो जाता है ? यह अविज्ञात है। शरीर उदाहरण मात्र है। विश्व के प्रत्येक पदार्थ किसी इयशासनकर्त्ता की प्रेरणा से प्रेरित होकर स्व-स्व कर्म्मों में संलग्न रहते हैं। इच्छा होने पर हम अशन पानादि करते हैं। परन्तु इच्छा क्यों हुई ? इस प्रश्न का समाधान वही शास्ता है। क्या मजाल, जो कोई इस का शासन न माने। विश्व के बड़े से बड़े शक्तिशाली पदार्थ, छोटे से

छोटे पदार्थ, सब इस के भय से कम्पित होते हुए अपने अपने आधिकारिक कर्म्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ से अविदित, किन्तु उस के हृदय में प्रतिष्ठित वह शास्ता तत्त्व ही "अन्तस्तिष्ठन् सन् नियमति" इस निर्वचन से 'अन्तर्य्यामी' नाम से प्रसिद्ध है। यही नियत भावों का प्रेरक बनता हुआ, नियत भाव की चर्य्या का अधिष्ठाता बनता हुआ "नियतिब्रह्म, नियतिचरब्रह्म" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यही नियतिचर शब्द निरुक्त क्रमानुसार बिगड़ते बिगड़ते आज के जगत् में 'नेचर' (Nature) नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। दर्शन भाषा में यही तत्त्व 'स्वभाव-प्रकृति' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। वज्रदण्डात्मक इसी अन्तर्य्यामी का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

> यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
> महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥
> भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः।
> भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ २ —कठोपनिषत् ६, २, ३

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी—शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, स त ऽ आत्मान्तर्य्याम्यमृतः। योऽप्सु तिष्ठन्०×××, योऽग्नौ तिष्ठन्० ×××' य आकाशे तिष्ठन ×× यो वायौ तिष्ठन्० ×××, य आदित्ये तिष्ठन्० ×××, यश्चन्द्रतारके-तिष्ठन्० - ××, यो दिक्षु तिष्ठन्० + ××, यो विद्युति तिष्ठन्० ×× य स्तनयित्नौ तिष्ठन्० ×××, यः सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्० ×××, यः सर्वेषु वेदेषु तिष्ठन्० + + +, यः सर्वेषु यज्ञेषु तिष्ठन्० + + -, यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्० + - -, य प्राणेषु, वाचि, चक्षुषि, श्रोत्रे, मनसि, त्वचि, तेजसि, तमसि, रेतसि, आत्मनि तिष्ठन्० + - -। अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता, एष त ऽ आत्मा अन्तर्य्याम्यमृतः। अतोऽन्यदार्त्तम्। ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम"—शत० १४।६।७

वह घट घट व्यापक है, सब के हृदय में प्रतिष्ठित है, सब का शास्ता है, नियतभाव का प्रवर्त्तक है, सब कुछ उसी से उत्पन्न हुआ है। सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रकृति

नेचर) रूप उस तत्त्व की लीला मात्र है" यह है अव्यक्त अन्तर्य्यामी का तटस्थ लक्षण। सुप्रसिद्ध सर्वानुभू:—सर्वग-आत्मतत्त्व (षोडशीपुरुष) के स्वरूप से सर्वथा अपरिचित वर्त्तमान-जगत् (पाश्चात्यजगत्) प्रत्येक विषय में नेचर की ही घोषणा किया करता है। अमुक काम ऐसे क्यों हुआ ?, इस का ऐसा स्वरूप क्यों है ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए "नेचर ने ऐसा किया है, नेचर से ऐसा हुआ है, सब काम नेचर करती है" यह कहा जाता है। यदि विज्ञानगर्विष्ठ इन नेचरभक्तों से पूँछा जाता है कि, कृपा कर बतलाइये ! आप की इस नेचर का क्या स्वरूप है ? तो इस प्रश्न के लिए ये निरुत्तर हो जाते हैं। इधर आर्ष महर्षियों ने तटस्थ-एवं स्वरूप लक्षणों द्वारा इस का सर्वथा स्पष्टीकरण कर दिया है। तटस्थ लक्षण बतला दिया गया, अब स्वरूप लक्षण का भी विचार कर लीजिए। प्रत्येक पदार्थ की स्वरूप रक्षा, स्वरूप निर्म्माण अन्नादान पर निर्भर है। जड़ हो, अथवा चेतन, सब को अन्न खाने की आवश्यकता होती है। "यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता" (बृ०आ० उ०१,५,१) इस सिद्धान्त के अनुसार यह अन्न आत्म-प्राण-भूतादि विविध भोक्ताओं के भेद से १-ज्ञान, २-कर्म्म, ३-आकाश (शब्द), ४-वायु (श्वास-प्रश्वास), ५-तेज (ऊष्मा), ६-जल ७-पृथिवी (ओषधि—वनस्पति), भेद से सात भागों में विभक्त है। एक मकान, जिसे आप सर्वथा जड़ समझ रहे हैं, विश्वास कीजिए, वह भी वायु-प्रकाश, आदि अन्नों की अपेक्षा रखता है। शिल्पियों द्वारा निर्म्मित नवीन भवन समय समय पर जीर्ण होता रहता है। इस की रक्षा के लिए मरम्मत करवानी पड़ती है। भूतभाग ज्यों का त्यों रहता है, प्राणभाग निकल जाता है। उसी की चिकित्सा करनी पड़ती है। मकान का जीर्ण होना ही यह बतला रहा है कि, अवश्य ही इस में से कोई तत्त्वविशेष निकल गया है। इसी प्रकार यदि किसी भवन को चारों ओर से बंद कर दिया जाता है, तो वायु-प्रकाशादि अन्नों के बंद होजाने से साल दो साल में वह जीर्णवत् हो जाता है। स्थान-स्थान से चूना गिरने लगता है। कारण यही है कि, प्राण अपने गतिस्वभाव से निकलता रहता है, उधर वायु-प्रकाशादि के अवरुद्ध हो जाने से प्राण का आगमन अवरुद्ध हो जाता है। फलतः वह निष्प्राण हो जाता है। जड़ शब्द से व्यवहृत पदार्थों की जब यह दशा है, तो चेतन पदार्थों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। अन्न खाना, यह पहिला साधारण धर्म्म है। इस के साथ साथ भुक्तान्न खर्च भी होता रहता है। यदि ऐसा न हो, तो एक बार, अथवा दो तीन बार अन्न खा लेने के पश्चात् पुनः अन्नादान की आवश्यकता ही न पड़े। अन्नविसर्गलक्षण यही दूसरा धर्म्म है। आदान और विसर्ग, दोनों की

आधारभूमि एक तीसरा स्थिर तत्त्व और मानना पड़ता है। अन्न आता रहता है, और जाता रहता है। फिर भी पदार्थ स्थिर सा प्रतीत होता है। अवश्य ही स्थिरता सम्पादक, आगति-गति की मूलप्रतिष्ठारूप यह तत्त्व दोनो से पृथक् है। एक सरोवर में पानी आता रहता है, एवं जाता रहता है। परन्तु सरोवर स्थिर है। बिना इस स्थिर आयतन के पानी का आना भी सम्भव न था, जाना भी सम्भव न था। इस प्रकार वस्तुमात्र में अन्नादान, अन्नविसर्ग, दोनों की स्थिति का आधार, इन तीन भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। अवश्य ही प्रत्येक पदार्थ में एक शक्ति ऐसी है, जो निरन्तर अपने आकर्षण सूत्र से अन्न खैंचा करती है। साथ ही में एक शक्ति आगत अन्न का विक्षेपण किया करती है। एक तटस्थ शक्ति के आधार पर इन दोनो प्रतिद्वन्द्विनी शक्तियों का समन्वय होता रहता है। शक्तित्वेन यह शक्तित्रयी समान है, परन्तु उपाधिभेद से, दूसरे शब्दों में पदार्थों के स्वरूप भेद से वह अनन्त रूपों में परिणत हो रही है। उदाहरण के लिए अग्नि, और जल को लीजिए। एक ही शक्ति दोनों में है। परन्तु अग्निसम्बन्ध से अग्नि की शक्ति दहन करने का सामर्थ्य रखती है, पानी की शक्ति शान्ति की अधिष्ठात्री बन रही है—'शान्तिरापः'। यहां दोनो एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विनियाँ बन रहीं हैं। अग्नि का नियत भाव इसे ऊपर लेजा रहा है, पानी की नियति इसे नीचे लेजाती है। वायु की नियति वायु को तिर्य्यग्गामी बना रही है। कहना यही है कि, पदार्थ भेद से नियति-भाव भी बदल रहा है। उक्त तीनों शक्तियाँ प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में रहतीं हैं। आप अपने चर्म्मचक्षु से नामरूपकर्म्मात्मक पदार्थ को देख सकते हैं। पदार्थ ही व्यक्त है, हृदयस्था वह शक्तित्रयी अव्यक्ता है, चर्म्मचक्षु से परे है। इन में आदान शक्ति का आहरण सम्बन्ध से "हृ" अक्षर से, विसर्ग शक्ति का खण्डनरूप विनाशसम्बन्ध से "द" अक्षर से, एवं दोनों की आधारभूता नियमन शक्ति का नियमन भाव के कारण "यम्" अक्षर से अभिनय किया जाता है। तीनों की समष्टि ही "हृदयम्" है। संकेत विद्या के अनुसार 'हृ' को विष्णु, 'द' को इन्द्र, 'यम्' को ब्रह्मा कहा जाता है। हृ–द–य–ये तीनों विष्णु–इन्द्र–ब्रह्मा के वाचक हैं। यह 'हृ द य (विष्णु-इन्द्र ब्रह्मा) प्रत्येक पदार्थ के हृदय में (केन्द्र में) प्रतिष्ठित रहते हैं। शक्ति का विकास-स्थान प्रत्येक पदार्थ का केन्द्र ही है, केन्द्रप्रतिष्ठा से वस्तु प्रतिष्ठित रहती है, केन्द्र के विचलित हो जाने से पदार्थसत्ता उच्छिन्न हो जाती है। केन्द्रस्थान एक सूक्ष्मतम, एवं बृहत्तम निराकार आयतन है। इस में वही हृदय नाम की शक्ति प्रतिष्ठित हो रही है। हृदय में 'हृ–द–य' प्रतिष्ठित हो रहा है' यह कम आश्चर्य नहीं है—'हृदि अयं हृदयम्'। पिण्ड प्रजा का सञ्चालन

इसी हृदय प्रजापति पर निर्भर है। वह स्वयं अजायमान है, मध्य कुद्ध लूतातन्तु ( मकड़ी के जाल) की तरह उसी से उत्पन्न हुआ है। इसी गर्भी अव्यक्त प्रजापति का दिग्दर्शन कराती हुई यजुःश्रुति कहती है—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

—यजुःसं० ३१। १६

ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, तीनों अक्षर की कलाएँ हैं। अतएव उक्त हृदय प्रजापति को 'अक्षर' कहा जाता है। यह अक्षरत्रयी ही तो अन्तर्य्यामी है। यही तो शास्ता है। पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्व की अमृतात्मोपनिषत् में हमने पञ्चकल अक्षर को षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा के अन्तर्गत माना है। वह अमृतात्मा विश्वव्यापक है। इधर स्वयम्भू नामक यह अव्यक्तात्मा सखण्ड है, विश्व का एक अवयव है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, अक्षर तो अखण्ड आत्मा का अनुग्राहक है, फिर इस सखण्ड प्राकृतात्मारूप अव्यक्त को अक्षर कैसे माना गया?, इस प्रश्न के समाधान में हम यही कहेंगे कि, विश्व के पर्वरूप स्व० पर० सू० च० पृ०, इन पांच खण्डो में उस षोडशीपुरुष का भोग होता है। षोडशी का अव्यय भाग तो पाच पर्वों में समानरूप से व्याप्त है। परन्तु सूर्य्य से ऊपर अमृतप्रकृति-प्रधान अक्षर का प्रभुत्व है, सूर्य्य से नीचे मर्त्य प्रकृतिप्रधान आत्मक्षर का प्रभुत्व है। मध्यस्थ सूर्य्य में दोनों की प्रधानता है। अक्षर को पराप्रकृति कहा गया है, एवं आत्मक्षर को अपरा-प्रकृति कहा गया है। सूर्य्य से ऊपर स्वयम्भू, और परमेष्ठी मे पराप्रकृतिरूप अमृताक्षर का एवं सूर्य्य से नीचे पृथिवी, और चन्द्रमा में अपराप्रकृतिरूप मर्त्यात्मक्षर का साम्राज्य है। अत-एव ऊपर के दोनो लोकी परब्रह्म, नीचे के दोनो लोकी अपरब्रह्म नाम से प्रसिद्ध होते हैं। 'परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' के अनुसार समष्टि ओङ्कार है। इस ओङ्कार में अव्यय अर्द्धमात्रस्थानीय है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| परब्रह्म | १—१—प्राणमयः स्वयम्भूः<br>२—२—आपोमयः परमेष्ठी | —पराप्रकृतिरक्षर → | अकारः | पञ्चपर्वव्यापक. पुरुषोऽव्ययः<br>'अर्द्धमात्रा' |
| | —:०:— | | | |
| परापरब्रह्म | ३—१—वाङ्मयः सूर्य्यः | —परापरप्रकृतिरक्षरात्मक्षरः → | उकारः | |
| | —:०:— | | | |
| अपरब्रह्म | ४—१—अन्नमयश्चन्द्रमाः<br>५—२—अन्नादमयी पृथिवी | —अपराप्रकृतिरात्मक्षरः— → | मकारः | |

**एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म, यदोङ्कारः**

अक्षर का मौलिकरूप ब्रह्मा है। इस का व्यक्तरूप मर्त्य ब्रह्मा है। विकार स्वरूप प्राण है। इस प्रकार ब्रह्ममूर्त्ति अमृताक्षर ही अमृतब्रह्मा-मर्त्यब्रह्मा-प्राण-पञ्चीकृतप्राण-पञ्चपञ्चीकृतप्राण, इस क्रम से स्वयम्भू रूप में परिणत हुआ है। स्वयम्भू में अव्यक्त अक्षर की ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, तीनों कलाओं का हृदयरूप से विकास हुआ है। अतः इस स्वयम्भू को अवश्य ही अव्यक्त-अमृतात्मा, इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। इसी अक्षर विकास दृष्टि को लक्ष्य में रख कर सखण्ड इस प्राकृतात्मा को हम 'अक्षर' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। इसी अक्षर दृष्टि से वाजिश्रुति ने इस के लिए—"एष ते आत्मा अन्तर्यामी-अमृत.' यह कहा है। हृदयरूप होने से ही यह सत्य है। सत्य ही तो नियति का प्रधान स्वरूप है। यथा-तथारूप याथातथ्य ही सत्यभाव है, यही नियतभाव है, यही नियति है, यही विधि (प्राणमूर्त्ति ब्रह्मा) का अटल विधान है। यह अविचाली है, और सब लोक विचाली हैं। चलन कम्पन है। कम्प ही भय है। वह भयातीत, किन्तु भय का प्रवर्त्तक है। पाँचो विश्व-पर्वों में सर्वप्रतिष्ठारूप सत्य अव्यक्त ही अनार्त्त है, तदतिरिक्त सारे रज सभय (विचाली), अतएव आर्त्त हैं—'अतोऽन्यदार्त्तम्'। इसी हृदयमूर्त्ति, त्र्यक्षरात्मक, अक्षर-प्रधान, प्राणप्रकृतिक,

गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानि । वायुना हि गौतम तत् सूत्रेण संदृब्धानि भवन्ति" इति । —शत० १४ का० । ६ । ७ ।

इस प्रकार आसत्य सूत्र द्वारा वह अव्यक्त सब में व्याप्त हो रहा है । नामरूपात्मक, अत एव सत्य शब्द से व्यवहृत विश्व इसी सूत्र द्वारा उस सत्यस्यसत्य स्वयम्भू के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किये हुए है । अव्यक्तात्मा के इसी सूत्रात्मविवर्त्त का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् बादरायण कहते हैं—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रं (सूत्रं), सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

—श्रीमद्भागवत

अव्यक्तात्मा का तीसरा विवर्त्त है उपलब्धिलक्षण-वेदात्मा । नियतिः सत्यरूप अन्तर्यामी से ही इस वेदात्मा का विकास होता है । अन्तर्यामी में ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, ये तीन कलाएँ बतलाई गई हैं । साथ ही में यह भी कहा गया है कि,

उपलब्धिलक्षण-वेदात्मा—

स्थितिलक्षण ब्रह्मप्रतिष्ठा पर आगति-गतिलक्षण विष्णु-इन्द्र का आदान विसर्गात्मक व्यापार होता रहता है । यह विरुद्ध व्यापार ही इन्द्राविष्णु की प्रतिस्पर्द्धा है । इस प्रतिस्पर्द्धा की आधारभूमि है—आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद । विकारक्षर की—प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद, ये पाँच कलाएँ बतलाई गई हैं । इन पांचों के साथ क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्नि, इस पांच अक्षरों का सम्बन्ध बतलाया गया है । इस में प्राण-कला का स्थितिलक्षण ब्रह्मा में अन्तर्भाव है । यही प्रधान अन्तर्यामी है । शेष चारों कलाओं की अग्नि-सोम समन्वय से तीन ही कलाएं रह जाती हैं । अप्कला का प्रधान सम्बन्ध विष्णु के साथ है वाक् कलाका प्रधान सम्बन्ध इन्द्र कला के साथ है, एवं अन्नगर्भित अन्नादकला का प्रधान सम्बन्ध सोमगर्भित अग्नि कला के साथ है । आपः-वाक्-अन्नान्नाद, तीनों के अधिष्ठाता क्रमशः विष्णु-इन्द्र-सोमाग्नि ये तीन अक्षर हैं । इन तीनों में स्पर्द्धा करने वाले इन्द्राविष्णु हैं, अग्निसोम तटस्थ हैं । स्पर्द्धा के आधारभूत तीनों का आपः शब्द से ग्रहण कर लिया जाता है । कारण अप्गर्भ में वाक्-अन्नाद का समावेश है । इस अप्स्पर्द्धा से लोक-वेद-वाक् ये तीन भाव उत्पन्न होते हैं । विष्णु सम्बन्ध से अप् द्वारा लोक का विकास होता है—

"लोकाः ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः"। इन्द्र-सम्बन्ध से वाग्द्वारा वेदतत्त्व का विकास होता है—'वाग्विधृताश्च वेदाः'। एवं इन्द्रसोमगर्भित अग्नि-सम्बन्ध से वागन्नगर्भित अन्नाद से वाग्लक्षण वषट्कार का उदय होता है—'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्'। इस प्रकार प्रकृतिभेद से लोकसाहस्री—वेदसाहस्री—वाक्साहस्री, इन तीन साहस्रियों का जन्म हो जाता है। इसी साहस्री-विज्ञान को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है—

उभाजिग्यथुर्न पराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥

—ऋक्सं०६, ६६, ८।

किं तत् सहस्रमिति ?-इमे लोकाः, इमे वेदाः,
अथो वागिति ब्रूयात्" (ऐत०ब्रा० ६। १५।)

उक्त तीनों साहस्रियों में से प्रकृत में प्रधानरूप से वेदसाहस्री ही अपेक्षित है। इस के ऋक्-साम-यजुः, ये तीन पर्व हैं। तीनों में यजुः ही मुख्य है, यही पुरुष है। ऋक्साम वयोनाध (छन्द—आयतन—सीमा) मात्र हैं। यजुः में भी गतिप्रकृतिक 'यत्'रूप प्राणतत्त्व ही मुख्य है। आत्मविद्याशास्त्र का ही नाम वेदशास्त्र है। आत्मतत्त्व ज्ञानशक्तिमय मन, क्रियाशक्तिमय-प्राण, अर्थशक्तिमयी वाक् के भेद से त्रिकल है। आत्मकलाभेद से वेदशास्त्र भी तीन भागों में विभक्त हो रहा है। मनोविद्याशास्त्र आरण्यकोपनिषत्—शास्त्र है, प्राणविद्याशास्त्र त्रयी-(संहिता)—शास्त्र है, एवं वाग्विद्याशास्त्र ब्राह्मणशास्त्र है। त्रयी की मूलप्रतिष्ठारूप यजुःप्राण से (जो कि मौलिकप्राण असत्, ऋषि, आदि नामों से प्रसिद्ध हैं) ही क्रमशः पितर-असुर-देवता-गन्धर्व-पशु-पुरुष (वैश्वानर), आदि इतर सम्पूर्ण प्राणदेवताओं की सृष्टि हुई है। सृष्टब्रह्म (विश्व) का मूल आरम्भक वेदप्राण ही है, जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—

सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥ १ ॥ (१। २१)
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः ॥ २ ॥ (१२। ६८)

सत्यप्रजापति (नियतिः प्रजापति–अन्तर्य्यामी) के स्वरूप को लक्ष्य में रख कर बृहदारण्यक-श्रुति कहती है—

"एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्। एतद् ब्रह्म, एतत् सर्वम्। तदेतत् त्र्यक्षरं—'हृ–द–यम्' इति। 'हृ'-इत्येकमक्षरम्। अभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। 'द' इत्येकमक्षरम्। ददन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। 'यम्' इत्येकमक्षरम्। एति स्वर्गं लोकं, य एवं वेद। तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव। स यो हैवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति, जयतीमाँल्लोकान्" (शत० १४ का० ८। ४-५)।

यद्यपि अन्तर्य्यामी स्वयम्भू प्रधान होता हुआ प्राणप्रधान है, उधर अक्षर ब्रह्मप्रधान है। परन्तु वही यहां प्राणरूप से विकसित हुआ है, अतएव श्रुति अक्षर को भी शास्ता–अन्तर्य्यामी कहने में संकोच नहीं करती। जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है—

"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाः अभिवदन्ति०—:—:—एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः, सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृते०। अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्मोल्लोकात् प्रैति, स ब्राह्मणः"

—शत० १४ का० ६। ८

निष्कर्ष यही हुआ कि, ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्रानुमह से त्र्यक्षर बनता हुआ यही स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा हृदयरूप से सब पदार्थों के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ नियति रूप से सब का सञ्चालन कर रहा है। अन्तर्य्यामी नाम से प्रसिद्ध अव्यक्तात्मा का यही प्रथम विवर्त्त है

२

इसी अव्यक्तात्मा का दूसरा विवर्त्त है विष्टम्भनलक्षण सूत्रात्मा। उपर्युक्त बृहदारण्यक श्रुति ने अक्षरमूर्त्ति अव्यक्तात्मा को 'सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृते तिष्ठत' इत्यादि रूप से विधर्त्ता कहा है। अव्यक्त अन्तर्य्यामी स्वयम्भू विश्व के यच्चयावत् पदार्थों का सञ्चालन कर रहा है। किस सम्बन्ध से, किस शक्तिके द्वारा?

ऋतसत्यलक्षण सूत्रात्मा—

इस प्रश्न का समाधान यही सूत्रात्मा है। विश्व में १-ऋत-२-सत्य-३-ऋतसत्य, भेद से पदार्थ तीन भागों में विभक्त हैं। सहृदय (सकेन्द्र) सशरीरी पदार्थ सत्य हैं, अहृदय अशरीरी

वायु आदि पदार्थ ऋत हैं, एवं अहृदय सशरीरी पदार्थ ऋतसत्य हैं। वायु और पानी का न कोई शरीर है, न केन्द्र है। पानी, अथवा वायु को जिस आयतन में अवरुद्ध कर दिया जाता है, उन का वैसा ही शरीर हो जाता है। इसी प्रकार केन्द्राभाव भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। सकेन्द्र वस्तु के एक अवयव ग्रहण से सम्पूर्ण वस्तु गृहीत हो जाती है। पानी को आप जहां से उठावेंगे, आंशिक रूप से वह वहीं से उठ आवेगा। कारण, यहां केन्द्राभाव है। मेघ में शरीर है, परन्तु हृदय नहीं है। इस हृदयबन्धन के अभाव से ही वायु के प्रबल आघात से मेघ खण्ड खण्ड होकर इतस्ततः विकीर्ण हो जाता है। अग्निप्रधान पदार्थ सहृदयशरीरी बनते हुए सत्य कहलाते हैं। सोमप्रधान प्रधान अहृदय अशरीरी रहते हुए ऋत कहलाते हैं। अग्नीषोमप्रधान पदार्थ सोमसम्बन्ध से अहृदय, अग्निसत्ता से सशरीरी बनते हुए उभयधर्म्मों से आक्रान्त रहते हुए 'ऋतसत्य' कहलाते हैं। इन तीनों के सञ्चालन के लिए उस अव्यक्त में सूत्रबल का आविर्भाव होता है। पूर्व के प्रकरण में १६ बलकोशों में एक 'सूत्र' नाम के बलकोश का भी दिग्दर्शन कराया गया है। यह एक प्रकार का प्राणबल है। प्राण को विधर्त्ता कहा जाता है। श्लथ परमाणुओं को संघठित करने वाला प्राणबल ही सूत्र है। इसी सूत्रबल के सम्बन्ध से प्रत्येक वस्तु के सर्वथा विभक्त परमाणु एक सूत्र में संघठित प्रतीत होते हैं। अक्षर प्राणमूर्त्ति कहा गया है। इसी सूत्रभाव के कारण, दूसरे शब्दों में परमाणुकूट (समूह) पर प्रतिष्ठित रहने के कारण इसे '**कूटस्थ**' कहा जाता है— '**कूटस्थोऽक्षर उच्यते**'। यही बलविशेष सूत्र-शक्ति है। ६ओं लोकों से पराःपरावत (दूर से दूर) रहने वाले अव्यक्त स्वयम्भू ने इसी सूत्र-रूप पाश से सब को बद्ध कर रखा है। हृदय में वह अन्तर्य्यामी रूप से प्रतिष्ठित रहता है, एवं पिण्ड में, साथ ही में जिन में हृदय नहीं है—ऐसे ऋतपदार्थों में सूत्ररूप से प्रतिष्ठित रहता है। यह सूत्र **ऋत—सत्य—ऋतसत्य** भेद से तीन भागों में विभक्त है। पूर्वोक्त लक्षण आग्नेय प्रधान सत्यपदार्थों का सञ्चालन करने वाला सत्यसूत्र है। सोमप्रधान ऋतपदार्थों का शास्ता ऋतसूत्र है। उभयप्रधान ऋतसत्य पदार्थों का सञ्चालक ऋतसत्यसूत्र है। विश्व में जितने भी सत्यपदार्थ हैं, उन सब की योनि यही अव्यक्त सत्य हैं। अत एव इसे 'सत्यस्य सत्यम्' कहा जाता है। यह सत्यस्य सत्यं प्राणवायु स्वरूप है। सूत्रात्मक इसी अव्यक्त का निरूपण करती हुई ब्राह्मण श्रुति कहती है—

"वायुर्वै गौतम तत् सूत्रम्। वायुना (प्राणेन) वै गौतम सूत्रेण—अयं च लोकः, परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि संदब्धानि भवन्ति। तस्माद्वै

षोडशीपुरुष वेदरूप में परिणत होकर ही उपलब्ध होता है। अतएव उपलब्धि को ही ब्रह्म कहा जाता है। अमृतात्मा सच्चिदानन्दलक्षण है। अतः वेद की भी सच्चिदानन्दरूप से ही उपलब्धि होती है। "विन्दति इति वेदः" "वेत्ति—इति वेदः" "विद्यते—इति वेदः" यही वेदशब्द का निर्वचन है। "अमुक पदार्थ है" यह भी 'विद्यते' के अनुसार वेद है। यह निर्वचन सत्ताप्रधान है। सत्ताश्रय नामरूप कर्ममय भौतिक पदार्थ ही सत् है। अमुक वस्तु है, उसे देवदत्त जानता है, यह दूसरा पर्व है। यह भी 'वेत्ति' के अनुसार वेद है। यह निर्वचन चेतनाप्रधान है। चेतनाश्रय भौतिक भाव ही चित् है। जो वस्तु है, जिसे देवदत्त जानता है, उसे वह प्राप्त कर लेता है। यह भी 'विन्दति' के अनुसार वेद है। यह निर्वचन रसप्रधान है। वस्तु की प्राप्ति से ही आत्मा में तृप्तिलक्षण आनन्द का उदय होता है। अतएव तीसरा पर्व आनन्दरूप है, यही प्रिय है। इस प्रकार 'अस्ति-भाति-प्रिय' रूप से वेदमय बनकर अमृतात्मा सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। वेद ही उस का विश्वरूप है। अतएव उसे वेदमूर्त्ति-वेदैकवेद्य, इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। अस्ति ही पदार्थ की उपलब्धि है। उपलब्ध पदार्थ ही रस है। यही वेद है। दूसरे शब्दों में उपलब्धि ही वेद है। जिस का वेद नहीं, उस की उपलब्धि नहीं। आप को विश्वास करना चाहिए कि, विश्व में उत्पन्न होने वाले पदार्थों का विकास वेदपूर्वक ही हुआ है। पहिले वेद का विकास होता है। अनन्तर वेदप्रतिष्ठा पर, दूसरे शब्दों में वेदगर्भ में तत्तद् भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। वेदतत्त्व भौतिक पदार्थ से पहिले विकसित होता है। अतएव इसे 'प्रथमज' कहा गया है। ऋषिप्राणात्मक (यजु प्राणात्मक सप्तपुरुषपुरुषात्मक, यजु प्रधान इसी प्रथमज ब्रह्म (त्रयीब्रह्म) का निरूपण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

> 'ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत-त्रय्येव विद्या। तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्'। (शत०६, १, १, १०) "त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि-(अपश्यत्)" (शत० १०, ४, २, २२)

जब तक वेद है, तभीतक वेदमूलक संसार है। "सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" "वेदोऽखिलं-धर्म्ममूलम्" इत्यादि स्मार्त्त वचन भी इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

प्रकारान्तर से अव्यक्तात्मविवर्त्त पर दृष्टि डालिए। प्राणमय ब्रह्मा, आपोमय विष्णु, वाङ्मय इन्द्र, इन तीनों की समष्टि को हमने अन्तर्य्यामी कहा है। इस अन्तर्य्यामी के ही

स्वभक्तियों की प्रधानता-अप्रधानता से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इन्द्र-विष्णुगर्भित प्राणमूर्त्ति ब्रह्मात्मक यही अव्यक्तात्मा **अन्तर्यामी** है। ब्रह्मा कभी केन्द्र नहीं छोड़ते। वे सदा अन्त प्रविष्ट ही रहते हैं। केन्द्र में स्थिर रूप से प्रतिष्ठित प्राणमूर्त्ति ब्रह्मा इन्द्राविष्णु के आधार पर प्राण-सूत्रद्वारा सब का नियमन करते हुए 'अन्तर्य्यामी' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं।

ब्रह्मेन्द्रगर्भित आपोमय विष्ण्वात्मक यही अव्यक्तात्मा सूत्रात्मा है। अव्यक्तात्मा जिस तत्त्व के आधार पर सातों लोकों में व्याप्त रहता है, उसी को सूत्रात्मा कहा गया है। वह व्याप्तिसाधन सत्यमूर्त्ति अप्तत्त्व, किंवा आपोमय विष्णु ही है। 'वेवेष्टीव हि यज्ञम्' इत्यादि निर्वचनों के अनुसार विष्णु को इस आप्ति (व्याप्ति) लक्षण अप्सम्बन्ध से ही व्यापक माना गया है। अत एव च ब्राह्मणश्रुति ने आपः का—'यदाप्नोत्तस्मादापः'-'यदवृणोत् तस्माद्वाः' (शत०६।१।१।९) यह निर्वचन किया है। आपोमय विष्णु ही अशनायासूत्र का अधिष्ठाता बनता हुआ, सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। इसी विष्णुसूत्र से वह अव्यक्त सूत्रात्मा बना हुआ है।

विष्णुब्रह्मगर्भित वाङ्मय इन्द्रात्मक यही अव्यक्तात्मा वेदात्मा है। अव्यक्तात्मा जिस रूप से विश्वस्वरूप में परिणत होता है, वह यही वाग्विवर्त्तरूप इन्द्रात्मक वेद है। यजु प्राण चितिधर्म्म के कारण आगे जाकर सप्तपुरुषपुरुषात्मक बन जाता है। इस सप्तपुरुषसंस्था के मध्य का मुख्य प्राण ही—"योऽयं मध्यत ऐन्ध" (शत० १४।६।११।२) के अनुसार "इन्ध" कहलाया है। 'इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्' के अनुसार परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में इन्ध ही 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार वाङ्मय इन्द्र की यजुरूपता भलीभाँति सिद्ध हो जाती है। वयरूप यजुर्मूर्त्ति यह इन्द्र वयोनाध-(छन्द)-रूप ऋक्साम के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है। इसी आधार पर—'ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी" (ऐ० ब्रा० २।२४) यह कहा जाता है। यही इन्द्र अग्निसोमसम्बन्ध से वेदप्रवर्त्तक बनता हुआ आगे जाकर **भूतपति-भूतभावन-भूतयोनि भूतनाथ**, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हो जाता है। इस प्रकार एक ही अव्यक्तात्मा अपेक्षा भेद से कथित तीन स्वरूपों में परिणत होता हुआ सर्वकर्म्मा (विश्वकर्म्मा) बन रहा है। ऋक्संहिता ने सर्वकर्म्मा इस अव्यक्तात्मा को 'विश्वकर्म्मा" नाम से ही व्यवहृत किया है। वेदरूप से वही अव्यक्तात्मा सब कुछ बन रहा है, नियतिरूप से वही सब का सञ्चालक बन रहा है, एवं सूत्ररूप से वह सब के साथ, सब

इस के साथ सम्बद्ध हो रहे हैं। यही पारस्परिक सम्बन्ध 'सर्वहुत' यज्ञ है। इसी को लक्ष्य में रख कर—'आत्मनि प्रजातिमधत्त' यह कहा जाता है।

## १
## अव्यक्तात्मा

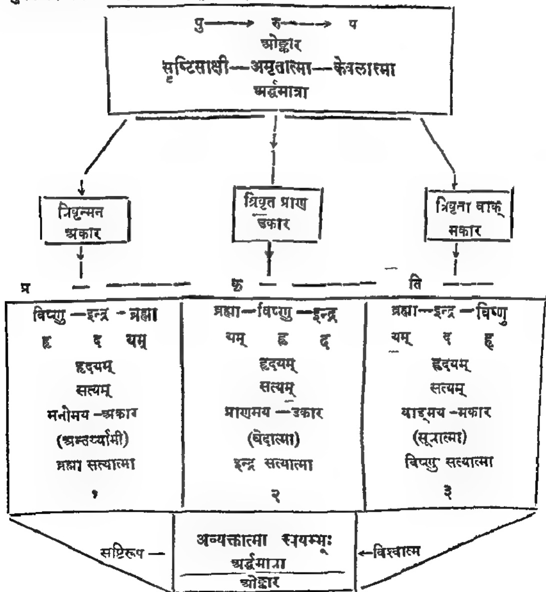
| ब्रह्मा प्राणमयः | विष्णुरापोमयः | इन्द्रोवाङ्मयः |
| --- | --- | --- |
| विष्ण्विन्द्रगर्भितो ब्रह्मा | ब्रह्मेन्द्रगर्भितो विष्णुः | विष्णुब्रह्मगर्भित इन्द्रः |
| ३–यम् | १–हृ | २–द |
| अन्तर्यामी<br>१ | सूत्रात्मा<br>२ | वेदात्मा<br>३ |

उक्त तीनों अव्यक्तात्मविवर्त्तों में क्रमशः ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र की प्रधानता के साथ इतर दोनों की भी सत्ता रहती है। फलतः प्रत्येक में सत्यस्वरूपसम्पादक हृदयभाव की सत्ता सिद्ध

त्रि.सत्यप्रजापति—

हो जाती है। सत्यमूर्त्ति अव्यक्तात्मा इन्हीं तीन पृथक् पृथक् सत्य-विवर्त्तों के कारण त्रिसत्य बन जाता है। इसी आधार पर "त्रिः सत्या वै देवाः" यह अनुगम वचन प्रतिष्ठित है। यही त्रिसत्यमूर्त्ति, अत एव पुराणों में त्रिमूर्त्ति नाम से प्रसिद्ध अव्यक्तात्मा स्वयम्भू सातों लोकों की मूलप्रतिष्ठा है, अतएव लोकान्तर्गत सम्पूर्ण वाग्व्यवहार त्रित्व मर्य्यादा से ही आक्रान्त हैं। उधर मनःप्राणवाङ्मय पुरुषात्मा (अमृतात्मा) त्रिसत्य था, इधर ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्रमय अव्यक्तात्मा भी ऋ० सू० वे० भेद से त्रिसत्य है। स्वप्रकृत्यपेक्षया जहां ब्रह्मा प्राणमय, किंवा प्राणप्रकृतिक है, वहां आत्मकलापेक्षया ब्रह्मा मनोमय है। स्वप्र० इन्द्र जहां वाक्प्रकृतिक है, आत्मापेक्षया वही प्राणमय है। स्वप्र० विष्णु जहां आपोमय है, आत्मापेक्षया वही वाङ्मय है। जिस प्रकार मनः–प्राण–वाक्, तीनों

त्रिवृद्भावयुक्त होने से प्रत्येक त्रिमूर्त्ति हैं, एवमेव ब्रह्मादि तीनों (प्रत्येक) त्रिमूर्त्ति है—'नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टे केवलात्मने'। सृष्टि से पहिले मन प्राणवाक् प्रधाना बनती हुई यह त्रिमूर्त्ति आत्मरूपा है। सृष्ट्युन्मुख बन कर यही प्रकृतिरूपा है। और यों प्रकृति-पुरुष का नित्य तादात्म्य सिद्ध हो रहा है।



हमारा मूलप्रभव उक्त लक्षण त्रिसत्य अव्यक्तात्मा है। दूसरे शब्दों में हमारी मूलप्रकृति की पूर्णता तीनों सत्यों पर अवलम्बित है, अतएव लौकिक-वैदिक सभी ऐहिक पारमार्थिक कर्म्मों की पूर्णता त्रित्व भाव पर ही समाप्त होती है। आच-

त्रित्वप्रवर्त्तक अव्यक्तात्मा

मन-प्राणायाम-स्वस्तिपाठ-आदि शास्त्रीय कर्म्मों का त्रित्व सब को विदित है। एवमेव लौकिक व्यवहार भी बिना तीन के अप्रतिष्ठित माने जाते हैं। न्यायालयों (कोर्टों) में वादी प्रतिवादी (मुद्दई-मुद्दाअलेह) को वहां का भृत्य (चपरासी) तीन ही बार आवाज लगाता है, यह कौन नहीं जानता। बैंकों के सिपाही कौन है ?, यह तीन बार पूछेंगे, तीसरी बार भी आगन्तुक ने उत्तर न दिया तो फायर हो जायगा। ऐसा क्यों ?, इस का उत्तर वर्त्तमान विज्ञान भले ही न दे सके, परन्तु वेदमहर्षि आत्मत्रित्ववाद को आगे करते हुए हमारा सर्वात्मना सन्तोष कर रहे हैं।

इस अव्यक्तात्मा का प्रभव (उत्पत्तिस्थान षोडशीपुरुषावच्छिन्न, प्राणप्रधान, अपौरुषेय *वेदपुरुञ्जन है। प्रतिष्ठा (स्थितिस्थान स्वायम्भुव हृदयबिन्दु है। योनि (आगमनद्वार) ब्रह्म (आत्मक्षर) है। आशय (व्याप्तिस्थान) सम्पूर्ण विश्व है। पञ्चपर्वात्मक विश्व में सर्वत्र व्याप्त प्रलय, एवं खण्डप्रलयाधिष्ठाता विश्वकर्म्मा यही स्वयम्भू प्रजापति सर्वेश्वर, किंवा सर्वात्मक विश्व की अपेक्षा से ,विश्वेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। यह सत्यमूर्त्ति परोरजा भगवान् पूर्व कथनानुसार नित्य अशान्ति गर्भित नित्य शान्तिमूर्त्ति है। अतएव इसे शान्तात्मा' भी कहा जाता है। इस प्राणदेव का उदयकाल ही सृष्टिकाल है, अस्तकाल ही प्रलयकाल है। सृष्टिकाल इस का अहरागम है, प्रलयकाल रात्र्यागम है। इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ (मनु १।५२)।

अंशरूप से अध्यात्मजगत् में प्रविष्ट यही शान्तात्मा इतर सम्पूर्ण खण्डात्माओं की प्रतिष्ठा बना हुआ है। प्राज्ञखण्डात्मा विज्ञान में अनुस्यूत है। विज्ञानात्मा महानात्मा में

* वेद नाम के पुरञ्जन से आरम्भ में अव्यक्तात्मा का विकास बतलाया है। यह वेद पुरुषरूप होने से अपौरुषेय कहलाता है। एवं पूर्व में अव्यक्त के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाले जिस वेदात्मा का दिग्दर्शन कराया गया है, वह पुरुषगर्भ में उत्पन्न होने के कारण पौरुषेय है। यह वेद अग्यजुःसामवेद से भिन्न पदार्थ है।

आधार पर प्रतिष्ठित है। सर्वाधार यही शान्तात्मा है। इस आध्यात्मिक शान्तात्मा का प्रभव वल्शात्मक विश्वव्यापक स्वयम्भू है, प्रतिष्ठा हृदय है, योनि परमाकाश नाम से प्रसिद्ध परम व्योम है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। अन्तर्य्यामी–सूत्रात्मा–वेदात्मा, भेदभिन्न त्रिकल यह अव्यक्तात्मा ही सम्पूर्ण विश्व का कारण है। यह प्राणप्रधान है। प्राण असङ्ग तत्त्व है, अत एव कारण होते हुए भी यह मैथुनीसृष्टि की अपेक्षा से शास्त्रों में अकारण नाम से प्रसिद्ध है। 'महतः परमव्यक्तम्' (कठोप०१।३।११।) इस सिद्धान्त के अनुसार अव्यक्त स्वयम्भू ही व्यक्ताव्यक्त पारमेष्ठ्य महत् का कारण है, जैसा कि महदात्मप्रकरण में स्पष्ट होने वाला है।

हम यह कह आए हैं कि, वेद भाग ही इस अव्यक्तात्मा की (भौतिक विश्व की अपेक्षा से) मुख्य प्रतिष्ठा है। इस वेदत्रयी में भी यजुर्वेद ही मुख्य है। स्थितिगत्यात्मक यजुर्वेद ही पुरुष है। यही भौतिकी चित्यसृष्टि का मूलाधार है। जूरूप स्थिति-तत्त्व की अपेक्षा से यह अव्यक्त तत्त्व सर्वथा कम्पन रहित है, अनेजत् है। यत् रूप गतितत्त्व की अपेक्षा से यह मन से भी जवीय (शीघ्रगामी) है। अपने इन्हीं दोनों विरुद्ध रूपों से यज्जूमूर्त्ति परोक्षभाषानुसार, यजुर्मूर्त्ति यह अव्यक्त समष्टि–व्यष्टिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। प्रत्येक पदार्थ पर दृष्टि डालिए, वह आप को ठहरता हुआ चलता दिखाई देगा। बनना स्थितिमूलक है, बिगड़ना गतिमूलक है। प्रत्येक पदार्थ बनता हुआ बिगड रहा है। समुद्रतरङ्गों की भाँति प्रत्येक पदार्थ उच्चावचभावों से नित्य आक्रान्त है। यही अव्यक्तात्मा के साक्षात् दर्शन हैं। आविर्भावकाल स्थितिकाल है, तिरोभावकाल गतिकाल है। आविर्भावकाल में वह अव्यक्त व्यक्त है, तिरोभावकाल में वही व्यक्त अव्यक्त है। आविर्भाव वस्तु का व्यक्तभाव है, व्यक्तता ही व्यक्तिभाव है, व्यक्तिभाव ही तत्तत् पदार्थों की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) है। एक एक व्यक्ति एक एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है। इस प्रकार अभिव्यक्तिलक्षण इस व्यक्तिभाव की प्रतिष्ठारूप यही एकमात्र अव्यक्तात्मा बन रहा है। अमृतात्मा की भांति इस अव्यक्तात्मा का भी कर्म्मभोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीर में रहता हुआ भी, शरीर परिच्छिन्न होता हुआ भी, सोपाधिक बनता हुआ भी असङ्ग प्राणमय होने से यह आत्मा कर्म्मलेप से सर्वथा असङ्ग है। यहा सूत्रज्योति का अभाव है, केवल ज्ञानज्योति (अमृतात्मज्योति) ही इस की आधारभूमि है। यह असङ्ग अव्यक्त तत्त्व ही विश्व की बहिरङ्ग-

अव्यक्तात्मा का प्रकृतिभाव —

प्रकृति है। इस खण्ड तत्व के साथ भी सर्वव्यापक, आत्मयोनिस्वरूप उस अखण्ड षोडशी आत्मा का सम्बन्ध होता है। अतएव खरूप, अतएव प्रकृतिरूप होते हुए भी इसे 'अव्यक्तात्मा' इस प्रकार आत्मशब्द से व्यवहृत किया जाता है। खण्डात्माओं में यह पहिला 'प्राकृतात्मा' है। इस का प्रधान कर्म्म है—सर्वथा विभिन्न सस्था वाले शरीर को एकसूत्र में बद्ध रखना, शारीर धातुओं का अव्यक्तरूप से निर्म्माण करना, एव उन का नियतरूप से यथास्थान सन्निवेश करना, नवीन नवीन भूतों को उत्पन्न करते रहना, पूर्व पूर्व भूतों का विलयन करते रहना। प्रसङ्गोपात्त यह और जान लीजिए कि, जिस प्रकार अध्यात्मसस्था में यह अव्यक्तात्मा शान्तात्मा, आदि नामों से प्रसिद्ध है। एवमेव आधिभौतिक सस्था में यही "गुहा" नाम से प्रसिद्ध है। एक ही तत्त्व अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत भेद से त्रिसत्य बनता हुआ १स्वयम्भू २अव्यक्त ३गुहा-इन तीन नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। अव्यक्तसस्था में भूत-प्राण-भेद से दो तत्त्व नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं। बलभाग का विकास भूत है, रसभाग का विकास प्राण है। प्राणापेक्षया यह स्वयम्भू कहलाया है, भूतापेक्षया यही आकाश कहलाया है। इसी आकाश को 'वाग्ब्रह्म' कहते हैं। इसी "सत्यावाक्, दूसरे शब्दों में अनादिनिधना नित्या वेदवाक् के (स्वयम्भू के) उदर में सम्पूर्ण विश्व समा रहा है, जैसा कि 'अथो वागेवेदं सर्वम्' "वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" इत्यादि श्रौत वचनों से स्पष्ट है। षोडशी पुरुष विश्वात्मा है। इसी विश्वात्मा से सर्वप्रथम आकाशात्मा इसी अव्यक्त स्वयम्भू का प्रादुर्भाव हुआ है। इसी अभिप्राय से "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" (तै० उप०) यह कहा गया है।—

प्रकरणोपसहार—

आत्मोत्क्रान्ति के अनन्तर यह अव्यक्तात्मा सर्वव्यापक प्राणमूर्त्ति आकाशात्मा में यहां का यहीं विलीन हो जाता है। असङ्ग होने से कर्म्मबन्धन से सर्वथा पृथक् रहता हुआ परोरजाःप्राणमूर्त्ति यह अव्यक्तात्मा लोकान्तर में गमन नहीं करता। घट के फूटते ही घटाकाश जैसे लोकान्तर में गमन न कर वहीं परमाकाश में लीन हो जाता है। एवमेव शरीरनिधन के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह स्वप्रभव व्यापक परमाकाश में लीन हो जाता है। लोकान्तर में गमन करने वाले कर्म्मात्मा के साथ बिन्दु बिन्दु पर नवीन नवीन अव्यक्त (आकाश) का सम्बन्ध होता रहता है। इसी अव्यक्त विलयन को लक्ष्य में रख कर "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इहैव समवलीयन्ते" यह कहा

गया है। श्राद्धकर्म्मादि का इस के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आप अपने कर्म्म से न इस का उपकार कर सकते, न अपकार। त्रिकल अव्यक्तात्मा का यही *संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है। अब क्रमप्राप्त यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत् की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

तदित्थं—वेद—सूत्र—नियतिर्भेदेन त्रिकलोऽयं स्वयम्भूरव्यक्तात्मा व्याख्यातो द्रष्टव्यः

समाप्ता चेयं श्राद्धविज्ञानान्तर्गत-'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां प्रथमखण्डात्मिकायां

## 'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्'—द्वितीया

## २

---

*इस विषय का विशद विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य द्वितीय खण्ड में देखना चाहिए।

श्री

समाप्ता चेयं

अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्-द्वितीया

२

———०——— -

अथ

आत्मविज्ञानोपनिषदि ( प्रथमखण्डे )

# 'यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

३



(३) { १–अधिदैवतम्——परमेष्ठी (पूर्णमदः)
२–अध्यात्मम्——अहरहर्यज्ञः (पूर्णमिदम्) } (२)

अथ

## श्राद्धविज्ञानान्तर्गत–'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां–

## "यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्"–तृतीया

## ३

### यज्ञात्मा—प्राकृतात्मा—परमेष्ठी (२)

१–ज्ञानानुगतश्चिदंशः (चिदात्मा)
२–अग्नीषोमयोश्चिदंशभोगः (यज्ञात्मा)

### सोऽयं द्विकलो यज्ञात्मा–प्राकृतात्मा–वा परमेष्ठी

१–सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
२–यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ३ अ० श्लो० १०, ९, ।

## (३)—यज्ञात्मस्वरूपपरिचयः—(अग्नीषोममयः शिपिविष्टात्मा)

१—यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्म्मेभिरायतः ।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ।। ऋक्सं० १०, १३०, १ ।

२—पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधिनाके अस्मिन् ।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥ ऋक्सं०१०-१३०-२ ।

३—सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः ।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ।। ऋक्सं० १०-१३०-७ ।

४—यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ।। ऋक्सं० १०-७१-३ ।

५—यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ।। ऋक्सं० १-८३-५ ।

६—अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ।
अतएव हविः क्लृप्तं—'मग्नीषोमात्मकं जगत्' ।। बृहज्जाबालोपनिषत् २ । ४ ।

७—ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम अधःशक्तिमयोऽनलः ।
ताभ्यां सम्पुटितस्तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत् ।। बृ० जा० ७० २।४।

८—आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः ।
अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकम् ।। ऋक्० १।९३।६ ।

९—वर्धदु-शंसां अप दूढ्यो जहि दूरे वा ये अन्ति वा के चिदत्रिणः ।
अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।। ऋक्० १।९४।९ ।

१०—यो वेद गहनं गुह्यं पावनं च ध्वतोदितम् ।
अग्नीषोमपुटं कृत्वा न स भूयोऽभिजायते ।। बृ० जा० ७० २।१४।

—꙳:०:꙳—

ओंयज्ञात्मब्रह्मणे नमः

# यज्ञात्मा–परमेष्ठी

## 'यज्ञोब्रह्मे'त्युपास्व

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृळयन्तः ।
आवोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद्या वरिवो वित्तरासत् ॥ ऋक्सं० १ । १०७ । १ ।
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋक्सं० १० । ९० । ९ ।
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ ऋक्सं० १० । ९० । १६
यस्मादृते न सिद्ध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥ ऋक्सं० १ । १८ । ७ ।

पारमेष्ठ्यब्रह्मपरिचय—

प्राणमय अव्यक्तमूर्त्ति स्वयम्भू प्रजापति (परमप्रजापति) के 'साहस्रीमण्डल' (महिमामण्डल, विभूतमण्डल, वैश्वरूप्य, आदि नामों से व्यवहृत वषट्कारमण्डल) में भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठीतत्त्व प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार अव्यक्त स्वयम्भू के अधिष्ठाता प्रधान देवता प्राणप्रकृतिक 'ब्रह्मा' हैं, एवमेव व्यक्ताव्यक्त मूर्त्ति यज्ञात्मक परमेष्ठी के अधिष्ठाता प्रधान देवता अप्प्रकृतिक 'विष्णु' हैं। विष्णु ही यज्ञ के अन्यतम स्वरूप समर्थक माने गए हैं। इसी आधार पर विष्णुतत्त्व का 'वेवेष्टीव हि यज्ञम्' यह निर्वचन किया जाता है। कठोपनिषच्छ्रुति के अनुसार यह पारमेष्ठ्य आत्मतत्त्व महानात्मा नाम से भी व्यवहृत हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

यच्छे-१द्वाङ्मनसी–२प्राज्ञ–स्तद्यच्छेद्–३ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञान–४मात्मनि महति–नियच्छेत् तद्यच्छे–५च्छान्त आत्मनि ॥
—कठोपनिषत् १ । ३ । १३ ।

हमारी अध्यात्मसंस्था में १-शरीर, २-प्राणात्मा, ३-प्रज्ञानात्मा, ४-विज्ञानात्मा, ५-महानात्मा, ६-शान्तात्मा (अव्यक्तात्मा), ये ६ विभाग माने गए हैं। शरीर के आधार पर १-इन्द्रियप्राण, २-वाक्, तथा ३-इन्द्रिय-मन का अधिष्ठाता ४-प्राणात्मा (कर्म्मात्मा-भोक्तात्मा) प्रतिष्ठित हैं। इन चारों का समष्टि 'पार्थिव-प्रपञ्च' है। पृथिवी से ऊपर चन्द्रमा है। इस से सर्वेन्द्रिय, अनिन्द्रिय, अतीन्द्रिय, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध प्रज्ञानात्मा (मन) का विकास होता है। चन्द्रमा से ऊपर सूर्य्य है। सूर्य्यांशभूत विज्ञानात्मलक्षण ज्ञान ही बुद्धि है। सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठी है। तदंश महानात्मा है। परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू है। तदंश शान्तात्मा, किंवा अव्यक्तात्मा कहलाया है। अव्यक्त से परे उक्त पञ्च-प्राकृतात्माधिष्ठाता षोडशीपुरुष है। आत्मविवर्त्त की यही पराकाष्ठा है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

आत्मसोपानपरम्परा—

> इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
> मनसस्तु परा बुद्धि बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
> महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
> पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परो गतिः ॥ (कठ० १।३।१०-११)

इन्द्रियार्थसमष्टिरूप, शरीरानुगृहीत प्राणात्मा पहिला विवर्त्त है। इस से परे मन (प्रज्ञानात्मा) है, मन से परे बुद्धि (विज्ञानात्मा) है, बुद्धि से परे महानात्मा है, महान् से परे अव्यक्त है, अव्यक्त से परे पुरुष है। यही परपरायण है। श्राद्धकर्म्म के अतिरिक्त सर्वत्र इसी क्रम की प्रधानता समझनी चाहिए। अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत, तीनों संस्थाओं में उक्त-सभी (६ओं) विवर्त्तों का भोग हो रहा है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट हो जाता है

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १– | १– | पुरुषः षोडशी (अमृतात्मा) | १– | १– | पुरुषः षोडशी (अमृतात्मा | १– | १ | पुरुषः षोडशी (अमृतात्मा) |
| २– | १– | स्वयम्भूः (प्राणमयः) | २– | १– | अव्यक्तात्मा(प्रा०) | २– | १ | गुहा (प्रा०) |
| ३– | २ – | परमेष्ठी (आपोमयः) | ३– | २– | महानात्मा (आ०) | ३- | २ | आपः (आ०) |
| ४– | ३– | सूर्यः (वाङ्मयः) | ४– | ३– | विज्ञानात्मा (वा०) | ४– | ३ | ज्योतिः (वा०) |
| ५– | ४– | चन्द्रमाः (अन्नमयः) | ५– | ४– | प्रज्ञानात्मा (अ०) | ५– | ४ | अमृतम् (अ०) |
| ६– | ५– | महापृथिवी(प्राणाग्नि०) | ६– | ५– | प्राणात्मा (प्रा०) | ६– | ५ | रसः (प्रा०) |
| ७– | १– | भूपिण्डः(भूताग्निमयः | ७– | १– | शरीरम् (भू०) | ७– | १ | पिण्डः (भू०) |

आधिदैविकप्रपञ्च — १ आध्यात्मिकप्रपञ्च — २ आधिभौतिकप्रपञ्च — ३

दर्शनशास्त्र ने प्रधानरूप से आधिदैविक (ईश्वर), आध्यात्मिक (जीव) भेद से दो ही विवर्त्तों को प्रधानता दी है। स्वयं उपनिषत् ने भी "यदेवेह तदमुत्र" पूर्णमदः पूर्णमिदम्" (ई०) इत्यादि रूप से इह (यहां), अमुत्र (वहां), अदः (वह), इदं (यह), ये दो ही विभाग माने हैं। ये ही दोनों विभाग दर्शनों में ऐहिक–आमुष्मिक, नामों से व्यवहृत हुए हैं। पूर्वप्रदर्शित आधिभौतिक पदार्थों को असंज्ञजीव मानते हुए इन का आध्यात्मिक संस्था में ही अन्तर्भाव मान लिया गया है, जैसाकि निम्न लिखित कोष्ठक से स्पष्ट होजाता है।

अदः इद विवर्त —

| आधिदैविकप्रपञ्च १ | आध्यात्मिकप्रपञ्च २ | | |
|---|---|---|---|
| १<br>वल्शेश्वरो विश्वकर्म्मा<br>↓<br>प्रकृतितन्त्रेश्वरः | १<br>असंज्ञजीवाः<br>↓<br>धातवः | २<br>अन्तःसंज्ञजीवाः<br>↓<br>औषधिवनस्पतयः | ३<br>ससंज्ञजीवाः<br>↓<br>कृमिकीटपक्षिपशुमनुष्याः |
| १–स्वयम्भूः (प्राणमयः)<br>२–परमेष्ठी (आपोमयः)<br>३–सूर्य्यः (वाङ्मयः)<br>४–चन्द्रमाः (अन्नमयः)<br>५–सर्वज्ञः (आदित्यमयः)<br>६–हिरण्यगर्भः (वायुमयः)<br>७–विराट् (अग्निमयः).<br>८–भूपिण्डः (भूतमयः) | १–गुहा<br>२–आपः<br>३–ज्योतिः<br>४–अमृतम्<br>× +<br>+ ×<br>५–वैश्वानरः<br>(अग्निरसः)<br>६–पिण्डः | १–गुहा<br>२–आपः<br>३–ज्योतिः<br>४–अमृतम्<br>×<br>५–तैजसः<br>(वायुरसः)<br>६–वैश्वानरः<br>(अग्नि०<br>७–पिण्डः | १–अव्यक्तात्मा<br>२–महानात्मा<br>३–विज्ञानात्मा<br>४–प्रज्ञानात्मा<br>५–प्राज्ञः<br>६–तैजसः<br>७–वैश्वानरः<br>८–शरी० |
| अष्टकलःप्रकृतितन्त्रेश्वरः<br>—:०:—<br>१ | षट्कलोपेता-<br>असंज्ञजीवाः<br>–०–<br>१ | सप्तकलोपेता—<br>अन्तःसंज्ञजीवाः<br>–०–<br>२ | अष्टकलोपेताः—<br>ससंज्ञजीवाः<br>—०—<br>३ |

अध्यात्मम्

पूर्णमदः——→ पूर्णमिदम्

अदमुत्र (रसप्रधानसंस्था) यदेवेह——→ बलप्रधानसंस्था

यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है कि, उक्त आत्मविवर्त्तों में महानात्मा का परमेष्ठी से सम्बन्ध बतलाया गया है। साथ ही पूर्वोक्त कठश्रुति भी इसी अर्थ का समर्थन कर रही है। ऐसी स्थिति में महानात्मा को (प्रकृत श्राद्धप्रकरण में) चान्द्र बतलाना, साथ ही पारमेष्ठ्य आत्मा को 'यज्ञात्मा' नाम से व्यवहृत करना कैसे सङ्गत हो सकता है ?। इस प्रश्न के उत्तर में अभी यही समझ लेना पर्य्याप्त

महात्मस्वरूपसमन्वय—

होगा कि, ईश्वरीयप्रथा में चन्द्रमा और परमेष्ठी, दोनों सजातीय पर्व हैं। *तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत् तै० ब्रा० १, १, ३, १०,) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार पृथिवी के तृतीय द्युलोक स्थानीय परमेष्ठी में भी सोम है। दूसरे शब्दों में परमेष्ठी भी सोममय है, एवं—"एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमा·" (शत. १-६-४-५,) के अनुसार भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा लगाने वाला, पृथिवी का उपग्रहभूत अग्निप्राणात्मक प्रत्यक्ष दृष्ट चन्द्रमा भी सोममय ही है। यह सोमपिण्ड (चन्द्रपिण्ड) सौररश्मियों के सम्बन्ध से प्रकाशित हो रहा है। इसीलिए इसे चन्द्रमा (चन्द्रिकायुक्त प्रकाशयुक्त) कहा जाता है। विज्ञानभाषा में यही 'भास्वरसोम' नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य्य के ऊपर प्रतिष्ठित रहने वाला भूतज्योति से भास्वर, किन्तु ज्ञानज्योति का ग्राहक, अतएव ज्ञानज्योतिर्म्मय पारमेष्ठ्य सोम 'दिक्सोम' नाम से प्रसिद्ध है। इन्द्रियविज्ञान के अनुसार चान्द्रसोम जहां मन का आरम्भक है, वहां दिक्सोम श्रोत्रेन्द्रिय का स्वरूप समर्पक माना गया है। (देखिये ऐ० उप० २-४) चन्द्रमा प्रकाश का अधिष्ठाता है। दूसरे शब्दों में प्रकाशित सोम है। प्रकाश ही वस्तुरूपों का अधिष्ठाता है। अतएव तद्रूप मन रूपों का ग्राहक बनता है। दिक्सोम ज्ञान का अधिष्ठाता बनता हुआ श्रोत्रेन्द्रियरूप में परिणत होकर शाब्दज्ञान का अधिष्ठाता बनता है। शब्दश्रवण ज्ञानोदय का अन्यतम, एवं प्रधान द्वार है। ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जो परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी नाम के वाग्विवर्त्तों (शब्दविवर्त्तों) में से किसी एक से सम्बन्ध न रखता हो। इसी अभिप्राय से सेतुकार कहते हैं—

> न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
> अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥—भर्तृहरिप्रणीतवाक्यपदी।

परमेष्ठी में केवल ज्ञानप्रकाश है, वहां सूर्य्य से सम्बन्ध रखने वाली भूतज्योति का अभाव है। अतएव तद्देशभूत श्रोत्रनिष्ठ शाब्दज्ञान केवल ज्ञानप्रकाश का ही उत्तेजक बनता है। वही पारमेष्ठ्य दिग्युक्त सोम प्रवर्ग्यविद्या के अनुसार अशामना परमेष्ठी से प्रवृक्त

---

*"नभोऽन्तरिक्षं गगनम्" इत्यादि के अनुसार सूर्य्य और पृथिवी का (अन्तरिक्ष नाम का) अन्तराल प्रदेश पहिला द्युलोक है, सूर्य्य दूसरा द्युलोक है, इस क्रम से परमेष्ठी तीसरा द्युलोक बन जाता है। पृथिवी से तीसरे इस द्युलोक में (परमेष्ठी में) सोम प्रतिष्ठित है। सुपर्णरूप में परिणत अष्टाक्षरा गायत्री इसी सोम का आहरण करती है—जैसा कि "एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते" इत्यादि रूप सुपर्णाख्यान से स्पष्ट है।

(पृथक्) होकर सौर प्रकाश से भी युक्त हो जाता है। अतएव तदंशभूत मन चिन्मय सोम के सम्बन्ध से जहां विषयज्ञान का अधिष्ठाता बनता है, वहां यह भूतज्योति के प्रभाव मे विषयरूपों का भी अनुग्राहक बन जाता है। वक्तव्य यही है कि, परमेष्ठी—एवं चन्द्रमा, तात्विकदृष्टि से दोनों अभिन्न हैं, एक वस्तुतत्व (सोम) हैं। महत्तत्त्व का आगमन यद्यपि परमेष्ठी से ही होता है। परन्तु उस के आगमन का द्वार चन्द्रमा ही है, जैसा कि आगे के महदात्मप्रकरण में स्पष्ट हो जायगा। अतः महानात्मा को चन्द्रमा की भी वस्तु मान लिया जाता है। साथ ही में प्रेतपितरों की आधारभूमि चन्द्रमा है। पितरप्राणावच्छिन्न महत् का प्रधानरूप से चन्द्रमा के साथ ही सम्बन्ध है। इसलिए भी इस श्राद्धप्रकरण में हमने महानात्मा को चान्द्र माना है। रही श्रुतिविरोध की बात। इस का निराकरण भी किया जासकता है। वही पारमेष्ठ्य महत् सोम चन्द्रमा का स्वरूप समर्पक है, अतः चन्द्रमा को भी महान् कहा गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है—

"तमब्रवीत्—महादेवोऽसीति। तद्यदस्य तन्नामाकरोत्, चन्द्रमास्तद्रूपम-भवत्। प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः। प्रजापतिर्वै महान् देवः—(शत० ६।१।३।१।)

परमेष्ठी यज्ञ का अधिष्ठाता है। यही महानात्मा है। अतएव इस यज्ञ को भी महान् कहा जा सकता है। उधर आधिदैविक यज्ञ की मूलप्रतिष्ठारूप चन्द्रमा भी यज्ञमूर्त्ति ही है। चन्द्रमा यज्ञ के ब्रह्मा माने गए हैं—"ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु" (यजुः २३।१३।) "चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः" (१३।२।७।७)। यज्ञमूर्त्ति सोममय परमेष्ठी महान् है, इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए निम्न लिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते हैं—

१—"स (सोमः) तायमानो जायते। स यज्जायते, तस्माद्यज्जः। यज्जो ह वै नामैतद्यज्ञ इति" (शत०३।६।४।२३)

२—"यज्ञो वा ऋतस्य (परमेष्ठिनः) योनिः" (शत. १।३।४।१६)

३—"एष ह वै महान् देवो यद्यज्ञः" (गो० पू० २।१६।)

इस प्रकार कहीं पारमेष्ठ्य यज्ञात्मक तत्त्व को महानात्मा कहना, कहीं चान्द्रतत्त्व को महानात्मा बतलाना उक्त प्रकरण से सर्वथा समन्वित हो जाता है। प्रकृत प्रकरण में यज्ञात्मदृष्टि से ही परमेष्ठी का उपबृंहण अपेक्षित है।

यज्ञात्मा के यज्ञ-चित् नामक दो विवर्त

पूर्व के अव्यक्तात्मप्रकरण में वेद—सूत्र—अन्तर्य्यामी, भेद से अव्यक्तात्मा के तीन विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराया गया है। वहीं प्रकरणोपसंहार में यह भी बतलाया गया है कि, हृत्प्रतिष्ठ अन्तर्य्यामी ब्रह्मा-प्रधान है। यह आलम्बन है। सूत्ररूप से बाहिर निकल कर सब को परस्पर में बद्ध रखने वाला सूत्रात्मा विष्णुप्रधान है। एवं वस्तुओं का आरम्भक बनने वाला वेदात्मा इन्द्रप्रधान है। अव्यक्तावस्था में यही तीनों शान्तात्मा के स्वरूप सम्पादक रहते हैं, एवं व्यक्तावस्था में आकर ये ही तीनों यज्ञात्मा के आरम्भक बन जाते हैं। इस यज्ञात्मा के ही चित्सम्बन्ध से आगे जाकर १-यज्ञात्मा, २-चिदात्मा, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। दोनों में से सर्वप्रथम यज्ञात्मा का ही संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जाता है।

आवपन-अन्नाद-अन्न, इन तीन तत्त्वों के समष्टिस्वरूप का ही नाम यज्ञ है। आवपन 'एं ब्रह्म' है, अन्नाद 'रं ब्रह्म' है, अन्न 'कं ब्रह्म' है। तीनों की समष्टि यज्ञमूर्त्ति(विष्णुमूर्त्ति) 'शं ब्रह्म' है। जब तक त्रिकल यज्ञ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, तभीतक विश्वमें शान्ति है।

यज्ञात्मक विष्णु का स्वरूपपरिचय—

जिस समय आवपन-अन्नाद-अन्न का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, यज्ञसंस्था उच्छिन्न होजाती है, अव्यवहितोत्तर-काल में ही विश्व अव्यक्तगर्भ में विलीन हो जाता है। इष्टप्राप्ति ही शान्ति है। इधर—'सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्' इत्यादि स्मार्त्त वचन यज्ञ को ही इष्टकामधुक् (सर्वेष्टफलावाप्तिसाधक) बतलाती है। यज्ञ की उक्त तीनों कलाओं में से आवपन का अन्तर्य्यामी ब्रह्मा के साथ, सम्बन्ध है। अन्नाद का वेदात्मा इन्द्र के साथ सम्बन्ध है। एवं अन्न का सूत्रात्मा विष्णु के साथ सम्बन्ध है। विज्ञ-पाठकों को स्मरण होगा कि, अमृतात्मा का स्वरूप बतलाते हुए हमने अक्षर को गतिधर्म्मा बतलाया था। साथ ही में एक ही गतितत्त्व के स्थिति-विशुद्ध आगति-विशुद्धगति-स्थिति-गर्भिता आगति-स्थितिगर्भिता गति ये पांच विवर्त्त बतलाते हुए इन्हीं पांचों विवर्त्तों को क्रमशः ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र—सोम—अग्नि-कहा था। यज्ञस्वरूप परिज्ञान के लिए पुनः एक बार इन्हीं अक्षरकलाओं पर ध्यान देना आवश्यक होगा। विष्णुतत्त्व विशुद्ध रूप से जहां आगति है, वहां वही स्थितिगर्भ में प्रविष्ट होकर सोम बन रहा है। सोम संकोचधर्म्मा स्नेह तत्त्व है, दाहगुणक है। एवमेव इन्द्रतत्त्व विशुद्धरूप से जहां गति है, वहां वही स्थिति के गर्भ में

प्रविष्ट होकर अग्नि बन रहा है। अग्नि विकासधर्म्मा तेज तत्त्व है, दाहकगुणक है। इन्द्रा-विष्णु एक युग्म है। अग्नीसोम एक युग्म है। विष्णु--सोम सजातीय हैं, इन्द्राग्नी सजातीय हैं दूसरे शब्दों में यों भी कहा जासकता है कि, विष्णु ही विकासावस्था में आकर सोम बना हुआ है। एवं इन्द्र ही विकासावस्था में आकर अग्नि बना हुआ है। इस प्रकार ब्रह्मा—विष्णु सोम—इन्द्राग्नी ये तीन विभाग हो जाते हैं। विशुद्ध ब्रह्मा (स्थिति), विशुद्ध विष्णु (विशुद्ध आगति), विशुद्ध इन्द्र (विशुद्ध गति), इन तीनों का समुच्चय अव्यक्तात्मा है। यदि इन के साथ अग्निसोम का सम्बन्ध हो जाता है, दूसरे शब्दों में इन्द्राविष्णु यदि अग्नीसोमरूप में परिणत हो जाते हैं, तो यही अव्यक्त अग्नि-सोम के सम्बन्ध से व्यक्त विश्वरूप में परिणत होकर "यज्ञात्मा" नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। विशुद्धरूप से तीनों क्रमशः अन्तर्य्यामी-सूत्रात्मा-वेदात्मा हैं, यज्ञरूप से ये ही तीनों आवपन-अन्न-अन्नाद हैं। अग्नि अन्नाद है, अन्न सोम है। आवपन आधारभूमि है, मूलप्रतिष्ठा है, खं ब्रह्म (आकाश) है। 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा (शत०६।१।१।८) के अनुसार ब्रह्मा वास्तव में आवपन है। यही अन्तर्य्यामी है। विष्णुसहचारी सोम अन्न है। अतएव विष्णु को सोमवंशी कहा जाता है, जैसा कि—"सोमो वैष्णवो राजा" (शत० १३।४।३।८) "यो वै विष्णुः सोमः सः', (शत ३।६।३।१९) इत्यादि निगम वचनों से स्पष्ट है। विज्ञानदृष्ट्या सोम भिन्न है, विष्णु पृथक् तत्त्व है। इस अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर सोम को विष्णु न कह कर वैष्णव (विष्णुयुक्त) कहा गया है। साथ ही में दोनों का तारतम्य है। इस अभिप्राय से 'यो वै विष्णुः सोमः सः' यह कह दिया गया है। यही सूत्रात्म-विवर्त्त है। विष्णु सूत्रात्मा है, किंवा सूत्रात्मा विष्णु-प्रधान है। विष्णु ने जिस सूत्र से सम्पूर्ण प्रजा पर अपना अधिकार जमा रक्खा है, वह यही सोमान्नसूत्र है। सब अन्न से गृहीत हैं, अन्नाधीन हैं। अतएव ब्रह्मोपनिषत् ने अन्न को ग्रह कहा है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"अन्नमेव ग्रहः। अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम्। तस्माद्यावन्तो नोऽशनमश्नन्ति, ते नः सर्वे गृहीता भवन्ति। एषैव स्थितिः। स य एष सोमग्रहः। अन्नं वा एष सः" (शत० ४।६।५)

इन्द्र सहचारी अग्नि अन्नाद (अन्न खाने वाला) है। अतएव 'तर्हि हैष (अग्निः) भवतीन्द्रः' (शत० २।३।२।११) 'इन्द्राग्नी वा इदं सर्वम्' (शत० ४।२।२।१४) इत्यादिरूप से इन्द्राग्नी का साहचर्य्य बतलाया गया है। इन्द्रावच्छिन्न अन्नाद अग्नि में विष्णु के अशनाया—सूत्र से आकर्षित सोमान्न आहुत होता है। इस आहुति से ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, तीनों अन्नाद्युक्त बनकर यज्ञस्वरूप में परिणत हो जाते हैं। अग्नि में सोम की *आहुति होना ही यज्ञ है। एवं यज्ञ ही प्रत्येक पदार्थ का जीवन है। आयतनरूप खं ब्रह्मा*-त्मक ब्रह्मतत्त्व पर प्रतिष्ठित अन्न सम्बन्ध से रममाण, अतएव 'रं' ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध इन्द्रावच्छिन्न अन्नादाग्नि में जबतक सुखैकसाधनभूत, अतएव 'कं' ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध विष्ण्वच्छिन्न अन्न सोम आहुत होता रहता है, तभीतक शान्तिलक्षण, किंवा शं ब्रह्मलक्षण यज्ञात्मा स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, यही निष्कर्ष है। यज्ञात्मा में ब्रह्मा-विष्णुसहचारी सोम, इन्द्र-सहचारी अग्नि, तीनों की, किंवा पाँचों कलाओं की सत्ता है। ब्रह्मा यज्ञ के रक्षक हैं। शेष चारो यज्ञात्मक हैं। अतएव इन्द्र-अग्नि-विष्णु-सोम, इन चारों को ही यज्ञ शब्द से व्यवहृत किया गया है, जैसा कि निम्न लिखित निगमवचनों से स्पष्ट हो जाता है—

१—इन्द्रयज्ञः
- १—'इन्द्रो यज्ञस्य नेता' (शत० ४।१।२।१५)
- २—'तदाहुः किं देवत्यो यज्ञ इति ? ऐन्द्र इति ब्रूयात्' (गो०उ०३।१३)
- ३—'ऐन्द्रो वै यज्ञः' (ऐ० ब्रा० ६।११)
- ४—'इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता' (शत० १।४।१।३३)
- ५—'इन्द्रो यज्ञस्यात्मा इन्द्रो देवता' (शत० ६।२।१।३१)

—०—

२—अग्नियज्ञः
- १—'शिर एतद्यज्ञस्य यदग्निः' (शत० ६।२।३।३१)
- २—'अग्निर्वै यज्ञमुखम्' (तै० ब्रा० १।६।१।८)
- ३—'एष वै यज्ञो यदग्निः' (शत० ३।१।४।१६)
- ४—'अग्निरु वै यज्ञः' (शत० ५।२।३।६)
- ५—'एष वै यज्ञस्य सुक्रतुर्यदग्निः' (शत० १।४।१।३४)

—०—

**३–विष्णुयज्ञः**

१—'यो वै विष्णुः स यज्ञः' (शत० ५ । २ । ३ । ६ ।)
२—'यज्ञो वै विष्णुः शिपिविष्टः' (तां० ब्रा० ६ । ७ । १० ।)
३—'यज्ञो विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे' (शत० १९३०
४—'यज्ञो वै विष्णुः' (तां० ६ । ६ । १० ।)
५—'विष्णुर्वै यज्ञः' (ऐ० १ । १५ ।)

—o—

**४--सोमयज्ञः**

१—'स (सोमः) तायमानो जायते । स यत् जायते, तस्माद्-
यञ्जः । यञ्जो ह वै नाम तद्यज्ञ इति' (शत० ३ । ६ । ४ । २३)
२—'आहुतिर्हि यज्ञः' (शत० ३ । १ । ४ । १ ।)
३—'हवींषि ह वाऽ आत्मा यज्ञस्य' (शत० १ । ६ । ३ । ३६ ।)
४—'हविर्वै देवानां सोमः' (शत० ३ । ५ । ३ । २ ।)
५—'सोमाहुतयो ह वाऽ एता देवानाम्' (शत० ११ । ५ । ६ । ६ ।)

—o—

**५--ब्रह्मयज्ञः**

१—'ब्रह्म हि यज्ञः' (शत० ५ । ३ । २ । ४ ।)
२—'प्रजापतिर्वै यज्ञः' (गो० उ० २ । १८ ।)
३—'एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः' (शत० ४ । ३ । ४ ।३ )
४—'स वै यज्ञ एव प्रजापतिः' (शत० १ । ६ । ४ । ४)
५—'प्राजापत्यो यज्ञः' (तै० ३ । ७ । १। २ )

—o—

इन पाँच क्षरों की समष्टि से ही यह यज्ञ 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' के अनुसार पञ्चावयव कहलाया है। प्रत्येक पदार्थ में पिण्ड, और हृदय, ये दो विभाग हैं। इन में पिण्ड में अग्नी-षोमात्मक यज्ञ की प्रधानता है, एवं हृदय में ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार

परमेष्ठी का प्रथम विवर्त— प्रत्येक पदार्थ यज्ञसमष्टिरूप है। पाँच यज्ञक्षरों के एकीकरण से प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। इन पाँच क्षरों के रहने पर भी वस्तु एक ही कहलाती है, इस का कारण वही कूटस्थ अक्षर है। क्षरयज्ञकूट अक्षराधार

पर प्रतिष्ठित है। इसी से यज्ञ के छिद्र आवृत हो रहे हैं। इसी अभिप्राय से-'अक्षरेणैव यज्ञस्य छिद्रमपि दधाति' (तां० ब्रा. ८। ६। १३।) यह कहा जाता है।

आवपनकला ब्रह्ममूर्त्ति अन्तर्य्यामी की प्रधानता से मनोमयी है। अन्नादकला इन्द्रमूर्त्ति वेदात्मा की प्रधानता से वाङ्मयी है। एवं अन्नकला विष्णुमूर्त्तिसूत्रात्मा की प्रधानता से प्राणमयी है। इस प्रकार प्रकारान्तर से मन प्राणवाङ्मय अव्यय पुरुष ही क्रमशः अन्तर्य्यामी-सूत्रात्मा-वेदात्मा रूप में (अव्यक्त रूप में) परिणत होता हुआ आवपन-अन्न-अन्नाद बनकर यज्ञपुरुष बन रहा है। तभी तो 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' को चरितार्थ होने का अवसर मिलता है। इसी आधार पर 'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि रूप से उस सर्वाधार कालपुरुष को भी यज्ञपुरुष कह दिया जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि अव्यक्त स्वयम्भू ही आवपन-अन्न-अन्नादरूप में परिणत होता हुआ परमेष्ठी बन जाता है। इस परमेष्ठी का पहिला विवर्त्त यही उक्त लक्षण यज्ञात्मा है।

१ — १ ब्रह्मा, २ विष्णुः, ३ इन्द्रः — ब्रह्मा-अन्तर्यामी-तदवच्छिन्न आवपनम् (खं ब्रह्म)

—०—

२ — १ विष्णुः, २ ब्रह्मा, ३ इन्द्रः — विष्णुः-सूत्रात्मा-तदवच्छिन्नः सोमोऽन्नम् (शं ब्रह्म)

—०—

३ — १ इन्द्र, २ ब्रह्मा, ३ विष्णुः — इन्द्रः-वेदात्मा-तदवच्छिन्नोऽग्निरन्नादः (कं ब्रह्म)

—०—

"यज्ञात्मा शं ब्रह्म"

१—आवपनम्–मनोमयम्
२—अन्नम–प्राणमयम्
३—अन्नादः–वाङ्मयः

} -सोऽयं त्रिकलो यज्ञपुरुषो यज्ञात्मा

उक्त यज्ञात्मा का विवर्त्त ब्राह्मणश्रुति से सम्बन्ध रखने वाला है। उपनिषच्छ्रुति ने प्रकारान्तर से यज्ञात्मा का स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। यह भी प्रसङ्गागत जान लेना चाहिए। वेद-सूत्र-नियतिरूप अव्यक्त स्वयम्भू प्राणप्रधान होता हुआ असङ्ग है, अतएव वह यज्ञमर्य्यादा से बाहिर है। दो, अथवा अनेक मौलिक तत्त्वों के रासायनिक संयोग से सिद्ध होने वाला अपूर्व यौगिक भाव ही यज्ञ है। रासायनिक संयोग ही विज्ञान भाषा में अन्तर्य्याम-चिति-संसृष्टि-आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। असङ्ग प्राण में यह संसर्ग लक्षण संसृष्टि सम्बन्ध सर्वथा अनुपपन्न है। इस वृत्ति का सब से पहिले आपोमय परमेष्ठी में ही उदय होता है। पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व भृगु–अङ्गिरोमय है। अङ्गिरा तेजस्तत्त्व है, भृगु स्नेह तत्त्व है। तेज-स्नेहमूर्त्ति भृग्वङ्गिरोमय इस अप् प्रकृति की मातरिश्वा नाम से प्रसिद्ध वराह वायु द्वारा पूर्व प्रकरण में प्रतिपादित स्थितिगत्यात्मक प्राणमय स्वायम्भुव यजुरग्नि में आहुति होती होने से जो एक अपूर्व भाव उत्पन्न होता है, स्थितिगत्यात्मक तेज-स्नेहमूर्त्ति वही अपूर्वभाव यज्ञ, किंवा यज्ञात्मा है। आहुतिरूप होने से ही स्नेह-तेजोलक्षण यह अप्तत्त्व शुक्र नाम से व्यवहृत होता है। विश्वोपादनभूत आपोमय इसी शुक्रतत्त्व का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

विश्वप्रकृतिभूत महेश्वर—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

—ईशोपनिषत् ८ मं०।

यह त्रयमूर्त्ति यज्ञात्मा योनि–रेत–रेतोधा, भेद से त्रिकल है। तीनों की प्रतिष्ठा आवपनभूत त्रयीमूर्त्ति अव्यक्तात्मा है। त्रयीमूर्त्ति के वेदात्मा का यजुरग्नि योनि है। पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व रेत है, मातरिश्वा वायु रेतोधा है। उक्त अप्तत्त्व ही शुक्ररूप आहुतिद्रव्य है। इसी की

आहुति से यज्ञपुरुष का प्रादुर्भाव होता है। अधिदैवत (सूर्य्य), अधिभूत (पृथिवी), अध्यात्म, इन तीनों यज्ञों का प्रथम प्रवर्त्तक यही पारमेष्ठ्य यज्ञमूर्त्ति अथर्वा है, जैसा कि श्रुति कहती है—

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्य्यो व्रतपा वेन आजनि ।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥

—ऋक् सं० १ । ८३ । ५ ।

देवता-विभाग के अनुसार स्वयम्भू ब्रह्मा हैं। यह "ब्रह्मनिःश्वसित" नाम से प्रसिद्ध अपौरुषेयलक्षण त्रयीवेद से युक्त होते हुए त्रयीमूर्त्ति हैं। त्रयीमूर्त्ति ब्रह्मा के जूरूप वाक् भाग से ही परमेष्ठीरूप अथर्वा (ब्रह्मवेद) का सर्वप्रथम जन्म हुआ है, अतएव इसे ब्रह्मा का ज्येष्ठपुत्र माना गया है, जैसा कि मुण्डकश्रुति कहती है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १॥ मुण्ड०१ । १ । १ ।

उक्त त्रयीवेद के ऋक्-साम-यजुः, ये तीनों पर्व क्रमशः महोक्थ-महाव्रत-पुरुष-नामों से प्रसिद्ध हैं। पुरुषरूप यजुः के यत्, एवं जू, ये दो विवर्त्त हैं। यह यजु ही यत्तु है, वय है। इस का स्वरूप सम्पादन करने वाले छन्दोरूप, अतएव वयोनाध नाम से प्रसिद्ध ऋक्-सामात्मक महोक्थ, एवं महाव्रत हैं। ऋक्साम से छन्दित स्थितिगत्यात्मक यजुर्मूर्त्ति योनिरूप इसी ब्रह्माग्नि का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ (ईशो० ४ । ४ ।)

गतितत्त्व वायु है, स्थितितत्त्व आकाश है। 'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्' (गी० ९ । ६ ।) के अनुसार आकाशवाय्वात्मक स्थितिगतिरूप यत्, एवं जू अविनाभूत हैं। दूसरे शब्दों में दोनों तादात्म्यापन्न हैं। इसी लिए दो तत्त्व होने पर भी ऋषिने—"अनेजत्"-"एकम्"-"मनसो जवीयः" यह कहा है। वायुरूप गतितत्त्व प्राण है, आकाशरूप स्थितितत्त्व वाक् है। यत्-प्राण-गति-वायु, चारों, एवं जू-वाक्-स्थिति-आकाश, ये चारों अभिन्नार्थक हैं। इन सर्वथा विरुद्ध दो भावों का मूल विद्या-अविद्यात्मक षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध यही अमृतात्मा है। षोडशी पुरुष के अव्यय भाग की आनन्दादि पाँच कलाएँ यत-

लाई गई हैं । इन में आनन्द-विज्ञान-मनोमयभाग मुक्तिसाक्षी बनता हुआ स्थितिप्रधान विद्याभाग है । मन प्राणवाङ्मयभाग सृष्टिसाक्षी बनता हुआ गतिप्रधान अविद्या (कर्म)-भाग है । मध्यस्थ, अतएव उभयात्मक ( विद्या अविद्यात्मक ) श्वोवसीयस् मन की कामना से मुक्तिसाक्षी भाग का अनुग्राहक बनता हुआ वह ग्रन्थियाँ तोड़कर मुक्ति का अधिष्ठाता बनता है । एवं सृष्टिसाक्षी भाग का अनुग्राहक बनता हुआ ग्रन्थिबन्धन द्वारा यही सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है । उस का विद्याभाग अमृततत्त्व है, यह सर्वथा स्थितिप्रधान है । अविद्याभाग मृत्युतत्त्व है यह सर्वथा गतिप्रधान है ।

इस में भुक्त दो विरुद्ध भावों का आगमन कहाँ से हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर आप का सुपरिचित वही परात्पर है । अमृतात्मा का स्वरूप बतलाते हुए यह कहा गया है कि, इस की १६ कलाओं में से सर्वाधारभूता तुरीय- अर्द्धमात्रिक--अमात्रिक आदि नामों से प्रसिद्ध परात्पर नाम की सोलहवीं निष्कलात्मिका कला है । यह निष्कल परात्पर रस—बल की समष्टि है । अमृतलक्षण रसतत्त्व सर्वथा शान्त होता हुआ स्थितिरूप है, मृत्युलक्षण बलतत्त्व सर्वथा अशान्त होता हुआ गतिरूप है । यही तो मायोपाधिकृत सीमा से अपने यत्किंचित् प्रदेश से सीमित होकर पुरुष बन गया है । फलत परात्पर के स्थिति गति भावों का पुरुष में समन्वित होना सर्वथा अनिवार्य बन जाता है ।

स्थितिगति लक्षणा, विद्या अविद्यात्मिका, आनन्दविज्ञानघनमनोमयप्राणगर्भिता , पुरुष-वाक् ही त्रयीवेद की मूलप्रतिष्ठा है—'वागेविसृताश्च वेदा' । वेदत्रयी के यजुर्भाग को ही पुरुष कहा गया है । इस का कारण यही है कि पुरुष (अमृतात्मा) के विद्या-अविद्या प्रधान स्थितिगति भावों का यत्-ज रूप से यजु में ही पूर्ण विकास होता है । इसी स्थिति गतिके साथ र्थों से पुरुष सदृश होता हुआ किन्तु वस्तुत पुरुषमर्यादा से बहिर्भूत होता हुआ भी यह यजु 'पुरुष' शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है । इस प्रकार आत्मा के स्थिति गतिभावों का इस बहिरङ्गप्रकृतिभूत वेदमूर्त्ति इस अव्यक्तात्मा स्वयम्भू में भी आगमन सिद्ध हो जाता है ।

ऋक्साम म अपीत (डूबा हुआ) यजु ही उस स्वायम्भुव अव्यक्त ब्रह्मा की प्रतिष्ठा है । इसी वेदप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर वह तत्त्व यजु के यत्व्यापार से (गतिधर्म्मा वायु के व्यापार से) जू के द्वारा (स्थितिरूप आकाश के द्वारा) 'अप एव ससर्जादौ' इस मानवीय सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम अप्तत्त्व ही उत्पन्न करता है । ज को आकाश कहा गया है । रस-बल की अनुकम्पा से (तारतम्य से) यह आकाश भी आगे जाकर अमृत-मृत्यु भेद से दो भाग

में विभक्त हो जाता है। इन दोनों में अमृताकाश "इन्द्र" नाम से प्रसिद्ध है, एवं मर्त्याकाश वाक् किंवा इन्द्रपत्नी नाम से व्यवहृत होता है। अप्तत्त्व इसी मर्त्या वाक् से उत्पन्न होता है। अमृता वाक् केवल आधारभूमि है। साङ्ख्यदर्शन शून्यप्रदेश को आकाश मानता है। यदि वह "शून्यम्" का वैज्ञानिक तात्पर्य समझता हुआ आकाश को शून्य कहता है, तब तो कोई क्षति नहीं है। परन्तु ऐसा न समझकर यदि वह शून्य शब्द का "रिक्तस्थान पोल" यह अर्थ समझता है, तो यह उस की सर्वथा भ्रान्ति है। इसी भ्रान्ति से भ्रान्त बनकर श्रौतसिद्ध आकाश तत्त्व को तत्त्वमर्यादा से बहिष्कृत कर रक्खा है। विज्ञानप्रेमियों का विश्वास आज हम ठीक इस के विरुद्ध विषय की ओर कराना चाहते हैं। उन्हें विश्वास करना चाहिए कि, आकाश वास्तव में शून्य है। परन्तु इस शून्य शब्द का अर्थ रिक्त स्थान नहीं, अपितु पदार्थतत्त्व ही शून्य है। सर्वत्र व्याप्त प्राणमय इन्द्र तत्त्व ही शून्य है। इसी श्वा इन्द्र का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है-

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानाम्॥ ऋक्० ३।३०।२२

इसी ब्रह्म (मन्त्र) श्रुति के आधार पर निम्न लिखित ब्राह्मण वचन प्रतिष्ठित हैं-

१—"वाग्वा इन्द्रः" (कौ० २।७।)
२—"वाग्घ्यैन्द्री" (ऐ० ब्रा० २।२६।)
३—"सा या सा वाक्-असौ स आदित्य" (शत० १०।५।१।४१।)

सचमुच इस शुन 'इन्द्र' से कोई भी स्थान रिक्त नहीं है। इसी अभिप्राय से 'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन' (ऋक्० ६।६६।६।) यह कहा जाता है। अमृतावाक् रूप श्वा इन्द्र से नित्य सम्बद्ध मर्त्यावाग्रूप इन्द्रपत्नी ही आगे आकर पञ्चतन्मात्रा की आधारभूमि बनती है। इन में पहिली शब्दतन्मात्रा है, इस की विकासभूमि वेदमयी यही मर्त्यावाक् है। इसी रहस्य को समझाने के लिए 'वेदवाग्भ्य' यह न कहकर 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' (मनु १।२१) यह कहा गया है। शब्दतन्मात्रा का जनक मर्त्याकाश, मर्त्याकाशरूपा इन्द्रपत्नी की प्रतिष्ठा अमृताकाशरूप श्वा इन्द्र, यह सब कुछ सिद्ध होने पर भी आकाश अपदार्थ ?, कितनी भ्रान्ति! कैसा अज्ञान!! कैसा दुराग्रह!!!। यदि आकाश कोई पदार्थतत्त्व न होता, तो

'मनोमयः, प्राणशरीरः, भारूपः, आकाशात्मा" इत्यादि श्रुतियों का समन्वय कैसे संभव था ? जिस तत्त्व को रिक्तार्थ का वाचक समझते हुए 'शून्य' कहते हैं, वह 'शुने (इन्द्राय)हितम्' इस निर्वचन से सम्बन्ध रखता हुआ तत्त्वविशेष का वाचक बन रहा है। जिस अन्तरिक्ष में रवा इन्द्र व्याप्त है, वही विज्ञानभाषा में शून्य कहलाया है। कहना यही है कि, यह वाक्तत्त्व सर्वथा स्थिर है। यही जू कहलाया है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"जूरसि—इति" (यजु० ४ । १७ ।) "एतद्ध वा अस्याः (वाचः) एकं नाम" (शत०)

दूसरा यत् तत्त्व प्राण है। यही गतितत्त्व है। इस प्रकार विद्याकर्म्मात्मक अव्ययपुरुष का विकास आगे जाकर स्थितिगत्यात्मक यजुरूप में होता है। यह यजु साक्षात् अग्नि (प्राणाग्नि) है, पुरुषधर्म्मावच्छिन्न होने से पुरुष है। इसी के वाक्भाग से तो अप्तत्व उत्पन्न हुआ है—'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत' (शत० ६ । १ । १ । ६ ।) यजु के गतिभाव का विकास यहाँ तेजोरूप से हुआ है, एवं स्थितिभाव का विकास स्नेहरूप से हुआ है। स्नेह संकोचधर्म्मा होता हुआ स्थितिप्रधान है, तेज विकासशील बनता हुआ गतिप्रधान है। इस प्रकार परात्पर संस्था से आरम्भ कर इस आपोमय परमेष्ठी संस्थापर्यन्त रस-बल का ही भिन्न भिन्न रूप से विकास हुआ है। स्थानभेद से एक ही के नाम-रूप कर्म्मों में अन्तर हो गया है। जैसाकि तालिका से स्पष्ट है—

| | | |
|---|---|---|
| १—रसः<br>२—बलम् | —परात्परो विश्वातीतो निर्धर्म्मकः | १ |
| १—विद्या<br>२—अविद्या | —षोडशीपुरुषो निश्वेश्वरः सर्वधर्म्मोपपन्नः | २ |
| १—स्थितिः<br>२—आगतिः | —अव्यक्तात्मा बद्धेश्वरः प्राकृतात्मा | ३ |
| १—स्नेहः<br>२—तेजः | —यज्ञात्मा प्रतिमेश्वरः प्राकृतात्मा | ४ |

वाक् से उत्पन्न अप्तत्त्व योषा है, स्त्री है। जहां रस का आगमन होता है, वह स्त्री है! जो रस का प्रदाता है, वह पुरुष है। जहां रस प्रतिष्ठित रहता है, वह आयतन पुर है। रसवर्पण करने वाला अग्नि वृषा है, यही पुरुष है। रसाहुति को अपने में संहत करने वाला (स्त्यै-ष्ट्यै शब्दसंघातयोः, तत्त्व स्त्री है। अग्नि पानी में मिल जाता है, पानी खोलने लगता है। परन्तु पानी कभी अग्नि में नहीं मिलता। यदि पानी का आक्रमण निर्बल होगा, तो अग्नि उसे वाष्परूप में परिणत कर उत्क्रान्त कर देगा, यदि पानी प्रबल होगा तो वह अग्नि को बुझा देगा पानी अग्नि में प्रवेश कर जाय, यह सर्वथा असम्भव है। अग्निरस का ही प्रवेश अप् में हो-सकता है, अतएव यही वृषा है। पुर आयतनरूप होने से आवपन बनता हुआ पूर्व कथनानुसार 'खं' ब्रह्म है, अग्नि भोक्ता बनता हुआ अन्नाद रूप से 'र' ब्रह्म है, एवं अप्तत्त्व रमण साधन होने से अन्नात्मक 'कं' ब्रह्म है। समष्टि ही 'शं' ब्रह्म है!

| | |
|---|---|
| १—यत्र रसागमनं-सा स्त्री —→ योषा<br>२—यो रसः प्रदाता-स पुरुषः—→वृषा<br>३—यत्र रसः प्रतिष्ठितः-तत् पुरम्→आयतनम् | दाम्पत्यभावः |

—०—

| | |
|---|---|
| १—स्त्री—आपः—अन्नब्रह्म —→कं ब्रह्म<br>२—पुरुषः—यजुरग्निः-अन्नादब्रह्म—→र ब्रह्म<br>३—पुरम्—आकाशः—आवपनब्रह्म—→खंब्रह्म | शं ब्रह्म यज्ञात्मा |

—०—

उपर्युक्त प्राणमयी वाक् से (यजु से) उत्पन्न आपः मे भी 'कारणगुणाः कार्यगुणानार-भन्ते' इस न्याय के अनुसार कारणरूप यजु के इन्हीं दोनो तत्त्वों का (स्थिति-गतिभावों का) स्नेह-तेजोरूप से विकास होता है, जैसा कि पूर्व में ही कहा जा चुका है। तेजस्तत्त्व अङ्गिरा है, स्नेहतत्त्व भृगु है। समष्टि अप्तत्त्व है। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्त के अनुसार त्रयीप्रधान अव्यक्तात्मा वाक् भाग से भृग्वङ्गिरोमय अप्तत्त्व को उत्पन्न कर स्वयं उस के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। इसी अत्रविज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

आपो भृग्वङ्गिरो रूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः॥ (गो० पू० १। ३६।)

निशानार्थक 'तिज' धातु का अर्थ है–तीक्ष्णीकरण। स्वगति–धर्म्म-से विशकलनधर्म्मा अङ्गिरा उत्तरोत्तर केन्द्र से प्रधि की ओर सूक्ष्मरूप में परिणत होता हुआ जाया करता है। ठीक इस के विपरीत स्नेहरूप भृगु स्थितिभावयुक्त होता हुआ उत्तरोत्तर प्रधि से केन्द्र की ओर आता हुआ संकुचित होता जाता है। इस प्रकार अप्तत्त्व में मूलभूत स्थितिगतिरूप यजु के धर्म्म विस्पष्ट हो जाते हैं। उक्त आत्मविवर्त्तों में परात्पर कालपुरुष नाम से प्रसिद्ध है। षोडषी पुरुष महापुरुष नाम से, ऋक्सामावच्छिन्न यजुर्मूर्त्ति अव्यक्तात्मा वेदपुरुष नाम से, एवं परात्पर–षोडशी–अव्यक्तात्मगर्भित, तदवच्छिन्न अप्तत्त्व यज्ञपुरुष नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जाता है। विश्वविद्यात्मिका ओङ्कारविद्या के अनुसार परात्पर-षोडशी-अव्यक्त-यज्ञात्मा, इन चारों का एक स्वतन्त्र विभाग है। यही "परब्रह्म" नाम से प्रसिद्ध है। एवं पृथिवी चन्द्रमा का विभाग अपरब्रह्म नाम से व्यवहृत होता है। मध्यस्थ सूर्य्य दोनों का अनुग्राहक बनता हुआ परापरब्रह्म है। चतुष्कल परब्रह्म की परात्पर कला अर्द्धमात्रा है। षोडशीपुरुष अकार है, अव्यक्तात्मा उकार है, यज्ञात्मा मकार है। समष्टि ओङ्कार है।

| | | |
|---|---|---|
| १ अर्द्धमात्रा — | परात्परः | चत्वारः पुरुषा इति बोध्यः (ऐ० आ०) |
| | रसः (स्थितिप्रधानः) — बलानि (गतिप्रधानानि) | १ सोऽयं कालपुरुषो विश्वातीतः |
| २ अकारः — | षोडशीपुरुषः | |
| | विद्या: आनन्दः-विज्ञानंमनः अक्षरः (स्थितिप्रधानः) — अविद्या: मनः-प्राणः-वाक् आत्मक्षरः (गतिप्रधानः) | २ सोऽयं महापुरुषो विश्वेश्व |
| ३ उकारः ......... | अव्यक्तात्मा | |
| | यत् (स्थितिः) — जूः (गतिः) | ३ — सोऽयं वेदपुरुषो विश्वमन्त्रा |
| ४ मकारः ......... | यज्ञात्मा | |
| | भृगुः (स्थितिप्रधानः) — अङ्गिराः (गतिप्रधानः) | ४ ......सोऽयं यज्ञपुरुषो विश्वप्रकृतिः |

स्वयम्भू प्राणमय होने से असङ्ग बनता हुआ यज्ञमर्यादा से बहिर्भूत था, परमेष्ठी इसी अप्तत्त्व के कारण ससङ्ग बनता हुआ यज्ञ का प्रथम प्रवर्त्तक बन जाता है, जैसा कि—"यज्ञैरथर्वा०" इत्यादि रूप से प्रकरण के आरम्भ में ही कहा जा चुका है। स्वायम्भुवी प्राणसृष्टि असंगभाव की प्रधानता से

यज्ञात्मा के विविध विवर्त्त—

"मानसीसृष्टि" कहलाती है, यही भावसृष्टि है। ऋषि-मनु आदि सृष्टियों का इसी भावसृष्टि में अन्तर्भाव है। पारमेष्ठिनी यज्ञसृष्टि योषावृषात्मक स्त्रीपुरुष-तत्त्व के मिथुनभाव से सम्बन्ध रखने के कारण "मैथुनीसृष्टि" कहलाती है। 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' के अनुसार यज्ञसृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलप्रवर्त्तिका है। इस यज्ञप्रजापति का स्वरूप ऋक्-सामावच्छिन्न यजुरग्नि पर ही प्रतिष्ठित है। त्रयीतत्त्व-अप्तत्त्व का समन्वितरूप ही यज्ञ है। इसी आधार पर-'सैषा त्रयी विद्या यज्ञः' [शत. १।१।४।३।] के अनुसार त्रयीविद्या को यज्ञ कहा गया है। आपोमय परमेष्ठी में प्रतिष्ठित, दूसरे शब्दों में अप्प्रकृतिक परमेष्ठी की प्रतिष्ठारूप विष्णु के साथ पारमेष्ठ्य यज्ञ का तादात्म्य सम्बन्ध है। विष्णु ही अपनी अशनाया-शक्ति से अन्नाहुति [सोमाहुति] का सञ्चालक बनते हुए, अग्नीषोमात्मक यज्ञ का सम्पादन करते हैं। इसीलिए विष्णु को भी यज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार विष्णु-त्रयीविद्या-आपः-अङ्गिरा-भृगु-आदि के समन्वय से निष्पन्न होने वाला यज्ञ श्रुतियों में तत्तन्नामों से प्रसिद्ध हो रहा है, जैसा कि निम्न लिखित श्रौतप्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है-

## १—अथर्वसम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः॥ १॥
यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥ २॥
(अथर्व सं० २।२४।४-५)

## २—अप्सम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

१—"आपो वै यज्ञः" (ऐ. २।२०।)।
२—"आपो हि यज्ञः" (शत. ३।१।४।१५)
३—"रेतो वा आपः" (ऐ. १।३।)
४—"योषा वा आपः" (शत. १।१।१।१८।)

## ३—वेदसम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

१—"सैषा त्रयीविद्या यज्ञः" [शत. १।१।४।३।]

२—"तद्यत् तत् सत्यं त्रयी सा विद्या" (शत. ६।५।१।१८।)

३—"ते देवा अब्रुवन्-यज्ञं कृत्वा- ( ,, )
सत्यं तनवामहे—इति"।

## ४—परमेष्ठीसम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

"तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्दर्शपूर्णमासौ।
ताभ्यामयजत, स आपोऽभवत्। परमाद्वा एतत् स्थाना-
द्वर्षति यद्दिवः। तस्मात् परमेष्ठी नाम"। (शत. ११।१।६।१६।।

## ५—महत्सम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

१—"एष ह वै महान् देवो यद्यज्ञ." [गो पू. २।१६।]

२—"यज्ञो ह वै देवानां महः" [शत. १।६।१।११।]

यह है आधिदैविक पारमेष्ठ्य यज्ञ का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन। अधिदैवत संस्था में जहां यह यज्ञतत्त्व "परमेष्ठी" नाम से प्रसिद्ध है, वहां अंशरूप से अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित वही तत्त्व "यज्ञात्मा" नाम से व्यवहृत होता है। शारीरयज्ञ के द्वारा ही शारीर—धातु प्रतिष्ठित रहते हैं। यज्ञ से शारीर-धातुओं का निर्म्माण होता है। आध्यात्मिकसंस्था में जब तक इस यज्ञात्मा की सत्ता रहती है, तभी तक *आत्मा [चिदात्मा-षोडशी पुरुष] चिदाभास, एवं चिदंशरूप-से शरीरपुर में प्रतिष्ठित रहता है। कारण स्पष्ट है। पाञ्चभौतिक शरीर 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छां० उप०) के अनुसार आपोमय है। यद्यपि शरीर में पाँचों ही महाभूतों की सत्ता है, तथापि 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' [शा. सू. ३।१।] इस वेदान्तसूत्र-सिद्धान्त के अनुसार देहारम्भक भूतों में अप्तत्त्व ही अधिक मात्रा में रहता है। आपोमय होता हुआ शरीर भृग्वङ्गिरोमय है। इस की प्रतिष्ठा तदात्मक पारमेष्ठ्य यज्ञ ही है। भृग्वङ्गिरोमय इसी यज्ञात्मा के सम्बन्ध से दूसरे चिदात्मा का विकास होता है।

आध्यात्मिक यज्ञात्मा—

*षोडशी पुरुष नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा के प्रधानरूप से चिदात्मा, चिदाभास, चिदंश, ये तीन विवर्त माने गए हैं। इन तीनों का दिग्दर्शन आगे की 'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्' में कराया जायगा।

रहता हुआ स्वस्वरूप से (स्वचिद्‌भाग से) चिदात्मा नाम से प्रसिद्ध होता है। इन में पारमेष्ठ्य महानात्मा के साथ सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी, तीनों क्रमशः दर्शपूर्णमास करते है। यह स्मरण रखना चाहिए कि, इस महान् मे अप्—वायु—सोम, नाम के तीन तत्त्व हैं। इन तीनों में से अप् का अनुग्रह पृथिवी पर होता है। वायु का सम्बन्ध अन्तरिक्षविहारी चन्द्रमा के साथ है। एवं सोम का प्रधान सम्बन्ध सूर्य के साथ है। इन तीनों तत्त्वों के आधार पर सूर्य—चन्द्रमा—पृथिवी, इन तीनों के दर्शपूर्णमास यज्ञ से महानात्मा में सत्त्व—रज—तम, इन तीन गुणों का उदय होजाता है। चन्द्रमा, एवं पृथिवी, दोनों को अपने बृहन्मण्डल में प्रतिष्ठित रखता हुआ, इन्हें साथ लेता हुआ सूर्य्य महत्‌परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगाता हुआ अपने साथ ही में स्वावयवभूत पृथिवी चन्द्रमा के गुणात्मक अंशों की उस परमेष्ठी में आहुति देता रहता है। इसी प्रक्रिया को 'दर्शपूर्णमासयज्ञ' कहा जाता है। सोममय सूर्यभाग सत्त्वभाव का, वायुमय चान्द्रभाव रजोभाव का, एवं आपोमय पार्थिवभाव तमोभाव का प्रवर्त्तक है। यों समझिए कि सूर्य ने परिक्रमा लगाना आरम्भ किया। पारमेष्ठ्य महत् का सोमप्रधान अंश सूर्य्य से अनुगत होता हुआ, सौरज्योति से युक्त होता हुआ 'सत्त्व' रूप में परिणत होजाता है। यही पौर्णमास (पूर्णिमा) है। सोममय महान् का यह सत्त्वभाग सर्वथा प्रकाशित रहता है। उधर पृथिवी सम्बन्ध से महत् का आपोमय भाग अप्रकाशित होता हुआ तमोगुणरूप बन रहा है। अस्यमाहिम्यसम्बन्धात् वरुणप्रधान अप-तत्त्व के साथ इन्द्रप्रधान ज्योतिर्म्मय सौरप्रकाश का सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतएव यह भाग सर्वथा अप्रकाशित रहता हुआ 'तमोगुण' नाम से प्रसिद्ध होता है। यह दर्शयज्ञ अमावास्या है। सत्त्व—तम की सन्धि में चन्द्रमा के सम्बन्ध से महत् का सान्ध्य वायुमय भाग प्रकाशिताप्रकाशित रहता हुआ रजोमूर्त्ति बना हुआ है। इस प्रकार अप्‌तत्त्वानुगृहीत पार्थिवभाग के सम्बन्ध से अप्प्रधान वही महान् तमोमूर्त्ति वायु—तत्त्वानुगृहीत चान्द्रभागके सम्बन्धसे वायुप्रधान सान्ध्य वही महान् रजोमूर्त्ति, एवं सोमतत्त्वानुगृहीत सौरप्रकाश सम्बन्ध से सोमप्रधान वही महान् सत्त्वमूर्त्ति बनता हुआ त्रिगुणमूर्त्ति बन रहा है — 'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः' ।

| | | |
|---|---|---|
| त्रिगुणो महानात्मा— | सूर्य —सोमेनानुगृहीत | —सोमप्रधान स एव महान् -सत्त्वमूर्त्ति |
| | चन्द्रमा वायुनानुगृहीत | — वायुप्रधान स एव महान्—रजोमूर्त्ति |
| | पृथिवी—अद्‌भिरनुगृहीत | —अप्प्रधान स एव महान् तमोमूर्त्ति |

—o—

आध्यात्मिक चिद्गर्भित यज्ञात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित है। इस के 'चित्—यज्ञ—महत्' इन तीन विवर्त्तों में चिदात्मा—यज्ञात्मा के साथ श्राद्ध का कोई सम्बन्ध नहीं है। श्राद्ध का सम्बन्ध है—एकमात्र महदंश के साथ, जैसा कि उसी प्रकरण में स्पष्ट होजायगा। चिदात्म-यज्ञात्म भेद से द्विकल पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा का यही संक्षिप्त निदर्शन है। अब क्रमप्राप्त **विज्ञानात्मोपनिपत्** की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

तदित्थं चित्–यज्ञ–भेदेन द्विकलोऽयं परमेष्ठी, यज्ञात्मा वा व्याख्यातो द्रष्टव्यः।

समाप्ता चेयं श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—"अमृतात्मविज्ञानोपनिपदि" प्रथमाया प्रथमखण्डात्मिकायां यज्ञात्मविज्ञानोपनिपत् तृतीया

३



इन्हीं सूर्य-चन्द्र-पृथिवी भावों के सम्बन्ध से महान् में आकृति-प्रकृति-अहंकृति, इन तीन भावों का उदय होता है। सूर्य के सम्बन्ध से सत्त्व द्वारा महान् में अहंभाव का उदय होता है। चन्द्रमा के सम्बन्ध से रजो द्वारा प्रकृति भाव का उदय होता है। एवं पृथिवी के सम्बन्ध से तमोभाग द्वारा आकृतिभाव का उदय होता है। इस प्रकार सूर्य—चन्द्रमा—पृथिवी, इन तीनों के दर्शपूर्णमास यज्ञ से महानात्मा त्रिगुण—प्रकृतित्रय-विशिष्ट बन जाता है। इस के 'यज्ञ—चित्—महत्' ये तीन विवर्त्त हैं। इन तीनों विवर्त्तों में से चित्-एवं यज्ञ, इन दोनों का (अध्यात्मसंस्था के साथ) सम्बन्ध परमेष्ठी के द्वारा ही होजाता है। परन्तु महदंश का सम्बन्ध साक्षात् रूप से न होकर चन्द्रमा के द्वारा ही होता है, जैसा कि इसी प्रकरण में स्पष्ट होजायगा। इसीलिए आत्मगतिप्रधान इस आत्मविज्ञानोपनिषत् में हमने यज्ञात्मा—चिदात्मा—को पारमेष्ठ्य माना है, एवं गुण-प्रकृतिविशिष्ट महान् का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ बतलाया है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| १—आपः<br>२—वायुः<br>३—सोमः | — भृगुः' 'महान्' | १—आपः-तमः-दर्शयज्ञः<br>२—वायुः-रजः-उभयसमष्टिः<br>३—सोमः-सत्त्वम्-पौर्णमासयज्ञः | गुणत्रयविशिष्टो महानात्मा |

| | |
|---|---|
| १—आपः—आकृतिः-पृथिवीसम्बन्धात्<br>२—वायुः-प्रकृतिः-चन्द्रगतप्राणेन्द्रसम्बन्धात्<br>३—सोमः-अहङ्कृतिः-सूर्यसम्बन्धात् | —प्रकृतित्रयविशिष्टो महानात्मा |

——:o:——

पारमेष्ठ्य तत्त्व अप्प्रकृतिक होता हुआ प्राकृत है। अतएव तत्प्रधान तन्मय यज्ञात्मा को हम अवश्य ही 'प्राकृतात्मा' कहने के लिए तय्यार हैं। देवता—भूत—पशु—लोक—सम्पूर्ण भूतप्रपञ्च इसी आधिदैविक यज्ञात्मा [आपोमय परमेष्ठी] के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। एवमेव इन्द्रियाँ-सप्तधातु-केशलोमादि-शिरोगुहा-उरोगुहा-उदरगुहा-वस्तिगुहा-इत्यादि सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्रपञ्च इसी

प्रकरणोपसंहार —

"प्रज्ञात्मा—महान्"

आपः — नभः ३ — आकृतिः

वायुः — रजः २ — प्रकृतिः

सोमः — सत्त्वम् १ — अहंकृतिः

"महानात्मा—यज्ञः"

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत॥
(कठोपनिषत्)

सौर प्राणः

सूर्यः १

चन्द्रमा २

पृथिवी ३

शर्मा आदर्श इलेक्ट्रिक प्रेस, अजमेर।

श्रीः

समाप्ता चेयं

'यज्ञविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

३



अथ

आत्मविज्ञानोपनिषदि ( प्रथमखण्डे )

# 'विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

४

——:०:——

[४] | १—अधिदैवतम् → सूर्य्य [पूर्णमद] | [३]
| २—अध्यात्मम् → बुद्धि [पूर्णमिदम्] |

अथ

श्राद्धविज्ञानान्तर्गत-'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां-

## "विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्"-चतुर्थी

४

### विज्ञानात्मा-प्राकृतात्मा-सूर्य्यः (२)

१—देवदेवताविभूतिः (दैवात्मा)
२—नित्यविज्ञानविभूति [विज्ञानात्मा]

### सोऽयं द्विकलो विज्ञानात्मा-प्राकृतात्मा वा सूर्य्यः

१—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
२—दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय !
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतव ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता २ अ० । ४१ । २ अ० । ४६ ।

## (४) विज्ञानात्मस्वरूपपरिचयः—(विद्या-अविद्यामयो विज्ञानात्मा)

१—प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे ।
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश ॥ ऋक् सं० ८ । १०१ । १४ ।

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत् ।
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम् ॥ ऋक्० १० । १७० ।३

३—विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः ।
येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्म्मणा विश्वदेव्यावता ॥ ऋक्० १० । १६० । ४ ।

४—विभ्राड् बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मन्दिवो धरुणे सत्यमर्पितम् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा ॥ ऋक् १० । १७० । २ ।

५—एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ श्वे० उ० ६ । १५ ।

६—यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ श्वे० उ० ४ । १८ ।

७—हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजुःसं० १३ । ४ ।

८—विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ॥ प्रश्नो० ४ । ११ ।

९—मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ मुण्डको० २ । २ । ७ ।

१०—हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये ॥ ईशोप० १५ ।

## ✽ओं विज्ञानात्मब्रह्मणे नमः✽

# विज्ञानात्मा–सूर्य्यः

## 'विज्ञानं ब्रह्मे'त्युपास्व

यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ॥—श्वे० उ० ४ । १२ ।
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ श्वे० उ० ३ । ३ ।
सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरण बृहत् ॥ श्वे० उ० ३ । १७ ।
नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ श्वे० उ० ३ । १८ ।
अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभिरुद्ध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सञ्जायते मनः ॥ श्वे० उ० २ । ६ ।
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ कठोप० १ । ३ । ६ ।

पारमेष्ठ्य 'यज्ञात्मा' की मूलप्रतिष्ठा भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' तत्त्व है, जैसाकि पूर्वप्रकरण में विस्तार परमेष्ठी का अपेक्षाकृत अव्यक्तत्व—से बतलाया जाचुका है। भृगु, तथा अङ्गिरा, इन दोनों तत्त्वों में से 'अङ्गिरा' तत्त्व का विकास ही 'सूर्य्य' है। आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित बीजावस्थापन्न अङ्गिरोऽग्नि ही आगे जाकर संवरण-सर्वव्याप्तिलक्षण 'यज्ञवराह' नामक पारमेष्ठ्य वायु के व्यापार से संघातावस्था में परिणत होता हुआ 'सूर्य्य' रूप से प्रकट होजाता है। पञ्चपर्वा विश्व मे ज्ञानज्योतिर्गर्भित स्वयम्भू सर्वथा अव्यक्त है। परमेष्ठी यद्यपि अव्यक्त-स्वयम्भू की अपेक्षा व्यक्त है, परन्तु परमेष्ठी में भूतज्योतिर्लक्षणा रूप-(प्रकाश-उजेला)-ज्योति का विकास नहीं है अतएव 'रोदसीत्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध रुद्रत्रिलोकी (सौरत्रिलोकी) की अपेक्षा से परमेष्ठी अव्यक्त ही माना जायगा। रूपज्योतिर्लक्षणा भूतज्योतिः-स्वरूप से व्यक्त होने वाले जितने भी पदार्थ हैं, उन सब में सूर्य्य ही अग्रणी माना गया है। असदात्मक तम को छिन्न भिन्न करने वाला अव्यक्त स्वयम्भू था, सृष्ट्यभावरूप तम को दूर करने वाला परमेष्ठी था, किन्तु 'अन्धकार नाम से प्रसिद्ध रात्रितम को दूर कर विश्वान्तर्गत पदार्थों को रूपप्रकाश से व्यक्त करने

वाले व्यक्तमूर्त्ति यही भगवान् अंशुमाली हैं। रोदसी त्रिलोकी में प्रतिष्ठित रहने वाली चर-अचर प्रजा के प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण यही हैं। दूसरे शब्दों में अनुपाख्य तम को दूर करने वाले अव्यक्त स्वयम्भू थे, एवं अनिरुक्त तम को हटाने वाले यही सहस्रांशु हैं। ईश्वर प्रजापति (षोड़शी पुरुष नामक अमृतात्मा) की ज्ञानकला सूर्य्य द्वारा ही सर्वत्र व्याप्त होती है, जैसाकि मन्त्रश्रुति कहती है—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥
ऋक् १।१६४।२१।

'धियो यो नः प्रचोदयात्' के अनुसार यही ज्ञान के प्रचोदयिता (प्रेरक) हैं। अध्यात्मसंस्था में

**विश्वस्य हृदयम्**— जीवप्रजापति (कर्म्मात्मा) जो कार्य अपनी बुद्धि से लेता है, अधिदैवत संस्था में ईश्वर प्रजापति (कर्म्मसाक्षी) वह कार्य्य सूर्य्य से लेते हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धि आध्यात्मिक संस्था का सूर्य है, एवं सूर्य्य अधिदैवत संस्था की बुद्धि है। रोदसीत्रैलोक्यात्मिका द्यावापृथिवी के अधिष्ठाता, विश्वकेन्द्रस्थ, अतएव "आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्" (शत. ६।१।२।४०) इत्यादि के अनुसार "हृदय" नाम से प्रसिद्ध, व्यक्तपदार्थों की अपेक्षा सर्व प्रथम विश्व में व्यक्त होने के कारण 'अग्रज' नाम से प्रसिद्ध इसी हिरण्यगर्भ सूर्य्य-प्रजापति का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ यजुःसं. १३।४।

यद्यपि आदित्य-विज्ञान के अनुसार सूर्य्य '१-इन्द्र, २-धाता, ३-भग, ४-पूषा, ५-मित्र, ६-वरुण

**सोम-चित्-इन्द्र-विभूतियां**— ७-अर्यमा, ८-अंशु, ९-विवस्वान्, १०-त्वष्टा, ११-सविता, १२-विष्णु' इन बारह दिव्यप्राणों का समुचित रूप माना गया है, तथापि प्रधानदृष्टि से सूर्य्य १-सोम, २-इन्द्र, ३-चित्, इन तीन विभूतियों के आधार पर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है। प्रत्यक्ष में भी सूर्य्य में ये ही तीन तत्त्व उपलब्ध होते हैं। सूर्य्यपिण्ड [सूर्य्यगोलक] भूतमय है। यही "सोम" तत्त्व है। इसे ही दर्शनभाषा में 'भूतमात्रा' कहा जाता है। रश्मिमण्डल में व्याप्त, प्रकाश का अधिष्ठाता तत्त्व प्राण है। यही रूपाधिष्ठाता सौरप्राण—"रूपं रूपं मघवा बोभवीतु" "इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्" इत्यादि वचनों के अनुसार 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। दर्शन समय की यही 'प्राणमात्रा' है। सूर्य्य ही बुद्धि का प्रवर्त्तक बनता हुआ ज्ञान का अधिष्ठाता है। सूर्य्यकी यही ज्ञानशक्ति 'चित्' नाम से व्यवहृत हुई है। यही 'प्रज्ञामात्रा' नाम से प्रसिद्ध है। इस चिदंश के सम्बन्ध से ही इन्द्रतत्त्व चिन्मय बनता हुआ चेतना नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इन्द्र का प्रज्ञाभाव, किंवा चैतन्य, सोम के सम्बन्ध से ही स्थिर रहता है। अग्नि को

जहां पुरुष कहा जाता है, वहां सोमतत्त्व शक्ति नाम से प्रसिद्ध है। (देखिए बृहज्जाबालोपनिषत् २।८।। सौर अग्नि हिरण्मय है। इसी हिरण्य तत्त्व के सम्बन्ध से यह सोममयी शक्ति "हैमवती" नाम से प्रसिद्ध है। यह तत्त्व वीर्य है। प्रतिबिम्बग्रहणयोग्यता इसी में है। सब से पहिले पारमेष्ठ्य महद्गर्भित चिदंश का सम्बन्ध इसी के साथ होता है, अतएव इसे 'चिच्छक्ति' कहा जाता है। चिच्छक्तिस्वरूपा इसी हैमवती उमा के द्वारा महेश्वरमूर्त्ति सावित्राग्निमय इन्द्रप्राण के साथ सम्बन्ध होता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, इन्द्र में जो चैतन्य है, वह सोम के द्वारा ही आया हुआ है। (देखिए केनोपनिषत् ३।११।)। सृष्टिसाक्षी मनःप्राण-वाङ्मय अव्ययात्मा की वाक्कला का विकास अव्यक्त स्वयम्भू में होता है। प्राण-वाक् इन दो कलाओं का विकास महत् परमेष्ठी में होता है। परन्तु विश्वकेन्द्रस्थ बुद्धिरूप सूर्य्य में मन प्राणवाक् इन तीनों कलाओं का विकास है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि, षोडशी पुरुष की पूर्णविकासभूमि इन्द्रात्मक यही सूर्य्य है। अतएव—'इन्द्रो ह वै षोडशी' (शत० ४।५।३।१।) इत्यादि रूप से सौर इन्द्र को 'षोडशी' कहा गया है। यही कारण है कि, पञ्चपर्वा विश्व के किसी पर्व को आत्मा का अधिष्ठाता न मानकर 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुःसं० १३।४६)। इत्यादि रूप से एकमात्र सूर्य्य को ही अधिष्ठाता मान लिया गया है। आत्मा के साथ साथ ही देव, एवं भूतप्रजा की भी प्रतिष्ठा यही सूर्य्य है। आत्मा—भूत—देव, इन तीनों के मूलस्तम्भ आयुः—गौः—ज्योति, ये तीन तत्त्व हैं। पूर्व प्रतिपादित इन्द्र का विकास ज्योतिरूप से, सोम का विकास गौरूप से, चिदंश का विकास आयुरूप से होता है। इन्द्रमय ज्योति, सोममयी गौ, चिन्मय आयु, इन्हीं तीनो मनोताओं के सम्बन्ध से सूर्य्य से ज्योतिष्टोम-गोष्टोम-आयुष्टोम, इन तीन स्तोमयज्ञों का विकास होता है। ज्योतिष्टोम देवसृष्टि को, गोष्टोम भूतसृष्टि को, एवं आयुष्टोम आत्मविकास की मूलप्रतिष्ठा है। इस प्रकार इन तीनों स्तोमों से सूर्य्य सर्वप्रतिष्ठा बन रहा है।

न केवल आत्म—देव—भूत विवर्त्त का ही, पवितु अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, इन तीनों संस्थाओं की भी सत्ता सूर्य्य के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। अतएव इसे विश्वप्रतिष्ठा कहा गया है जैसाकि महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं—

> अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्
> विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १ ॥ श्वेता० ५।१३।

पूर्व की यज्ञात्मोपनिषत् में कहा गया है कि, सूर्य्य से ऊपरका पारमेष्ठ्यलोक तृतीय द्यु नाम से प्रसिद्ध यज्ञप्रवर्त्तक विश्वात्मा— है। इसी में सोम नामक अप् तत्त्व प्रतिष्ठित है। यही लोक 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' (कौ० ब्रा० १८।२) के अनुसार आपोलोक नाम से प्रसिद्ध है। यह पारमेष्ठ्य सोम

दूषित परमाणुओं को उच्छिन्न करने की शक्ति रखता है, अतएव यह पवित्र नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि सर्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥ ऋक्० ६।८३।१।

परमेष्ठी में प्रतिष्ठित भृगुतत्त्व की आपः-वायुः-सोम, ये तीन अवस्थाएँ, बतलाई गईं हैं। इन तीनों में क्रमशः आप्यप्राण असुर, वायव्यप्राण गन्धर्व, एवं सौम्यप्राण पितर नाम से प्रसिद्ध है। आप्यप्राणात्मक पारमेष्ठ्य असुरों के आक्रमण से पारमेष्ठ्य वायव्य प्राणात्मक गन्धर्व पितृप्राणात्मक सोम की निरन्तर रक्षा किया करते है। सौरी वाग्रूपा सुपर्णी के द्वारा गन्धर्वों से सुरक्षित यह पवित्र सोम निरन्तर सूर्य मे आहुत होता रहता है। इसी रहस्य को बतलाने के लिए सौपर्णाख्यान की कल्पना की गई है। सुप्रसिद्ध कद्रू-विनता की संधा (शर्त-होड़-बाजी) का भी इसी ब्राह्मणाख्यान से सम्बन्ध है। 'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः' (यजुःसं०३३।४३।) के अनुसार सूर्य्य सर्वथा कृष्ण (काला) है। दाह्य पारमेष्ठ्य सोम की इस दाहक सौर सावित्राग्नि में आहुति होती रहती है। इस सोमाहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। यही प्रकाश है। आप सौरमण्डल में जो प्रकाश देख रहे हैं, वह जलता सोम ही है। सोम ही प्रकाश का प्रवर्त्तक है। इसी अभिप्राय से ऋषि कहते हैं—

त्वमिमा ओषधीः सोम! विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ ऋक्० १।९१।२२।

इसी सोमाहुति से सूर्य्यसत्तारूप अहःकाल का उदय होता है। यही अहर्यज्ञ अग्निहोत्र नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर—"सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्" (शत० २।३।१।१) यह कहा गया है। सौराग्निमण्डल ही सम्वत्सर है। इसी में सोम आहुत हो रहा है। अग्निसोम के उद्ग्राभ (चढ़ाव) निग्राभ (उतार) से इस सौर-सम्वत्सर में ६ ऋतुएं उत्पन्न हो जातीं हैं। अग्निजन्मकाल वसन्त है, अग्नि की युवावस्था ग्रीष्म है, प्रौढ़ावस्था वर्षा है। सोम का उदयकाल शरत् है, युवावस्था हेमन्त है, प्रौढ़ावस्था शिशिर है। अग्नीषोममय इस सम्वत्सरात्मक सौर यज्ञ के पाँच अवयव हैं। अहोरात्र पहिला पर्व है, शुक्ल-कृष्ण पक्ष दूसरा पर्व है, चातुर्मास्य तीसरा पर्व है, दक्षिण-उत्तर-अयन चौथा पर्व है, एवं स्वयं सम्वत्सर पाँचवा है। यही इस सौरयज्ञ की पाङ्क्तता (पञ्चावयवता) है।

उक्त सम्वत्सर-यज्ञ के ये ही पाँचों पर्व क्रमशः अग्निहोत्र—दर्शपूर्णमास—चातुर्मास्य—पशुबन्ध ज्योतिष्टोम—नामों से प्रसिद्ध हैं। प्रकारान्तर से यज्ञ की पाङ्क्तता देखिए। हविर्यज्ञ—सोमयज्ञ—मेधयज्ञ—आतयज्ञ—घर्म्मयज्ञ, भेद से सम्वत्सर यज्ञ पञ्चधा विभक्त है। पार्थिव अन्न की सौराग्नि में आहुति होने से हविर्यज्ञ का, पारमेष्ठ्यसोम की आहुति से सोमयज्ञ का, पुरुष-गौ-नर-सर्व-नाम के चारों पशव्य प्राणों

की आहुति से मेधयज्ञ का, एवं विशेष प्रकार की सोमद्वयी, एवं अग्निचिति से अतियज्ञ का, प्रवर्ग्याहुति से घर्म्मयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। ये पाँचों यज्ञ, दूसरे शब्दों में एक ही यज्ञ के पाचों पर्व क्रमशः ७-७-४-१ इन विभागों में विभक्त हैं। इन के भी आगे जाकर अवान्तर, अनेक विभाग होजाते हैं। यह सम्पूर्ण यज्ञकर्म्म-कलाप एकमात्र इसी सौरसम्वत्सर में प्रतिष्ठित है। अग्नीषोमात्मक इसी सौरयज्ञ से सौर-देवता अमृतभाव को प्राप्त होते हुए सम्पूर्ण विश्व के सञ्चालक बन रहे हैं। जब तक सोमाहुति है, तब तक यज्ञ है। जब तक यज्ञ है, तभीतक व्यक्त विश्व का व्यक्तीभाव है। यह व्यक्तीभाव यज्ञात्मक इसी व्यक्त सूर्य्य पर प्रतिष्ठित है। अतएव सूर्यसत्ता सृष्टिकाल कहलाता है। एव सूर्य्य का तिरोभाव प्रलयकाल का अधिष्ठाता माना गया है। उक्त यज्ञसंस्थाक्रम निम्न लिखित तालिकाओं से स्पष्ट होरहा है।

१—
- १–हविर्यज्ञः → अन्नाहुत्या सम्पद्यते।
- २–सोमयज्ञः → सोमाहुत्या सम्पद्यते।
- ३–मेधयज्ञः → मेधाहुत्या सम्पद्यते।
- ४–अतियज्ञः → राज–वानाग्निसम्बन्धेन०
- ५–घर्म्मयज्ञः → प्रवर्ग्याहुत्या सम्पद्यते।

"पाङ्क्तो वै यज्ञः" इत्याहुः। सैषा पाङ्क्तयज्ञस्यैकाविधा

—:o:—

२—
- १–अग्निहोत्रम् ... अहोरात्रयज्ञः
- २–दर्शपौर्णमासः ... पक्षयज्ञ
- ३–चातुर्मास्यम् ... ऋतुयज्ञः
- ४–पशुबन्धः ... अयनयज्ञः
- ५–ज्योतिष्टोमः ... सम्वत्सरयज्ञः

"पाङ्क्तो वै यज्ञः" इत्याहुः सैषा पाङ्क्तयज्ञस्यैकाविधा

—o—

१–हविर्यज्ञः—

१—
- १—अग्निहोत्रम्
- २—दर्शपूर्णमास
- ३—चातुर्मास्यम्
- ४—आग्रयणेष्टि
- ५—इष्टयनम्
- ६—सौत्रामणिः
- ७—पशुबन्धः

७ सप्तसंस्थो वै हविर्यज्ञः-प्राक्सोमिकः

दूषित परमाणुओं को उच्छिन्न करने की शक्ति रखता है, अतएव यह पवित्र नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पतेप्रभुर्गात्राणि पर्येषि सर्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो समश्नुते श्रृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥ ऋक्० ६ । ८३ । १ ।

परमेष्ठी में प्रतिष्ठित भृगुतत्त्व की आप–वायु–सोम, ये तीन अवस्थाएँ, बतलाई गई हैं। इन तीनों से क्रमशः आप्यप्राण असुर, वायव्यप्राण गन्धर्व, एवं सौम्यप्राण पितर नाम से प्रसिद्ध है। आप्य-प्राणात्मक पारमेष्ठ्य असुरों के आक्रमण से पारमेष्ठ्य वायव्य प्राणात्मक गन्धर्व पितृप्राणात्मक सोम की निरन्तर रक्षा किया करते हैं। सौरी वागूरूपा सुपर्णी के द्वारा गन्धर्वों से सुरक्षित वह पवित्र सोम निरन्तर सूर्य में आहुत होता रहता है। इसी रहस्य को बतलाने के लिए सौपर्णाख्यान की कल्पना की गई है। सुप्रसिद्ध कद्रू-विनता की सधा (शर्त–होड़–बाजी) का भी इसी आख्यान से सम्बन्ध है। 'आकृष्णे न रजसा वर्त्तमान' (यजु स०३३ । ४३ ।) के अनुसार सूर्य सर्वथा कृष्ण (काला) है। दाय पारमेष्ठ्य सोम की इस दाहक सौर सावित्राग्नि में आहुति होती रहती है। इस सोमाहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। यही प्रकाश है। आप सौरमण्डल में जो प्रकाश देख रहे हैं, वह जलता सोम ही है। सोम ही प्रकाश का प्रवर्त्तक है। इसी अभिप्राय से ऋषि कहते हैं—

त्वमिमा ओषधीः सोम! विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ ऋक्० १ । ६१ । ०२ ।

इसी सोमाहुति से सूर्यसत्तारूप अह काल का उदय होता है। यही अहर्यज्ञ अग्निहोत्र नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर—"सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्" (शत० २ । ३ । १ । १) यह कहा गया है। सौराग्निमण्डल ही सम्वत्सर है। इसी में साम आहुत हो रहा है। अग्निसोम के उद्‌ग्राभ (चढाव) निग्राभ (उतार) से इस सौर-सम्वत्सर में ६ ऋतुएं उत्पन्न हो जाती हैं। अग्निजन्मकाल वसन्त है, अग्नि की युवावस्था ग्रीष्म है, प्रौढावस्था वर्षा है। सोम का उदयकाल शरत् है, युवावस्था हेमन्त है, प्रौढावस्था शिशिर है। अग्नीषोममय इस सम्वत्सरात्मक सौर यज्ञ के पाँच अवयव हैं। अहोरात्र पहिला पर्व है, शुक्ल-कृष्ण पक्ष दूसरा पर्व है, चातुर्मास्य तीसरा पर्व है, दक्षिण-उत्तर-अयन चौथा पर्व है, एवं स्वयं सम्वत्सर पाँचवा है। यही इस सौरयज्ञ की पाङ्क्तता (पञ्चावयवता) है।

उक्त सम्वत्सर यज्ञ के ये ही पाँचों पर्व क्रमश अग्निहोत्र—दर्शपूर्णमास—चातुर्मास्य—पशुबन्ध ज्योतिष्टोम—नामों से प्रसिद्ध हैं। प्रकारान्तर से यज्ञ की पाङ्क्तता देखिए। हविर्यज्ञ—सोमयज्ञ—मेधयज्ञ—आतयज्ञ—घर्म्मयज्ञ, भेद से सम्वत्सर यज्ञ पञ्चधा विभक्त है। पार्थिव अन्न की सौराग्नि में आहुति होने से हविर्यज्ञ का, पारमेष्ठ्यसोम की आहुति से सोमयज्ञ का, पुरुष-गौ-नर-सर्व-नाम के चारों पशव्य प्राणों

की आहुति से मेधयज्ञ का, एवं विशेष प्रकार की सोमाहुति, एवं अग्निचिति से अतियज्ञ का, प्रवर्ग्याहुति से घर्म्मयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। ये पाँचों यज्ञ, दूसरे शब्दों में एक ही यज्ञ के पाचों पर्व क्रमशः ५-७-४-१ इन विभागों में विभक्त हैं। इन के भी आगे जाकर अवान्तर अनेक विभाग होजाते हैं। यह सम्पूर्ण यज्ञकर्म्म-कलाप एकमात्र इसी सौरसम्वत्सर में प्रतिष्ठित है। अग्नीषोमात्मक इसी सौरयज्ञ से सौर-देवता अमृतभाव को प्राप्त होते हुए सम्पूर्ण विश्व के सञ्चालक बन रहे हैं। जब तक सोमाहुति है, तब तक यज्ञ है। जब तक यज्ञ है, तभीतक व्यक्त विश्व का व्यक्तीभाव है। यह व्यक्तीभाव यज्ञात्मक इसी व्यक्त सूर्य्य पर प्रतिष्ठित है। अतएव सूर्य्यसत्ता सृष्टिकाल कहलाया है। एवं सूर्य्य का तिरोभाव प्रलयकाल का अधिष्ठाता माना गया है। उक्त यज्ञसंस्थाक्रम निम्न लिखित तालिकाओं से स्पष्ट होरहा है।

१—
१-हविर्यज्ञः → अन्नाहुत्या सम्पद्यते।
२-सोमयज्ञः → सोमाहुत्या सम्पद्यते।
३-मेधयज्ञः → मेधाहुत्या सम्पद्यते।
४-अतियज्ञः → राज-यानाग्निसम्बन्धेन०
५-घर्म्मयज्ञः → प्रवर्ग्याहुत्या सम्पद्यते।
"पाङ्क्तो वै यज्ञः" इत्याहुः। सैषा पाङ्क्तयज्ञस्यैकाविधा

——:o:——

२—
१-अग्निहोत्रम् ... अहोरात्रयज्ञः
२-दर्शपौर्णमासः ... पक्षयज्ञः
३-चातुर्मास्यम् .... ऋतुयज्ञः
४-पशुबन्धः .... अयनयज्ञः
५-ज्योतिष्टोमः .... सम्वत्सरयज्ञः
"पाङ्क्तो वै यज्ञः" इत्याहुः सैषा पाङ्क्तयज्ञस्यैकाविधा

——o——

१-हविर्यज्ञः—
१—
१—अग्निहोत्रम्
२—दर्शपूर्णमासः
३—चातुर्मास्यम्
४—आग्रयणेष्टिः
५—इष्टयनम्
६—सौत्रामणिः
७—पशुबन्धः
७ सप्तसंस्थो वै हविर्यज्ञः-प्राक्सोमिकः

## २—सोमयज्ञः—

२— 

- १—अग्निष्टोमः
- २—अत्यग्निष्टोमः
- ३—उक्थ्यस्तोमः
- ४—षोडशीस्तोमः
- ५—अतिरात्रस्तोमः
- ६—वाजपेयस्तोमः
- ७—अप्तोर्यामस्तोम

} ७ सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्टोमः—सोमयज्ञः

—o—

## ३—मेधयज्ञः—

- १—अश्वमेधः
- २—गोमेधः
- ३—नरमेध
- ४—सर्वमेधः

} ४ चतुःसंस्थो वै मेधयज्ञः

—o—

## ४—अतियज्ञः—

- १—राजसूयः (राज्ञाम्)
- २—वाजपेयः (ब्राह्मणानाम्)
- ३—चयनम् (ब्राह्मणानाम्)
- ४—अश्वमेधः (राज्ञाम्)

} ४ चतुःसंस्थो वै अतियज्ञः

—o—

## ५—घर्म्मयज्ञः

१—शिरोयज्ञ, प्रवर्ग्ययज्ञो वा एकविध एव।

—o—

अग्निरहस्यवेत्ता विद्वानों को यह भलीभाँति विदित है कि, सम्पूर्ण विश्व एकमात्र सोमगर्भित अग्नि-सूर्य्यात्मक क्षत्ररुद्र—तत्त्व का ही विवर्त्त है। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' बृ० आ० उ० २।४।)। इस अग्नितत्त्व के सम्यक् परिज्ञान के लिए तीन तत्त्व विज्ञेय हैं। अग्नि स्वयं अन्नाद (अन्न खाने वाला) है। बिना अन्न के अग्नि कभी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। यही पहिला तत्त्व है। दूसरा अन्न

तत्त्व है। भोक्ता अग्नि जिस धरातल पर प्रतिष्ठित होकर अन्न भोग करता है, वह तीसरा तत्त्व है। ये तीनों क्रमशः आवपनब्रह्म—अन्नादब्रह्म—अन्नब्रह्म, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। आवपन खं ब्रह्म है, खं आकाश है, आकाश ही वाक्तत्त्व है, जैसाकि यज्ञात्मप्रकरण मे विस्तार से बतलाया जाचुका है। इस वाङ्मय खं ब्रह्म पर प्रतिष्ठित रहने वाला भोक्ता अन्नाद ब्रह्म अन्न से सुख प्राप्त करता हुआ "क" ब्रह्म नाम से व्यवहृत होता है। आवपन वाग् ब्रह्म था, यह अग्निब्रह्म है। रमणकभूत अन्नब्रह्म 'र' ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार वाङ्मय आवपन रूप खं ब्रह्म पर प्रतिष्ठित अग्निमय अन्नादरूप क ब्रह्म आपोमय अन्नरूप 'र' ब्रह्म का भोग करता हुआ वाक्-अग्नि-अप्मय शं ब्रह्मरूप में परिणत हो रहा है। आवपन पर प्रतिष्ठित अन्नाद के साथ जब तक अन्न का सम्बन्ध है, तभी तक रुद्राग्नि शिवरूप में परिणत होता हुआ शान्ति के साम्राज्य मे प्रतिष्ठित होरहा है। अन्नसम्बन्ध के विच्छेद से शिवभाव रुद्ररूप में परिणत होता हुआ विश्व-संहारक बन जाता है। अन्नसम्बन्ध से वही प्राणाग्नि तत्त्व शिव शरीर धारण कर लेता है। अन्नाभाव में वही घोरशरीरी बन जाता है। इसी अन्नाद्याग्नि-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—
"अग्निर्वा रुद्रः, तस्यैते द्वे तन्वे घोरान्या च शिवान्या च"।

चित्याग्नि साक्षात् रुद्र है। इस के प्रचण्ड कोप से सम्पूर्ण देवता कम्पित हो जाते हैं। अपनी रक्षा के लिए, दूसरे शब्दों मे रुद्रकोप से बचने के लिए अन्नयज्ञ का आश्रय लेते हैं। इस अन्न से रुद्र शान्त हो जाते हैं, शिवस्वरूप में परिणत हो जाते हैं, अतएव यह रुद्राग्नि 'शान्तदैवत्य' किंवा "शान्तरुद्रिय" नाम से प्रसिद्ध होता है। परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में यही शान्तरुद्रियभाव "शतरुद्रिय" नाम से प्रसिद्ध है, यही "शतरुद्री" है– देखिए शत० ७ का० संचितिब्रा० १।१।१) उत्पन्न शिशु अग्निमूर्त्ति है। गर्भस्थ शिशु सम्वत्सराग्नि के चयन से नवमास मे जब सर्वात्मना सम्पन्न होजाता है तो एरयामरुत् के आघात से गर्भाशय को छोडता हुआ बाहिर निकल पडता है। भूमिष्ठ होने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह रोने लगता है। शिशुशरीरस्थ अन्न विरहित अग्नि ही "अग्नि र्वै रुद्रः। यदरोदीत, तस्माद्रुद्रः (शत० ६।१।३।११) के अनुसार रुद्र नाम से प्रसिद्ध है। इसी से सम्पूर्ण इन्द्रिय देवता कम्पित हो पड़ते हैं। अन्नाहुति दी जाती है। तत्काल रुद्राग्नि शान्त हो जाता है। बच्चा चुप हो जाता है। इसी आधार पर ख–क–र– की समष्टि को "शं" ब्रह्म कहा गया है। तीनों की समष्टि ही यज्ञ है। जब तक यज्ञ है, तभी तक संसार है।

यद्यपि परमेष्ठी को यज्ञात्मा कहा गया है। तथापि अग्नीषोमात्मक यज्ञका पूर्ण विकास तो सूर्य्य में ही होता है। पारमेष्ठ्य यज्ञ सामवेद में "गोसव" यज्ञ कहलाया है। यही यज्ञ पुराण में "गोलोक" कहलाया है। सूर्य्य की मूलप्रतिष्ठारूप गौ यहीं विकसित होती है। यही गोस्थान व्रजभूमि नाम से प्रसिद्ध है। इस यज्ञ की आधार भूमि एकविंशस्तोम मे आरम्भ कर ३३ वें स्तोम तक का पारमेष्ठ्य प्रदेश है। इन्हीं

पन्द्रह स्तोमों के कारण यह यज्ञ "पञ्चदशाह्" यज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। गौप्रवर्त्तक पञ्चदश अहर्गणात्मक सोममूर्त्ति यही पारमेष्ठ्य गोसवयज्ञ *"षट्त्रिंश" कहलाया है।

यज्ञाधारभूमि को आवपन कहा गया है। आवपन और आधार में अन्तर है। आवपन भिन्न प्रकार का आयतन है, आधार भिन्न प्रकार का आयतन है। एकतः आयतन भूमि आधार कहलाता है, एवं सर्वतः आयतन भूमि आवपन कहलाता है। हमारा आधार भूपिण्ड है, पुस्तक का आधार मेज है, पानी का आधार घट है, फूल का आधार शाखा है, शाखा का आधार वृक्ष है, ये सब आयतन आधार नाम से ही व्यवहृत होंगे। घट का आधार मिट्टी है, कटक-कुण्डलादि का आधार सुवर्ण है, पट का आधार तन्तु है, शरीर का आधार आत्मा है, ये सब आवपन नाम से प्रसिद्ध होंगे। आकाश वसुधानकोश (डिब्बी) की भाँति सर्वतः आधार बना हुआ है। प्रकृत में आकाशात्मक यही आवपन सम्बन्ध अभिप्रेत है। इसी-लिए इस आवपन को हमने "खं ब्रह्म" कहा है। अन्न को हमने आपोमय कहा है। यह अप्तत्त्व, किंवा आपोमय अन्न सौर, एवं पार्थिवाग्नि भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। पार्थिव अन्न सोम है, सौर अन्न ×पानी है। जहां भी कहीं पानी होता है, "नाड्योर्वायुसंयोगादारोहणम्" (वै०द० ५। २। ६।) के अनुसार सूर्य्य स्वनाड़ी द्वारा उसे अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लेता है। पञ्चपर्वा विश्व के ऊपर ओर वाग्ब्रह्म है, इस ओर भी वाग्ब्रह्म है, मध्य में अग्निब्रह्म है। इस मध्यस्थ अग्नि के दोनों ओर अन्नसोम अभिव्याप्त है। स्वयम्भू आकाश है, यही वाग्ब्रह्म, किंवा खं ब्रह्म है, यही विश्वयज्ञ का आवपन है। 'परमे व्योमन्' नाम से प्रसिद्ध इसी आवपन में सब कुछ प्रतिष्ठित है। परमेष्ठी आपः है, यही 'रं' ब्रह्म है। सूर्य्य अग्नि है, यही 'कं' ब्रह्म है। चन्द्रमा आपः सोम है, यही 'रं' ब्रह्म है। पृथिवी वाक् है, यही खं ब्रह्म है। उपक्रम-उपसंहार में वाक् है, मध्य में सूर्य्याग्नि है। यह उभयतः सोमरूप अप् से परिगृहीत है। जैसाकि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट हो रहा है।

१—वाक्—स्वयम्भूः—आवपनब्रह्म……खं ब्रह्म
२—आपः—परमेष्ठी—अन्नब्रह्म ……रं ब्रह्म
३—अग्निः—सूर्य्यः—अन्नादब्रह्म ……कं ब्रह्म
४—आपः—चन्द्रमाः—अन्नब्रह्म ……रं ब्रह्म
५—वाक्—पृथिवी—आवपनब्रह्म……खं ब्रह्म

} शंब्रह्म—अधिदैवतम्

---

*इस विषय का विशद विवेचन शतपथ विज्ञानभाष्य (१ अङ्क) में देखना चाहिए।

×अथैष गोसवः। स्वाराज्यो वा एष यज्ञः। प्रजापतिर्हि परमेष्ठी स्वाराज्यम्। उभे: षट्त्रिंश (३६) स्तैन 'गोसवः'। (ता० म० ब्रा० १९। १३)।

विश्वमध्यस्थ अन्नादाग्नि क (सौर अग्नि के) तीन विवर्त्त हैं, दूसरे शब्दों में-वह तीन भावों में

**सौर अन्नादाग्नि के तीन विवर्त्त**—परिणत होकर विश्व में प्रतिष्ठित है। पहिला विवर्त्त सांवत्सरिक है, दूसरा पार्थिव है, तीसरा शारीरिक है। सौरमण्डलस्थ विश्वनियन्ता अग्नि ही सम्वत्सर है, यहा देवप्राण की प्रधानता से 'आधिदैविकाग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। भूलोक नियन्ता अग्नि पार्थिव है, भूतभाग की प्रधानता से यही 'आधिभौतिकाग्नि' है। एव जीवसृष्टि का सञ्चालक शारीरिक अग्नि ही आत्मसम्बन्ध से 'आध्यात्मिकाग्नि' नाम से व्यवहृत हुआ है। इन तीनों अग्नियों की मूलप्रतिष्ठा स्वायम्भुव प्राणाग्नि है। यही ब्रह्माग्नि, किंवा वेदाग्नि है।

अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत-तीनों प्रपञ्चों का उक्थ-ब्रह्म-साम रूप आत्मा यही सूर्य्य है। स्थावरप्रपञ्च भूतप्रपञ्च है, जङ्गमप्रपञ्च आत्मप्रपञ्च है। "सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजु स०—७। ४२) के अनुसार दोनों की प्रतिष्ठा यही सूर्य्य है। सौरमण्डल—'चित्रं देवानामुदगात्' (यजु स०—६। ४२) के अनुसार देवप्राणात्मक है। इसी देवप्राण के सम्बन्ध से यह प्रथम सस्था 'आधिदैविक' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव सौरमण्डलस्थ यह प्राणाग्नि "देवाग्नि" नाम से व्यवहृत हुआ है। "एषां वै भूतानां पृथिवी रसः" (शत० १४। ६। ४। १।) के अनुसार पार्थिव अग्नि 'भूताग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के सम्बन्ध से यह सस्था आधिभौतिक नाम से व्यवहृत हुई है। मनोता विज्ञान के अनुसार सूर्य्य में ज्योति-गौ-आयु, ये तीन मनोता माने गए हैं, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बतलाया जाचुका है। *मन प्राण वाक् के त्रिवृत्करण से इन तीनों मनोताओं का परस्पर में त्रिवृत्करण होता है। इस त्रिवृत्करण से क्रमश देवता—भूत—आत्मा, ये तीन तत्त्व आविर्भूत होते हैं। आयु-गौ-गर्भित ज्योतितत्त्व देवता है। सूर्य्यमण्डल में गौभाग गौण है देवभाग प्रधान है। ज्योति-आयुर्गर्भित गौभाग भूत है। यही पृथिवी है। यहा ज्योति, एव आयु तत्त्व अन्तर्लीन हैं, गौभाग प्रधान है। ज्योति-गौ-गर्भित आयु तत्त्व ही आत्मा है। यहा आयु भाग का विकास है। यही आध्यात्मिकाग्नि पुरुषाग्नि नाम से भी व्यवहृत हुआ है। निष्कर्ष यही हुआ कि, वही अन्नादाग्नि सूर्य्यसस्था में सम्वत्सर है, पृथिवीसस्था में अग्नि है, एवं अध्यात्म सस्था में पुरुष है। साथ ही में इतना और ध्यान रखिए कि, ये तीनों ही शब्द विचाली हैं। सम्वत्सर-अग्नि-पुरुष, तीनों को तीनों शब्दों से व्यवहृत किया जासकता है। कारण, त्रिवृद्भाव के कारण प्रत्येक में तीनों के प्रत्यश विद्यमान हैं। साथ ही में तीनों का मूलप्रभव अन्नादाग्नि तीनों में समान है। सौरसम्वत्सर अग्नि भी है, पुरुष भी है। पार्थिव अग्नि सम्वत्सर भी है, पुरुष भी है। पुरुष अग्नि भी है, सम्वत्सर भी है। इन तीनों अग्नियों का परस्पर में चिति सम्बन्ध हुआ करता है। यही प्राकृतिक अग्निचयन यज्ञ है। इन

*इस विषय का विशद विवेचन 'ईशोपनिषत् हिन्दी विज्ञानभाष्य' प्रथम खण्ड के 'मन प्राणवाक् की व्यापकता' नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

तीनों चित्याग्नियों का मूलाधार-सर्वतः आधारभूत यही स्वायम्भुव वेदाग्नि है। यही चौथा आवपन है। अग्नितत्त्व के इन्हीं चारों विवर्त्तों को लक्ष्य में रखकर— "चतुर्द्धा विहितो ह वाऽग्रेऽग्निरास" (शत०-ब्रा० १।२।३।१।) यह कहा गया है।

## अग्निविवर्त्त—

१—१-मूलप्रतिष्ठाग्निः—चितेनिधेयः—प्राणप्रधानः—स्वायम्भुवः
२—२-आधिदैविकाग्निः—चित्यः —ज्योतिःप्रधानः-सौरः
३—३-आधिभौतिकाग्निः- ,, —गौप्रधानः —पार्थिवः
४—४-आध्यात्मिकाग्निः- ,, —आयुःप्रधानः—शारीरिकः

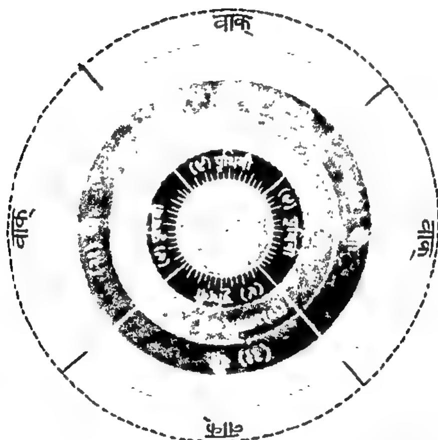
—:o:—

१—ब्रह्माग्निः—ब्रह्माण्डम्...खं ब्रह्म
१—देवाग्निः—सम्वत्सरः ...कं ब्रह्म
२—भूताग्निः—अग्निः ...कं ब्रह्म
३—आत्माग्निः—पुरुषः ...कं ब्रह्म

"अग्नि वै त्रिवृत्" (तै० ब्रा० १।५।१०।४।) के अनुसार अग्नितत्त्व त्रिवृत्कृत है। इसी त्रिवृद्भाव के कारण आधिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक; इन तीनों अग्नियों की तीन तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। आधिदैविकाग्नि सम्वत्सराग्नि है। घनावस्थापन्न सम्वत्सराग्नि अग्नि है, तदवच्छिन्न लोक पृथिवीलोक है। तरलावस्थापन्न सम्वत्सराग्नि वायु है; तदवच्छिन्न लोक अन्तरिक्ष है। विरलावस्थापन्न सम्वत्सराग्नि आदित्य है, यही द्युलोक है। आधिभौतिकाग्नि पार्थिव है। घनावस्थापन्न पार्थिव अग्नि दृश्य मूत्तर है, यही भूलोक है। इस के भीतर तरलावस्थापन्न अग्नि जलरूप है, यही भुवर्लोक है। सर्वान्तरतम प्राणात्मक मौलिक अग्नि विरलावस्थायुक्त है, यही तीसरा स्वर्लोक है। आज दिन पृ० अन्त० द्यौ, एवं भूः—भुवः—स्व, इन को परस्पर में पर्य्याय माना जारहा है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। भू -भुवः-स्वः-का भूपिण्ड से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में पार्थिवाग्नि से सम्बन्ध है। भूकेन्द्रस्थान स्वर्लोक है। इस की प्रतिष्ठा प्राणाग्निमूर्त्ति प्रजापति है— "प्रजापतिश्चरति गर्भे०"। भूपृष्ठ के भीतर बहने वाला पानी भुवर्लोक है। यही पातालादि सात लोकों की प्रतिष्ठा है। यही पानी साक्षात् वरुणाग्नि है। स्वय दृश्य भूपिण्ड भूलोक है। इस प्रकार भूः—भुवः—स्व —इन तीनों का केवल भूपिण्ड में ही भोग होजाता है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर एकविंशस्थ सूर्य्य पर्य्यन्त सम्वत्सराग्नि व्याप्त है। इसी की उक्त तीनो अवस्थाएं-क्रमशः अग्नि—वायु—आदित्य, नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं ये ही तीनों देवता क्रमशः त्रिवृत् पञ्चदश – एकविंश-स्तोमरूप पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ—इन तीनों लोकों के अधिष्ठाता हैं। इसी पार्थक्य को लक्ष्य में रख कर

## सम्वत्सरमण्डलं–अधिदैवतसंस्था–

( सौरसम्वत्सरः–हिरण्मयम् )




१—वाक्

२—आपः

३— { अग्नि–आदित्य–२१ द्यौ | अग्नि–वायु—१५ अन्तरिक्षम् | अग्नि–अग्नि—९ पृथिवी }

४—आपः

५—वाक्

स्वयम्भू—[illegible]

परमेष्ठी—[illegible]

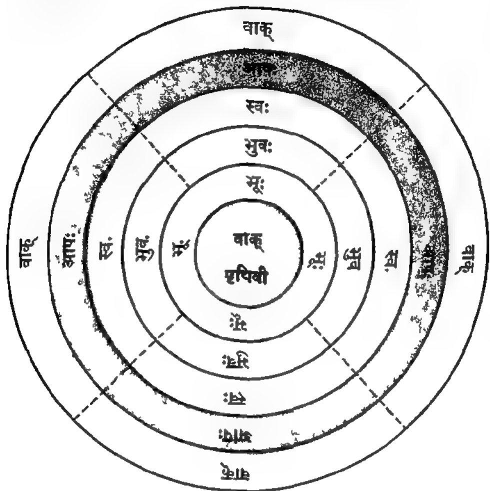
सम्वत्सर—[illegible]

परमेष्ठी—[illegible]

भूपिण्ड—[illegible]

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय जयपुर

## पार्थिवमण्डलं—अधिभूतसंस्था—(पार्थिवसम्वत्सरः इलान्दम्)




१—वाक् ——————→ स्वयम्भूः ——————→ आवपनम्

२—आपः ——————→ परमेष्ठी ——————→ अन्नम्

३—[ अग्निः—आदित्यः (२१—स्वः
अग्निः—वायुः (१५—भुवः
अग्निः—अग्निः (६—भूः ] ——→ महापृथिवी पार्थिवसम्वत्सरः—→ अन्नादः

४—आपः ——————→ परमेष्ठी ——————→ अन्नम्

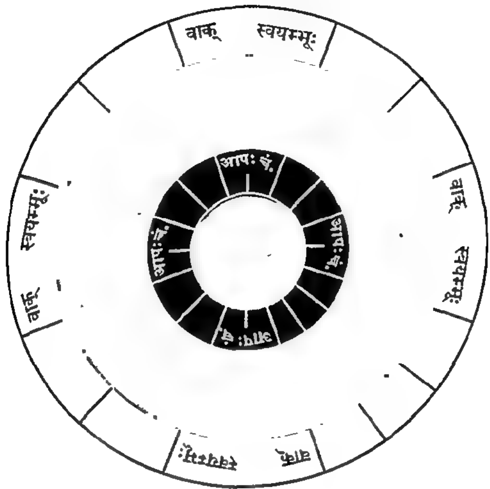
५—वाक् ——————→ भूपिण्डः ——————→ आवपनम्

## अर्णवसमुद्रगर्भे प्रतिष्ठितो भूपिण्डः




| | | | |
|---|---|---|---|
| १. —आपः | आपः | | 'भूत्रिवर्त्तम्' |
| २. —भूः (चित्याग्निः) | | | |
| ३. —भुवः (तरलाग्निः) | भूः | | |
| ४. —स्वः (हृदयम्) | | | |
| ५. —आपः | आपः | | |

## अधिदैवत–अधिभूतसमष्टिः




१—वाक्
२—आपः
३— [ द्यौः – २१ आदित्यः | अन्तरिक्षम् १५ वायुः | पृथिवी ९ अग्नि ]
४—आपः
५— [ भूः (पृष्ठम्) | भुवः (अधोभुवनम्) | स्वः (हृदयम्) ]

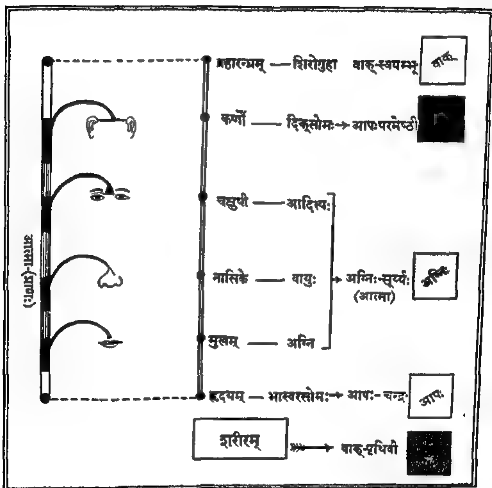
वाक् ———> स्वयम्भूः — आवपनम्
आपः ———> परमेष्ठी — अन्नम्

अग्निः ———> सूर्यः — अन्नादः

आपः ———> चन्द्रमाः — अन्नम्

वाक् ———> पृथिवी — आवपनम्

# शारीरकाग्निः—अध्यात्मसंस्था—




शर्मा आदर्श इलैक्ट्रिक प्रेस, अलवर।

'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋक्सं० १० । १९० । ३ ।) यह कहा गया है। यदि द्युलोक, एवं स्वर्लोक दोनों एक ही वस्तु होते तो 'दिवं— अथो स्वः' यह पुनरुक्ति व्यर्थ होती । सम्वत्सराग्नि के तीनो विवर्तों के लिए 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षम्' यह कहा है, एवं प्रजापतिमूर्त्ति पार्थिव अग्नि की तीनो अवस्थाओं का द्वन्द्वभाव से समह करते हुए 'अथो स्वः' यह कहा गया है। इसी प्रकार आध्यात्मिक अग्नि भी इसी त्रिवृद्भाव से आक्रान्त है। वागिन्द्रिय अग्नि है, प्राणेन्द्रिय वायु है, चक्षुरिन्द्रिय आदित्य है।

अग्नि के उक्त तीनो ही विवर्त्त उभयतः पानी से वेष्टित हैं। सत्याग्नि सदा आपोमय ऋत परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है—ऋते भूमिरियं श्रिता। पहिले आधिदैविक विवर्त्त को ही लीजिए। पृथिवी-अन्तरिक्ष—द्यौरूप सम्वत्सराग्नि के उस ओर आपोमय दिक्सोममय परमेष्ठी है, इस ओर आपोमय (भास्वर सोममय) चन्द्रमा है। इसी प्रकार भूपिण्ड 'समुद्रमभितः पिन्वमानम्' (यजु सं० ११ । २९ ।) के अनुसार 'अर्णव' नाम से प्रसिद्ध रोदसी समुद्र के गर्भ में प्रविष्ट है। एवमेव दिक्सोममय श्रोत्र; एवं भास्वर सोममय मन से वेष्टित आध्यात्मिक त्रिवृदग्नि भी पानी के गर्भ में ही प्रतिष्ठित है—जैसाकि परिलेखों से स्पष्ट हो रहा है।

इस वैधयज्ञ के द्वारा मानुषात्मा में एक प्रकार का अपूर्व भाव उत्पन्न होता है, वही दैवात्मा नाम से प्रसिद्ध है। आध्यात्मिक प्रपञ्च का आधिभौतिकप्रपञ्च के द्वारा आधिदैविक प्रपञ्च के साथ सम्बन्ध करा देना ही इस वैधयज्ञ का चरम फल है। दूसरे शब्दों में, सौर दिव्यतत्त्व का अध्यात्म-देवताओं के साथ ग्रन्थिबन्धन करा देना ही यज्ञ है। यद्यपि सौरप्राण का सम्बन्ध हमारे साथ नित्य बना रहता है, परन्तु यह सम्बन्ध बहिर्व्याम है। ऐसा सम्बन्ध 'याग' न कहला कर 'योग' कहलाया है। मनुष्य में स्वभावतः पार्थिवप्राण की प्रधानता रहती है। अतएव सौरप्राण अन्तर्याम सम्बन्ध से यहाँ स्वतः एव प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए सर्वप्रथम "अग्न्याधान" करना पड़ता है। मन्त्रवाक्-द्वारा दिव्य अग्नि को मानुषाग्नि में प्रतिष्ठित करने वाली प्रक्रिया विशेष ही अग्न्याधान है। इस से मानुषात्मा दिव्याग्नि से युक्त होता हुआ उस सौरप्राण के ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। अग्न्याधान के अनन्तर अग्निहोत्र का अधिकार मिलता है। इस से अहोरात्र के दिव्यप्राण को आत्मसात् किया जाता है। दर्शपूर्णमासेष्टि से पाक्षिक दिव्याग्नि के साथ योग किया जाता है। चातुर्मास्य से ऋतुव्यापक अग्नि का आधान होता है। पशुबन्ध से अयनाग्नि को आत्मा में प्रतिष्ठित किया जाता है। इन सब के करने के अनन्तर सम्वत्सरात्मक सोमयज्ञ ज्योतिष्टोम का अधिकार मिलता है। अतएव इन्हें "प्राक्सौमिक" यज्ञ कहा जाता है। ज्योतिष्टोम से सम्वत्सराग्नि का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है। अध्यात्म में प्रतिष्ठित यही साम्वत्सरिक दिव्याग्नि "दैवात्मा" है। इसी के प्रभाव से मानुषात्मा स्थूलशरीर के परि-

त्याग के अनन्तर त्रिणाचिकेत स्वर्ग में चला जाता है। जब तक यज्ञातिशय बना रहता है, तब तक मानुपात्मा स्वर्ग में प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञातिशय की समाप्ति पर स्वर्ग स्थान से च्युत होता हुआ कर्म्मात्मा पुनः कर्म्मभोगार्थ उसी योनिचक्र में आजाता है – "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति"। जितने भी यज्ञ हैं, वे सब इस संसार समुद्र को पार करने वाली अस्थिर नौकाएं हैं। कभी न कभी ये अवश्य छिन्न भिन्न होती हैं। अतएव उपनिषच्छ्रुति ने इस 'यज्ञनौका' को अमृतत्व प्राप्ति में असमर्थ बतलाया है, जैसाकि महर्षि मुण्डक कहते हैं –

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥

—मु० उ० १।२।६।

प्राकृतिक नित्य साम्वत्सरिक यज्ञ पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ, भेद से तीन लोकों में वितत है। त्रैलोक्य में वितत रहने के कारण ही इसे आतानयज्ञ—वितानयज्ञ—त्रेताग्नियज्ञ —इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत किया जाता है। इसी के आधार पर यहां वैधयज्ञ में गार्हपत्य—दक्षिणाग्नि—आहवनीय, इन तीन अग्नियों का वितान किया जाता है। गार्हपत्य पृथिवी की प्रतिकृति (नकल) है, दक्षिणाग्नि अन्तरिक्ष की, आहवनीय द्युलोक की प्रतिकृति है। सूर्य की प्रतिकृति 'यूप' है। पारमेष्ठ्य ब्रह्मसोम की प्रतिकृति वल्ली से निकाला हुआ सोमरस है। प्राकृतिक यज्ञ में ऋग्वेदावच्छिन्न अग्नि होता है, यजुर्वेदावच्छिन्न वायु अध्वर्यु है, सामवेदावच्छिन्न आदित्य उद्गाता है, त्रयीमूर्त्ति चन्द्रमा ब्रह्मा है, त्रैलोक्य व्यापक अतिष्ठावा अग्नि यजमान है। इसी आधार पर इस वैधयज्ञ में होता ऋग्वेदी, अध्वर्यु यजुर्वेदी, उद्गाता सामवेदी, एवं ब्रह्मा त्रैविद्य होता है। प्रजापति की प्रतिकृति स्वयं यज्ञकर्त्ता यजमान है।

आत्मा को मन प्राणवाङ्मय कहा गया है। यज्ञद्वारा नवीन आत्मा उत्पन्न कराया जाता है। दूसरे शब्दों में यज्ञद्वारा सौरदिव्य मन प्राणवाङ्मय आत्मा का मानुपात्मा (कर्म्मात्मा) के साथ सम्बन्ध कराया जाता है। फलतः वैधयज्ञ में मन — प्राण — वाक् —इन तीनों कलाओं के समावेश की आवश्यकता अवश्यंभाविनी बन जाती है। इसी आत्मसम्पत्ति के लिए दक्षिणाक्रीत ऋत्विजों का सहयोग आवश्यक होजाता है। होता—अध्वर्यु —उद्गाता ये तीनों तो वाक्तत्त्व सम्पादित करते हैं। अध्वर्यु प्राणसम्पत् सञ्चित करता है। एवं निरीक्षक ब्रह्मा मनोयोगद्वारा मनोमयी विभूति पर अपना अधिकार जमाता है। प्रकारान्तर से यों भी कहा जा सकता है कि, ऋग्वेदी होता ऋक्तत्त्व पर प्रतिष्ठित १ शस्त्र कर्म्म से वाक्कला सम्पन्न करता है, यजुर्वेदी अध्वर्यु जुस्तत्त्व पर प्रतिष्ठित २-ग्रह कर्म्म से प्राण का सञ्चय करता है। सामवेदी उद्गाता सामतत्त्व पर प्रतिष्ठित ३-स्तोत्र कर्म्म से महिमामण्डल का निर्म्माण करता है। ब्रह्माद्वारा

## २१६ वें पृष्ठ का शेषांश

### विशेषविवरण—

प्रकान्त प्रकाशन में हमारी भ्रान्ति से यह विषय अप्रकाशित रह गया था। अतः इसे स्वतन्त्र पृष्ठ में प्रकाशित कर यहाँ समाविष्ट करना पड़ा। पाठक इसे २१६ वें पृष्ठ की १२ वीं पंक्ति तथा १३ वीं पंक्ति के मध्य का विषय समझें।

—सम्पादकः

जिस प्रकार स्वयम्भू ऋषिप्राणप्रधान, परमेष्ठी पितर-एवं असुरप्राणप्रधान, चन्द्रमा गन्धर्व-प्राणप्रधान, पृथिवी पशुप्राणप्रधान, किंवा वैश्वानरप्रधान है, एवमेव विश्वमध्यस्थ सूर्य्य "चित्रं देवानामुदगात्" इत्यादि के अनुसार देवप्राणप्रधान है। इसी सौर देवप्राण से यज्ञद्वारा नवीन आत्मा उत्पन्न होता है, अतएव इसे "दैवात्मा" नाम से व्यवहृत किया जाता है। इसके अतिरिक्त चिदात्मा के सम्बन्ध से इसी से दूसरे "विज्ञानात्मा" का भी विकास होता है। दोनों में से क्रमप्राप्त पहिले दैवात्मा का ही संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जाता है।

### सूर्य्यमूलक दैवात्मा—

आयतन पर प्रतिष्ठित अन्नाद (अग्नि) के साथ अन्न (सोम) का मिथुन सम्बन्ध हो जाना ही यज्ञ है। यद्यपि मौलिक यज्ञ की प्रथम विकासभूमि आपोमय परमेष्ठी ही है, तथापि रोदसी त्रिलोकी में रहने वाली प्रजा की अपेक्षा से प्रकृत में यज्ञ से सौरसंस्था का ही ग्रहण करना न्याय-प्राप्त है। सौरप्राणदेवता इसी यज्ञ के बल पर अमृतत्त्व को प्राप्त हो रहे हैं। सूर्य्य का अंश प्रवर्ग्य बन कर पृथिवी पर आकर पार्थिव बनता हुआ मृत्युधर्म्म से आक्रान्त हो जाता है। आगे आकर यज्ञ के प्रभाव से ही यह पार्थिव प्राणदेवता स्वप्रभव सौरप्राण के साथ ग्रन्थिबन्धन करते हुए मृत्युपाश से विमुक्त हो जाते हैं। आर्ष महर्षियों ने प्रकृति के इस गुप्त रहस्य का अपनी दिव्यदृष्टि से साक्षात् कार किया, एवं उसी प्राकृतिक नित्य यज्ञ के आधार पर अमृतभाव-सम्पादक वैधयज्ञ का आविष्कार किया।

मनोमय भाग सञ्चित होता है। इस प्रकार शस्त्र—स्तोत्र—ग्रह–द्वारा ऋत्विक् लोग यज्ञकर्म से नया दैवात्मा उत्पन्न कर देते हैं*।

| |
|---|
| शस्त्रकर्म्म—हौत्रं——ऋचा सम्पद्यते—(होता). |
| ग्रहकर्म्म——आध्वर्यवं—यजुषा सम्पद्यते—(अध्वर्यु) |
| स्तोत्रकर्म्म—औदूगात्रं—साम्ना सम्पद्यते—(उद्गाता) |
| सर्वाध्यक्षो ब्रह्मा. |

'यजति' धात्वर्थ के परिज्ञान के लिए वैय्याकरणों के 'भूषण' की शरण में जाइये। यहां तो केवल "यज–देवपूजा, संगतिकरण, दानेषु' इसी पर विश्राम समझिए। देवताओं का पूजन, देवताओं के लिए दान, एवं देवताओं का परस्पर सङ्गतिकरण, इन्हीं तीनों भावों के लिए 'यजति' प्रयुक्त हुआ है। प्रकृत में दैवात्मसम्बन्ध से सङ्गतिकरण अर्थ ही अभिप्रेत है। यज्ञकर्त्ता यजमान इसी देवप्राण, किंवा दैवात्मा के प्रभाव से साधारण अयज्ञिय मनुष्यों की अपेक्षा उत्कृष्टकर्म्मा, एवं उत्कृष्टधर्म्मा बन जाता है। साक्षात् भौमदेवता बन जाता है, स्वर्गतत्त्व प्राप्त कर लेता है, दिव्यप्राण को पहिचान लेता है। इसी यज्ञफल का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः॥ (यजुः सं० ८। ५२।)।

यज्ञविद्या साधारण विद्या नहीं है। अपितु रूप—रस—गन्ध—स्पर्श–शब्दशून्य, अतएव इन्द्रियातीत प्राणतत्त्व को अधिकार में लाने वाली एक असाधारण शक्ति है। अतः इस की इतिकर्त्तव्यता में हमारे लिए एकमात्र शास्त्र ही शरण है। मनमाने फल की (हवाशुद्धि आदि की) कल्पना कर यथेच्छ पद्धतियों का निर्म्माण कर व्याज से यज्ञ का अनुगमन करना समृद्धि के स्थान में सर्वनाश का कारण है। यज्ञ एक नया असाधारण दैवात्मा उत्पन्न करता है, यह कोई बालक्रीड़ा नहीं है। अवैध पद्धति से ताम्रकुण्डिकाओं में स्वाहा–स्वाहा बोलते हुए दो चार बार घृताहुति देने से ही यज्ञेतिकर्त्तव्यता समाप्त नहीं हो जाती। आज श्रौतपद्धतियों का निरस्कार कर कल्पित पद्धतियों के आश्रय से ही यज्ञविद्या विलुप्तप्राय होगई है। अस्तु. कहना केवल यही है कि, प्रक्रियाविशेष से सौरप्राण को अध्यात्म में प्रतिष्ठित कराना ही यज्ञ है। यज्ञजनित यह सौर दैवात्मा मानुषात्मा से युक्त होकर स्थूलशरीर के परित्यागानन्तर इसे स्वर्ग प्रदेश में ले-

*इन सब याज्ञिक पदार्थों का मौलिक रहस्य, एवं इतिकर्त्तव्यता (पद्धति) शतपथ ब्राह्मण हिन्दीविज्ञानभाष्य के प्रथम वर्ष के प्रथम अङ्क में देखना चाहिए।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ( कठोपनिषत् १।३।६ )

यदि बुद्धि मे विद्या का आत्यन्तिक उद्रेक होजाता है, तो वह "धिषणा" कहलाने लगती है। अधिक विद्या ( मालुमात ) बुद्धि को अधिक प्रबल बना देती है। उसमें साधारण कोटि के मनुष्यों के धर्षण करने की शक्ति आजाती है। ऐसे प्रतिभाशाली के सामने सबको नत मस्तक होना पडता है। बहुदर्शी बहुवित् है, उस की बुद्धि धिषणा है। आप जितना अधिक विज्ञान सम्पादित करेंगे, आप की बुद्धि उतनी ही प्रबल होगी। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर धिषणा का 'विद्या वै धिषणा" ( तै० ब्रा० ३।२।२।२ ) यह लक्षण किया जाता है। बुद्धि को उक्थरूपा बतलाया है। उक्थ पिण्ड है। उदाहरणके लिए सूर्यपिण्ड को उक्थ समझिए। इस उक्थ पिण्ड से जो प्राणात्मिका रश्मियाँ निकली हैं, वे ही "अर्क" नाम से प्रसिद्ध हैं। पिण्डरूपा बुद्धि से निकलने वाली प्राणात्मिका इन्हीं रश्मियों को "धी" कहा जाता है। सर्वप्रथम विषय का आधान इन्हीं बुद्धिरश्मियों पर होता है, अत एव इन्हें—"धी" कहना अन्वर्थ बन जाता है। विज्ञान रश्मियाँ ही विषयाकार मे परिणत होती हैं। बुद्धि एक है, प्राणरूपा धी अनन्त हैं। हमारे आत्मा के साथ उक्थरूप विज्ञानघन बुद्धिस्थानीय सूर्य्य का सम्बन्ध नहीं होता, सम्बन्ध होता है प्राणरूप ( रश्मिरूप ) धी भागका, वे अनन्त हैं। इसी अभिप्राय से—"धियो यो नः प्रचोदयात्" यह कहा जाता है। अत एव—"पुनन्तु मनसा धियः" इत्यादि रूप से तत्तत्स्थलविशेषों में धी का बहुत्वरूप से ही प्रयोग किया गया है। इसी आधार पर "प्राणा धियः" ( शत० ६।३।१।१३ ) इत्यादिरूप से धी को प्राण कहा है। उक्थलक्षण आत्मा सदा एक ही होता है, अर्कलक्षण प्राण सदा अनन्त ही होते हैं। निष्कर्ष यही हुआ कि, हृदयस्थितवा पिण्डात्मिका बुद्धि बुद्धि है। वही अर्कावस्था में आकर धी, किं वा धियः है।

प्रज्ञान मन में प्रज्ञा, और प्राण, ये कला हैं। चिद्विशिष्ट सोम प्रज्ञा है, यह धीभ है। इसी पर बुद्धिरूप सूर्य्य का प्रतिबिम्ब चमकता है। प्रज्ञान मनका प्रज्ञाभाग ही अध्यात्म संस्था में बुद्धि प्रतिष्ठा का कारण है। इस प्रज्ञाभाग में युक्त यही बुद्धि प्रज्ञा कहलाने लगती है। प्रज्ञा भिन्न वस्तु है, प्राण पृथक् पदार्थ है। परन्तु दोनों का तादात्म्य है। एक दूसरे के बिना दोनों अप्रतिष्ठित हैं। इसी अभिप्राय से महर्षि कौषीतकि कहते हैं—

यो वै प्राणः—सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा—स प्राणः ।
सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः ॥ ( कौ० उ० ३।३ )

प्रज्ञा के सम्बन्धसे विज्ञान के अनुग्रह द्वारा जहां मन में ज्ञान का उदय होता है, वहां प्राण सम्बन्ध से इस में क्रियारूपता का विकास होता है—"उभयात्मकं मनः"। यदि प्रज्ञाप्राणात्मक मनके केवल प्रज्ञ भाग पर दृष्टि डाली जाती है, तो इस दशा मे प्रज्ञानुबन्धिनी बुद्धिको हम 'प्रज्ञा' कहेंगे। यदि प्राणयुक्तप्रज्ञा से

साथ, दूसरे शब्दों में मन के साथ बुद्धि के दर्शन किए जायंगे, तो इस अवस्था में इसे प्रज्ञान न कह कर "मति" कहा जायगा। यद्यपि मनन (चिन्तन) मन का धर्म्म माना गया है। परन्तु किसी एक विषय पर चिरकाल पर्य्यन्त मन की वृत्ति को लगाए रहना ही मनन है। उधर—"चञ्चलं हि मन कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्" (गीता ६।३४) के अनुसार सर्वथा चञ्चल मन अपने विशुद्धरूप से स्थिरधर्म्म के प्रयोजक मनन-व्यापार में असमर्थ है। स्थिरधर्म्म प्रयोजिका एकमात्र बुद्धि के सहयोग से ही मन में स्थिरता का उदय होता है। ऐसी अवस्था में मानना पड़ेगा कि, मनन न केवल मन का व्यापार है न केवल बुद्धि का व्यापार है। अपितु बुद्धियुक्त मन ही, किं वा मनोमयी बुद्धि ही मनन की अधिष्ठात्री है। मनन ही "मति" है। मनो-युक्ता बुद्धि ही मति है।

उपर्युक्त अवस्थाकृत भेदों को समझते हुए बुद्धि-मनीषा-मति-प्रज्ञा-आदि का पर्य्यायसम्बन्ध मानना किसी सीमा तक ठीक है। परन्तु आखें मीच कर यथेच्छ प्रयोग करना विज्ञान विरुद्ध है। अस्तु विविध भावात्मिका इस बुद्धि को प्रकृत प्रकरण में हमने "विज्ञानात्मा" नाम से व्यवहृत किया है। इस नाम करण की उपपत्ति यही है कि, प्रज्ञान मन सब में समान है परन्तु व्यक्तिभेद से बुद्धि में अन्तर है। ऐन्द्रियक विषय भोग करना मन का काम है। इस अंश में सब समान हैं। आहार-निद्रा-भय-अशन-पानादि इन्द्रिय भोगों में सब की समान वृत्ति है—"सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्"। इस दृष्टि से सब मनुष्य एक श्रेणि में प्रतिष्ठित हैं। परन्तु बुद्धि विज्ञानमयी है विविध-ज्ञानमयी है। सौरज्ञान विविधरूप में परिणत होकर ही अस्मदादि में प्रतिष्ठित होता है। उसका एक ही ज्ञान (बुद्धि) अनेक भागों में विभक्त होरहा है। एक स्थान में प्राणपरीक्षा विज्ञान प्रतिष्ठित देखा जाता है। इसी विज्ञान के आधार पर यह भगे हुए चोर का पता लगाने में समर्थ होता है। ज्ञानका गर्व रखने वाले हम मनुष्यों में यह शक्ति नहीं है। विज्ञानधारा सर्वथा विभक्त होरही है। इसी के तारतम्य से एक पण्डितराज भी व्याख्यान नहीं देसकते, एक साधारण व्यक्ति भी अच्छा बोल लेता है। इसी विज्ञान की कृपा से एक श्रमजीवी (मजदूर) दिन भर पत्थर तोड़ने पर भी चार-छः आना ही प्राप्त करता है, परन्तु इसी विज्ञान की महिमा से शान्ति से बैठा हुआ एक वैज्ञानिक क्षणमात्र में अतुल सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है, एवं सर्वत्र उस का यश व्याप्त होजाता है। इस प्रकार बुद्धि अनेक रूपा है, प्रज्ञानवत् समान धर्म्मिणी नहीं है। बुद्धि के इसी वैविध्य से "विविधं ज्ञानं विज्ञानम्" इस निर्वचन के अनुसार इसे विज्ञानात्मा कहा जाता है। विज्ञान के तारतम्य से ही सेवक-स्वामी, गुरु-शिष्य, हाकिम-अहलकार, छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब, इत्यादि द्वन्द्वभाव उत्पन्न होते हैं।

विज्ञानात्मा में धिषणा-प्राण, ये दो कलाएँ बतलाई गई हैं। साथ ही में धिषणा भाग को ज्ञान धिषणा, तथा प्राणविवर्त्त—कहा है एवं प्राणभागको कर्म्म कहा है। ज्ञानकर्म्ममयी विज्ञानात्मिका इस बुद्धि के आगे जाकर आठ विवर्त्त हो जाते हैं। "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः" (पा० योग-

अष्टौ बुद्धयः

१—१—धर्म्मबुद्धिः*——आर्षविद्या——धर्म्मप्रवर्त्तिका
२—२—ज्ञानबुद्धिः——सिद्धविद्या——ज्ञानप्रवर्त्तिका
३—३—वैराग्यबुद्धिः——राजर्षिविद्या——वैराग्यप्रवर्त्तिका
४—४—ऐश्वर्यबुद्धिः——राजविद्या——ऐश्वर्यप्रवर्त्तिका

} —धिषणाप्रधाना विद्याबुद्धिचतुष्टयी

——— * ———

५—१—अभिनिवेशबुद्धिः————अधर्म्मप्रवर्त्तिका
६—२—अविद्याबुद्धिः————अज्ञानप्रवर्त्तिका
७—३—रागद्वेषबुद्धिः————आसक्तिप्रवर्त्तिका
८—४—अस्मिताबुद्धिः————अस्मिताप्रवर्त्तिका

} —प्राणप्रधाना-अविद्याबुद्धिचतुष्टयी

——— * ———

**प्रकरणोपसंहार—** यह है सौर विज्ञानात्मा का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन। इस का प्रधान कर्म्म है-प्रज्ञानमनोऽवच्छिन्न, वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञसमष्टिरूप कर्म्मात्मा को कर्म्म में प्रवृत्त रखना। इसी की प्रेरणा से कर्म्मात्मा कर्म्म करनें में समर्थ होता है, अत एव इसे कारयिता ( कर्म्म कराने वाला ) कहा गया है। प्रज्ञान मन पर विषय आते हैं, परन्तु यह विज्ञानात्मा ( बुद्धि ) विषय पर जाता है। "यह बात हमारी समझमें नहीं आई, अमुक बात हमारे जचती ही नहीं" यह व्यवहार प्रज्ञानमन से सम्बन्ध रखते हैं। "हमारा खयाल उस ओर नहीं दौड़ता, सोचते हैं, परन्तु अक्ल-काम नहीं करती" इत्यादि व्यवहार विज्ञानात्मा से सम्बन्ध रखते हैं। नवीन कृति में विज्ञान की प्रधानता रहती है, प्रतिकृति ( नकल ) में प्रज्ञान की प्रधानता रहती है। नवीनग्रन्थ की रचना बुद्धि से सम्बन्ध रखती है, बने हुए ग्रन्थ की प्रतिलिपि में मनो व्यापार प्रधान रहता है। शरीरनिपात के अनन्तर यह विज्ञानात्मा भोगसाधक बना हुआ कर्म्मात्मा के साथ साक्षी रूप से युक्त रहता है। स्वस्वरूप से असङ्ग इस विज्ञानात्मा का गति-श्राद्ध-प्रेतकर्म्म-आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्षेत्रज्ञविज्ञान क्षेत्र का अधिष्ठाता मात्र है। विज्ञानात्मनिरूपण गतार्थ हुआ। अब क्रमप्राप्त 'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

तदित्थं दैव-विज्ञानभेदेन द्विकलोऽयं सूर्य्यो विज्ञानात्मा वा व्याख्यातो द्रष्टव्यः।

समाप्ता चेयं श्राद्धविज्ञानान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां प्रथमखण्डात्मिकायां 'विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी।

४

* इन सब विषयों का सोपपत्तिक विशद निरूपण 'गीताहिन्दीविज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

धीः

समाप्ता चेयं

'विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

४

---

अथ

आत्मविज्ञानोपनिषदि ( प्रथमखण्डे )

## 'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' पंचमी

५

—[०].—

(५) { १—अधिदैवतम्—चन्द्रमाः ( पूर्णमदः )
२—अध्यात्मम्—महान् ( पूर्णमिदम् ) } (४)

## अथ

## श्राद्धविज्ञानान्तर्गत–'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमाया—
## *"महानात्मविज्ञानोपनिषत्"–पञ्चमी*

५

### महानात्मा–प्राकृतात्मा–चन्द्रमाः (४)

१—आकृतिमहान् ( आकृत्यात्मा )
२—प्रकृतिर्महान् ( प्रकृत्यात्मा )
३—अहंकृतिमहान् ( अहंकृत्यात्मा )

### सोऽयं त्रिकलो महानात्मा-प्राकृतात्मा वा चन्द्रमाः

१—मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।।
२—सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तय सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता-१४अ०।३,४, ।

## (५) महानात्मस्वरूपपरिचयः—( तेजः-स्नेहमयो महानात्मा )

१—स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः ।
धिये वाजाय हिन्वतु ॥—ऋक् सं० १।२७।११।

२—क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातॄर्जनयत स्वधाभिः ।
बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान् महान् कविर्निश्चरति स्वधावान् ॥—ऋक् सं० १।९५।४।

३—महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान् ।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान् ॥—ऋक् सं० ३।४६।२।

४—नि वेवेति पलितो दूत आस्वन्तर्महाँश्चरति रोचनेन । ~
वपूंषि बिभ्रदभि नो विचष्टे महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥—ऋक् सं० ३।५५।११।

५—आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत् समर्पितम् ।
एजत् प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥
—मुण्डको० २।२।१।

६—एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥—श्वे० उ० ५।३।

७—तद्वै स प्राणोऽभवत् महान् भूत्वा प्रजापतिः ।
भुजो भुजिष्या वित्त्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि ॥—शत० ब्रा० ७।५।१।२५।

८—यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥—कठोप० १।३।६।

९—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥—यजुः सं० ३२।१।

१०—अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥—कठोप० १।२।२१

---

ॐ महानात्मब्रह्मणे नमः

## महानात्मा—चन्द्रमा

### 'महद्ब्रह्म' ह्युपास्व

यो योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानं च पश्येत् ॥—श्वे० उ० ५।२।
यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥—श्वे० उ० ५।५।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥—यजु सं० ३१।१८।

महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥—श्वे० उ० ३।१२।
भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम् ।
महद्ब्रह्मैकमक्षरम् ॥—शत० ब्रा० १०।४।१।६।

**महान की महत्ता—** 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध षोडशीपुरुष, प्राणप्रधान अव्यक्तात्मा, आप प्रधान-यज्ञात्मा, वाक्प्रधान विज्ञानात्मा, अन्नप्रधान प्रज्ञानात्मा, अन्नादप्रधान कर्म्मात्मा, चित्याग्निप्रधान शरीर, भेद से अनेक संस्थायुक्त आध्यात्मिक प्रपञ्च की मूलप्रतिष्ठारूप यह महानात्मा सचमुच महान् (बड़ा) है। यदि अध्यात्मसंस्था से महानात्मा को पृथक् कर दिया जाता है, तो शेष अखण्ड सखण्ड आत्मविवर्त, तथा शरीर सब कुछ उत्क्रान्त हो जाते हैं। सशरीर सम्पूर्ण आत्मविवर्त महान् के ही गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। शुक्रमूर्ति महान् के साथ जब तक कर्म्मात्मा का ग्रन्थिबन्धन रहता है तभी तक सशरीर सपरिग्रह कर्म्मात्मा बन्धन में है। महद्ग्रन्थि विमोक ही कर्म्मात्म मुक्ति का मूलद्वार है। भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान, सभी कुछ इसी महानात्मा पर प्रतिष्ठित है। संसार में जितनी भी आकृतियाँ हैं, जितने भी प्रकृति (स्वभाव) भेद हैं, जो भी अहङ्कृतियाँ हैं, उन सब का आदिप्रवर्त्तक यही महानात्मा है जैसा कि आगे जाकर विस्तार से स्पष्ट होने वाला है। महानात्मा के इसी सर्वापेक्षाकृत महत्त्व को लक्ष्य में रखते हुए वैज्ञा'

षिकों ने सर्वव्यापक षोडशी, वल्शेश्वर अव्यक्त, आदि किसी को भी महान न कह कर एकमात्र इस पारमेष्ठ्य तत्त्व को ही 'महान्' उपाधि से विभूषित किया है, जिस उपाधि का 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' के महदात्मप्रकरण' में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

**महोदेव, और महान्—** "महोदेव" "महान्" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध यह प्राकृतात्मा यद्यपि आपोमय परमेष्ठी की वस्तु है, जैसा कि पूर्व के यज्ञात्मप्रकरण में बतलाया जा चुका है, तथापि अध्यात्म-संस्था की अपेक्षा से इसकी मूलप्रतिष्ठा शुक्र है। उधर शुक्र चान्द्रपदार्थ है, अतएव इस आत्म-गतिप्रकरण की अपेक्षा से इस प्रकरण में हमने इसे चन्द्रमा की वस्तु माना है। वस्तुत. इसकी महत्ता परमेष्ठी क सम्बन्ध पर ही निर्भर है। इस महानात्मा में सत्त्व रज तम, ये तीन गुण, एव आकृति-प्रकृति-अहंकृति भेद से तीन प्रकृतियाँ नित्य प्रतिष्ठित रहती हैं, जैसा कि यज्ञात्मप्रकरण में ही विस्तार से बतलाया जा चुका है। जब तक महानात्मा स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, तब तक जीवात्मा कथमपि मुक्त नहीं हो सकता। महानात्मा में 'स्थूल-सूक्ष्म-कारण' शरीरभेद स तीन ग्रन्थियाँ रहती हैं। स्थूलग्रन्थि से वाङ्मय स्थूलशरीर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसका प्रधान सम्बन्ध पार्थिवभूतभाग-प्रधान तपोमूर्त्ति आकृतिमहान् के साथ है। सूक्ष्मग्रन्थि से प्राणगर्भित मनोमय सूक्ष्मशरीर की रक्षा होती है। इसका प्रधान सम्बन्ध चान्द्रभाग प्रधान रजोमूर्त्ति प्रकृतिमहान् के साथ है। कारणग्रन्थि से मनो-गर्भित इन्द्रमय कारणशरीर की स्वरूपरक्षा होती है। इसका प्रधान सम्बन्ध सौरभाग-प्रधान सत्वमूर्त्ति अहंकृतिमहान् के साथ है। जब तक उक्त तीनों ग्रन्थियों में से एक भी ग्रन्थि रहती है, तब तक महानात्मा चिदाभास ( चित्प्रतिबिम्ब ) रूप से प्रतिष्ठित चिदात्मा ( जीव ) कभी मुक्त नहीं होता। चिदात्मा की यही महानात्मा है। यजुर्मय अव्यक्त तत्त्व भी—"सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप· प्राविशत्, आण्डं समवर्त्तत" ( शत० ६।१।१ ) क अनुसार इसी आपोमय महान् के गर्भ में प्रविष्ट रहता है। भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा की प्रतिष्ठा भी यही आपोमय महान् है। सौरविज्ञान, चान्द्रप्रज्ञान भी यहीं प्रतिष्ठित है। शरीरत्रयमूर्त्ति अध्यात्मसंस्था का भी चरम आधार यही महानात्मा है। संभूति विनाश, दोनों का सचालक भी यही है। इस प्रकार इस महान् की महत्ता सर्वात्मना सिद्ध है।

**सोम चित्-और पितरप्राण—** इस महानात्मा में प्रधानरूप से पारमेष्ठ्यसोम, चिदंश, पितृ-प्राण, ये तीन तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। तीनों तत्वों के समुच्चितरूप का ही नाम 'महानात्मा' है। सोमतत्त्व की अपेक्षा से यह महान् है, चिदंश की अपेक्षा से यह आत्मा है, पितृप्राण की अपेक्षा से यही पितर है। पितरप्राणावच्छेद से ही यह महान्—"सम्भव. सर्वभूतानां ततो भवति भारत !" ( गी० १४।३ ) इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार सब का प्रजनयिता ( उत्पादक ) है। प्रजन-यिता को ही लोकभाषा में पिता कहा जाता है, अतएव महद्गर्भित प्रजनयिता सौम्यप्राण को "पितर"

कहना न्यायतः प्राप्त है। अधिदैवतसंस्था में यही प्रजनयिता परमेष्ठी नाम से प्रसिद्ध है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर वाजिश्रुति कहती है—

१—"ता वाऽएताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त-अग्नि-रिन्द्रः-सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः। तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यत्—दर्शपूर्णमासौ। ताभ्यामयजत। ताभ्यामिष्ट्वा कामयत—अहमेवेदं सर्वं स्यामिति। स आपोऽभवत्। आपो वा इदं सर्वम्। ता यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति (यदिदमपि परमे स्थाने तिष्ठन्ति, तस्मात् परमेष्ठी नाम।"

—शत० ११।१।६।१२,१३ १४,१५,१६,१७

२—"आपधिलोको वै पितरः" (शत० १३।८।१।२०)।

३— "पितृलोकः सोमः" (कौ० १६।८।)।

४—"पितृदेवत्यो वै सोमः" (शत० ३।४।२।१२)।

५—"प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः, प्रजापतिर्वै महान्देवः" (शत० ६। ।३।१६।)।

यही महान संसार का शुक्र (उपादानद्रव्य) होने से "शुक्र" नाम से भी व्यवहृत हुआ है। "सपर्य्यगाच्छुक्रम्" (ई० उ०) "शुक्रमेतदविज्ञाय धीराः" (मुण्डक) "तदेव शुक्रम्" (कठोपनिषत्) इत्यादि स्थलों में पढ़ा हुआ शुक्र शब्द महानात्मा का ही वाचक है। इस पारमेष्ठ्य सोममय महान् का चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध होता है। दूसरे शब्दों में चान्द्र सोम ही आध्यात्मिक महान् की प्रतिष्ठा है। महद्ज्ञान—विज्ञानज्ञान—प्रज्ञानज्ञान, इन तीनों ज्ञानों में से विज्ञान (बुद्धि), एवं प्रज्ञान (मन) के ज्ञान का तो हमें प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु महत्-ज्ञान बड़ा विलक्षण है। उसका यथार्थ स्वरूप हमारे लिए अविज्ञेय ही रहता है। वह केवल अनुमानगम्य है। आप अपने घर से निकल कर देवदर्शनार्थ जा रहे हैं। मार्ग में जाते हुए आप एक साथ तीन कर्म्म कर रहे हैं। 'गमन' प्रधान कर्म्म है। गतिरूप कर्म्म के साथ साथ ही मार्ग में आने वाले दृश्यों को देखना, अच्छे बुरे शब्द सुनना, सुरभि-असुरभि ग्रहण करना, आदि इन्द्रिय सम्बन्धी कर्म्म भी हो रहा है। साथ ही में आप अपने अन्तर्जगत् में कुछ सोचते भी जाते हैं। "एक समय में एक ज्ञान एक ही कर्म्म कर सकता है", यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। इधर आप एक ही समय में तीन कर्म्म कर रहे हैं। अतः इन तीनों सहकृत कर्म्मों के लिए अवश्य ही तीन ज्ञानधाराएँ माननी पड़ती हैं। ऐन्द्रियककर्म्म की प्रतिष्ठा प्रज्ञान-ज्ञान (मन) है, अन्तर्जगत् में प्रवाहित विचारधारा की प्रतिष्ठा विज्ञान-ज्ञान (बुद्धि) है, एवं तीसरे गतिकर्म्म का सञ्चालक महद्ज्ञान (महानात्मा) है। तीनों अपना अपना काम करते हुए एक दूसरे के उपकारक बने हुए हैं। दूसरे शब्दों में तीनों को स्व स्व कार्य निर्वाह के लिए आंशिकरूप से परस्पर में एक दूसरे का आश्रय लेना पड़ता है। यदि कोई ज्ञान अन्य ज्ञान में सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर देता है, तो उसका अपना कर्म्मयन्त्र बंद हो जाता है। यदि आप सुन्दर दृश्य देखने में इतर ज्ञानों का समावेश कर लेते हैं

तो विचारधारा बन्द हो जाती है। यहाँ विज्ञान प्रज्ञान में डूब रहा है। यदि महद् भी इसी ओर झुक जाता है तो इस दृश्य विषय की तल्लीनता में महत् का गतिकर्म्म भी अवरुद्ध हो जाता है, आप या तो वहाँ स्तब्ध हो जाते हैं, अथवा ठोकर खाकर गिर पड़ते हैं। इसी प्रकार यदि विज्ञान में प्रज्ञान, एवं महत् का लय है, तो न आप ऐन्द्रियक कर्म्म कर सकते, न चल सकते। एवमेव यदि महत् में प्रज्ञान विज्ञान का लय है, तो न आप विचार कर सकते, न ऐन्द्रियक कर्म्म कर सकते। केवल चलने में ध्यान रहता है। मार्ग में कौन आया, कौन गया, कौन मिला, किसने क्या कहा, आदि किसी का कुछ भी भान नहीं होता। इसी को अनन्ययोग कहा जाता है। यही आत्मसमर्पण है, यही विषयसिद्धि का मुख्य द्वार है। उक्त तीनों में से विचार एवं विषयानुभव द्वारा विज्ञान-प्रज्ञान का स्वरूप विदित हो जाता है। परन्तु महद्ज्ञान का स्वरूपज्ञान नहीं होने पाता। कारण इसका यही है कि, प्रज्ञान विज्ञान तो ज्ञाता अहपदार्थ के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं, परन्तु अहपदार्थ (स्वयं ज्ञाता) उस महान् के गर्भ में है—"विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्"। महद्गर्भित 'अहं' ही तो जानने वाला है। महद्ज्ञान तो इस ज्ञाता का स्वरूपधर्म्म है। दूसरे शब्दों में महानात्मा अहङ्कृति धर्म्मावच्छिन्न महानात्मा ही स्वयं ज्ञाता है। वह अपने आपको क्या जाने। हम ज्ञानपूर्वक अन्न खाते हैं। अन्न को मुख में डालकर गले के नीचे उतार देना यह तो हमें विदित है। परन्तु भुक्त अन्न किस ज्ञान की प्रेरणा से रसासृङ्मांसादि सप्त धातुओं में परिणत हो गया?, यह अविज्ञात है। यह सम्पूर्ण अविज्ञात प्रपञ्च उसी अनुमेय महद्ज्ञान पर अवलम्बित है।

आकृति-प्रकृति-अहङ्कृतिभाव उत्पन्न करना इस महानात्मा का मुख्य कर्म्म है। षोडशी प्रजापति **प्रजापति के तीन विवर्त**—नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा के ईश्वर-जीव जगत् ये तीन विवर्त हैं। इसी त्रित्व पर श्रीवैष्णवों (रामानुजों) का विशिष्टाद्वैत प्रतिष्ठित है। इन्हीं तीन स्थानों में आत्मतत्त्व प्रतिष्ठित है। तीनों में ही अमृतात्मा समान है फिर भी तीनों के स्वरूप में अन्तर क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर है—अव्यय अक्षर, क्षर, इन तीन आत्मपर्वों का संस्थान वैचित्र्य। ईश्वरसंस्था में आत्मा का अव्ययभाग प्रधान रहता है, अक्षर एवं क्षर गौण रहते हैं। यही कारण है कि, ईश्वरसंस्था में अव्यय अक्षर क्षर तीनों आत्मविवर्तों के नित्य प्रतिष्ठित रहने पर भी एकमात्र अव्यय को ही ईश्वर कहा जाता है, जैसा कि स्मृति कहती है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

—गी० १५।१७

दूसरी जीवसंस्था में मध्यस्थित अक्षर का विकास है, अव्यय क्षर, दोनों गौण हैं। जन्म लेना 'अज' अव्यय का धर्म्म नहीं, अपितु अक्षर का धर्म्म है। 'पराप्रकृति' नाम से प्रसिद्ध अक्षर ही 'जीवात्मा'

है। दूसरे शब्दों में जीवात्मा का स्वरूप एकमात्र अक्षर ही पर प्रतिष्ठित है, अध्यात्मसंस्था का एकमात्र लक्ष्य अक्षर ही है। इसी के वेध से (ग्रन्थिविमोक से) जीवा मा अव्यय स्वरूप में परिणत होता हुआ मुक्त हो जाता है। जीवस्वरूप अक्षर प्रधान है, अतएव अव्यय अक्षर क्षर, तीनो के विद्यमान रहने पर भी 'अक्षर' को ही जीवभूता प्रकृति कहा गया है, जैसा कि भगवान् कहते हैं—

·········इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥—(गी० ७।५)

तीसरा विवर्त्त 'जगत्' है। इस में न अव्यय की प्रधानता है, न अक्षर की। प्रधान है यहाँ केवल 'क्षर'। क्षर मे ही भूत का विकास होता है। "क्षरः सर्वाणि भूतानि" (गी०,१५।१७) के अनुसार क्षर ही भौतिक विश्व है। ज्ञानमाप्तो अव्यय मन का पूर्ण विकास स्वयं अव्यय में होता है, यही ईश्वर है। इसमें अर्थ, एव क्रिया गौण हैं, ज्ञानतत्त्व प्रधान है। अव्यय के प्राणभाग का विकास अक्षर में होता है, यही जीवसृष्टि का प्रवर्त्तक है। यह अक्षर क्रियामूर्त्ति है। जीवसंस्था में अर्थ एव ज्ञान गौण हैं, क्रियातत्त्व प्रधान है। तीसरी वाक्कला की पूर्णविकास भूमि क्षर है। यही जगत् है। यह क्षर अर्थमूर्त्ति है। विश्वसंस्था में ज्ञान, एवं क्रिया गौण है, अर्थतत्त्व प्रधान है। इस प्रकार ज्ञान क्रिया अर्थमय मन प्राण-वाङ्मूर्त्ति अव्यय ही क्रमश अव्यय अक्षर-क्षरसंस्था में परिणत होता हुआ ईश्वर जीव-जगत, इन तीन विवर्त्तभावों मे परिणत हो जाता है। तीनों एकमात्र मन प्राणवाङ्मय अव्यय की ही विभुति हैं। अव्यय-तत्त्व की इसी सर्वव्यापकता का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं-

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥—(गी० ७।७)

अव्ययमूर्त्ति ईश्वर ज्ञानप्रधान होता हुआ सत्त्वप्रधान है, अक्षरमूर्त्ति जीव क्रियाप्रधान बनता हुआ **त्रिगुणात्मक पुरुषब्रह्म**——रजःप्रधान है, एव क्षरमूर्त्ति विश्व अर्थप्रधान बनता हुआ तमःप्रधान है। सत्त्वमूर्त्ति अव्यय से प्राणमय ब्रह्मा अनुगृहीत हैं, रजोमूर्त्ति अक्षर से अन्नवाङ्मय विष्णु अनुगृहीत हैं एवं तमोमूर्त्ति क्षर से वाक् अन्न अन्नादमय महादेव अनुगृहीत हैं। सत्त्वभाव शुक्ल है, असङ्ग है। तमोभाव कृष्ण है, ससङ्ग है। रजोभाव सांख्य होने से रक्त (अनुरक्त लाल) है। आत्मा के इन्हीं तीनों गुणों का आगे जाकर महत्प्रकृति में उदय होता है। 'अन' अव्यय की 'अना' प्रकृति आत्मगुणों से त्रिगुण-भावमयी बन रही है। अहकृति का सम्बन्ध सत्त्वगुण से होता है प्रकृति का सम्बन्ध रजोगुण से होता है, एव आकृति का सम्बन्ध तमोगुण से होता है। महान् मे त्रैगुण्यभाव का उदय क्यों हुआ ?, इस प्रश्न का यही उत्तर है। त्रिपुरुष पुरुष एक है, तो त्रिगुणा प्रकृति भी एक है। आत्मा सगुण है, तो इसकी प्रकृति

भी सगुण है। आत्मा ज्ञान-क्रिया-अर्थमय है, तो प्रकृति भी ज्ञान क्रिया-अर्थमयी है। 'तत्तु समन्वयात्' ( शा० सू० १।१। ) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति पुरुष के समन्वय से उत्पन्न पदार्थमात्र त्रिगुणभाव से नित्य आक्रान्त हैं।

स्वायम्भुव अव्यक्त, एवं पारमेष्ठ्य महत्, दोनों अभिन्न हैं। महत् से नीचे बुद्धिरूप सूर्य्य है। बुद्धि से नीचे प्रज्ञानरूप चन्द्रमा है। चन्द्रमा से नीचे पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश के पञ्चीकरण से उत्पन्न पञ्चभूतमयी शरीररूपा पृथिवी है। इनमें जीवप्रकृति के अधिष्ठाता अव्ययानुगृहीत अक्षर की योनि अव्यक्तात्मगर्भित महान् ही है, अतएव महान् को 'अक्षर' शब्द से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। जैसा कि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट हो जाता है—

"भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्।
: हुब्रह्मैकमक्षरम् ॥ इति
एतद्ध्येवाक्षरं सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतान्यभिसम्पद्यत।"

—शत० १०।४।१।८

अव्ययगर्भित अक्षरयुक्त क्षरमूर्त्ति महान् को जीवसंस्था समझिए। महत् से नीचे के बुद्धि-मन-पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाशात्मक शरीर को जगत् समझिए। शेष बचे हुए उत्तम पुरुष ( अव्यय ) को ईश्वर समझिए। इसी संस्थाक्रम को लक्ष्य में रखकर भगवान कहते हैं।

भूमि[1]-रापो[2]-ऽनलो[3]-वायुः[4]-खं[5]-मनो[6]-बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥१॥
अपरेयम्………………………………।
…… इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥२॥

—गीता ७।४,५,।

| | | |
|---|---|---|
| १—क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययपुरुषः पुरुषोत्तमः—अव्ययः—→ईश्वरः | } | →एतावद्वा इदं सर्वम् |
| २—अव्यक्तगर्भितोऽक्षरावच्छिन्नो महान्——अक्षरः—→जीवः | | |
| ३—अव्यक्तमहद्गर्भितः क्षरपुरुषः————क्षरः—→जगत् | | |

१—पुरुषोऽव्ययः—ज्ञानम्
२—पराप्रकृतिरक्षरः—क्रिया

१— [ १-अव्ययमनः — अव्ययः ——> ज्ञानप्रधानः ——> ईश्वरः
२-अव्ययप्राणः — अक्षरः ——> क्रियाप्रधानः ——> जीवः
३-अव्ययवाक् — क्षरः ——> अर्थप्रधानः ——> जगत् ] ——> [illegible]

२— [ १-अव्ययमनोऽवच्छिन्नोज्ञानप्रधान ईश्वरः सत्वमूर्त्तिः
२-अव्ययप्राणावच्छिन्नःक्रियाप्रधानो जीवो रजोमूर्त्तिः
३-अव्ययवागवच्छिन्नमर्थप्रधानं जगत्—तमोमूर्त्तिः ] ——> [illegible]

३— [ १-अव्ययमनोऽवच्छिन्नोज्ञानप्रधानःप्राणमयो ब्रह्मा सत्वमूर्त्तिः
२-अव्ययप्राणावच्छिन्नःक्रियाप्रधानःअप्वाङ्मयोविष्णुःरजोमूर्त्तिः
३-अव्ययवागवच्छिन्नोऽर्थप्रधानःवाक्-अन्नान्नादमयो महादेवस्तमोमूर्त्तिः ] ——> तदिदं[illegible]

४— [ १-अव्ययगर्भितोब्रह्मासत्वप्रवर्त्तकोज्ञानमयो ऽहङ्कृतिमहान्
२-अक्षरगर्भितोविष्णुःरजप्रवर्तकः क्रियामयः प्रकृतिमहान्
३-क्षरगर्भितोमहादेवःतमः प्रवर्त्तकोऽर्थमयः आकृतिमहान् ] ——> तदिदंसर्वम्

पुरुषः ——————> प्रकृतिः

१
अव्ययः—ज्ञानम्
ईश्वरः अक्षरः—क्रिया ज्ञानम्—सत्वमहान् अहंकृतिः ——>
क्षरः—अर्थः

२
अक्षरः—क्रिया
जीवः अव्ययः—ज्ञानम् क्रिया—रजोमहान् प्रकृतिः ——>
क्षरः—अर्थः

३
क्षरः — अर्थः
जगत् अव्ययः—ज्ञानम् अर्थः—तमोमहान् आकृतिः ——>
अक्षरः—क्रिया

शर्मा ब्रादर्स इलैक्ट्रिक प्रेस, अजमेर ।

३—अपराप्रकृतिः क्षर —अर्थ
↓
( अपरैव प्रकृति )

१—बुद्धि ( बुद्धि )
२—मन ( मन )

—८—अहंकार

१—आकाश ( खम् )
२—वायु ( वायु )
३—तेजः ( अनल )
४—जलम् ( आप )
५—पृथिवी ( भूमि )

...... इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत् ॥

—विश्वम्

उक्त कथन से यही बतलाना है कि, जीवसंस्था का अन्यतम अधिष्ठाता एकमात्र महानात्मा ही है। एकाक्षरमूर्त्ति महद्ब्रह्म—एवं यह महानात्मा "महद्ब्रह्मैकमक्षरम्" के अनुसार अक्षरमूर्त्ति है। पूर्व की अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत् में जिस अन्तर्य्यामी का दिग्दर्शन कराया गया है, वह यही महत्तत्त्व है। अव्यक्ततत्त्वावच्छिन्न अक्षर महद्रूप में परिणत होकर पहिले वस्तु की आकृति का निर्म्माण करता है, अनन्तर अहंरूप से उस वस्तु के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ, उसका नियत रूप से सञ्चालन करता हुआ अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध होता है। महदवच्छिन्न, किंवा अक्षररूप ज्ञान से ही जीवसंस्था का सञ्चालन होता है। हमें ( कर्म्मात्मा को ) कुछ विदित नहीं, शरीर के भीतर अपने आप सम्पूर्ण चक्र सुव्यवस्थित रूप से चल रहा है। यही महत्तत्त्व किंवा महद्ज्ञान आकृति प्रकृति अहङ्कृति भेद का सञ्चालक बनता है। इसकी जैसी इच्छा होती है, हमारी आकृति प्रकृति-अहंकृति वैसी ही हो जाती है। हाँ, इसकी इच्छा का नियामक पूर्वजन्मकृत भावना वासना संस्कारपुञ्ज अवश्य ही मानना पड़ता है। पानी नीचे ही जाता है, अग्नि सदा ऊपर ही जाता है—"प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः", सूर्य्य को नियत समय पर उदयाचल पर आना ही पड़ता है, नियत समय पर ही अस्ताचलानुगामी बनना पड़ता है, पृथिवी कभी क्रान्तिवृत्त को नहीं छोड़ती, चन्द्रमा कभी दक्षवृत्त का परित्याग नहीं करता, यह सब उसी नियतिरूप महत्तत्त्व की महिमा है। मनुष्य के शृङ्ग ( सींग ) नहीं होते, पशु के होते हैं। कारण वही महानात्मा है। मनुष्य का महान् सींग की इच्छा न कर ऊपर के दांतों की इच्छा करता है। इसी इच्छा से सींगों के स्थान में ऊपर के दाँत बन जाते हैं। पशु का महान विचार करता है कि, पशु में आक्रमण से अपने आपको बचाने के लिए हाथ नहीं है, मैंने इसके दोनों हाथों को आगे के दो पैर बना दिए हैं। अतः रक्षार्थ सींग बनाना आवश्यक है।

इसी स्वेच्छा से वह पशु के ऊपर के दांत न बनाकर ऊपर के सींग बना देता है। जो अश्मासोम ( घनसोम ) दांत बनता है, वही सींग बनता है। महान की इच्छा से वही मनुष्य में दांत बन गया है, वही पशु में सींग बन गया है। सींग वाले जितने भी पशु हैं, उनमें ऊपर के दांत नहीं होते, इसी अभिप्राय से ऐसी पशुप्रजा को "एकतोदत्" कहा जाता है। एवं बिना सींग वाले हम पुरुषपशुओं को दोनों ओर दांत होने से "उभयतोदत" कहा जाता है। पक्षी का महान् अश्मासोम को न दांत बनाता, न सींग। अपितु उसे वह श्रोष्ठभाग में प्रतिष्ठित कर देता है। वही श्रोष्ठ पक्षी का चञ्चु ( चोंच ) है। दांत-सींग-चञ्चु, तीनों का उपादानद्रव्य एक अश्मासोम है। केवल महान् के इच्छा भेद से यही द्रव्य एक स्थान में दांत, एक स्थान में सींग, एक स्थान में चञ्चु बन गया है। वानर ( बन्दर ) सदा श्रोणिभाग से बैठता है। इसमें विज्ञान की कमी है। अतएव इस वानर का महान् इसके श्रोणिभाग को आघात से बचाने के लिए इस स्थान पर घनता उत्पन्न कर देता है बैठने के लिए आसनरण बना देता है। गुप्तेन्द्रियों को परोक्षप्रिय महानात्मा गुप्त रखना चाहता है। मनुष्य में विज्ञान ( बुद्धि ) का विकास है। वह अपने बुद्धिबल से कार्पास ( कपास ), वल्कल आदि के वस्त्रों से अपने गुप्त अवयवों को ढक सकता है, अतः मनुष्य के महान् ने वहाँ (गुप्ताङ्गों पर) अपनी ओर से आवरण लगाने की आवश्यकता न समझी, यह भार मनुष्य की बुद्धि पर छोड़ दिया गया। परन्तु पशुओं में बुद्धिमात्रा अल्पमात्रा में प्रतिष्ठित है। अतः ये स्वयं अपने बुद्धिबल से गुप्त अवयवों को वस्त्रादि से गुप्त रखने में असमर्थ हैं। इसलिए इनके महान् ने पुच्छ ( पूँछ ), एवं चर्मवेष्टन द्वारा उपस्थ-गुद आदि गुप्ताङ्गों को अपनी ओर से आवृत कर दिया। पुरुष बुद्धिबल से अपने पैरों को उपानत् ( जूते ), अथवा और किसी साधन विशेष से कङ्कड़-पत्थर आदि के आघात से बचा लेता है, अतः यहाँ महान् ने पैरों की रक्षा के लिए विशेष प्रयत्न नहीं किया, केवल एड़ी, एवं तलवों को घन बना दिया। परन्तु पशु उसी बुद्धिबल की कमी से अपने पैरों को काटे-कङ्कड़ आदि के आक्रमण से बचाने में असमर्थ थे, अतः यहां महान् को शफ ( खुर ) बनाने पड़े। निदर्शनमात्र है। आकृति प्रकृति अहङ्कृति, इन तीनों भावों में व्यक्ति, एवं जाति की अपेक्षा परस्पर में आप जो भेद देखते हैं, वैचित्र्य पाते हैं, यह सब उसी महानात्मा का कर्म्म है। महान् के इसी सर्वाधिपत्य का निरूपण करते हुए महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं—

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा॥

—श्वे० उपनिषत् ५।३।

यह हमारी बुद्धि से परे है, अतः हम उसके ज्ञान का अनुभव नहीं कर सकते, जैसा कि पूर्व में ...[illegible] ...नात्मा—कहा जा चुका है। उदर के रिक्त होते ही अपने आप जो भोजन की एक ...[illegible] इच्छा होती है, वह महानात्मा की इच्छा है—"पच स्वभावं पचति विश्वयोनिः"

( श्वे० उ० ४।५ ) के अनुसार स्वाभाविकी इच्छा का उक्थ ( प्रभवस्थान ) एकमात्र त्रिगुणभावापन्न महानात्मा ही है। पूर्ण तृप्त होने पर बाजारू चटपटी चाट खाने की जो आगन्तुक अस्वाभाविक इच्छा है, वह मन से सम्बन्ध रखती है। उत्थिताकांक्षा ( अपने आप उठी हुई इच्छा ) महान् से सम्बन्ध रखती है, उत्थाप्याकांक्षा ( संस्कारजनित आसक्ति के प्रभाव से जबर्दस्ती उठाई गई अस्वाभाविक इच्छा ) प्रज्ञानमन पर प्रतिष्ठित है। यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत् में हमने महान् को ही यज्ञात्मा कहा है। यही अन्नादान द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ का सञ्चालन कर रहा है। इस यज्ञात्मा की स्वयं उत्थित इच्छा के अनुसार जो भी कर्म्म किए जाते हैं, वे कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। बन्धन का मूलकारण है—प्रज्ञानमन से उत्पन्न होने वाली उत्थाप्याकांक्षा से किया जाने वाला आसक्ति भावापन्न कर्म्म। यज्ञार्थ कृतकर्म्म, दूसरे शब्दों में यज्ञमूर्ति महान् की स्वाभाविक इच्छा से किया हुआ कर्म्म ईश्वरतन्त्रानुयायी बनता हुआ सर्वथा अबन्धन होता है, जैसा कि—"यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः" ( गी० ३।९। ) इत्यादि से स्पष्ट है।

मनुष्य एकमुद्रा से चिरकाल तक नहीं बैठ सकता। कभी उठ जाता है कभी बैठ जाता है। सुषुप्त्यधिष्ठाता महानात्मा—बैठा हुआ कभी पैरों को सीधा कर देता है, कभी समेट लेता है। ये सब व्यापार उसी महदिच्छा पर निर्भर हैं। विज्ञान प्रज्ञान अपने आगे के विषय को जान सकते हैं, महान् इन दोनों से अर्वाक् है, अतएव हम महद्ज्ञान का अनुभव नहीं कर सकते। जाग्रदवस्था में महान्–विज्ञान–प्रज्ञान, तीनों जाग्रत रहते हैं। दूसरे शब्दों में इन तीनों की जाग्रदवस्था ही जाग्रदवस्था है। महान्-विज्ञान की जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था है। एवं एकमात्र महान् की जाग्रदवस्था सुषुप्ति है। महानात्मा की सुषुप्ति मृत्यु है, एवं महानात्मा का ग्रन्थिविमोक मुक्ति है। इस प्रकार आत्मत्रय के तारतम्य से जीवात्मा की 'जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्ति–मृत्यु–मुक्ति' ये ५ अवस्थाएँ हो जाती हैं।* आप गहरी नींद में निमग्न हैं। इस सुषुप्तिकाल में विज्ञान प्रज्ञान, दोनों सुप्त हैं। संस्कारावच्छिन्न प्रज्ञानमन विज्ञानसम्परिष्वक्त बनकर पुरीतति नाड़ी में चला गया है। न ऐन्द्रियक ज्ञान है, न बौद्ध ज्ञान है। प्रातः जब आप सोकर उठते हैं, तो आप कहने लगते हैं—"आज तो बड़े आनन्द से सोए"। हम आप से पूंछते हैं कि, सुषुप्ति में विज्ञान-प्रज्ञान, दोनों सुप्त थे, फिर—'सुखमहमस्वाप्सीः" कहने वाला, सुषुप्त्यानन्द का अनुभव करने वाला कौन था ?, उत्तर वही महान् होगा। महान सदा जाग्रत रहता है। महान में रहने वाला अङ्गिराप्राण सदा रखवाली किया करता है। महान् जाग्रत है, अतएव तत् प्रतिष्ठ 'अहमस्मि" यह प्रत्यय सभी अवस्थाओं में अक्षुण्ण रहता है। इस प्रकार तटस्थवृत्ति से विज्ञान प्रज्ञानवत् आप महद्ज्ञान का भी प्रत्यक्ष कर लेते हैं।

---

* इन पांचों अवस्थाओं का सोपपत्तिक निरूपण माण्डूक्योपनिषत्–हिन्दी–विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

अध्यात्मसंस्था में केवल एक ही आत्मा समझने वाले, अतएव नाना ऊहापोहों में व्यस्त रहने वाले काल्पनिक वेदान्तियों की दृष्टि में भले ही श्राद्धादि कर्म्मों के सम्बन्ध में सन्देह रहे, परन्तु दूरदर्शी वैज्ञानिकों की दृष्टि में सर्वथा विभक्त खण्डात्माओं के आधार पर प्रतिष्ठित तत्तत् कर्म्मकलापों में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। धर्म्मशास्त्रोक्त कर्म्मों का प्रधान सम्बन्ध महानात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मयुक्त कर्म्मात्मा, इन तीन खण्डात्माओं के साथ है। अतएव धर्म्मशास्त्र ने (स्मृतिशास्त्र ने†) इन्हीं तीनों को प्रधानता दी है। जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥२॥
तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्-क्षेत्रज्ञ एव च ।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं 'तं' व्याप्य तिष्ठतः ॥३॥

—मनु १२।१२-१३-१४।

प्रज्ञानसंपरिष्वक्त विज्ञानात्मा ही क्षेत्रज्ञ है, यही कर्म्मात्मा को कर्म्म में प्रवृत्त कराने वाला कारयिता है, जैसा कि पूर्व के विज्ञानात्मप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। कर्म्म करने वाला आत्मा उस क्षेत्रज्ञ कारयिता से सर्वथा पृथक् है। यद्यपि साधारण दृष्टि के अनुसार जीवात्मा नाम से प्रसिद्ध कर्म्मात्मा ही कर्म्मकर्त्ता है, परन्तु वास्तव में भूतात्मा ही कर्म्मकर्त्ता है। भूतात्मा से प्रकृत में महानात्मा अभिप्रेत है। महानात्मा शुक्रमय है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। सत्त्व-रज-तम-तीनों आत्मगुण महान् में ही विकसित होते हैं, जैसा कि स्मृति कहती है—

---

† श्रुति वेदशास्त्र है, श्रौत अर्थ का इतिकर्त्तव्यतारूप से निरूपण करने वाला स्मृतिशास्त्र धर्म्मशास्त्र है। "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः"। इस विषय का विशद विवेचन ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषतः ॥१॥
यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥२॥
सत्त्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं, रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥३॥
( मनु. १२।२४-२५-२६ )।

आकृति भूतमयी है, प्रकृति प्राणमयी है, अहङ्कृति मनोमयी है। भूतप्रधान आकृतिभाव के सम्बन्ध आकृति-प्रकृति-अहङ्कृतिभाव— से ही इस महानात्मा को भूतात्मा कहा गया है। यही भूतों का जनक है। अपिच कर्म्मात्मा "अहङ्करोमि" इस अभिमान से ही कर्म्मकर्त्ता कहलाया है। यह अहंभाव उसी अहंकृति महान् पर प्रतिष्ठित है। इसलिए भी महानात्मा के लिए-"य करोति तु कर्म्माणि" यह कहना न्यायप्राप्त होता है। 'जीवात्मा' नाम से प्रसिद्ध कर्म्मात्मा तो नाममात्र का कर्म्मकर्त्ता है। वस्तुत वह अर्जुनवत् निमित्तमात्र है। शुभाशुभ कर्म्मों की योनि तो महानात्मा ही है। उस में जैसे संस्कार रहते हैं, कर्म्मात्मा को वैसे ही कर्म्म करने पड़ते हैं। यदि महान् में सत्त्वगुण का विकास रहता है, तो इसे *सात्विक कर्म्म करने पड़ते हैं। रज के अनुग्रह से इसे †राजस कर्म्म में प्रवृत्त होना पड़ता है, एवं तम की प्रधानतासे ‡तामस कर्म्म का अनुगमन करना पड़ता है। महान ही अन्मप्रवृत्ति का मुख्य द्वार है। इन्हीं सब कारणों से महान् को ही कर्म्मकर्त्ता कहा जासकता है। यही तो अन्तर्य्यामी-रूप से जैसा चाहता है, कर्म्मात्मा से वैसा ही करवा लेता है। इच्छा महान् की है, कर्म्म जीवात्मा का है। जिसकी इच्छा होती है, उस इच्छा से होने वाला कर्म्म उसी का कहलाया है। राजा की इच्छा से वध की इच्छा न रखता हुआ भी वधिक वधकर्म्म में

* वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्म्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥
( मनु १२।३० )

† आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥
( मनु १२।३२ )

‡ लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥
( मनु १२।३३ )

अध्यात्मसंस्था में केवल एक ही आत्मा समझने वाले, अतएव नाना ऊहापोहों में व्यस्त रहने वाले काल्पनिक वेदान्तियों की दृष्टि में भले ही श्राद्धादि कर्म्मों के सम्बन्ध में सन्देह रहे, परन्तु दूरदर्शी वैज्ञानिकों की दृष्टि में सर्वथा विभक्त खण्डात्माओं के आधार पर प्रतिष्ठित तत्तत् कर्म्मकलापों में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। धर्म्मशास्त्रोक्त कर्म्मों का प्रधान सम्बन्ध महानात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मयुक्त कर्म्मात्मा, इन तीन खण्डात्माओं के साथ है। अतएव धर्म्मशास्त्र ने (स्मृतिशास्त्र ने†) इन्हीं तीनों को प्रधानता दी है। जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥२॥
तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥३॥

—मनु १२।१२-१३-१४।

प्रज्ञानसंश्लिष्ट विज्ञानात्मा ही क्षेत्रज्ञ है, यही कर्म्मात्मा को कर्म्म में प्रवृत्त कराने वाला कारयिता है, जैसा कि पूर्व के विज्ञानात्मप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। कर्म्म करने वाला आत्मा उस क्षेत्रज्ञ कारयिता से सर्वथा पृथक् है। यद्यपि साधारण दृष्टि के अनुसार जीवात्मा नाम से प्रसिद्ध कर्म्मात्मा ही कर्म्मकर्त्ता है, परन्तु वास्तव में भूतात्मा ही कर्म्मकर्त्ता है। भूतात्मा से प्रकृत में महानात्मा अभिप्रेत है। महानात्मा गुणमय है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। सत्त्व-रज-तम-तीनों आत्मगुण महान् में ही विकसित होते हैं, जैसा कि स्मृति कहती है—

---

† श्रुति वेदशास्त्र है, और अर्थ का इतिकर्तव्यतारूप से निरूपण करने वाला स्मृतिशास्त्र धर्म्मशास्त्र है। "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः"। इस विषय का विशद विवेचन ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषतः ॥१॥
यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणाम् ॥२॥
सत्त्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं, रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥३॥
(मनु १२।२४-२५-२६)।

आकृति भूतमयी है, प्रकृति प्राणमयी है, अहङ्कृति मनोमयी है। भूतप्रधान आकृतिभाव के सम्बन्ध
आकृति-प्रकृति-अहङ्कृतिभाव— से ही इस महानात्मा को भूतात्मा कहा गया है। यही भूतों का जनक
है। अपिच कर्म्मात्मा "अहङ्करोमि" इस अभिमान से ही कर्म्मकर्त्ता कहलाया है। यह अहभाव उसी अह-
ङ्कृति महान् पर प्रतिष्ठित है। इसलिए भी महानात्मा के लिए-"य करोति तु कर्म्माणि' यह कहना न्याय
प्राप्त होता है। 'जीवात्मा' नाम से प्रसिद्ध कर्म्मात्मा तो नाममात्र का कर्म्मकर्त्ता है। वस्तुत' वह अर्जुनवत्
निमित्तमात्र है। शुभाशुभ कर्म्मों की योनि तो महानात्मा ही है। उस में जैसे सस्कार रहते हैं, कर्म्मात्मा को
वैसे ही कर्म्म करने पड़ते हैं। यदि महान् में सत्त्वगुण का विकास रहता है, तो इसे *सात्विक कर्म्म करने
पड़ते हैं। रज के अनुग्रह से इसे †राजस कर्म्म में प्रवृत्त होना पड़ता है, एव तम की प्रधानतासे ‡तामस
कर्म्म का अनुगमन करना पड़ता है। महान् ही जन्मप्रवृत्ति का मुख्य द्वार है। इन्हीं सब कारणों से
महान् को ही कर्म्मकर्त्ता कहा जासकता है। वही तो अन्तर्य्यामी-रूप से जैसा चाहता है, कर्म्मात्मा से वैसा
ही करवा लेता है। इच्छा महान् की है, कर्म्म जीवात्मा का है। जिसकी इच्छा होती है, उस इच्छा से होने
वाला कर्म्म उसी का कहलाया है। राजा की इच्छा से वध की इच्छा न रखता हुआ भी वधिक वधकर्म्म में

* वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्म्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥
मनु १२।३० )

† आरम्भरुचिताऽधैर्य्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥
( मनु १२।३२ )

‡ लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्य्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥
( मनु १२।३३ )

प्रवृत्त होजाता है। यह कर्म्म राजा का कर्म्म कहलाता है। 'राजाने उसे दण्ड दिया है' यही व्यवहार होता है। ठीक यही परिस्थिति यहां समझिए। कर्म्म करता है जीवात्मा, परन्तु इच्छा है अन्तर्यामी महानात्मा की—" केनापि देवेन हृदि स्थितोऽहं यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" । इसी लिए मनुने कर्म्मात्मा के द्वारा होने वाले कर्म्म की उपेक्षा कर इच्छाप्रवर्त्तक महान् को ही कर्म्मकर्त्ता मान लिया है। इच्छा महान् की है, कर्म्म जीवात्मा का है, साधन चैत्रज्ञ है। इन तीनों के समन्वय से कर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। इस में इतना ध्यान रखना पड़ेगा कि, यदि प्रज्ञानमन महानात्मा की इच्छा के अनुगत रहता हुआ बुद्धि का अनुगमन करता हुआ कर्म्म का उपकारक बनता है, तब तो जीवात्मा बन्धन से पृथक् रहता है। यदि विज्ञान की उपेक्षा कर महदिच्छा को अपना अनुचर बनाता हुआ प्रज्ञानमन स्वतन्त्र हो जाता है तो तत्सम्युक्त कर्म्म जीवात्मा के सुख दुःख का कारण बन जाता है। इसी दृष्टि से "येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु" यह कहागया है। अहंभावात्मक जीव प्राणिमात्रमें समानधर्म्मा है, परन्तु महानात्मा विज्ञानात्मा की भांति विषमधर्म्मा है। आकृति-प्रकृति-किसी की नहीं मिलती। इसी पार्थक्य को बतलाने के लिए "सहजः सर्वदेहिनाम्" यह कहा गया है।

प्रकारान्तर से यो समझिए कि, महान्-विज्ञान, दोनों एक श्रेणि की वस्तु हैं। प्रज्ञान-जीव, दोनों एक श्रेणि की वस्तु हैं। प्रज्ञानयुक्त जीवात्मा सब में समान है, महानयुक्त विज्ञानात्मा सब में असमान है। महान्, और विज्ञान के तारतम्य से जीवात्मा के कर्म्मकलाप में उच्चावचभावों का समावेश होजाता है। प्रज्ञान-जीव, दोनों भूतप्रधान हैं। इस भूतभाग से महान्, और चेत्रज्ञ, दोनों संश्लिष्ट रहते हैं। भूतों से युक्त ये दोनो जीवात्मा को चारों ओर से वेष्टित कर इस के भाग्यविधाता बने हुए हैं। जीवात्मा को इन दोनो से जैसी सामग्री मिलती है, इसे उसी के अनुसार सुखदुःख भोगना पड़ता है। विज्ञानयुक्त इसी त्रिगुण महानात्मा के अनुग्रह से जीवात्मा को उत्तम-मध्यम-जघन्य-गतियों का आश्रय लेना पड़ता है। सत्त्व की आधारभूमि ज्ञानमय-मन है, रज की प्रतिष्ठा क्रियामय प्राण है, एवं तम का प्रभव अर्थमय वाक्तत्त्व है। मनः प्राण-वाङ्मय आत्मा ही महान् के सम्बन्ध से सत्त्वरजस्तमोरूप से विकसित होता है। तभी तो इन्हें-आत्मगुण कहना न्यायसङ्गत होता है। मन-प्राण-वाक्, ये तीनों ही त्रिवृत्कृत हैं। इस त्रिवृत्-करण से आत्मा के प्रत्येक पर्व में मनः-प्राण-वाक्, तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। त्रिवृत्-करण से ही तीन के ९ विवर्त्त हो जाते हैं। इन ९ आत्मविवर्त्तों के कारण ही आत्मगुणाधारेण प्रतिष्ठित सत्त्वादि प्राकृतिक गुणों के भी अग्रिम परिलेखानुसार से ९ विवर्त्त होजाते हैं।

सत्त्वप्रकृतिक महान् उत्तमगति का कारण है, रजःप्रकृतिक महान् मध्यमगति का कारण है, एवं तमःप्रकृतिक महान् अधन्यगति का प्रवर्त्तक है। ये इस के स्थूल विभाग हैं। सत्त्व-रज तम, तीनों ही उक्त त्रिवृत्करण से पुनः उत्तम-मध्यम-अधन्य-भेद से तीन तीन भागों में विभक्त हैं। रजस्तमोगर्भित मलिनसत्त्व उत्तम सत्त्व है, तमः-सत्त्वगर्भित रज मध्यम सत्त्व है, रजः-सत्त्व-

सत्त्व-रज-स्तमोलक्षण महानात्मा—

विशेषविवरण—

हमारी असावधानी से इस तालिका का प्रकाशन यथास्थान न हो सका। अत इसे स्वतन्त्ररूप से प्रकाशित कर पुनः समाविष्ट करना पड़ा, जिसका समावेश पाठकों को पृ० सं० २४२ वें पृष्ठ की २५–२६ वीं पंक्तियों के मध्य में समझने का अनुग्रह करना चाहिए।

—सम्पादकः

| आ– | शुक्लभावः | रक्तभावः | कृष्णभावः | –त्मा |
|---|---|---|---|---|
| | ज्ञानम् · शुक्लमयं | क्रिया · रक्तमयी | अर्थः · कृष्णमयः | |
| | मनः | प्राणः | वाक् | |

१–मनः– { १–मनः-सत्त्वम् [शु०], २–प्राणः-रजः [र०], ३–वाक्-तमः [कृ०] } १ सत्त्वम् [शु०]

२–प्राण …………………… { १–प्राणः-रजः [र०], २–मन-सत्त्वम् [शु०], ३–वाक्-तमः [कृ०] } २ रज [र०]

३–वाक् …………………………………… { १–वाक्-तमः [कृ०], २–प्राणः-रजः [र०], ३–मनः-सत्त्वम् [कृ०] } ३ तमः [कृ०]

गर्भित तम जघन्य सत्त्व है। इसी प्रकार रजस्तमोगर्भित सत्त्व उत्तम रज है, तम-सत्त्वगर्भित रज मध्यम रज है, रज.सत्त्वगर्भित तम जघन्य रज है। एवमेव तमोरजोगर्भित सत्त्व उत्तम तम है, तम-सत्त्वगर्भित रज मध्यम तम है, एवं सत्त्वरजोगर्भित तम जघन्य सत्त्व है।

पहिले स्थूल योनियों का क्रम देखिए। सत्त्वप्रकृतिक जीव देवयोनिमें जन्म लेते हैं, रज प्रकृतिक जीव मनुष्ययोनि धारण करते हैं, एवं तम से अभिभूत जीव कृमि-कीट-पक्षी-पशु भेदभिन्न तिर्य्यक्योनि में जाते हैं। इसी सामान्य गति का उल्लेख करते हुए मनु कहते हैं—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥१॥।
—मनु १२।४०।

आगे जाकर ज्ञानजनित-अत एव ज्ञानात्मक भावनासंस्कार, एवं कर्म्मजनित-अत एव कर्म्मरूप वासनासंस्कार के तारतम्य से उक्त प्रत्येक गति पूर्वकथनानुसार उत्तम-मध्यम-अधम भेद से तीन तीन भागों में विभक्त होजाती है। धातु-उपधातु-रस-उपरस-विष-उपविष-औषधि-वनस्पति-आदि स्थावर योनियाँ कृमि-कीट-मत्स्य-सर्प-कच्छप-गौ-अवि सामान्य, पशु, मृग-गवयादि वन्य विशेष पशुयोनियाँ रजःसत्त्वगर्भित तमोमयी जघन्यगति से सम्बन्ध रखती हैं। हाथी-अश्व-शूद्र-म्लेच्छ-सिंह-व्याघ्र-वराह (शूकर) आदि योनियों का सत्त्वतमोगर्भिता रजोमयी मध्यमा तामसी गति से सम्बन्ध है। सुपर्ण (गरुडपक्षी), कुटिल मनुष्य, राक्षस, पिशाच, इन का रजस्तमोगर्भिता सत्वमयी उत्तमा तामसी योनि से सम्बन्ध है।

झल्ल (नत्रियों के वर्णसंकर), नट, मल्लयोद्धा, शस्त्रक्रयविक्रयकर्त्ता, द्यूत (जूआ) मद्यादि में प्रसक्त रहने वाले पुरुष, इन सब का रज-सत्त्वगर्भिता तमोमयी जघन्या राजसी योनि से सम्बन्ध है। अभिषिक्त राजा, जन्मना क्षत्रिय, राजाओं के कुलपुरोहित, वाग्युद्धमें अग्रणी प्राड्विवाकादि, इन सब का सत्त्वतमोगर्भिता रजोमयी मध्यमा राजसी योनि से सम्बन्ध है। गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, लौकिक व्यवहारों में निपुण लौकिकमनुष्य, सेवाधर्म में निष्णात सेवक, अप्सराएं, इन सब का रजस्तमोगर्भिता सत्वमयी उत्तमा राजसी योनि से सम्बन्ध है।

वानप्रस्थाश्रमी तपस्वी, सन्यासाश्रमी यति, जन्मना ब्राह्मण, पुष्पकादि विमानों के सञ्चालक विद्याधर, खगोलीय सम्पूर्ण नक्षत्र, दितिपुत्र दैत्य, इन सब का सत्वरजोगर्भिता तमोमयी प्रथमा सात्त्विकी गति से सम्बन्ध है। यज्ञकर्त्ता याज्ञिक, प्राणपरीक्षक ऋषि, देवप्राण साक्षात्कर्त्ता भौमदेवता, एवं अभिमानी देवता, खगोलीय ग्रह, वत्सर, पितर, साध्यादि देवता, इन सब का सत्वतमोगर्भिता रजोमयी मध्यमा सात्त्विकी योनि से सम्बन्ध है। ब्रह्मा-विश्वसृट्-धर्म्म, धर्म्म, महान्, अव्यक्त-इन का रज-

रतमोगर्भिता सत्त्वमयी उत्तमा सात्त्विकी गति से सम्बन्ध है। इस प्रकार—"त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिक" ( मनुः १२।५१ ) भगवान् मनुके इन शब्दों के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक विश्व त्रिवृत्कृत इसी त्रिगुणमूर्त्ति महद्योनि पर प्रतिष्ठित है। यदि विश्वारम्भ के सूक्ष्म–सूक्ष्मतर–सूक्ष्मतम विभागों का विचार किया जाता है, तो यह योनिविवर्त्त–अनन्तकोटि में परिणत होजाता है। अतीतानागतज्ञ महर्षियोंने चतुरशीतिलक्ष–(८४००००० चौरासी लाख) सख्या पर इस योनिविभाग का विश्राम माना है। महानात्मा के इसी योनिवर्त्त को लक्ष्यमें रख कर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
> ऋषिं प्रसूतं कपिलं यमस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानं च पश्येत् ॥
>
> ( श्वे० उ० ५।२ )

उपर्युक्त मानव–आत्मविज्ञान के अनुसार विज्ञपाठकों को यह भलीभांति विदित होगया होगा कि, चान्द्र महानात्मा–वास्तव में आध्यात्मसंस्था में एक ही आत्माका साम्राज्य नहीं, अपितु तन्त्रभेद से अनेक तन्त्रायी हैं। इन विभिन्न तन्त्रायियों को व्यापक जो एक महा तन्त्रायी है, वह शास्त्रानधिकृत, अतएव कर्म्मप्रपञ्च से सर्वथा बहिर्भूत है। अस्तु प्रकृत में महानात्मा का गुणानुवाद चल रहा है। सर्वाधिष्ठाता पितृप्राणमूर्त्ति यह महानात्मा "शुक्र" में प्रतिष्ठित रहता है। हमारा (पुरुष का) शुक्र भुक्त ओषधियों का (अन्न का) रस है। ओषधियों में यह रस चन्द्रमा से आता है। चान्द्र सौम्यरसगर्भित सौर आग्नेयरस से वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है, एवं सौररसगर्भित चान्द्ररस से ओषधियों की स्वरूप निष्पत्ति है, जैसा कि आरम्भ की "अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्" में विस्तार से बतलाया जाचुका है। शुक्लपक्ष में, प्रधानरूप से पूर्णिमा–तिथि में सौरप्राण देवता सम्पूर्ण चान्द्रसोम का पान कर जाते हैं। अतः इन दिनों में वह चान्द्ररस पूर्णरूप से भूलोक में, एवं भूलोक में प्रतिष्ठित ओषधियों में नहीं आने पाता। परन्तु जब चन्द्रमा सूर्य्य, एवं पृथ्वी के मध्य में आजाता है, तो इस कृष्णपक्षकाल में चान्द्रसोम को पृथ्वी पर आने का अवसर मिल जाता है। चान्द्रसोम में पितृप्राण प्रतिष्ठित हैं। इसी आधार पर "विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति" यह कहा जाता है। पूर्व कथनानुसार अमावास्यातिथि में सोम अतिशय मात्रा से पृथिवी पर आता है, अतएव अमाको पितृतिथि कहा जाता है। इन सब विषयों का आगे के प्रकरणों में विस्तार से निरूपण होनेवाला है, अतः प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि, ओषधियाँ सोमरसमयीं, किंवा सोमरसप्रधाना हैं। चान्द्रसोम में ही पारमेष्ठ्य महान प्रतिष्ठित है। महान् ही पितर है। इस महन्मूर्त्ति पितृप्राणयुक्त ओषधिरस से ही रस–मलके क्रमिक विभाजन से रस–असृक्–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा–शुक्र, इन सात धातुओंका स्वरूप निष्पन्न होता है। यही सौम्यशुक्र संतानसूत्र द्वारा सात पीढ़ी पर्य्यन्त वितत होता है। अर्थात् सात पुरुष पर्य्यन्त इस एक महान् का अंश व्याप्त रहता है।

० २४२ की तालिका—

महद्विवर्त्त—

1— 
- १—रजस्तमोगर्भित-सत्त्व——मनः ( ज्ञानम् ) [श्वेतवर्ण·] —>>——उत्तमा सात्त्विकी गतिः
- २—सत्त्वतमोगर्भित-रज——प्राणः ( क्रिया ) [रक्तवर्णः] —>>——मध्यमा सात्त्विकी गतिः
- ३—सत्त्वरजोगर्भित-तम——वाक् ( अर्थः ) [कृष्णवर्णः] —>>——अधमा सात्त्विकी गतिः

} सत्त्वं·मनः [श्वेतभावः]

——०——

२—
- १—सत्त्वतमोगर्भित-रज——प्राणः ( क्रिया ) [श्वेतवर्णः] —>>——श्रेष्ठा राजसी गतिः
- २—रजस्तमोगर्भित-सत्त्व——मनः ( ज्ञानम् ) [रक्तवर्णः] —>>——मध्यमा राजसी गतिः
- ३—सत्त्वरजोगर्भित-तम——वाक् ( अर्थः ) [कृष्णवर्णः] —>>——कनिष्ठा राजसी गतिः

} रजः·प्राणः [रक्तभावः]

——०——

३—
- १—सत्त्वरजोगर्भित-तम——वाक् ( अर्थः ) [श्वेतवर्णः] —>>——निकृष्टा तामसी गतिः
- २—सत्त्वतमोगर्भित-रज——प्राणः ( क्रिया ) [रक्तवर्णः] —>>——मध्यमा तामसी गतिः
- ३—रजस्तमोगर्भित-सत्त्व——मनः ( ज्ञानम् ) [कृष्णवर्णः] —>>——जघन्या तामसी गतिः

} तमः वाक् [कृष्णभावः]

——०——

ओषधियों में **दधि-घृत-मधु-अमृत,** ये चार तत्त्व माने गए हैं। पार्थिव घनरस दधि है, आन्तरिक्ष्य वायव्य रस घृत है, सौर दिव्य रस मधु है, पारमेष्ठ्य सौम्य रस अमृत है। अन्न का दाना भाग पार्थिव है, यही दधि है—"**दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्**"। आटे को गोंदने पर एक प्रकार के स्नेह (चिकनाई) तत्त्व का प्रत्यक्ष होता है। यही आन्तरिक्ष्य तरलभाग घृत है—"**घृतमन्तरिक्षस्य**"। प्रत्येक अन्न में एक प्रकार का मिठास होता है। यही सौर दिव्य पदार्थ है। यही मधु है—"**मध्वमुष्य**" (शत० ७।५।१।३ कूर्म्मचितिब्राह्मण)। प्रत्येक अन्न में एक प्रकार का जायका होता है, स्वाद होता है। यही चौथा अमृत है। इन चारों रसों के सम्बन्ध से तन्मूर्त्ति महान् आकृति-प्रकृति-अहंकृति का जनक बनजाता है। आकार आकृति है, स्वभाव प्रकृति है, इन्द्रियसामर्थ्य अहंकार, किंवा अहंकृति है। दधि-घृत के समन्वय से शरीराकृति का निर्म्माण होता है, घृत-मधुसे प्रकृतिभाव का उदय होता है, एवं मधु-अमृत से अहंकृति का जन्म होता है। इस से यह भी सिद्ध होजाता है कि आकृति-प्रकृति-अहंकृति-भावों का उत्तम-मध्यम-अधम-भाव प्रधानरूप से अन्न से ही सम्बन्ध रखता है। इन तीनों को स्वरूप-रक्षा के लिए, एवं विकास के लिए अन्न का नियन्त्रण (खान पान का नियन्त्रण) प्रत्येक परिस्थिति में अपेक्षित है। महदवच्छिन्न शुक्र से उत्पन्न होने वाली प्रजाके लिए आकार-स्वभाव-इन्द्रिय सामर्थ्य, तीनों कर्म्म-विद्यानुसार सर्वथा नियत रहते हैं। एक हजारे के वृक्ष को दूधसे सींचने पर भी वह पिप्पलवृक्ष के समान दीर्घकाय नहीं बन सकता। वृक्षादि का जितना आयतन (आकार-आकृति) नियत होता है, वह बीजरूप से उसी महद्गर्भ में पहिले से ही प्रतिष्ठित रहता है। महानात्मा की इस बीजावस्था के वास्तविक स्वरूप को न समझ कर कितने ही दार्शनिक (क्षपणक) बीज में ही सम्पूर्ण वृक्ष मानते हैं। वृक्ष बीज में प्रतिष्ठित नहीं है, अपि तु उस की बीजावस्था वहां प्रतिष्ठित है। महानात्मा की प्रतिष्ठा शुक्र है, इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जिस पुरुष का शुक्र अधिक मात्रा में खर्च होजाता है, उसकी आकृति-प्रकृति-अहंकृति, तीनों भाव बिगड़ जाते हैं। चान्द्र महानात्मा का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

**चान्द्र-प्रज्ञानात्मा—** दूसरा है प्रज्ञानात्मा। इसी चान्द्रभाग से सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञानात्मा (अतीन्द्रिय नामसे प्रसिद्ध सर्वेन्द्रिय मन) का स्वरूप निष्पन्न होता है। चन्द्रमा में पानी, और सोम दो तत्त्व हैं। पानी पारमेष्ठ्य है, सोम चान्द्र है। समान स्थानीय होने से दोनों दोनो में ओतप्रोत हैं। "श्रद्धा वा आपः" के अनुसार चान्द्र अप्तत्त्व श्रद्धा है। इसका प्रधान सम्बन्ध महान् से है। सोम से मन का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में सोमगर्भित श्रद्धा (आप) महान् है, एवं अप्गर्भित सोम मन है। शुक्र आपोमय है, सोम इसके गर्भ में है। मन सोममय है, अप्तत्त्व इसके गर्भ में है। महान् की प्रतिष्ठा जहां शुक्र है, वहां मन की प्रतिष्ठा हृदय है—"**हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**" (यजु: सं० ३४।६)। महानात्मा शुक्र में रहता है, प्रज्ञानात्मा हृदय में रहता है। महानात्मा तत्त्वचितसृष्ट है, प्रज्ञानात्मा उत्पन्नसृष्ट है। अर्थात् महानात्मा तो जन्मकाल में ही विकसित है। शुक्रमूर्त्ति महान् तो जन्म का ही कारण है, परन्तु प्रज्ञानात्मा का पूर्ण विकास जन्म के पीछे सोलहवें वर्ष में होता है। षोडशपर्वा चन्द्रमाके क्रमिक भाव से सम्बन्ध

रखने वाला प्रज्ञानमन सोलह वर्ष पर्य्यन्त अपरिपक्व रहता है, अनन्तर उसमें आत्मनिर्भरता का उदय होता है। इसी आधार पर–"प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं–मित्रवदाचरेत्" यह आभाणक प्रतिष्ठित है। शुक्रतत्त्व रसमलके विशकलन से ही आगे जाकर **ओज** रूप में परिणत होता है। शुक्र पार्थिवधातु–प्रधान था, ओज आन्तरिक्ष्य वायव्यधातु-प्रधान है। शुक्र में हमनें पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-दिव्य, तीन धातु बतलाए हैं। शुक्र में तीनों हैं, ओज में आन्तरिक्ष्य वायव्य, दिव्य सौम्य, दो धातु हैं। जब विशकलन-प्रक्रिया से आन्तरिक्ष्य वायव्य धातु भी निकल जाता है, तो शुद्ध सोमरस रह जाता है। यही विशुद्ध दिव्य चान्द्ररस मन है। इस के साथ रोदसी त्रैलोक्य द्युलोकाधिष्ठाता मघवा इन्द्रप्राण का सम्बन्ध रहता है। स्वौम्य, एवं रोदसी भेद से त्रैलोक्य दो प्रकार का है। केवल पार्थिव अहर्गणों से सम्बन्ध रखने वाला त्रैलोक्य "स्तौम्य त्रैलोक्य" कहलाया है। इसी का नाम महापृथिवी है। इस महापृथिवी का त्रिवृत् स्तोम पृथिवी है, पञ्चदशस्तोम अन्तरिक्ष है, एवं एकविंश स्तोम द्युलोक है। तीनों में क्रमशः अग्नि–वायु–आदित्य, देवता प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं तीनों से वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञरूप पार्थिव कर्म्मात्मा का स्वरूप निष्पन्न होता है, जैसा कि आगे की उपनिषत् में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। पृथिवी पृथिवी लोक है, सौरमण्डल द्युलोक है, दोनों के मध्य का स्थान अन्तरिक्ष है। यही दूसरी रोदसी त्रिलोकी है। इन तीनों में भी क्रमशः अग्नि–वायु–इन्द्र, ये तीन दिव्य-देवता प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं तीनों से आध्यात्मिक शुक्र–ओज–मन, इन तीनों का निर्म्माण होता है।

**स्तौम्यत्रिलोकी**

महापृथिवी {
पृ० १–त्रिवृत्स्तोम–अग्निः–ततो वैश्वानरः
अ० २–पञ्चदशस्तोम–वायुः–ततस्तैजसः
द्यौ० ३–एकविंशस्तोम–आदित्यः–ततः प्राज्ञः
} —कर्म्मात्मा

**रोदसीत्रिलोकी**

१–पृथिवी–अग्निः–ततः शुक्रम्
२–अन्तरिक्षम्–वायुः–ततः–ओजः
३–सूर्यः–इन्द्रः–ततः–मनः

—:०:—

उक्त कथनानुसार मन में सोम, एवं सौर इन्द्रप्राण भेद से दो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। इस पर विज्ञान के प्रतिबिम्बित होने से यह भी चिदंश से युक्त हो जाता है। यह प्रतिबिम्ब सौम्य सोम पर प्रतिष्ठित होता है, इससे यह सोम चिन्मय बनता हुआ ज्ञानमय बन जाता है। अत एव मन का चिदंशयुक्त यह सौमभाग प्रज्ञा नाम से व्यवहृत होता है। प्रज्ञा, एवं प्राण की समष्टि ही प्रज्ञानमन है। विज्ञान–प्रज्ञान, दोनों परस्पर प्राणेन्द्र के सम्बन्ध से संपरिष्वक्त हैं–"स वा एष प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः"। जब तक अध्यात्मसंस्था में प्रज्ञान मन प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक विज्ञान की स्थिति रहती है। चित्ताधर-पर्य्यायक मन की स्वस्थता पर ही बुद्धि का विकास होता है–"स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति"। अपि च इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यदि कुछ दिन तक अन्न नहीं खाया जाता है, तो अन्नमय प्रज्ञानमन शिथिल हो जाता है। प्रज्ञान के शिथिल होते ही इसी पर प्रतिष्ठित रहने वाली चिद्घना बुद्धि शिथिल बन

जाती है। भूख मनुष्य की अक्ल जरा भी काम नहीं करती—"बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्"। भूखे को कुछ नहीं सूझता। सूझना बुद्धि का काम है। अपने प्रतिष्ठापरातल की शिथिलता से आज वह स्वयं भी अप्रतिष्ठित सी हो रही है।

बुद्धिप्रतिष्ठारूप यह प्रज्ञान-मन ही सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। इस में हमने सोम, चिदंश, प्राण, ये तीन तत्त्व बतलाए हैं। सोम भूतभाग है, चित् ज्ञानभाग है, प्राण प्राणतत्त्व है। वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन, इन पांच (वैदिक) इन्द्रियों के भेद से इस प्रज्ञान की ज्ञान-भूत-प्राण, इन तीनों कलाओं के पांच पांच विवर्त्त हो जाते हैं। पांच प्रज्ञामात्रा हैं, पांच भूतमात्रा हैं, पांच ही प्राणमात्रा हैं। इन १५ हो कलाओं की मूलप्रतिष्ठा त्रिकल स्वयं प्रज्ञान है। 'प्रज्ञानोङ्कारविद्या' के अनुसार पञ्च भूतमात्रा मकार है, पञ्च प्राणमात्रा उकार है, एवं पञ्च प्रज्ञामात्रा अकार है। सर्वालम्बन स्वयं प्रज्ञान अर्द्धमात्रा है। समष्टि ओङ्कार है। अर्द्धमात्रिक प्रज्ञान की प्रेरणा से ही सब इन्द्रियाँ अपना अपना नियत कर्म करने में समर्थ होती हैं। प्रज्ञानगत प्राणमूर्त्ति इन्द्र के सम्बन्ध से इन्द्रियों को इन्द्रिय कहा जाता है। सभी इन्द्रियाँ *इन्द्रजुष्ट हैं। स्वयं इन्द्रप्राण उक्थ है, आत्मा है, अत एव इसे "मुख्यप्राण" कहा गया है। पाँचो ऐन्द्रियक प्राण अर्करूप हैं, अत एव इन्हें "प्राणाः" कहा गया है। वे ही इन्द्रिय प्राण 'अनुचीनप्राण' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। "नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्" के अनुसार इन्द्रियों के स्व स्व विषय सर्वथा नियत हैं। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि, जिन का विषय नियत है, वे ही इन्द्रिय नाम से व्यवहृत होतीं हैं। "गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्" के अनुसार गुणभूत इन्द्रियों का परस्पर में कोई सम्बन्ध नहीं है। असम्बन्ध ही इन का सम्बन्ध है, अनान्तर्य्य ही इन का आन्तर्य्य है। सब अपने अपने रूप-रस-गन्धादि विषय-ग्रहण में स्वतन्त्र हैं। इन इन्द्रियों में मन सुखदुःख (अनुकूल वेदना-प्रतिकूल वेदना) का अनुभव करने वाला, अतएव नियतविषयी बनता हुआ इन्द्रियकोटि में ही प्रविष्ट है। इस इन्द्रिय मन का वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति कर्म्मात्मा के प्राज्ञभाग से ही सम्बन्ध है। प्राज्ञ ही इन्द्रिय मन है। इसी के लिए "मनः षष्ठानि मे हृदि" (अथर्व सं० १९।९।५) यह कहा गया है। इन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञान मन स्वतन्त्ररूप से कर्म्म करने में समर्थ होता हुआ अपने ऊपर भावना वासना रूप से कर्म्म का लेप कर लेता है। परन्तु प्राज्ञरूप इन्द्रिय मन केवल भोग में समर्थ है। यही कारण है कि विज्ञान-प्रज्ञान विरहित प्राज्ञ केवल भोग कर सकता है, नया संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकता। पांचों इन्द्रियों में प्रज्ञान अनुस्यूत रहता है, अत एव इसे कर्मेन्द्रिय-मन कहाजाता है। यह स्वयं इन्द्रिय नहीं है, अत एव इसे अनिन्द्रियमन नाम से व्यवहृत करने में कोई आपत्ति नहीं होती।

---

* इन्द्र इवेन्द्रियाणि—अधि धारयामः।
अथर्व सं० ११३५।३।

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु। इन्द्र तानि ते आवृणे॥
अथर्व सं० २०।२०।२।

**प्रकरणोपसंहार**—अब तक आपने अध्यात्मसंस्था में एक ही मन समझ रक्खा होगा। परन्तु आजसे आप अपना यह अवैदिक विश्वास बदल दीजिए। अध्यात्म में एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, अपितु चार मन हैं। अव्यय-महान्-प्रज्ञान-प्राज्ञ, भेद से मन चतुर्द्धा विभक्त है। अव्ययमन श्वोवसीयस् एवं श्वोवस्यसब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है। महत् मन सत्त्व कहलाता है। प्रज्ञान मन सर्वेन्द्रिय है। एवं प्राज्ञ-मन इन्द्रियमन नाम से प्रसिद्ध है। प्राज्ञमन कर्म्मात्मा की प्रतिष्ठा है, प्रज्ञान-मन विज्ञानात्मा की प्रतिष्ठा है, महत्-मन अमृतात्मा की प्रतिष्ठा है। एवं अव्ययमन सब की प्रतिष्ठा है। इन में अव्यय मन का एक स्वतन्त्र विभाग है। महत्-विज्ञान-प्रज्ञान, तीनोंका एक स्वतन्त्र विभाग है। इन तीनों का कर्म्मगति से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु इतना ध्यान रखिए कि, श्राद्धकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा शुक्रतत्त्व पर प्रतिष्ठित पितृप्राणमूर्त्ति महानात्मा ही है। सम्पूर्ण आत्मविवर्त्तों में से श्राद्ध एक मात्र महानात्मा के लिए ही किया जाता है। महान् के सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ वक्तव्य है। क्यो कि इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व इसी पर अवलम्बित है। अतः आगे आने वाले पितृप्राणनिरूपण-प्रकरण के लिए इसे छोडते हुए प्रकृत प्रकरण को यहीं समाप्त कर क्रमप्राप्त 'प्राणात्मा' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

तदित्थं—आकृति, प्रकृति—अहंकृतिभेदेन त्रिकलः—महत्—प्रज्ञानभेदेन
द्विकलो वायं महानात्मा, चन्द्रमा वा व्याख्यातो द्रष्टव्यः

समाप्ता चेयं श्राद्धविज्ञानान्तर्गते—'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां प्रथमखण्डात्मिकायां

"महदात्मविज्ञानोपनिषत्"—पञ्चमी

५

—— :०: ——

(६) { १—अधिदैवतम्→पृथिवी ( पूर्णमदः ) / २—अध्यात्मम्→प्राण. ( पूर्णमिदम् ) } (५)

# अथ

## श्राद्धविज्ञानान्तर्गत-'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमार्था—

## "प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्"-षष्ठी

६

### प्राणात्मा-वैकारिकात्मा-पृथिवी (५)

| | | |
|---|---|---|
| १—त्रिवृतोऽग्निः ( वैश्वानरात्मा ) | | |
| २—त्रिवृतो वायुः ( तैजसात्मा ) | | →प्रत्यगात्मा ( १ ) |
| ३—त्रिवृत् आदित्य ( प्राज्ञात्मा ) | | |
| ४—भूवायुः ( हंसात्मा ) | | →प्रेतात्मा ( २ ) |
| ५—चित्याग्नि ( भाग्यात्मा ) | | →शरीरात्मा ( ३ ) |

सोऽयं पञ्चकलस्त्रिकलो वा प्राणात्मा-वैकारिकात्मगर्भित प्राकृतात्मा वा पृथिवी

१—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
२—जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता २ अ० । २२, २७ ।

अथ

समाप्ता चेयं

'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' पंचमी

५

—×—

अथ

'आत्मविज्ञानोपनिषदि'–( प्रथमखण्डे )

# 'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्' षष्ठी

# ६

— ० —

॥ ॐ प्राणात्मब्रह्मणे नमः ॥

## प्राणात्मा—पृथिवी

# 'प्राणो ब्रह्म' त्युपास्व

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ श्वे० उ० ५।८ ।
स एव माया परिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत् परितृप्तिमेति ॥ कैवल्योपनिषत् १।१२ ।
स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके ।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥ कै० ११ १३ ।
पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः ।
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम् ॥ कै० १।१४ ।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥ कै० १।१५ ।
जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत् प्रकाशते ।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥ कै० १।१७ ।
बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ श्वे० उ० ५।९ ।
यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेष्वनुधावति ।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ कठोपनिषत् ४।१४ ।

यद्यपि सर्वशास्त्रमूर्द्धन्य, स्वतः प्रमाणभूत वेदशास्त्र में आत्मस्वरूपनिरूपण के सम्बन्ध में किसी भी अविज्ञानमूला, तथा क्षणिकविज्ञानमूला भ्रान्ति—अंश में त्रुटि नहीं है। तथापि विज्ञानदृष्टि के विलुप्त प्राय हो जाने से विज्ञानात्मक वेदशास्त्र के वास्तविक तात्पर्य्य से हम बहुत पीछे हट गये हैं, अथवा तो बहुत आगे बढ़ गए हैं। एक दल कहता है—वेद में विज्ञान का अन्वेषण करना मृगमरीचिका है। वेद ईश्वर की

पवित्र वाणी है ( अनरय २ )। इस के द्वारा केवल ज्ञानोपासना कर्म्मकाण्डत्रयी का ही स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। दूसरे दल की वेदार्थ के सम्बन्ध में इस से भी भयङ्कर मनोवृत्तियाँ हैं। वे महानुभाव वेद में विज्ञान अवश्य मानते हैं, परन्तु उनकी विज्ञानदृष्टि पाश्चात्य-क्षणिक-अशान्तिप्रवर्द्धक-भौतिक ( अतएव एकान्ततः भयावह ) विज्ञान की ही अनुगामिनी बन रही है। वे केवल इसी में वेद का महत्त्व समझते हैं कि, एकमात्र भौतिक विज्ञान के उपासक प्रतीच्य-वैज्ञानिकों ने तार-वायरलेसटेलिग्रॉफी-फोनोग्राफ-रेल्वेट्रेन-बेलून, आदि जो आविष्कार किए हैं, वे सब हमारे वेदशास्त्र में निहित हैं। फलत मीमांसा-सङ्गति के एकान्ततः विरुद्ध मन्त्रार्थों की दुर्दशा करते हुए ये महाशय आविष्कारों का स्वप्न देख रहे हैं। कितने ही महानुभावों की दृष्टि में वेद केवल राष्ट्रनीति का निरूपण करने वाला नीतिशास्त्र है। एक सज्जन ने अपनी इसी काल्पनिक भावना के लक्ष्य से दर्शपूर्णमास यज्ञ के सब मन्त्रों का राजनैतिक अर्थ करने का व्यर्थ प्रयास किया भी है। कितने ही अभिनिविष्ट कहते हैं कि, वेद केवल अध्यात्मशास्त्र है। वेद में जितने भी पदार्थ आए हैं, वे सब केवल अध्यात्मसंस्था से सम्बन्ध रखते हैं। कितने ही कृतयुगप्रेमियों की दृष्टि में वेद केवल खगोलीय चरित्र का, दूसरे शब्दों में ज्योतिर्विद्या का ही निरूपक है। इन सब प्रपञ्चियों को हम आगे बढ़ा हुआ कहेंगे। मध्यममार्गानुयायी अस्मदादि साधारण व्यक्तियों की दृष्टि में उक्त दोनों ही दल भ्रान्ति के उपासक बन रहे हैं। वेदार्थ के सम्बन्ध में सब से पहिला, एवं मुख्य कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि, हम अपने कल्पित-सिद्धान्त की पुष्टि करने की दृष्टि से वेदमन्त्रों को न देखते हुए, मीमांसाशास्त्र प्रतिपादित प्रसङ्ग, उपोद्घात, हेतुता, अवसर, निर्वाहकैक्य, कार्य्यैकयनाक्यता, इन छओं सङ्गतियों की पूर्ण मीमांसा करते हुए, उपक्रम उपसंहार पर पूर्ण ध्यान देते हुए, "शब्दप्रमाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्" "ईक्षतेर्नाशब्दम्" "लक्षणैकचक्षुष्कावयम्" "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ" इत्यादि आप्तसिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक विषय की सिद्धि के लिए शास्त्रीय प्रमाणों को आधार बनाते हुए ही आगे बढ़ें। तभी हम यथार्थ निर्णय पर पहुँच सकते हैं। अभिनिवेशमूलक मतवाद मनुष्य को सत्यमार्ग से सर्वथा च्युत कर देता है। यदि उक्त शास्त्र-दृष्टि से वेदार्थ का उपवृंहण किया जाता है, तो ब्रह्म ( मन्त्र )-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र में हमें विज्ञान, स्तुति, इतिहास ज्ञान, कर्म्म, उपासना ये ६ विषय उपलब्ध होते हैं। इन छओं में से वेदरहस्य प्रतिपादक, गाथा-नाराशंसी-रहस्य-निदान-रुम्या, इन ग्रन्थों के विलुप्तप्राय होजाने से विज्ञान एवं इतिहास, ये दो विषय स्मृतिगर्भ में विलीन होचुके हैं। भारतीय विद्वानों की दृष्टि में वेद केवल स्तुति-ज्ञान-कर्म्म-उपासना-इन चार ही विषयों का प्रतिपादक बन रहा है। विज्ञान, एवं इतिहासदृष्टि के अभाव से ही आज हम वेद के वास्तविक अर्थ से परा पराहत चले गए हैं। विशेषत विज्ञान के अभाव से ही आज हम आत्म-परमात्म-परलोक-आत्मगति-श्राद्ध-आदि विज्ञान-सिद्ध विषयों के सम्बन्ध में सन्देह के भाजन बन रहे हैं। सब से पहिले आत्मा का ही विचार कीजिए।

आत्मा अखण्ड है, निर्विकार है, सर्वव्यापक है अजन्मा है, यह भी शास्त्र का ही सिद्धान्त - विभिन्नपक्षसमर्थन—है। शरीर से उत्क्रान्त आत्मा कर्म्मफल-भोगने के लिए लोकान्तर में

जाता है, यह भी शास्त्रसम्मत पक्ष है शरीर के नष्ट होने पर आत्मा लोकान्तर मे नहीं जाता, अपि तु वह यहीं विलीन होजाता है, यह भी वेदाभिमत ही सिद्धान्त है। शरीर छोड़ने से पहिले जब आत्मा अपना नया शरीर पहिले से निश्चित करलेता है, तभी पूर्व शरीर को छोड़ता है, इस सिद्धान्त को भी अशास्त्रीय नहीं माना जासकता। शरीर ही आत्मा है, शरीर से पृथक् आत्मा नहीं है, इस नास्तिकवाद का मूल भी शास्त्र ही है। आत्मा न विश्व का कारण है, न कार्य है उस असंग तत्त्व का ससंग विश्व से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह भी शास्त्र की ही उक्ति है। आत्मा ही विश्व को कर्त्ता है, यह भी शास्त्र ही कहता है। आत्मा ही विश्व बना हुआ है यह भी शास्त्र का ही सिद्धान्त है। कहीं विश्वपर्वभूत सूर्य्य को आत्मा बतलाया जारहा है। कहीं अग्नि को आत्मा कहा जारहा है। कहीं चार पुरुषों की समष्टि आत्मा बन रहा है। कहीं लोमत्वङ्मांसअस्थि की समष्टि को आत्मा माना जारहा है। कहीं आत्मा को कृश एवं स्थूल कहा जारहा है। कहीं आत्मा को मन प्राणवाङ्मय बतलाया गया है। इसी प्रकार-इन्द्र-सोम-प्राण-वायु-पानी-आकाश-वाक्-आदित्य-विष्णु-आदि सब पदार्थों को भिन्न-भिन्न स्थलों में आत्म शब्द से व्यवहृत किया गया है। निम्न लिखित भिन्न भिन्न शास्त्रीय प्रमाण इन्हीं भिन्न भिन्न पक्षों का समर्थन कर रहे हैं—

१—"( नित्य ) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" ( बृ० आ० उप० ३।९।२८ )।

२—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ( तैत्ति० उप० २।१।१ )।

३—"परं ब्रह्म परं सत्यं सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
अप्रमेयमनिर्देश्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥"

४—"शुद्धं सूक्ष्मं निराकारं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
अनन्तमपरिच्छेद्यमनूपममनामयम् ॥" (योगशिखोपनिषत् २ अ०।१६।१७)।

५—"स्थूलदेहविहीनात्मा सूक्ष्मदेहविवर्जितः ।
कारणादिविहीनात्मा तुरीयादिविवर्जित ॥" (तेजोबिन्दूपनिषत् ४।७३)।

६—"अखण्डैकरसोवाहमानन्दोऽस्मिविवर्जितः ।
सर्वातीतस्वभावात्मा नादान्तर्ज्योतिरेव म ॥" (तेजोबिन्दूपनिषत् ४।८)।

—— * ——

१—"अथ यो हैवमेतमग्निं सावित्रं वेद, स एवास्मा-
ल्लोकात् प्रेत्य आत्मानं वेद" ( तै० ब्रा० ३।१०।११।१ )।

२—"एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि" (छां० उ० ३ अ० । १४ खं० । ४ कं०) ।

३—"तद्य इत्थं विदु०+++तेऽर्चिषमभि संभवन्ति०+++रमणीयां
योनिं वा कपूयां योनिं वा आपद्येरन्" ( छां० उ० ५।१० ) ।

४—"द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥" (ऋक्सं० १०।८८।१५)

५—"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥"

६—"शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः ॥" गी० ८।२६ ) ।

———:*:———

१—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इहैव समवलीयन्ते" बृ०आ०उप० ३।२।११।४।४।६) ।

२—"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥" ( कठोपनिषत् ४।१५ ) ।

३—"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परात्परे ॥" ( मुण्डकोपनिषत् २।२।८ ) ।

———:*:———

१—"व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।
एवं तृणजलौकेयं देही कर्म्मगतिंगतः ॥" ( श्रीमद्भागवत )

२—"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥" (गी० २।२२) ।

३— 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' ( व्या० सू० ३।१।१ ) ।

४—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" ( छा० उ० ५।९।१ ) ।

———:*:———

१—"आत्मा वै तनूः" ( शत० ६।७।२।६ ) ।

२—"आत्मनो वाऽङ्गानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति" शत० ४।२।२।५ ) ।

३—"(शरीरं) तत् सर्वमात्मा वाचमप्येति, वाङ्मयो भवति" (कौ० २।७)।

४—"वाग्वोह्यात्मा" (शत० ६।६।२।१६)।

५—"आत्माह्य वाग्रे सम्भवतः सम्भवति" (शत० ७।१।१।२१)।

———:o:———

१—"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ (श्वे० उप० ६।८)॥

२—"अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता"( श्वे० उ० १।९)।

———:o:———

१—"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥"(श्वे० उ० ३।३)।

२—'एष देवो विश्वकर्म्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥" (श्वे० ४।१७)।

३—'तथाऽऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति"(मुण्डक० २।१।१)

४—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः,
वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः" (तै० उप० २।१)।

———:o:———

१—'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥' (यजु स० ३१।२)।

२—"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (गी० ७।७)।

३—'स बाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च।
इत आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत्॥" (महोपनिषत्० ६।१०)।

४—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म—ब्रह्म वेदं सर्वम्" (छां० उप० ३।१४।१)।

५—"सर्वंह्युह वेदं प्रजापतिः" (शत० ४।५।१।४)।

६—"त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोस्येहा भवत् पुनः" (यजुसं० ३१।४)।

७—"एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वोह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतो मुखः॥"
(श्वे० उ० २।१६)।

———:#:———

१—"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥"
(यजु:सं० ७।४२)

२—"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः" (प्र० उ० १।८)।

———:#:———

१—"अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा" (शत० १४।३।२।५)

२—"आत्मा वा अग्निः" (शत० ७।३।२।१)

३—अग्निरेव ब्रह्म" (शत० १०।४।१।५)।

———:#:———

१—"स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्त पुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा,
त्रयः पक्ष पुच्छानि। चत्वारो हि तस्य पुरुषस्य आत्मा" (शत० ६।१।१।६)।

२—"चतुर्विधोऽह्ययमात्मा" (शत० ७।५।१।१८)।

———:#:———

१—"पाङ्क्त इतर आत्मा—लोमत्वङ्मांसमस्थिमज्जा" (ता० मा० ३।१४)।

———:#:———

१—"तस्मादितर आत्मा मेद्यति च कृश्यति च" (तां० मा० ३।१।७)

———:#:———

१—"एतन्मयो वाऽअयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः" (शत० १४।४।३।१०)

———:#:———

१—"पुरुषो वै संवत्सरः" (शत० १२।२।४।१)।

२—"स एष प्रजापतिरेव संवत्सरः" (कौ० ६।१५)।

३—"स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः" (शत० १४।४।३।२२)।

———:#:———

१—"प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा-तं मामायुरमृतमित्युपास्व" (इन्द्रः)-कौ०ब० ३।१।२)।

२—"सोमो वै प्रजापतिः" ( शत० ५।१।३।७ ) (सोमः)।

३—"प्राणो वै ब्रह्म" ( शत० १४।६।१०।२ ) (प्राणः)।

४—"अयं वै ब्रह्म योऽयं (वायुः) पवते" ( ऐ० ८।२८ ) ( वायुः )।

५—"अद्‌भि र्वा इदं सर्वमाप्तम्" ( शत० १।१।१।१४ ) (आपः)।

६—"मनोमयो भारूप आकाशात्मा" ( छां० उप ३।१४।२ ) (आकाशः )।

७—"वाग्वै ब्रह्म" ( ऐ० ६।१ ) ( वाक् )।



उपर्युक्त आत्मतत्त्व प्रतिपादक परस्पर में सर्वथा विरुद्ध शास्त्रीय सिद्धान्त हमें उलझन में डाल रहे

**व्याख्यादोषमूला आत्मस्वरूपविप्रतिपत्ति—**हैं। सत्यतत्त्व एक होसकता है, अनेक नहीं, ऐसी स्थिति में कौन स सिद्धान्त को सत्य समझा जाय ?। हमारी दृष्टि से इन सारे प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है, आत्मस्वरूप की यथार्थ-प्रतिपत्ति। कहना अनुचित, साथ ही में अप्रासङ्गिक भी होगा, परन्तु आपको यह मान लेना पड़ेगा कि आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में आज जो भ्रान्तियाँ फैल रही हैं, यह शास्त्र का दोष नहीं है, अपि तु व्याख्याताओं की कृपा का फल है। प्रत्येक विषय का सर्वथा परिष्कृत रूप से निरूपण करने वाला शास्त्र इन सम्प्रदायभक्त व्याख्याताओं की कृपा से दुरूह बन रहा है। व्याख्याताओं की दृष्टि में परमेश्वर-महेश्वर-ईश्वर-उपेश्वर-आत्मा-आदि सब तत्त्व समानार्थक हैं। इन की दृष्टि में सर्वत्र अभेदवाद का साम्राज्य है। बस एकमात्र इसी व्याख्यादोष से सर्वथा विभक्त परमेश्वर-महेश्वरादि तत्त्व हमारे लिए अविज्ञात कोटि में प्रविष्ट रहते हुए सन्देह के कारण बन रहे हैं। आत्मस्वरूप परिचय के लिए पहिले इन भेदों का स्वरूपज्ञान परम आवश्यक है। अत एव अप्रकृत होते हुए भी इस प्रकरण में आत्मभेदों का संक्षिप्त स्वरूप परिचय पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाता है।

"आत्मा ह्ययं प्रजापतिः" ( शत० ४।६।१।१ ) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार आत्मतत्त्व को

**आत्मभेदस्वरूपपरिचय—**प्रजापति कहा जाता है। यह 'प्रजापति' शब्द बड़ा ही उलझा हुआ है। ब्राह्मणश्रुति के अवलोकन से आप को विदित होगा कि एक ही प्रजापति शब्द भिन्न भिन्न अर्थों के लिए सैकड़ों स्थानों में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिए कुछ एक स्थलों का दिग्दर्शन यहां भी करा दिया जाता है।

"एष वै प्रजापतिर्यदग्निः" (तै० ब्रा० १।१।५।५)—"यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ एवेन्द्रः" ( तै० ब्रा० १।२।२।५ )—"प्रजापतिर्वै मनः" ( कौ० १०।१ )—"एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्" ( शत० १४।

८।४।१ )–"वाग्वै प्रजापतिः" ( शत० ३।१।३।६ )–"प्रजापतिर्वै वाचस्पतिः" ( शत० ५।१।१।१६ )–"स एप सम्वत्सरः प्रजापतिः" ( शत० १४।४।३।२२ –"स वै यज्ञ एव प्रजापतिः" ( शत० १।७।४।४ )–"प्रजापतिर्वै सविता" ( ता० ब्रा० १६।५।१७ –"प्राणा उ वै प्रजापतिः" (शत० ८।४।१।४ –"अन्नं वै प्रजापतिः" ( शत० ५।१।३।७ )–"प्रजापतिर्वै ब्रह्मा" ( गो० उ० ५।८ )–"प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः" ( शत० ६।१।३।१६ )–"सोमो हि प्रजापतिः ( शत० ५।१।५।२६ )–"प्रजापतिर्वै वसिष्ठः" ( कौ० २५।२ –"प्रजापतिर्वै व्योमा" ( शत० ८।४।१।११ )–"प्रजापतिर्वा ओदनः" ( शत० १३।३।६।७ )–"प्रजापतिर्वै हिङ्कारः" ( ता० ६।८।५ )–"प्रजापतिर्वै भूतः" ( तै० २।१।८।३)–"प्रजापतिर्वै सुपर्णः" ( शत० १०।२।२।४ )–"प्रजापतिः स्वरः" ( प० ब्रा० ३।७ )–"सत्यं हि प्रजापतिः" (शत० ४२।१।२६ )–"पुरुषो हि प्रजापतिः" ( शत० ७।४।१।१५ )–"प्रजापतिर्वै भरत " ( शत० ५।८।१।१४ )–"प्रजापतिर्धाता" ( शत० ६।५।१।३८ )–"को वै प्रजापतिः" ( गो० उ० ६।३ )–"प्रजापतिर्वै जमदग्निः" ( शत० १३ २।२।१४ )–' प्रजापतिर्वै क्षत्रम्" (शत० ८।२।३।११)–"द्यावापृथिवी हि प्रजापतिः" ( शत० ५।१।५।२६ )–इत्यादि ।

उक्त श्रौत वचनों के अनुसार "अग्नि–इन्द्र–मन–हृदय–वाक्–वाचस्पति–सम्वत्सर–यज्ञ–सविता–प्राण–अन्न ब्रह्मा–चन्द्रमा–सोम-वसिष्ठ–व्योम–ओदन-हिङ्कार–भूत–सुपर्ण–स्वर–सत्य–पुरुष–भरत–धाता–क–जमदग्नि–क्षत्र–द्यावापृथिवी"–इत्यादि तत्त्वों के लिए प्रजापति शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन सब वचनों का समन्वय करने के लिए-हिन्न पाठकों को– "आत्मप्राणपशूनां समष्टिः प्रजापतिः" प्रजापति शब्द का यह लक्षण करना पड़ेगा। जिस वस्तुतत्त्व में आप को "आत्मा- प्राण- पशु" ये तीन विभाग उपलब्ध हों, उसे अवश्य ही आप "प्रजापति" शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। उक्थ तत्त्व आत्मा है। यह मूलतत्त्व-जिस से तद्गत वस्तु के अवयव प्राणरूप से उठकर बाहिर व्याप्त होते हैं–उक्थ नाम से व्यवहृत होता है। यही उस वस्तु का आत्मा है। वस्तु उक्थ से निकलने वाले अर्क रश्मियाँ प्राण हैं। अर्कमण्डल ( रश्मिमण्डल ) में प्रतिष्ठित अन्नात्म भोग्य अशिति पशु है। उक्थ–अर्क- अशितिरूप आत्मा-प्राण-पशु की समष्टि प्रजापति है। उदाहरण के लिए सूर्य को सामने रखिए। सूर्यपिण्ड रश्मिमण्डल का उक्थ है। यहीं से उठकर रश्मियाँ चारों ओर व्याप्त हो रही हैं। प्राणमयी ज्योतिर्घना रश्मियाँ अर्क हैं। इस प्राणमय रश्मिमण्डल के गर्भ में अन्नरूप से प्रतिष्ठित पृथिवी–चन्द्रमा–मङ्गल–बुध–गुरु–शनि–आदि ग्रहोपग्रह, एवं रोदसी त्रैलोक्य में रहने वाला चतुर्दशविध भूतसर्ग अन्नात्मक अशिति है। प्रजापति शब्द प्रजासापेक्ष है। भोक्ता–भोगसाधन–भोग्य के समन्वय से ही यह अपेक्षा पूरी होती है। उक्थ आत्मा भोक्ता है, यही तन्त्रपरिभाषा के अनुसार पशुपति है। अर्क प्राण भोगसाधन है, यही पाश है, अशिति पशु भोग्य है। यही पशुभाव प्रजा है। इस का पति वही उक्थ आत्मा है। इस प्रकार–"आत्मप्राणपशुत्वम्" "आत्मप्राणपशूनामन्योऽन्यपरिग्रहत्वम्" ही 'प्रजापतित्व' है। उपर्युक्त-अग्नीन्द्रादि सब तत्त्वों

के साथ इस प्रजापति-लक्षण का समन्वय होजाता है, अतएव श्रुति ने सब को प्रजापति शब्द से व्यवहृत कर दिया है।

यह प्रजापतितत्त्व— "चतुष्टयं वा इदं सर्वम्" (कौ० ब्रा० २।१) इस अनुगम सिद्धान्त के अनुसार 'महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर' भेद से चार भागों में विभक्त है। इन चारों प्रजापतियों का अधिष्ठाता चारों से पृथक् 'परमेश्वर' है। वह एकाकी है, सर्वव्यापक है, आत्म, प्राण, पशु-भाव से विरहित होता हुआ प्रजापति मर्य्यादा से बहिष्कृत है। वेदशास्त्र ही शास्त्र है। "शास्त्रयोनित्वात्" (शा० सू० १।१) इस शारीरक सिद्धान्त के अनुसार शास्त्र शब्द प्रधानतया वेदराशि का ही बोधक माना गया है। इतर शास्त्रों का शास्त्रत्व वेदशास्त्रप्रामाण्य पर ही निर्भर है। सब इसी के अङ्गोपाङ्ग हैं। वह वेदशास्त्र, किं वा सर्वशास्त्र एकमात्र इसी प्रजापति-चतुष्टयी का निरूपण करने में समर्थ है। प्रजापति-मर्य्यादा से बहिर्भूत व्यापक परमेश्वर का निरूपण करना इन के लिए असम्भव है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥

वेदशास्त्र एकमात्र प्राजापत्य-संस्थाओं का निरूपण करता है, अत एव इस का—"प्राजापत्यो वै वेदः" (तै० ३।३।७।२)—"प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रूणि यद् वेद" (तै० ३।३।९) ये लक्षण किए जाते हैं। आत्मस्वरूप-सम्बन्ध में इस प्रजापति के पूर्वोक्त महेश्वरादि चार प्रधान विवर्त्त हैं। यद्यपि इन प्रजापति-संस्थाओं का आरम्भ की 'अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्" में दिग्दर्शन कराया जा चुका है, तथापि प्रकरणसङ्गति के लिए सिंहावलोकनदृष्ट्या इन पर-पुनः दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

सर्वबलशून्य शुद्ध रसरूप "ऐकान्तिकसुख" नाम से प्रसिद्ध विश्वातीत तत्त्व 'निर्विशेष' है, रस-सर्वबलविशिष्ट— 'शाश्वतधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध रसबलात्मक विश्वातीत तत्त्व "परात्पर" है। शुद्ध-रस की केवल कल्पना ही की जा सकती है। ऐसा कथमपि सम्भव नहीं है कि, रस कभी बल से एकान्ततः पृथक् हो जाय। अतएव भातिप्रतिष्ठ शुद्ध रसरूप निर्विशेष का रसबलसमुच्चितरूप सर्वबलविशिष्ट रसमूर्त्ति परात्पर में ही अन्तर्भाव होजाता है। यही पहिला अखण्ड सर्वव्यापक आत्मा है। यह तत्त्व 'ईश्वर-जीव-जगत्' तीनों विवर्त्तों से पृथक् है, किन्तु तीनों में समान रूप से व्याप्त होता हुआ सर्वव्यापक है। इस की सर्वव्यापकता ही इस की अनिर्वचनीयता, अविज्ञेयता, अतएव शास्त्रानधिकृतता का मुख्य हेतु है। इस के उदर में अनन्त महेश्वर-ईश्वरादि प्रजापति प्रतिष्ठित हैं, अतएव इसे 'परमेश्वर' कहा जाता है। 'परात्पर' नाम से प्रसिद्ध इस परमेश्वर रूप-अखण्ड धरातल पर मायाबल के उदय से अश्वत्थमूर्त्ति मायी महेश्वर का जन्म होता है। माया बल अनन्त हैं। एक एक माया बल से सीमित एक एक परात्पर प्रदेश एक एक महेश्वर है। परमेश्वर एक था, मायाबल के आनन्त्य के कारण मायी महेश्वर सहस्रवल्शेश्वर-

युक्त एक एक अश्वत्थ वृत्त है। एक एक वल्श (टहनी) में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी-ये पांच पांच पर्व हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से यह पञ्चपर्व समष्टि—"पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्या वल्शा" नाम से प्रसिद्ध है। इन पांचो पर्वों में पहिला स्वयम्भू (जिस के कि महिमामण्डल में परमेष्ठी-सूर्य्यादि चारों पर्व प्रतिष्ठित हैं) "आभूप्रजापति"–"परमप्रजापति"–"निरञ्जकर्म्मप्रजापति"–"अव्यक्तप्रजापति"–"वेदप्रजापति"–"परोरजाप्रजापति" इत्यादि विविध–नामो से प्रसिद्ध हैं। इन पांचों पर्वों की समष्टि हमारा एक विश्व है। अश्वत्थमूर्ति प्रत्येक महेश्वर के उदर में ऐसे ऐसे सहस्र सहस्र विश्व हैं। विश्वाव-च्छिन्न विश्वोपाधिक वही महेश्वर विश्व का अध्यक्ष बनता हुआ 'विश्वेश्वर' है। विश्वेश्वर के स्वयम्भू–परमेष्ठी–आदि एक एक पर्व उपेश्वर है। एवं महापृथिवी से सम्बन्ध रखने वाला विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ की समष्टि ईश्वर है। उद्धृत तालिकाओं से उपर्युक्त आत्मसंस्थाओं का सम्यक् रूप से स्पष्टी-करण हो जाता है।

१—
  १—मायातिप्ता—सर्वबलशून्यो विशुद्धो रसः——→निर्विशेषः
  २—मायास्पृष्टा—सर्वबलविशिष्टो रसः——————→परात्परः
  }→<u>विश्वातीतः परमेश्वरः</u>

——————*——————

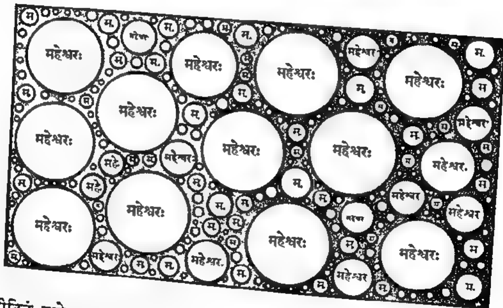
<u>चतुष्टयं वा इदं सर्वम्</u>
२
  १—मायावच्छिन्नः सहस्रवल्शेश्वरोऽश्वत्थमूर्त्तिः षोडशी→महेश्वरप्रजापतिः
  २—पञ्चपर्वाध्यक्षो विश्वाधिष्ठाता——————→विश्वेश्वरप्रजापतिः
  ३—स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्यः–चन्द्र.–पृथिवी (पृथक् २)→उपेश्वरप्रजापतयः
  ४—विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्तिः साक्षी——————→ईश्वरप्रजापतिः

——————*——————

एक ही आत्मतत्त्व अनेक भागों में कैसे विभक्त होगया ? इस प्रश्न का उत्तर है आत्मपरिग्रह। <u>आत्मपरिग्रहमूलक–आत्मस्वरूपभेद</u>—परिग्रहों के तारतम्य से वह एक ही अनेक रूपों में परिणत होजाता है। प्रधान आत्मा है विश्वातीत अखण्ड परात्पर। इसी के आधार पर हमारा अद्वैत सिद्धान्त प्रति-ष्ठित है। यह आत्मा सर्वथा निर्धर्म्मक है। यद्यपि आत्मज्ञान-प्रकरण का चरम लक्ष्य निर्धर्म्मक वही व्यापक आत्मा है, तथापि परिग्रहों से ससीम, अत एव सखण्ड, अत एव च अनेक रूपों में परिणत सर्वधर्म्मा आत्मा को, किंवा आत्मसंस्थाओं को भी आत्मकोटि से बाहिर नहीं किया जासकता। वस्तुतस्तु विश्व के गर्भ में रहने वाले हमारी अपेक्षा से तो आत्मशब्द से जन्मस्थितिभङ्गहेतुभूत सर्वधर्म्मोपपन्न सखण्ड आत्मविवर्त्तों का ही ग्रहण अपेक्षित है। निर्धर्म्मक आत्मा निग्रहानुग्रह, दोनों भावों से परे रहता हुआ अविज्ञेय है, अनुपास्य है, शास्त्रानधिकृत है। हम केवल सखण्ड ब्रह्म की ही जिज्ञासा करसकते हैं। यही हमारे ज्ञान का विषय बन सकता है। वही जन्मादि का कारण है, वही सर्वधर्म्मोपपन्न है। आत्मस्वरूप-निरूपक जिस वेदान्त दर्शन को हमारे कृपालु व्याख्याता निर्धर्म्मक, जन्मस्थितिभंगमर्य्यादा से सर्वथा बहि-

## १ – परमेश्वरप्रातिकृतिः

अनन्तमहेश्वराधिष्ठाता–अमायी परमेश्वरः–‘अविज्ञेयः’

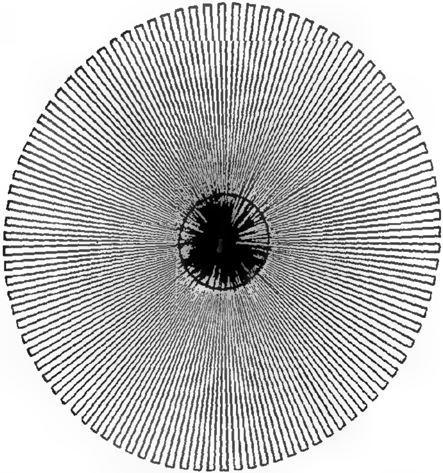



आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनुः)

शर्मा आदर्श हैरिटेज प्रेस, अजमेर।

## २ – महेश्वरप्रतिकृतिः

सहस्रवल्शोऽश्वत्थमूर्त्तिर्महामायावच्छिन्नोऽनन्तविश्वाधिष्ठाता
महेश्वरप्रजापतिः–(१)'दुर्विज्ञेयः'

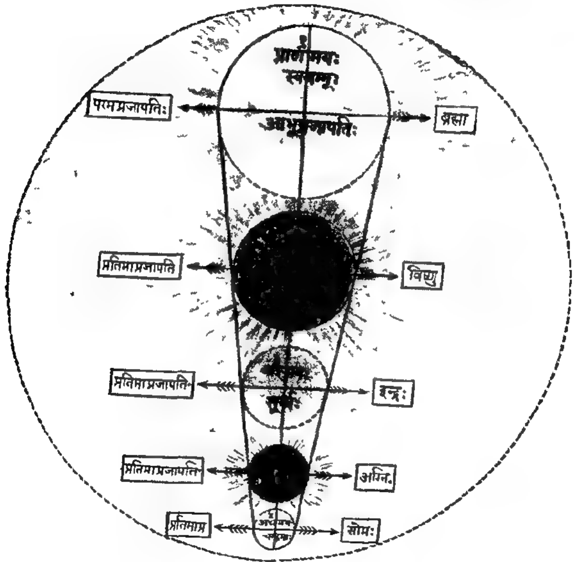


ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति किञ्चन ॥

शर्मा आदर्श इलैक्ट्रिक प्रेस, अलवर।

## २—विश्वेश्वरप्रतिकृति.

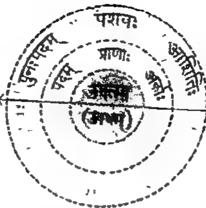
पञ्चपुण्डीरैकवल्शः सप्तवितस्तिकायो विश्वेश्वरप्रजापतिः—ज्ञेयः

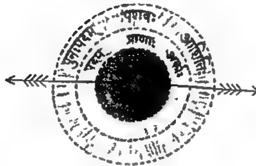



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, जयपुर

४—उपेश्वरप्रतिकृतयः

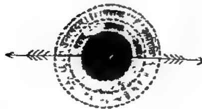
आत्म–पद–पुनःपदमूर्त्तयः
पञ्च उपेश्वरप्रजापतयः
विज्ञेयाः













श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, जयपुर

## ५ – ईश्वरप्रतिकृतिः—

विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञात्मकः साक्षी–प्रजापतिः–"सुविज्ञेयः"

द्यौ

अन्तरिक्षम्

पृथिवी

भूपिण्डः

शर्मा आदर्श इलैक्ट्रिक प्रेस, अलवर।

भूत शास्त्रयोनित्व से असद्व्र जिस अखण्डात्मा का प्रतिपादक मानने का व्यर्थ का साहस कर रहे हैं, वही शारीरक दर्शन शारीरक शब्द से सखण्ड-आत्मा की ओर लक्ष्य कराता हुआ—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" "जन्माद्यस्य यतः" "शास्त्रयोनित्वात्" "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" इस आरम्भ की-सूत्रचतुष्यी से विस्पष्ट शब्दों में विश्वमूर्त्ति सखण्ड ब्रह्म का ही निरूपण कर रहा है। बहुत प्रयास करने पर भी हम अद्वैताभिमानी व्याख्याताओं के—'वेदान्त अखण्ड ब्रह्म का प्रतिपादक है' इस कल्पित अवैदिक सिद्धान्त का पोषक सम्पूर्ण प्रस्थानत्रयी (उपनिषत्-वेदान्तदर्शन-गीता) में एक भी वचन उपलब्ध न कर सके। भगवान् ही जाने इन शास्त्रभक्तों ने किस आधार पर इस कल्पित अद्वैतवाद को इतना महत्त्व दे डाला। साथ ही में नीरक्षीरविवेकी विद्वानों ने भी न मालुम किस आधार पर इस मिथ्या भ्रान्ति को अपना लिया!!

अस्तु—परिग्रहों के सम्बन्ध से वही निर्धर्मक सर्वधर्मोपपन्न बन गया है, उसी का शास्त्र में निरूपण है, यह निर्विवाद है। वे आत्मपरिग्रह 'माया, कला, गुण, विकार, अञ्जन आवरण, भेद से ६ भागों में विभक्त हैं। इन ६ धर्मों से परिगृहीत आत्मतत्त्व ही सर्वधर्मोपपन्न है। इन ६ ओं में माया कला का एक विभाग है, गुण-विकार का एक विभाग है, अञ्जन-आवरण का एक विभाग है। माया एवं कला अमृतपरिग्रह हैं, गुण एवं विकार ब्रह्मपरिग्रह हैं, अञ्जन एवं आवरण शुक्रपरिग्रह हैं। परिग्रहदृष्टया अमृतात्मा—ब्रह्मात्मा—शुक्रात्मा तीनों पृथक् पृथक् हैं। परिग्रह छोड़ देने पर—"तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते" (कठ० ६।१) के अनुसार तीनों एक ही 'आत्मतत्त्व है। वही विशुद्ध आत्मा सपरिग्रहावस्था में तीन है, परिग्रहशून्यावस्था में तीनों एक आत्मा है—"आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयं, त्रयं सदयमेक—आत्मा" (शत० १४।४।३।१)।

माया परिग्रह एकाकी है, निष्कल है। इसी को विश्व की अवान्तर सादि मायाओं की अपेक्षा 'महामायासीमाभावप्रवर्त्तक माया' 'परिग्रह—माया' कहा जाता है। इस माया परिग्रह के उदय से यही परात्पर मायापुर से वेष्टित होता हुआ, ससीम बनता हुआ "पुरुष" नाम धारण करलेता है। "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे० उप० ४।१०) के अनुसार यही निष्कल विशुद्ध केवल सीमित आत्मभाव महेश्वर कहलाता है। अभी-कलाओं का उदय नहीं है। कला ही विविध भाव की जननी है। 'अभी इस में वैविध्य का अभाव है। अत एव "न वैविध्यमेति" इस निर्वचन के अनुसार अव्यय नाम से व्यवहृत होता है। केवल-मायापरिग्रहोपाधिक, अत एव निष्कल विशुद्ध अव्ययात्मक इसी मायी महेश्वर का स्वरूप बतलाती हुई गोपथश्रुति कहती है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥ (गो० ब्रा० पू० १।२६)।

मायातीत परात्पर निरञ्जन है। वही निरञ्जन केवल मायासर्ग से मायी बना हुआ है, परन्तु निष्कलता अब भी इस की अक्षुण्ण है। यदि इस निष्कल अव्यय की उपासना की जाती है, तो समानकर्त्त, किंवा अभिन्नकर्त्त होने से वह निरञ्जन परात्पर पद को प्राप्त होजाता है। इसी अभिप्राय से उपनिषच्छ्रुति कहती है—

न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ॥
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥
(कै० ख० २ स० ४)

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥
(मुण्डकोपनिषत् ३।१।८)।

विशुद्ध भावात्मक (ज्ञानात्मक) इस निष्कल अव्यय से ही कला नाम के परिग्रह से आगे जाकर कलासर्ग का उपक्रम होता है, अत एव निम्नलिखित रूप से इस निष्कल को कलासर्ग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ (श्वे० ५।१४)।

आगे जाकर 'कला' नाम के दूसरे परिग्रह का उदय होता । अनेक शब्दों में विभक्त 'योगमाया'

षोडषकलाप्रवर्त्तक—'कला' परिग्रह—का ही नाम कर्म्म है। यह कलात्मिका मैथ्या महामाया से नित्ययुक्त रहती है, अत एव इसे योगमाया कहा जाता है। यही मोहमूलक नानात्वभाव की प्रथम भूमिका है—"योगमाया हरे-श्चैतत् तया संमोहितं जगत्"। इस के "विष्णुमाया, रुद्रमाया, शिवमाया, अग्निमाया, सोममाया, इन्द्रमाया" आदि अनेक अवान्तर भेद हैं। खण्डखण्डात्मिका 'अत एव' 'कला' नाम से प्रसिद्ध इस योगमाया के उदय से वही अव्ययगर्भित निष्कल महेश्वर षोडशकल बनता हुआ—'योगेश्वर' नाम धारण करलेता है। योगमाया ही योगेश्वर की योगेश्वरता है। यही सकल प्रजापति सोलह योगकलाओं के सम्बन्ध से षोडशी नाम से प्रसिद्ध है—"षोडशकलं वा इदं सर्वम्" (कौ० ब्रा० ८।१)। इस दूसरी आत्मसंस्था का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
(यजु० सं० ८।३६)।

पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, सोलहवाँ अर्द्धमात्रिक वही परात्पर, इन की समष्टि ही षोडशी प्रजापति है। मायोपाधिक निष्कल महेश्वर, एवं कलोपाधिक सकल योगेश्वर, दोनों की एक संस्था है। यही अमृतसंस्था–पुरुषसंस्था–अमृतात्मसंस्था इत्यादि अनेक नामों से व्यवहृत की जासकती है। आरम्भ की अमृतात्मोपनिषत् में इसी संस्था का स्पष्टीकरण किया गया है।

कलाभाव के पीछे 'गुण' एवं 'विकार' नामक दूसरा आत्मपरिग्रह युग्म आता है। इस का प्रधान सगुण–सविकारभावप्रवर्त्तक 'गुण–विकार' परिग्रह—सम्बन्ध–अक्षरमूर्त्ति प्रकृतिभाव के साथ है। इसी अभिप्राय से—"विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्" ( गी० १३। १९ ) यह कहा जाता है। गुणभाव के उदय से 'सत्यप्रजापति' का स्वरूप होता है। वही पुरुषात्मा सर्वगुणसम्पन्न बनता हुआ ( सत्व–रजो–तमोगुणों से युक्त होता हुआ ) सत्यप्रजापति नाम से व्यवहृत होने लगता है। विकार सम्बन्ध से ( पञ्चीकृत गुणभूतों के सम्बन्ध से ), वही सत्यप्रजापति सविकार बनता हुआ 'यज्ञप्रजापति' नाम से व्यवहृत होने लगता है। सत्य के आधार पर ही यज्ञ प्रतिष्ठित है। सत्य त्रयीवेदात्मक है। त्रयीवेद ही त्रेताग्निवह्नि की मूल प्रतिष्ठा है। 'मौलिक वेद' सत्यप्रजापति है, वही विकाररूप यौगिक अवस्था में आकर यज्ञप्रजापति है, जैसा कि पूर्व की 'यज्ञात्मोपनिषत्' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी आधार पर—"सैषा त्रयी विद्या यज्ञः" ( शत० १।१।४।३ ), "ते देवा अब्रुवन् यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै" ( शत० ६।४।२।१५ ) इत्यादि निगम वचन प्रतिष्ठित हैं। महेश्वर–योगेश्वर का सम्मिलितरूप अव्यय प्रधान, अत एव अमृत नामक पुरुष था। सत्य–यज्ञ–प्रजापति का सम्मिलितरूप अक्षरप्रधान, अत एव ब्रह्म नामक मूलप्रकृति संस्था है। ब्रह्म शब्द बृंहण भाव का सूचक है। 'यतो बृंहणं भवति तद् ब्रह्म' "बिभर्ति सर्वं तद्ब्रह्म" इत्यादि के अनुसार 'भर्म' ही निरुक्त क्रमानुसार 'ब्रह्म' बना हुआ है। 'बृह्' धातु से 'मन्' प्रत्यय करने से भी 'ब्रह्म' शब्द निष्पन्न हो जाता है। जो तत्त्व उपादान कारण बनता हुआ स्वस्वरूप से अविकृत रहता है उसी अविकृत परिणामवाद के लिए "बृंहण" शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिसप्रकार मकडी स्वस्वरूप से अविकृत रहती हुई जाले का उपादान कारण बनती है एवमेव गुण विकारयुक्त सत्य–यज्ञात्मक अक्षर स्वस्वरूप से सर्वथा अविकृत रहता हुआ उपादान बनता है। इसी बृंहण भाव के कारण इसे ब्रह्म कहा जाता है।—"तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" ( मुण्डक ) 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' यहां ब्रह्मशब्द से गुणविकारमयसत्यानुभूत प्रकृतिरूप सत्य यज्ञात्मक गुणविकारमय इसी अक्षर ब्रह्म का ग्रहण समझना चाहिए।

गुण–विकार के अनन्तर आवरण–अञ्जनरूप तीसरा परिग्रह युग्म आता है। स्वच्छ आवरण सावरण–साञ्जनभावप्रवर्त्तक 'आवरण–अञ्जन' परिग्रह—अञ्जन है, मलिन आवरण आवरण है। काच–दीपक का अञ्जन है, घट दीपक का आवरण है। काच के आवरण से दीपप्रभा एकान्ततः अवरुद्ध

नहीं होती, परन्तु-पट के आवरण से दीप प्रकाश सर्वथा अवरुद्ध होजाता है, अञ्जन और आवरण में यही-अन्तर है। इन में आवरण ही जडभाव का प्रवर्त्तक माना गया है। यज्ञप्रजापति ही अञ्जन परिग्रह से विराट्रूप में परिणत होता है। इस के ईश्वर, एवं जीव भेद से दो विवर्त्त हैं। सात्त्विक अञ्जन से ईश्वर विराट् का उदय होता है, एवं पाप्मा नाम से प्रसिद्ध तामस अञ्जन से जीवभाव का उदय-होता है। ईश्वरीय अञ्जन विभूति नाम से प्रसिद्ध है। इस के लोक-वेद-देव-भूत-पशु, ये पांच अवान्तर भेद हैं। इन पांचों विभूति-अञ्जनों से युक्त यज्ञप्रजापति ही ईश्वरविराट्-प्रजापति है। यही अशात्मना १-पर्याय, २-ऊर्म्मि, ३-आशय, ४-अवस्था, ५-क्लेश, ६-कर्म्म, ७-विपाक, इन सात पाप्मारूप तामस अञ्जनों से जीवविराट्रूप में परिणत होजाता है। ईश्वर नित्यमुक्त है। वह कभी मुक्त रहे, कभी बन्धन में रहे, इस पर्याय सम्बन्ध का उस में अभाव है, परन्तु जीव विद्या कर्म्मानुसार कभी बन्धपर्याय से युक्त रहता है, कभी मुक्तपर्याय से युक्त रहता है। ईश्वर में क्षुधा-पिपासा-शोक-मोह-जरा-व्याधि इन ६ ओं ऊर्म्मियों का (उच्चावचलहरों का) अभाव है, वह एकरस है। इधर जीव इन ६ ओं से-नित्ययुक्त है। ईश्वर में भावना-वासनात्मक ज्ञान-कर्म्म, संस्काररूप दोनों आशयों का अभाव है। जीव दोनों से युक्त है। ईश्वर नित्यप्रबुद्ध, नित्यैकरस रहता हुआ, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति मोह-मूर्च्छा-मृत्यु इन छओं अवस्थाओं से वियुक्त रहता है, जीव ६ ओं से युक्त रहता है। ईश्वर नित्य कर्म्मठ बनता हुआ भी बुद्धियोग के प्रभाव से कर्म्मलेप से पृथक् रहता हुआ कर्म्म-विरहित कहलाता है। परन्तु जीव यज्ञ-तपो-दान लक्षण विद्यासमुच्चित, प्रवृत्ति सत्कर्म्म, इष्ट-आपूर्त, दत्त-लक्षण, विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्ति सत्कर्म्म, सुरापान-अगम्यागमन-वृथाहिंसा-स्तेय-भ्रूणहत्या-छलद्वारा धनोपार्जन, आदि शास्त्र निषिद्ध विकर्म्मरूप असत्-कर्म्म, जलताडन-कराघात-पादभ्रमण-तृणच्छेदन-वृथाहास्य आदि शास्त्रानुमति पद्धति विहित अकर्म्म (निरर्थक कर्म्म) रूप असत् कर्म्म, एवं सर्वकर्म्ममूर्द्धन्य बुद्धियोगलक्षण, अतएव मुक्तिसाधक निष्काम कर्म्म, इन कर्म्मों में से किसी न किसी कर्म्मानुष्ठान में नित्य रत रहता है। ईश्वर, जाति-आयु-भोग, इन तीनों कर्म्मविपाकों से पृथक् रहता है, इधर जीव कर्म्मपरिणामस्वरूप योनि-आयु-भोग से नित्य युक्त रहता है। इस का जैसा कर्म्म-परिणाम होता है उसी के अनुसार योनि मिलती है, तदनुसार ही आयु मिलती है, तदनुसार ही भोग्य-संपत्ति मिलती है। तीनों का जन्म से सम्बन्ध है। इसी आधार पर निम्न लिखित सूक्ति प्रचलित है—

आयुः कर्म्म च वित्तं च विद्या निधन मेव च।
पञ्चैतानि तु सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

**विभूति, तथा पाप्मा—** जीवत्व संपादक उपर्युक्त पाप्माओं का आगे सोपपत्तिक स्पष्टीकरण होने वाला है। यहां केवल यही बतलाना है कि, अञ्जन की ही तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। ऐसा अञ्जन, जो प्रकाश का अवरोधक न बने, उसे 'विभूति' कहा जायगा। ऐसा अञ्जन, जो प्रकाश का अवरोधक तो न हो, परन्तु प्रकाश को मलिन करदे, वह 'पाप्मा' कहलाएगा। एवं ऐसा अञ्जन, जो प्रकाश को ही रोकदे, वह 'आवरण' कहलाएगा। इनमें विभूति अञ्जन ईश्वरस्वरूप समर्पक है। पाप्माञ्जन जीवस्वरूप समर्पक है, एवं आवरण विश्व, एवं शरीर स्वरूप समर्पक है। आवरण से ही विश्वरूप ईश्वर का शरीर बनता है, एवं आवरण से ही शरीररूप जीव के विश्व का निर्माण होता है। श्वेत दर्पण दीपक के लिये विभूतिरूप अञ्जन है। कृष्ण दर्पण दीपक के लिए पाप्माञ्जन है, एवं चारों ओर से कज्जल से सर्वथा लिप्त दर्पण दीपक के लिये आवरण है।

**विराट्प्रजापति—** जीवप्रजापति को थोड़ी देर के लिये छोड़ दीजिए, केवल ईश्वर विराट् प्रजापति को ही अपना लक्ष्य बनाइए। यह कहा जा चुका है कि, अञ्जन नाम के पाँचवें परिग्रह से वही यज्ञप्रजापति विराट् प्रजापति बन जाता है। यहां तक आत्मज्योति का अपेक्षया विकास रहता है, अतः आत्मा, किंवा चेतन व्यवहार इस विराट्संस्था पर्य्यन्त हो रहता है, आवरण से आत्मविकास एकान्ततः अवरुद्ध हो जाता है, जड़भाव का उदय हो जाता है। यही है विश्वप्रजापति है। यही उस विराट्प्रजापति का शरीर है। भौतिक सृष्टि प्रधान मर्त्य विश्व ही विश्वप्रजापति है। एक बात का विशेष ध्यान रखिए। पूर्व पूर्वसंस्था उत्तर उत्तर की संस्था से परिग्रहीत रहती है। सावरण विश्वप्रजापति में साञ्जन विराट्, सविकार यज्ञ सगुण सत्य, सकल षोडशी, मायी महेश्वर, चारों अन्तर्भूत हैं। सविकार यज्ञप्रजापति में सगुण सत्य, सकल षोडशी मायी महेश्वर, तीनों अन्तर्भूत हैं। सगुण सत्यप्रजापति में सकल षोडशी, मायी महेश्वर, दोनों अन्तर्भूत हैं। सकलषोडशी मायीमहेश्वर से नित्ययुक्त है। मायीमहेश्वर, और अमायी परात्पर एक वस्तु है। विशुद्ध परात्पर विशुद्ध आत्मा है। यही परिग्रहवश उक्त संस्थाओं परिणत हो रहा है— "आत्मैवेदं सर्वम्, ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, एकं वा इदं विबभूव सर्वम्", इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों का कौन विरोध कर सकता है ?।

परात्पर ही एकमात्र आत्मा है विश्वप्रजापति ही एकमात्र शरीर है। शेष मध्य की महेश्वर—षोडशी—सत्य—यज्ञ—विराट्, ये पाचों संस्थाएँ आत्मन्वी (शरीरविशिष्ट आत्मा) हैं। परात्परात्मा का कोई शरीर नहीं है। वह विभु है, सर्वमहान् है—"महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" श्रुति ने इस विभु (व्यापक) के लिए 'मत्वा' कहा है, 'ज्ञात्वा' नहीं कहा। वह केवल मत्ता द्वारा मानने की ही वस्तु है, जानने की नहीं। ज्ञान तो ससीम आत्मा का ही होता है। महेश्वर आत्मन्वी है। स्वयं

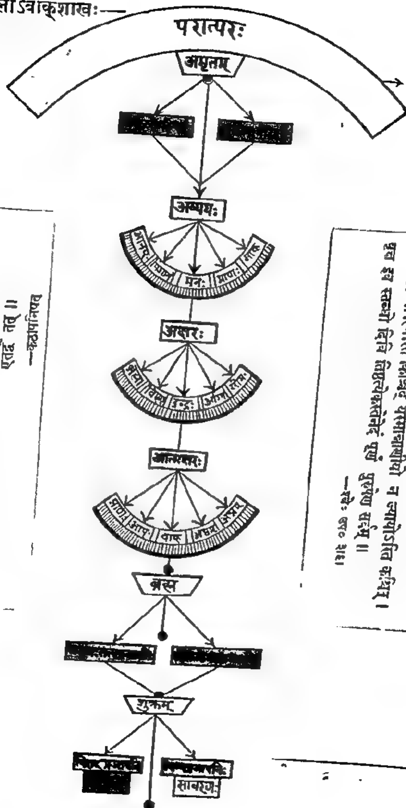
निष्कल महेश्वर इस आत्मन्वीभाव का आत्मा है, षोडशी-सत्य-यज्ञ-विराट्-विश्व इन पाँचों की समष्टि इस महेश्वरात्मा का शरीर है। यह पूर्णपुरुष सर्वत्र समानरूप से वृक्षवत् स्तब्ध रहता हुआ व्याप्त हो रहा है। इसी महेश्वरात्मा की व्याप्ति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्—यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥ (श्वे० उ० ३।९)।

महेश्वरगर्भित षोडशी आत्मा है, सत्य यज्ञ विराट् विश्वसमष्टि शरीर है। यही दूसरा आत्मन्वी सर्वधर्मोपपन्न पुरुषात्मा— है। महेश्वर-षोडशीगर्भित सत्यप्रजापति आत्मा है, यज्ञ विराट् विश्व समष्टि शरीर है, यही तीसरा आत्मन्वी है। महेश्वर षोडशी-सत्यगर्भित यज्ञप्रजापति आत्मा है, विराट्-विश्व समष्टि-शरीर है। यही चौथा आत्मन्वी है। महेश्वर-षोडशी-सत्य यज्ञगर्भित विराट्प्रजापति आत्मा है, विश्व इस का शरीर है, यही पाचवा आत्मन्वी है। मायादि छओं धर्मों की समष्टि विश्वप्रजापत्यवच्छिन्न महेश्वर प्रजापति के साथ ही सम्बन्ध रखती है। वहाँ से यहा तक एक ही आत्मतत्त्व व्याप्त है। यही सर्वधर्म्मोपपन्न नाम का दूसरा पर्द्सम्बद्ध आत्मन्वी विवर्त्त है। निर्धर्म्मक विशुद्ध आत्मा पहला विवर्त्त है। आत्मसम्बन्ध में ये ही दो प्रधान दृष्टियाँ हैं।

सर्वधर्म्मोपपन्न आत्मसंस्था में अव्यय अक्षर क्षर, इन तीनों का ही साम्राज्य है। महेश्वर, और प्रजापति चतुष्टयी—षोडशी में अव्यय की प्रधानता है वही अमृतभाग है। सत्य, और यज्ञ प्रजापति में अक्षर की प्रधानता है, यही ब्रह्मभाग है। यहां तक तो मृत्यु की प्रधानता नहीं है। अमृतात्मा में मृत्यु का बन्धन हो जाना ही मृत्युपाश है। विराट्, एवं विश्व में क्षरमूर्ति इसी मृत्युपाश की प्रधानता है। यही तीसरा शुक्रविवर्त्त है। जब तक शुक्र है, तभी तक संसार है। शुक्र अतिक्रमण है—विश्वातिवर्त्तन है— "उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः"। वही आत्मा अव्ययरूपा अमृत (महेश्वर षोडशी) है वही आत्मा अक्षररूपा ब्रह्म (सत्य-यज्ञ) है वही क्षररूपा शुक्र (विराट् विश्व) है। अमृतब्रह्मशुक्रमूर्त्ति षोडशी सत्य यज्ञ विराट् विश्वावच्छिन्न सर्वव्यापक महेश्वर ही अस्मद्य प्रजापति है। यही आरम्भ में बतलाई गई पहिली प्रजापतिसंस्था है। महेश्वर षोडशीयुक्त सत्यप्रजापति विश्वेश्वर नाम की दूसरी प्रजापतिसंस्था है। महेश्वर षोडशी सत्य यज्ञ गर्भित विराट्प्रजापति उपेश्वर नाम की तीसरी प्रजापतिसंस्था है, एवं महेश्वर-षोडशी-सत्य-यज्ञगर्भित विराट्प्रजापति ईश्वर नाम की चौथी प्रजापतिसंस्था है। इन चारों प्राजापत्यसंस्थाओं का पूर्वोक्त चित्रों से भलीभांति स्पष्टीकरण हो जाता है। उपर्युक्त सम्पूर्ण विषय का परिलेखों में स्पष्टीकरण हो रहा है।

ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाखः—




ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥ १ ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत् ॥

—कठोपनिषत्

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

—श्वे० उप० ३।९।

## पट्परिग्रहोपेतः—सर्वमूर्त्तिः
## सर्वप्रजातिः

परात्परः → विशुद्ध आत्मा

अमृतम् अव्ययप्रधानम्

ब्रह्म अक्षरप्रधानम्

शुक्रम् आत्मक्षरप्रधानम्

१

२

३

४

पृष्ठ सं० २६६ 'ख'—

१—१—मायापरिग्रहः—मायी महेश्वरो निष्कलः——आत्मन्वी }
२—२—कलापरिग्रहः—सकलः षोडशी————आत्मन्वी } —महेश्वरप्रजापतिः १

—०—

३—१—गुणपरिग्रहः—सगुणः सत्यप्रजापतिः——आत्मन्वी } —विश्वेश्वरप्रजापतिः २
४—२—विकारपरिग्रहः—सविकारो यज्ञप्रजापतिः—आत्मन्वी } —सर्वेश्वरप्रजापतिः

—०—

५—१—अञ्जनपरिग्रहः—साञ्जनो विराट्प्रजापतिः—आत्मन्वी }
६—२—आवरणपरिग्रहः—सावरणो विश्वप्रजापतिः—विश्वम् } —ईश्वरप्रजापतिः ४

प्रसंगागत यह जान लेना भी अनुचित न होगा कि, आज जो भिन्न भिन्न * दर्शनों में विरोध पाया जाता है, उसका मुख्य कारण भी उपर्युक्त आत्मसंस्थाओं का विवेकाभाव ही है। यदि आत्मसंस्थाओं का पार्थक्य समझ लिया जाता है, तो भिन्न भिन्न एक एक आत्मसंस्था को प्रधान मान कर साथ ही में गौणरूप से इतर आत्मसंस्थाओं का भी दिग्दर्शन कराने वाले दर्शनों में कोई विरोध नहीं रह जाता। इस दृष्टि से जो महत्त्व एक आस्तिक दर्शन का है, वही महत्त्व नास्तिक दर्शन का है। यहाँ दर्शन चर्चा अप्राकृतिक है, अतः तालिकारूप से ही प्रकृत में दर्शनों का समन्वय बतला दिया जाता है।

---

* इस विषय का विशद विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' २ खण्ड 'क' विभाग 'आत्मपरीक्षा' में देखना चाहिए।

१ परात्परोपासकाः —परात्परानुयायिनः —परमास्तिका गीतावाद्याः*

२—अव्ययात्मोपासकाः —पुरुषात्मानुयायिनः —वेदान्तिनः

३—अक्षरानुगृहीतात्मक्षरोपासकाः —सत्यात्मानुयायिनः —सांख्याः

४—आत्मक्षरानुगृहीतविकारक्षरोपासकाः —यज्ञात्मानुयायिनः —वैशेषिकाः

५—विकारक्षरानुगृहीतवैकारिकोपासकाः —विराडात्मानुयायिनः —साम्प्रदायिकाः

६—वैकारिकविश्वोपासकाः —विश्वानुयायिनः —लौकायतिकाः

—— ❀ ——

१–विश्व-विराट्–यज्ञ-सत्य-षोडशीप्रजापतिरूपशरीरावच्छिन्नः—आत्मन्वी —मायी महेश्वरः

२–विश्व विराट्-यज्ञ-सत्यप्रजापतिरूपशरीरावच्छिन्नो महेश्वरात्मगर्भितः आत्मन्वी–सकलः षोडशी प्रजापतिः

३–विश्व-विराट् यज्ञरूपशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीगर्भितः—आत्मन्वी —सगुणः सत्यप्रजापतिः

४–विश्व विराट्रूपशरीरावच्छिन्न महेश्वरषोडशी सत्यगर्भितः—आत्मन्वी —सविकारो यज्ञप्रजापतिः

५–विश्वशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञगर्भितः—आत्मन्वी —सञ्जनो विराट्प्रजापतिः

६–महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञविराड्गर्भितस्तनरूपात्मा —सावरणो विश्वप्रजापतिः



इस प्रकरण में प्रधानरूप से हमें जीवात्मा का स्वरूप बतलाना है। जीवात्मा का वैज्ञानिक स्वरूप जीवात्मस्वरूपोपक्रम— तो आगे जाकर स्पष्ट होगा ही, परन्तु बहुत दिनों से चली आने वाली दार्शनिक भावना के अनुसार भी जीवात्मा का संक्षिप्त स्वरूप जान लेना अनावश्यक न होगा। जीवात्मा ईश्वरात्मा का अंश है एवं उपाधिभेद से वह नाना (अनेक) है। इस जीवनानात्वपक्ष को दृढमूल बनाते हुए निम्न-लिखित वेदान्त-सूत्र हमारे सामने आते हैं।

१–"अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके" ॥

२–"मन्त्रवर्णाच्च" ॥

३–"अपिच स्मर्यते" ॥ (शा० सू० २ अ० । ३ पा० १७ अधि० । ४३ ४४ ४५ सू०)

महामायी पूर्ण पुरुष का स्मरण कीजिए। इसे ही हमने महेश्वर कहा है। सम्पूर्ण प्रपञ्च इसी महेश्वर

---

* अदित्थं स्वस्वात्मयाथात्म्यविषयेषु साटोप सन्नद्धास्तेऽमी-आत्मविचारपरका सर्वथा अवेद्या, इति सर्वेषामात्मतत्त्वदृष्टा-णां याथार्थ्येन समन्वयो द्रष्टव्य ।

की विभूति है। यही विशुद्ध अव्यय पुरुष है। यह पुरुष पुरुषत्वेन सर्वथा अजन्मा है। केवल अव्यय जीवरूप से कभी जन्म नहीं लेता। अपितु जीवभाव में परिणित होने के लिए इसे स्वभावभूत, अन्तरंगप्रकृति नाम से प्रसिद्ध द्वयुक्त अव्यक्त अक्षर का आश्रय लेना पड़ता है, जैसाकि पूर्णेश्वर कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ गी० ४।६।)।

प्रकृतिविशिष्ट वही महेश्वर पुरुष षोडशकल बनता हुआ षोडशीप्रजापति नाम से व्यवहृत होने लगता है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। इस पुरुषात्मा की सृष्टि-

चिदात्मा, चिदंश, चिदाभास—

धारा के सम्बन्ध से प्रधानरूप से चिदात्मा, चिदंश, चिदाभास, ये तीन विवर्त्तभाव होते हैं। सर्वव्यापक सहस्रवल्शेश्वर षोडशीपुरुष ही चिदात्मा है। दूसरे शब्दों में हम महेश्वर को चिदात्मा कह सकते हैं। यह वृक्षवत् स्तब्ध है, इसमें यतिर्वित् भी गति नहीं है। यह नित्य कूटस्थ है। यह सर्वथा अजन्मा है। जीवस्वरूप का इस व्यापक चिदात्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवात्म-प्रकरण में सर्वव्यापक इस चिदात्मा का, पूर्ण रूप का भी नाम ग्रहण उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे कि तत्सम निरञ्जन विश्वातीत परात्पर की चर्चा सर्वथा व्यर्थ है। अतएव इसे हम यहीं छोड़कर चिदंश की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। यह चिदंश प्रत्यगात्मा शारीरकआत्मा, भेद से दो भागों में विभक्त है। विराट्-वैश्वानर-हिरण्यगर्भमूर्त्ति, त्रैलोक्य त्रिलोकी में व्याप्त, जिस ईश्वर प्रजापति का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, जीवात्मा उसी का अंश है। यह ईश्वर, किंवा चिदंश दो प्रकार से शरीरसंस्था में प्रविष्ट होता है। ईश्वर का जो अंश (चिदंश) प्रवर्ग्य बन कर अन्तर्याम (ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध से शरीर में प्रतिष्ठित होता है, वह तो शारीरपाप्माओं से संसृष्ट होता हुआ 'शारीरकात्मा' (शरीराभिमानी जीवात्मा) कहलाता है, एवं जो चिदंश प्रवर्ग्य बनता हुआ केवल साक्षीरूप से बहिर्व्याप्त (योग) सम्बन्ध से शरीरसंस्था में प्रविष्ट होता है, वह शरीरोपाधियुक्त प्रतीत होता हुआ भी शरीरबन्धन से, शरीर के पाप्माओं से, सर्वथा असंसृष्ट रहता हुआ "प्रत्यगात्मा" नाम से प्रसिद्ध होता है। दोनों की प्रतिष्ठाभूमि एक ही शरीरपृष्ठ है। दोनों हृदय में प्रतिष्ठित हैं। केवल प्रतिष्ठा में तारतम्य है। एक निर्लेप है, दूसरा सलेप है। एक साक्षी है, दूसरा भोक्ता है।

प्रकारान्तर से यों समझिए कि, व्यापक चिदात्मा का शरीर के साथ विभूति सम्बन्ध है। ईश्वरा-

योग—बन्ध—विभूति—

त्मरूप त्रैलोक्यव्यापक चिदात्मा का चिदंशरूप से शरीर के साथ योग सम्बन्ध है, एवं प्रवर्ग्यभूत चिदंश का शरीर के साथ बन्ध सम्बन्ध है। विभूतिसम्बन्धावच्छिन्न व्यापक चिदात्मा

निग्रहानुग्रह से परे रहता हुआ केवल आलम्बनमात्र है, आवपन है, खंब्रह्म है, अविनाशी है, एक प्रकार से शाश्वत ब्रह्म ( परात्पर ) ही है। योगसम्बन्धावच्छिन्न चिदंश निग्रहानुग्रह का अधिष्ठाता है। इसी की शक्ति से जीवात्मा सञ्चालित है। उसका सर्वत्र समान वैभव था, इस का एकमात्र हृदय के साथ योग है। इसी चिदंशरूप प्रत्यगात्मा ( ईश्वरात्मा ) का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
> भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया (योगमायया)॥ गीता १८।६१)।

बन्धसम्बन्धावच्छिन्न चिदंश ही शरीराभिमानी जीवात्मा है। प्रत्येक शारीरक आत्मा के लिए प्रत्यगात्मा स्वतंत्र है। स्वस्वनियति-भेद से प्रत्येक का प्रत्यगात्मा शारीरकात्मा की भांति शरीरोपाधिभेद से पृथक् बन रहा है। इस चिदंशरूप प्रत्यगात्मा को यद्यपि शरीरोपाधियुक्त बतलाया जाता है, परन्तु वस्तुतः यह जीवमात्र में समान है। जीवशरीर में रहता हुआ जीवसहकारी यह चिदंश जीवमात्र का अनुग्राहक है। चिदंशभूत प्रत्यगात्मा, एवं चिदंशरूप ही शारीरकात्मा के स्वरूप परिचय के लिए उदाहरणार्थ सौरसंस्था पर दृष्टि डालिये।

जलपूर्णपात्र, दर्पण, स्फटिकमणि, आदि के साथ सूर्य्यज्योति का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध आतप ( चमक ज्योति प्रकाश ) एवं प्रतिबिम्ब भेद से दो भागों में विभक्त है। जल-दर्पणादि पर सूर्य्य का ( क्षेत्रविन्यास के अनुसार ) प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित होता है। यह प्रतिबिम्ब शरीरोपाधिकृत विलक्षण सम्बन्ध से वहीं बन्धन में आता हुआ प्रतिपात्रादि भेद से पृथक् पृथक् बन जाता है। एक पात्र को तोड़ दीजिए, केवल उसी के प्रतिबिम्ब का विलयन होगा, शेष पात्रों के प्रतिबिम्ब ज्यों के त्यों अक्षुण्ण रहेंगे। सब प्रतिबिम्ब उस एक ही सूर्य्य के अंश हैं, परन्तु पात्र-आधार भेद से, एवं आधारों के धर्म्मभेद से वह एक ही अवयवरूप से नानारूपों में परिणत हो रहा है। इन प्रतिबिम्बों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रतिबिम्बभाव के अतिरिक्त प्रत्येक पात्र-दर्पणादिरूप शरीर के साथ त्रैलोक्य में व्यापक सूर्य्य के आतप भाग ( ज्योतिर्भाग ) का भी सम्बन्ध होता है। यह आतप भी यद्यपि देखने में तत्तच्छरीरपर्य्याप्त है, परन्तु प्रतिबिम्बवत् वह उस पात्र में अवयवरूप से प्रतिष्ठित नहीं है। अत एव इसे हम त्रैलोक्यव्यापक एक ही सर्वसाधारण-सर्वसमान तत्त्व कहेंगे। यही परिस्थिति जीवेश्वर के सम्बन्ध में समझिए। विश्वव्यापक चिदात्मा सूर्य्यस्थानीय है। वह स्वस्वरूप से सर्वथा असङ्ग है। इस व्यापक चिदात्मा के चिदंश का सम्बन्ध प्रतिशरीर के साथ

चेतनारूप से, एवं चिदाभास रूप से, दो दो प्रकार से होता है। चेतना ( चिज्ज्योति-चित्-प्रकाश ) को आतपस्थानीया समझिए, एवं चिदाभास को प्रतिबिम्बस्थानीय समझिए। यद्यपि चेतनारूप चिदंश तत्तच्छरीर में आतपवत् व्याप्त है, तथापि वह अवस्थे सम्बन्ध से वहां ग्रन्थिभावरूप से प्रतिष्ठित नहीं है।[1] अतएव स्थूलदृष्ट्या शारीरोपाधिक, किंवा शरीरपरिच्छिन्न बनता हुआ भी यह सर्वशरीरसाधारण है। प्रतिशरीर में व्याप्त उस चिदात्मा से, अभिन्न यह ईश्वरसत्त्व जीवसहयोग से यथाकथञ्चित् जीवशब्द से भी व्यवहृत किया जा सकता है। यह "ज्ञ" है, दूसरा चिदाभास "अज्ञ" है। यह ग्रन्थिरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ प्रति शरीर में भिन्न है। इन दोनों में से सर्वसाधारणरूप चेतना-भाव को लक्ष्य में रख कर ही—"अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्" ( गी० १३। १६। ) "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" ( गी० १३। २७। ) "आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः" ऋक्सं० १०। १६८। ४ ) इत्यादि कहा जाता है। वेदान्तदर्शन इसी सर्वसाधारण प्रत्यगात्मा को आत्मा ( जीवात्मा ) मानता हुआ जीवनानात्व का खण्डन करता है। उधर प्रतिशरीर में क्षेत्रभेद से सर्वथा विभिन्न जीवात्मा का ही निरूपण करने वाला सांख्य-दर्शन जीवनानात्व का अनुगमन कर रहा है। इस प्रकार यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि, एकमात्र चिदात्मा ही चिदात्मा-प्रत्यगात्मा शारीरकआत्मा भेद से तीन भावों में परिणत होकर सब कुछ बन रहा है। इन तीनों में हमारे आत्मप्रकरण में चिदात्मा बहिष्कृत है, प्रत्यगात्मा, एवं शारीरक आत्मा ग्राह्य हैं। दोनों नित्य सहचारी हैं। एक असंग है, दूसरा ससंग है। इनके इसी साहचर्य्य का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् व्यास कहते हैं—

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ।
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१॥
कर्म्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ।
स सप्तदशकेनापि* राशिना युज्यते सदा ॥२॥

दार्शनिक दृष्टि से चिदाभासरूप कर्म्मात्मा का विवेचन हो चुका। अब विज्ञानदृष्टि से जीवात्मस्वरूप का विचार किया जाता है। जीवात्मा ईश्वरप्रजापति का ही अंश है, यह निर्विवाद है। मायामूर्ति में पूर्व प्रतिपादित चारों प्रजापतियों में से विराट्—हिरण्यगर्भ—

* ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५-कर्म्मेन्द्रियाँ, ५ विषय, १-बुद्धि तथा १-मन, इन की समष्टि से जीवात्मा नित्ययुक्त रहता है।

सर्वज्ञमूर्त्ति स्तोम्यत्रिलोकी में प्रतिष्ठित तत्त्व का ही नाम ईश्वर प्रजापति है, यह भी सिद्ध विषय है। एतदंशभूत जीवात्म-स्वरूपपरिचय के लिए एकमात्र इसी त्रैलोक्य व्यापक ईश्वरप्रजापति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

"यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्। यदस्य त्वं, यदस्य च विदित-अविदित—विदिताविदितातीत—आत्मविवर्त—देवेषु, अथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्। अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि"–(केनोपनिषत्) इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार आत्मविवर्त्त विदितात्मा, अविदितात्मा, विदिताविदितातीतात्मा भेद से तीन भागों में विभक्त है। हम जानते हैं, कर्म करते हैं, ज्ञानकर्माश्रित अर्थों का ज्ञानकर्म द्वारा उपभोग करते हैं। जानना ज्ञानशक्ति है, करना क्रियाशक्ति है। ज्ञानकर्माश्रित तीसरा भाव अर्थशक्ति है। इन तीनों ही भावों का आपामर-आविद्वज्जन आबालवृद्ध सभी को समानरूप से प्रत्यक्ष है। इन तीनों शक्तियों का विकास क्रमशः मघवा इन्द्र, मातरिश्वा वायु, जातवेदा अग्नि, इन तीन देवताओं से हुआ है। अग्नि अर्थशक्ति की प्रतिष्ठा है, वायुदेवता क्रियाशक्ति का प्रवर्त्तक है, एवं इन्द्र ज्ञान के सञ्चालक है। इन तीनों देवताओं की समष्टि ही देवता सम्बन्ध से "देवसत्यात्मा" नाम से प्रसिद्ध है। यह अन्तरात्मा सबके लिए सर्वथा विदित है। ज्ञानक्रियार्थ-मूर्त्ति, इन्द्रवाय्वग्निमय, इस देवसत्यात्मा का अनुभव पूर्वकथनानुसार सभी को हो रहा है। इसी आधार पर इसे—"विदितात्मा" कहा जा सकता है। इन तीनों का आधारभूमि पञ्च-प्रकृतिक ब्रह्मसत्यात्मा है। अव्यक्त-महा-विज्ञान-महान्-भूतात्मा, इन सुप्रसिद्ध पांच पर्वों की समष्टि ही ब्रह्मसत्यात्मा है। शास्त्रानभिज्ञ साधारण मनुष्यों के लिए यह आत्मा अविज्ञात (न जाना हुआ) है, अतएव इसे "अविदितात्मा" कहा जा सकता है। तीसरा विश्व-व्यापक पुरुषात्मा स्वानुभवैकगम्य होने से विदित-अविदित, दोनों कोटियों से परे रहता हुआ विदिताविदितातीतात्मा है। यही "यदस्य त्वम्" वाक्य से अभिलषित ब्रह्मसत्यात्मा की प्रतिष्ठा है, यही "यदस्य च देवेषु" इस वाक्य से अभिप्रेत देवसत्यात्मा का आलम्बन है। ये दोनों ही सोपाधिक बनते हुए सामान्य हैं। यदि आत्मशब्द से आपने इन्हीं ब्रह्म-देव विवर्तों को आत्मा समझा है, यदि इन्हीं के परिज्ञान से आप अपने को सुवेद (आत्मज्ञानी) मान रहे हैं, तो विश्वास कीजिए! अभी आपने आत्मा का स्वरूप बहुत दभ्र (थोड़ा) समझा है। जिसके चिदंश से यह आत्मकोटि में प्रविष्ट हो रहे हैं, वह विदिताविदितातीत षोडशीपुरुष ही मुख्य आत्मा है। देवसत्यात्मा, ब्रह्मसत्यात्मा, दोनों इसी आत्मब्रह्म के विजय से महिमाशाली बन

रहे हैं—"ब्रह्मणो वा विजये महीयत्त्वम् ।" यह पुरुषब्रह्म पुरुष है, अव्ययप्रधान है। ब्रह्मसत्य अक्षरप्रधान है, एवं देवसत्य क्षरप्रधान है। पुरुषब्रह्म को ही पूर्व में महेश्वरप्रजापति कहा गया है, ब्रह्मसत्य को ही समष्टिरूप से विश्वेश्वरप्रजापति, एवं व्यष्टिरूप से उपेश्वरप्रजापति कहा गया है। एवं देवसत्य को ही विराट्मूर्त्ति ईश्वरप्रजापति कहा गया है। इन चारों संस्थाओं में से कर्म्मात्मा के साथ ईश्वरप्रजापतिरूप देवसत्यात्मा का ही सम्बन्ध है। आत्मपरिभाषाज्ञान के अभाव से देवसत्यात्मरूप ईश्वर को जिन महानुभावों ने सातवें आसमान की कोई अलौकिक-अविज्ञेय वस्तु समझ रक्खी है, विज्ञानदृष्टि के द्वारा आज हम आपको ईश्वर के साक्षात् दर्शन करा देते हैं। ईश्वर का स्वरूप अग्नि-वायु-इन्द्र, तीन देवताओं से संपन्न हुआ है। तीनों देवताओं की प्रतिष्ठाभूमि महापृथिवी नाम से प्रसिद्ध सौम्य त्रिलोकी है। अतः पहिले इसी का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया जाता है।

पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः, इन तीन लोकों की समष्टि त्रिलोकी है। यह त्रिलोकी आठ पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः—भागों में विभक्त है। इन आठों में से प्रकृत में रोदसीत्रिलोकी, सौम्यत्रिलोकी, ये दो त्रिलोकियाँ ही अपेक्षित हैं। जिस प्रतिष्ठा पर आप सपरिवार-सशरीर-सपरिग्रह प्रतिष्ठित हैं, वह पृथिवीलोक है, यही भूलोक है। प्रत्यक्षदृष्ट सहस्रांशु सूर्य्य द्युलोक है, यही स्वर्लोक है। सूर्य्यरूपा द्यौः, पृथिवीरूपा पृथिवी का अन्तरालप्रदेश अन्तरिक्ष है। यही भुवर्लोक है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। "अन्तरिक्षायतना हि प्रजा" ( शा० ब्रा० ४।८।१३ ) "यथायं पुरुषो (प्रजा) ऽमूल उभयतः (पृथिव्या सूर्येण च) परिच्छिन्नो-ऽन्तरिक्षमनुचरति" ( शत० १।१।२।४ ) इत्यादि निगम वचनों के अनुसार सम्पूर्ण प्रजा (चतुर्दशविध भूतसर्ग) भुवर्लोकात्मक इस अन्तरिक्ष में ही प्रतिष्ठित है। सूर्य्य, एवं पृथिवी के अन्तराल ( मध्य ) में जो आकाश देखा जाता है, यही—"अन्तः-ईक्षते" के अनुसार अन्तरीक्ष है। क्योंकि ये सब कुछ इन दोनों लोकों के अन्तः ( भीतर ) प्रतिष्ठित है, अत एव इसे अन्तर्यक्ष कहा जाता है। यही अन्तरीक्ष, किंवा अन्तर्यक्ष (परोक्षप्रिय देवताओं, विद्वानों) की परोक्षभाषा के अनुसार 'अन्तरिक्ष" नाम से प्रसिद्ध है। अन्तरिक्ष के इसी स्वरूप को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

१—"यदस्मिन्निदं सर्वमन्तः—तस्मादन्तर्यक्षम्। अन्तर्यक्षं ह वै नामैतत्—तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते" (जै०उ० १।२०।४)।

२—"अन्तरेव वा इदमिति, तदन्तरिक्षस्यान्तरिक्षत्वम्" ( तां० ब्रा० २०।१४।२ )।

३—"सह हैवेमावग्रे ( पृथिविसूर्यौ ) लोकावासतुः। तयोर्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत्–तदन्तरिक्षमभवत्। ईक्षं हैतन्नाम। ततः पुरान्तरा वाऽइदमीक्षमभूदिति। तस्मादन्तरिक्षम्" ( शत० ७।१।२।२३ )।

४—"मध्यं वाऽन्तरिक्षम्" ( शत० ७।४।१।२६ )

५—"छिद्रमिवेदमन्तरिक्षम्" ( तां० ब्रा० ७।३।१८ )।

"अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे" ( शत० १।२।१।१६ ) "एतेन इमौ लोकौ विष्कब्धौ" ( जै० उ० १। २०। ३ ) इत्यादि के अनुसार छिद्ररूप अनिरुक्त अन्तरिक्ष ही दोनों लोकों के स्वरूप को पृथक् पृथक् बतलाने वाला, दोनों का स्तम्भ ( स्तम्भ-थंभा ) स्थानीय है। अन्तरिक्षरूप आकाश ही "यह पृथिवी है," "यह सूर्य्य है," इस प्रकार पृथिवी तथा सूर्य्य के नामरूप का निर्वहिता है– "आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता"। यदि दोनों के मध्य में यह आकाशरूप अन्तरिक्ष न होता, तो उक्त पार्थक्य व्यवहार असम्भव था। न केवल द्यावापृथिवी का ही, अपितु पदार्थमात्र के नामरूप भेद व्यवहार का सम्पादक एकमात्र आकाशात्मक अन्तरिक्ष ही है।

भूपिण्ड से एक निराकार प्राण निकल कर बड़ी दूर तक अपना एक मण्डल बनाता है। जहांतक यह प्राण व्याप्त है, वहांतक पृथिवीलोक की सत्ता मानी जाती है। इसी प्रकार जहांतक सौरप्राण की व्याप्ति है, वहांतक सूर्य्यलोक की सत्ता मानी जाती है। सूर्य्य के केन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित होकर अर्करूप से बाहिर निकल कर वितत होने वाला तत्त्व ही "अक्षर" कहलाता है। "स्वरोऽक्षरम्" ( का० ब्रा० ११६६ ) के अनुसार अक्षर को ही स्वर कहा जाता है। इसी अक्षररूप स्वर के सम्बन्ध से सूर्य्य को—"स्वरहर्देवाः सूर्य्यः" शत० ११।१।२।२१ ) इत्यादि के अनुसार स्वर्लोक कहा जाता है। विज्ञाननिष्ठ पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि, सूर्य्य से ऊपर की ओर परमधाम में प्रतिष्ठित यज्ञमूर्त्ति परमेष्ठी, एवं अव्यक्तमूर्त्ति स्वयम्भू, इन दो लोकों में मनोमय अमृतप्रधान अव्ययपुरुष की प्रधानता है। सूर्य्य से नीचे की ओर अवमधाम में महन्मूर्त्ति चन्द्रमा, एवं भूतमूर्त्ति पृथिवी में वाङ्मय मृत्युप्रधान क्षरपुरुष की प्रधानता है—"तस्माद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्" (शत० १०।४।१।४)।

एवं स्वयं मध्यस्थ सूर्य्य में अमृताव्यय से अमृतभावापन्न, मर्त्यक्षर के सम्बन्ध से मृत्युधर्म से भी संसृष्ट, अतएव अमृतमृत्युमय प्राणमूर्त्ति अक्षरपुरुष का विकास है। "यः सेतुरीजानानाम्" ( कठोपनिषत् १।३।२ ) के अनुसार यज्ञकर्त्ता यजमान की परमप्रतिष्ठा यही सेतुरूप अक्षरतत्त्व, किंवा अक्षरमूर्त्ति सौरतत्त्व, किंवा सूर्य्यलोक है—"एषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति। तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतः। अथ यत् परं भाः (तद्रूपोऽक्षरः) प्रजापतिर्वा, स स्वर्गो वा लोकः" ( शत० १।९।३।१० )।

शब्दब्रह्म विज्ञान के अनुसार अव्ययपुरुष स्फोट है, अक्षरपुरुष स्वर है। एवं क्षरपुरुष वर्ण है। शब्दब्रह्मविवर्त्त—वर्ण-(क्षरप्रधानभूत) का विकास चन्द्रगर्भिता क्षरप्रधाना पृथिवी में होता है, स्वर की प्रतिष्ठा सूर्य्य है, स्फोट की विकासभूमि अव्ययगर्भित व्यक्ताव्यक्तमूर्त्ति महान् है। अव्ययनाम से प्रसिद्ध चिदात्मा की योनि महान् ही है—"मम योनिर्महद्ब्रह्म"। सम्पूर्ण अर्थ यहीं से स्फुट होते हैं। अव्यक्तगर्भित महदवच्छिन्न स्फोटरूप अव्यय अखण्ड धरातल है। इसपर सूर्य्यरूप स्वर प्रतिष्ठित है। स्वरात्मक सूर्य्य के आधार पर वर्णरूपा चन्द्रगर्भिता पृथिवी प्रतिष्ठित है। इधर शब्दसृष्टि में भी यही व्यवस्था है। पृथिवीरूप वर्ण ( क–च–ट–त–पादि व्यञ्जन ) सूर्य्यात्मक स्वर के ( अ–आ–इ–ई–आदि के ) आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। बिना स्वर को आलम्बन बनाए आप विशुद्ध व्यञ्जन का कथमपि उच्चारण नहीं कर सकते। क्योंकि बिना सूर्य्य के भूलोक कथमपि प्रतिष्ठित नहीं रहसकता। इस स्वर की, किंवा सर्वप्रपञ्च की प्रतिष्ठा तीसरा सर्वव्यापक स्फोट है। राम शब्द में र्–अ–अ–म्–अ इतने खण्ड हैं इन सब खण्डों का आधार, इस छोर से उस छोरतक एक रूपसे व्याप्त अखण्ड तत्त्व ही स्फोट है। इसी के सम्बन्ध से राम-शब्दार्थ स्फुट होता है। यही कारण है कि, उच्चारणकाल में पूर्व पूर्व वर्ण के विलीन होजाने पर भी "राम" इत्याकारक समूहालम्बनज्ञान की प्रतीति होजाती है। दूसरे शब्दों में यही अखण्ड धरातल राम शब्द के अर्थ को स्फुट करता है। वर्णों में यह वर्णरूप से, पदों में पदरूप से, वाक्यों में वाक्यरूप से यह यथास्थान प्रतिष्ठित रहता है—"यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते"। इसी आधार पर वैय्याकरणों ने इस शब्दात्मक स्फोट के वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डस्फोट, आदि आठ विभाग माने हैं। इस प्रकार जैसी स्थिति परब्रह्म की है, ठीक वही स्थिति शब्दब्रह्म की है। एक के विज्ञान से अन्य स्वतः एव विज्ञात है—"शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति"।

परब्रह्म ———→ शब्दब्रह्म

१—अव्यक्तगर्भितमहान्→अव्ययः—अमृतम्——→स्फोटः
२—सूर्यः →अक्षरः——अमृतमृत्यू→स्वरः
३—चन्द्रगर्भितापृथिवी—→क्षरः——मृत्यु———→वर्णाः

}—"तदिदं सर्वम्"

——— :*: ———

अक्षरात्मक सूर्य्यलोक स्वर सम्बन्ध से जहां "स्वर्लोक" कहलाता है, वहां क्षरात्मक पृथि-

विश्वा भुवनानि—भौलोक—"अभूद्वाऽइयं प्रतिष्ठेति—तद्भूमिरभवत्, तामप्रथयत्, सा पृथिव्यभवत्" ( शत० ९।१।१५ ) इत्यादि के अनुसार "भूलोक" कहलाता है। सूर्य्य, और भू एकाकी हैं, परन्तु इन दोनों के अन्तराल प्रदेश में चन्द्रमा बुध-शनि आदि अनेक भूपिण्ड हैं। इन्हीं अनेक भूपिण्डों के कारण तत्प्रतिष्ठारूप-अन्तरिक्ष को "भुवर्लोक" कहा जाता है। "अग्निर्वा रुद्रः" इसीप के अनुसार सावित्राग्निमूर्ति सूर्य्य साक्षात् रुद्र है। यही सत्ररुद्र है, एकाकी है। सूर्य्य से निकलने वाले रश्म्यवच्छिन्न सौरप्राणा अनन्तरुद्र हैं ये विरुद्र हैं। इसी समष्टि एकाकी सत्ररुद्र का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

> असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
> ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेड ईमहे ॥१॥
> असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।
> उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्य्यः स दृष्टो मृडयाति नः ॥२॥
> नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
> अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः ॥३॥ (यजु सं० १६।६।७।८)
> एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य्य इमांल्लोकान् ईशत ईशनीभिः।
> प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥४॥
> ( श्वे० ३।२ )

भूः-भुवः-स्वः, इन तीनों लोकों का विकास इसी रुद्रसूर्य्य से हुआ है। रुद्रसम्बन्ध

रुद्र-त्रैलोक्य—से ही यह त्रिलोकी "रोदसी" नाम से व्यवहृत हुई है। ब्रह्मा केवल प्राण-प्रधान होने से देव हैं, आदिदेव हैं। विष्णु आपोमय, एवं वाङ्मय होने से देवश्रेष्ठ हैं। किन्तु ये

रुद्रदेवता वाङ्मय-अन्नादमय-अन्नमय-होने से त्रिकल बनते हुए महादेव हैं। पूर्व प्रतिपादित अश्वत्थमूर्त्ति महेश्वर का स्मरण कीजिए। इस अश्वत्थवृक्ष को ही आगमशास्त्र में "शुद्रुम" नाम से व्यवहृत किया गया है। हमारे रुद्रदेवता दक्षिणामूर्त्ति भगवान् इस शुद्रुम के अधोभाग में प्रतिष्ठित हैं। अश्वत्थवृक्ष के अमृत-ब्रह्म-शुक्र, ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं। अमृत विवर्त्त अव्ययप्रधान है, ब्रह्मविवर्त्त अक्षरप्रधान है, एवं शुक्रविवर्त्त क्षरप्रधान है। क्षरतत्त्व वाङ्मय भूत की प्रतिष्ठा है, अक्षरतत्त्व प्राणमय देवता की प्रतिष्ठा है, एवं अव्ययतत्त्व मनोमय सत्यआत्मा की प्रतिष्ठा है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम, ये पांचों अक्षर प्राण-आपः-वाक्-अन्नाद-अन्न, इन पांच क्षरों से नित्ययुक्त रहते हैं।

इन पांचों के १-२-३-, इस क्रम से तीन विभाग होजाते हैं। प्राणमय ब्रह्मा का एक स्वतन्त्र विभाग है। इस पर अश्वत्थ महेश्वर के अमृत प्रधान अव्यय का अनुग्रह रहता है। आपोमय विष्णु, एवं वाङ्मय इन्द्र, इन दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। 'इन्द्राविष्णू सयुजौ' कहलाते हैं। दोनों की समुच्चित अवस्था का नाम ही विष्णु है। जो इन्द्र है, वही विष्णु है। अत एव विष्णु को उपेन्द्र कहा जाता है। इस पर ब्रह्मप्रधान अक्षर का अनुग्रह रहता है। एवं वाङ्मय इन्द्र, अन्नादमय अग्नि, अन्नमय सोम, इन तीनों क्षरगर्भित अक्षरों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इन तीनों की समष्टि ही महादेव है। इस पर शुक्रप्रधान भौतिक क्षर का अनुग्रह रहता है। क्षरप्रधान होनेसे त्रिमूर्त्ति महादेव भूतनाथ हैं, वाक्पति हैं। अक्षरप्रधान होनेसे द्विमूर्त्ति विष्णु देवश्रेष्ठ देवनाथ हैं, प्राणपति हैं। अव्यय की प्रधानता से एकमूर्त्ति ब्रह्मा सत्यनाथ हैं, चित्पति हैं। ज्ञानमूर्त्ति ब्रह्मा, क्रियामूर्त्ति विष्णु, दोनों ही ज्ञान-क्रिया के मौलरूप होने से अप्रत्यक्ष हैं, दृष्टि से परे हैं। इन दोनों के ज्ञापक (परिचायक-लिङ्ग) अर्थमूर्त्ति भूतपति महादेव ही हैं। अतएव इनकी लिङ्गरूपसे उपासना की जाती है।

वाङ्मय व्यक्त भूतप्रपञ्च ही अव्यक्त का लिङ्ग है। शुक्रमूर्त्ति यह रुद्र, किंवा भूतनाथ सचमुच शुद्रुमरूप अश्वत्थ के मध्य से नीचे के स्थान में (रोदसी त्रैलोक्य में) प्रतिष्ठित हैं। रोदसी का यही रुद्र भोग करते हैं, अत एव रोदसी को रुद्रपत्नी कहा जाता है। अन्नादमयी पृथिवी अग्निज्योति है, अन्नमय अन्तरिक्ष चन्द्रज्योति है, वाङ्मय सूर्य्य इन्द्रज्योति है। इन्हीं तीनों के सम्बन्ध से ये त्रैलोक्य व्यापक महादेव त्रिनेत्र बन रहे हैं। इसी दक्षिणामूर्त्ति शिव की उपासना का प्रकार बतलाता हुआ आगमशास्त्र कहता है—

## दक्षिणामूर्तिः शिवः

व्याख्यामुद्राक्षमालाकलशसुलिखितैर्बाहुभिर्वामपादम् ।
बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहितापस्मृतिर्मुग्धबाधः ॥
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः ।
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विपुलां शुद्धबुद्धिं शिवो नः ॥१॥

"द्युरपि स्यादव्ययम्" के अनुसार 'द्यु' शब्द अव्यय का भी वाचक है। अव्यय ही अश्वत्थ वृक्षरूप में परिणत होरहा है। इस का परप्रधान शुक्रभाग सर्वोच्च है, यहीं शिव प्रतिष्ठित हैं। सौरज्योतिर्मण्डल स्थिर हिरण्मय मण्डल है। यही सौवर्ण योगपीठ है। इस में ही क-च-ट-त-पादि मयी लिपि का विकास होता है। यही परपूर्त्ति महादेव का आसन है। सूर्य इन का मस्तक स्थान है। इस से ऊपर पारमेष्ठ्य अप्प्राणपति चन्द्रमा है। इसीलिए इन्हें "चन्द्रमौलि" कहा जाता है।

रोदसी त्रैलोक्य का सूर्य इस शिरोभाग की बुद्धि है, चन्द्रमा उस का मन है, अन्त-
वायुवेष्टित भूपिण्ड—रिक्ष वायु उस का हंसात्मा है, पृथिवी आधारात्मा स्थानीय है। इस

---

रोदसी त्रैलोक्य के सम्बन्ध में पाठकों को यह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि, रोदसी के अन्तरिक्षरूप भुवर्लोक में चन्द्रमा—वायु—मरुत्वान् इन्द्र, ये तीन तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। चान्द्रसोम, एवं मरुत्वानिन्द्र, दोनों अभिन्न रहते हुए वायुधरातल पर प्रतिष्ठित हैं। यह वायु स्थिर—चर-भेद से दो प्रकार का है। स्थिरवायु वराह नाम से प्रसिद्ध है, एवं चर वायु—वात (वात आवात अपजम्) नाम से व्यवहृत होता है। भूपिण्ड के चारों ओर स्थिर रहने वाला भूपिण्डस्वरूप-समर्पक वायु ही वराह है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। इस पिण्डस्वरूप समर्पक स्थिर वायु का भूपिण्ड में ही अन्तर्भाव है। दूसरा आन्तरिक्ष्य भुवर्लोक स्थानीय वायु ही सोमगर्भित इन्द्र की प्रतिष्ठा है। इस सोमगर्भित ऐन्द्रवायु का यथाविज्ञान के अनुसार 'ग्रह" कहा जाता है। सोमगर्भित ऐन्द्र वायु ही अन्तरिक्ष का प्रधान अधिष्ठाता है। इसी के लिए 'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते" यह कहा जाता है। इस वात वायु में एक चतुर्थांश इन्द्र रहता है। यदि सौ अंश वायु है, तो उस में २५ अंश इन्द्र है, ७५ अंश वायु, किंवा वायव्य सोम है। इन ग्रह नामक ऐन्द्र वायु के अवान्तर ४० विभाग हैं, जिन का निरूपण ग्रहविज्ञान में द्रष्टव्य है।

भूपिण्ड, किंवा पृथिवीलोक अन्नाद नाम की प्रकृति से युक्त है। यह पिण्ड पृथिवी

**अन्नादप्रकृति-और भूपिण्ड**—( जिसे कि विज्ञान दृष्टि से हम पृथिवी न कहकर भू कहेंगे ), अन्नादाग्निमयी है, साथ ही स वराह नामक स्थिर वायु से चारों ओर से नित्य वेष्टित है। आज आप जिस पिण्ड पृथिवी का अपने चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष कर रहे हैं, किसी समय इस का दूसरा ही रूप था। आपोमय अर्णव समुद्र में पृथिवी 'काल्वालीकृतरूपा' थी। सर्वत्र पार्थिव मृत् परमाणु इतस्ततः व्याप्त थे। सत्यसङ्कल्प प्रजापति की सत्यकामना से वायुद्वारा एक ही समय में चारों ओर से इन मृत्परमाणुओं का नियत प्रदेश में सघठन हुआ, कालान्तर में पृथिवी पिण्डरूप में परिणत होती हुई—"अभूत्-प्रतिष्ठा" इस निर्वचन के अनुसार भूमि नाम से प्रसिद्ध हो गई। वायुद्वारा ही आपोमय समुद्र में से काल्वालीकृतरूपा पृथिवी का पिण्डरूप में उद्धार हुआ, अत एव यह वायुतत्त्व "वृणुते-इति वरः, अह्नोतीति अहः, वरश्चासौ अहश्चेति वराहः" इस निर्वचन के अनुसार वराह नाम से प्रसिद्ध हुआ। आप जितने भी पिण्ड देख रहे हैं, उन सब का स्वरूपसम्पादक यह वराह वायु ही है। अधिदैवतसंस्था में-स्वयम्भू-परमेष्ठी, आदि पाच पिण्ड हैं। पिण्डप्राण-भेद से पिण्ड सपादक वराहवायु पाच स्वरूपों में परिणित होरहे हैं। स्वयम्भू-पिण्ड सम्पादक वायु "आदिवराह" है, परमेष्ठीपिण्ड का "यज्ञवराह" है, सूर्य्यपिण्ड का "श्वेतवराह" है, चन्द्रपिण्ड का "ब्रह्मवराह" है, एव भूपिण्ड का स्वरूप समर्पक वराह वायु—"एमूष वराह" नाम से प्रसिद्ध है। यही वराह अध्यात्मसंस्था की अपेक्षा से "एवयावरुत्" नाम से प्रसिद्ध है। औपनिषदविज्ञान के अनुसार इस का *"मातरिश्वा" यह साधारण नाम है। माता पृथिवी का नाम है। संस्कृत भाषा के अनुसार पृथिवी शब्द पिण्ड का वाचक है। जो वायु पिण्ड के-चारों ओर स्थिररूप से व्याप्त रहता है, वह "मातरि ( पृथिव्यां—तदुपलक्षिते पिण्डे )-श्वयते" इस निर्वचन से अवश्य ही मातरिश्वा नाम से व्यवहृत किया जासकता है।

प्रकृत में भूपिण्ड के सम्बन्ध से एकमात्र पार्थिव एमूषवराह ही अपेक्षित है। "आ—अभि-

**पार्थिव 'एमूषवराह'**—व्याप्य समन्तात्) ईम् ( पृथिवीम् ) वसति" इस व्युत्पत्ति से आङ्की निर्देश से अभिलीन यह पार्थिव वराह एमूष ( आ-ईम्-वस ) कहलाता है। यह अत्यन्त घनवायु है। घनता के कारण ही इस में स्थिरता का उदय होता है। "घृतमन्तरि-

* 'मातरिश्वा' का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईश' भाष्य के 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' मन्त्रभाष्य में द्रष्टव्य है।

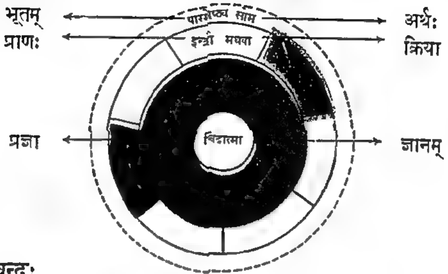
पृष्ठ २७७ का शेषांश

इस प्रकार सूर्य्य–चन्द्रमा–मरुत्वानिन्द्र–एमूषवराह–भूपिण्ड, भेद से इन पाँच तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। ये सब उसी ब्रह्मसत्यात्मक प्रकृतितन्त्र के अवयव हैं। दूसरे शब्दों में यह विभाग उपेन्द्र से सम्बन्ध रखता है। १–सूर्य्य, २–इन्द्रगर्भित चन्द्रमा, ३–वायुवेष्टित भूपिण्ड, तीनों क्रमशः वाक्–अन्न–अन्नाद नाम की प्रकृतियाँ हैं। इन तीनों प्राकृतात्माओं में से सूर्य्य का 'विज्ञानात्मोपनिषत्' में, मरुत्वानिन्द्रगर्भित चन्द्रमा का 'प्रज्ञान' रूप से 'महदात्मविज्ञानोपनिषत्' में निरूपण किया जा चुका है। प्रकृत में वायुवेष्टित भूतात्मस्थानीय भूपिण्ड का ही निरूपण अपेक्षित है। उक्त विषय का स्पष्टीकरण परिलेखों से भलीभाँति हो जाता है।

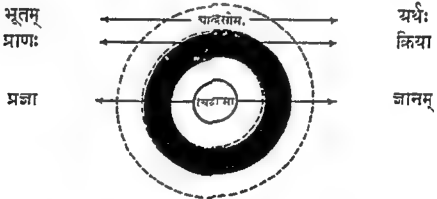
विशेष—

उक्त विषय का सन्निवेश पृ० सं० २७७ से आगे तथा २७८ से पूर्व समझना चाहिए।

## १ — सूर्य्यः

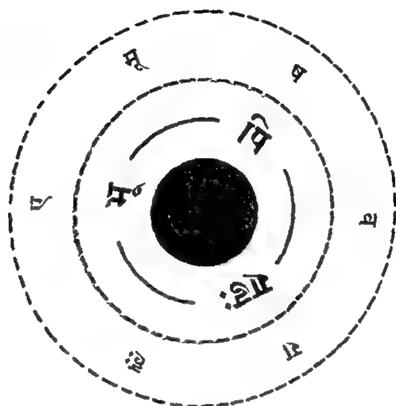

भूतम्
प्राणः
पारमेष्ठ्य साम
इन्द्रो मघवा
अर्थः
क्रिया
प्रज्ञा
चिदात्मा
ज्ञानम्

## २ — चन्द्रः


भूतम्
प्राणः
चान्द्रसोम.
अर्थः
क्रिया
प्रज्ञा
ज्ञानम्

[illegible]

## ३ - पृथिवी



**१**
- १—पारमेष्ठ्यसोमोब्रह्मणस्पतिः
- २—दिव्यइन्द्रो मघवासप्तवर्णात्मकः
- ३—चिदंशो विज्ञानात्मा

—स्वर्लोकः-सूर्यः-विज्ञानात्मनः प्रतिष्ठा

---

**२**
- १—चान्द्रसोमो भास्वरः
- २—इन्द्रो मरुत्वान् वायव्यः
- ३—चिदंशः प्रज्ञानात्मा

—भुवर्लोकः-चन्द्रमाः-प्रज्ञानात्मनः प्रतिष्ठा

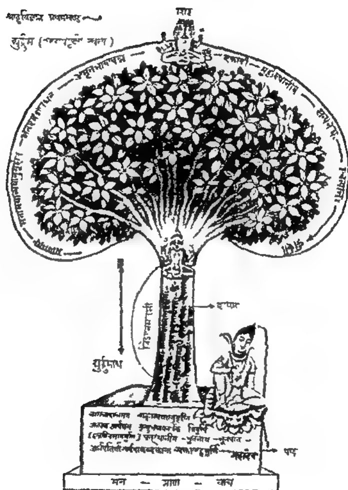
---

**३**
- १—एमूषवराहः स्थिरवायुः
- २—पिण्डश्रित्यः

—भूलोंकः-पृथिवी-हंसात्मबाह्यात्मनो. प्र.

---

## घुर्द्रुमः (अव्ययवृक्षः) अश्वत्थः




व्याख्यामुद्राक्षमालाकलशसुलिखिते बाहुभिर्वामपादम्–
बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहितापस्मृति 'घुर्द्रुमा' यः ।
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः—
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु निबुधां शुद्धसुद्धिं शिवो वः ॥

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, जयपुर

## त्रिमूर्त्तिः—

प रा त् प रः

"नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने"

अमृतम्
अमृतविकासभूमिः

अव्ययः
१– आनन्दः → ब्रह्मा → प्राणः

१– विज्ञानम् → विष्णुः → आपः
२– मनः → इन्द्रः → वाक्

शुक्रम्

१– मनः → इन्द्रः → वाक्
२– प्राण → सोमः → अन्नम्
३– वाक् → अग्निः → अन्नादः

| |
|---|
| बुद्धुमः |
| स्वयम्भूः ब्रह्मा शिरः |
| |
| |
| |
| बुद्धुमाधः |

→ सत्यनाथो चित्पतिर्ज्ञानमूर्ति

→ देवनाथो देवपति क्रियामूर्ति

→ भूतनाथो भूतपतिरर्थमूर्ति

संयती त्रैलोक्य

त्रैलोक्य

क्षस्य" ( शत०७।४।१।१३ ) के अनुसार इस आन्तरिक्ष्य वायु में घृत (स्नेहतत्त्व) भरा हुआ है। इसी घृतानुगत एमूष वायु से शूकर पशु का जन्म होता है। दूसरे शब्दों में शूकर के आत्मा में इतर प्राणियों की अपेक्षा वराहवायु की प्रधानता है, इसी प्रधानता के कारण शूकर पशु को "वराह" कहा जाता है। वराह वायु को हमनें स्तब्ध बतलाया है। भूपिण्ड की ओर ही इस का रुख रहता है, दूसरे शब्दों में यह भूपिण्डानुगत है। अतएव तत्प्राणप्रधान शूकर पशु सदा भूपिण्ड की ओर ही अपना 'थूंथ' किए, भूपृष्ठ से सलग्न ( सट कर ) होकर सर्पण करता हुआ ही चलता है। घृताक्त वायु की प्रधानतासे ही वराह में इतर पशुओं की अपेक्षा घृत ( चर्बी ) अत्यधिक मात्रा में रहता है, अत एव इसे मेदुर (मेदस्वी) कहा जाताहै—( देखिए शत० ५।४।३।१६ )। सोमयाजी दीक्षित इसी के चर्म्म की उपानत् ( जूता ) पहिनता है। पृथिवी पूषाप्राण प्रधान है, तन्मोमय पार्थिव पूषाप्राण ही शूद्र का आत्मा है। दूसरे शब्दों में जिस के आत्मा में जन्म से पार्थिव पूषाप्राण की प्रधानता रहती है, वही वर्णसृष्टि में शूद्र कहलाता है। इसी आधारपर निम्न लिखित निगम वचन प्रतिष्ठित हैं—

१—"स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्। इयं ( पृथिवी ) वै पूषा। इय हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च" ( शत० १४।४।२।२५। )

२— इयं वै पृथिवी पूषा" ( शत० २।५।४।७ )।

दैववर्णव्यवस्था-विज्ञान के अनुसार पूषाप्राण शूद्र है, यह पार्थिव तत्त्व है, अतएव **शूद्र, और शूकरपशु**—पृथिवी से नित्य सम्बद्ध वराह वायु के साथ इस शौद्र पूषा प्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूषाप्राणात्मक भूपिण्ड, एवं तद्वेष्टनरूप वराह वायु के इसी तादात्म्य को लक्ष्य में रख कर इस वराह वायु को भी पूषा कह दिया जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"अयं वै पूषा, योऽयं ( वातः ) पवते। एष हीदं—सर्वं पुष्यति"

( शत० १४।२।१।६ ) इति।

इस परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भौतिक सृष्टि में शूद्र-एव शूकर पशु का समान स्थान है। शूद्रमनुष्य में जिस पूषाप्राण की प्रधानता रहती है, शूद्रपशुरूप वराह पशु में भी इसी पूषाप्राण की प्रधानता है। ब्राह्मण मनुष्य के साथ ब्राह्मण अज पशु की, क्षत्रिय मनुष्य के साथ क्षत्रिय अश्वपशु की, वैश्य मनुष्य के साथ वैश्य गौ पशु की यदि समानता है, तो शूद्रमनुष्य के साथ शूद्र वराहपशु की समानता है। यही कारण है कि वराहपशु को मलमार्ज्जक शूद्र ( महतर-भंगी ) ही

आश्रय देते हैं। याद रखिए, जो कार्य महत्तर का है, वही कर्म्म शूकर पशु का है। प्रकारान्तर से दोनों ही मल का संवरण करते हैं। मलभाग आसुर है। असुरप्राण आपोमय है, आपोमय, अतएव असुरप्राणप्रधान समुद्र गर्भ में से भूपिण्ड का उद्धार करना इसी वराह-वायु का कार्य है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। दूसरे शब्दों में वराहवायु आसुर-भाव का नाशक है। अतएव असुरसम्प्रदाय वाले मलीमस यवन आज भी वराहपशु से सहज वैर रखते हैं।

जिस समय इस वराह* वायुने पिण्डनिर्म्माण प्रक्रिया आरम्भ की थी, उस समय इसे एक वर्ष लगा था। एक सम्वत्सर के अनन्तर जब भूपिण्ड पूर्ण घन होगया, तभी वह वराह वायु इस के चारों ओर विकसित हुआ। कहने का तात्पर्य्य यही है कि, पिण्डरूप घनभाव की निष्पत्ति के अनन्तर ही वराह को पूर्णरूप से जन्म लेने का अवसर मिलता है। इस प्रकार "भू" नाम से व्यवहृत प्राकृतात्मा में भूपिण्ड-वराह वायु, इन दो भावों की सत्तासिद्ध हो जाती है। इन दोनों में से वराह वायु को थोड़ी देर के लिये छोड़ दीजिए, केवल भूपिण्ड को अपना लक्ष्य बनाइए।

भूपिण्ड को हमनें अन्नादप्रकृतिक बतलाया है। अग्नि-अक्षर ही आगे जाकर क्षरभाव में परिणत होता हुआ अन्नाद नाम से व्यवहृत होने लगता है। अन्नादतत्त्व साक्षात् अग्नि है। यह अन्नादाग्नि विशकलनधर्म्मा है। संकोचधर्म्मा अन्नप्रकृतिक सोम के बिना यह अग्नि एक क्षण भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। इस अन्न सम्बन्ध की नित्यता के कारण ही तो अग्नि को "अन्नाद" (अन्नमत्तीति-अन्नादः—अन्न खाने वाला) कहना अन्वर्थ बनता है। अन्नादगर्भित अन्नसोम की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, अतएव अग्निसोममयी पृथिवी को केवल अग्निमयी ही मान लिया है—"अत्तैवाख्यायते नाद्यम्"। जैसा कि निम्न लिखित श्रौत वचनों से स्पष्ट है—

१—"आग्नेयी पृथिवी" (ता० ब्रा० १४।४।८)।

२—"इयं वा अग्निः" (शत० ७।३।१।२२।)

३—"अयं वै (पृथिवी-) लोकोऽग्निः (शत० १४।६।१।१४)

---

* "स (प्रजापतिः) वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्च्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्। तत् पुष्करपर्णे प्रथयत्। तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्" (तै० ब्रा० १।१।३।६।७) "इयती ह वाऽइयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री। तामेमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्याः (पृथिव्याः) पतिः प्रजापतिः।" (शत० १४।१।२।११)

४–"अग्निगर्भा पृथिवी" ( शत० १४।६।४।२१। ) ।
५–"अयं वा अग्निर्लोकः" ( शत० १।६।२।१३। ) ।

पृथिवी-संस्था से सम्बन्ध रखने वाले अन्नाद अग्नि, अन्न सोम, दोनों ही अमृत मृत्यु-
**अमृत-मर्त्यलक्षणा पार्थिवसंस्था**—भेद से दो दो अवस्थाओं में विभक्त हैं। मर्त्य अग्नि, एवं मर्त्य सोम दोनों हीं सुप्रसिद्ध तेज, एवं, जल नाम के भूत हैं। अग्निभूत, एवं जलभूत के समन्वय से ही भूपिण्ड बना है। पानी ही अग्नि के प्रवश से वराहवायुकेद्वारा क्रमशः 'आपः— फेन— मृत्–सिकता–शर्करा–अश्मा-अयः-हिरण्य' इन आठ घनावस्थाओं में परिणत होता हुआ पिण्डरूप में परिणत होगया है। इन आठ अवयवों के कारण ही छन्दोविज्ञान के अनुसार इस पिण्ड पृथिवी को "गायत्री" कहा जाता है। कारण अष्टाक्षर छन्द का ही नाम गायत्री है।-"या वै-सा गायत्री-आसीत्, इयं वै सा पृथिवी" ( शत० १।४।१।३४। )। दूसरा है अमृतविभाग। अमृताग्नि, एवं अमृतसोम को "देवता" कहा जाता है। इसी देवता के आधारपर मर्त्यभूत प्रतिष्ठित है। ये दोनों प्राणदेवता भूकेन्द्र से बद्ध होकर, दूसरे शब्दों में केन्द्र को स्वप्रतिष्ठा बना कर भूपिण्ड से बाहर निकलते हुए अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाते हैं। यही प्राणमण्डल, किंवा देवमण्डल विज्ञानभाषा के अनुसार 'पुनःपद-साहस्री महिमा-विभूति' इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध है। याज्ञिक लोग अपनी यज्ञपरिभाषा के अनुसार इसी को "वषट्कार" कहते हैं—"देवपात्रं वा यदेष वषट्कारः" ( शत० १।७।२।१२। )। प्रत्येक वस्तु में पिण्ड, एवं महिमा भेद से दो विभाग अवश्य रहते हैं। पिण्ड उस वस्तु का अन्तर्मण्डल है, महिमा उस वस्तु का बहिर्मण्डल है। पिण्डरूप अन्तर्मण्डल स्पृश्य है, इसे आप छू सकते हैं, देख नहीं सकते। महिमा-रूप बहिर्मण्डल दृश्यमण्डल है, इसे आप देख सकते है, छू नहीं सकते। जिस वस्तु का आप स्पर्श करने में समर्थ हैं, विश्वास कीजिए वह आपकी दृष्टि में कभी नहीं आसकता। साथ ही में जिसे आप देखने का अभिमान कर रहे हैं, स्वप्न में भी आप उसका स्पर्श नहीं कर सकते। इस प्रकार विज्ञानशास्त्र आपके चिरानुभूत कल्पित सिद्धान्तों को सर्वथा छिन्न भिन्न कर देता है। भूपिण्ड, एवं भूमहिमा का विचार कीजिए। अमृताग्निसोमगर्भित, मर्त्याग्निसोमप्रधान भूपिण्ड है। एवं मर्त्याग्निसोमगर्भित, अमृताग्निसोमप्रधान भूमहिमा है। दूसरे शब्दों में भूपिण्ड में मर्त्यअग्नि-सोमरूप भूतों का साम्राज्य है, एवं भूमहिमा में अमृतअग्निसोमरूप देवताओं का प्रभुत्व है। मर्त्य भूपिण्ड में से अर्करूप से बाहिर निकलने वाले अमृतरूपप्राणमूर्ति अग्नि, एवं सोम, बाहिर निकलते हुए अपनी पाँच संस्थाएँ बनाते हैं।

रोदसी त्रैलोक्य की अपेक्षा से बृहतीछन्द नाम से प्रसिद्ध विषुवद्वृत्त पर स्थिररूप से

**देवासुरप्रतिस्पर्द्धा**—प्रतिष्ठित सूर्य्य के चारों ओर सौर प्रकाशमण्डल के गर्भ में नियत क्रान्ति-वृत्त पर समहिम भूपिण्ड परिक्रमा लगाया करता है। परिक्रममाणा इस पृथिवी का अर्द्धभाग सदा सूर्य्य के सम्मुख रहता है, एवं आधा भाग सदा विमुख रहता है। पृथिवी का जो भाग सूर्य्य की ओर रहता है, उस भाग की ओर सौर तेज (प्रकाश) अविच्छिन्न रूप से पृथिवी पर आया है। इसी सौर प्रकाश के सम्बन्ध से इस ओर का पार्थिव प्राणाग्नि प्रकाशित रहता है। प्रकाश अग्नि का धर्म्म नहीं है, अपितु "रूपं रूपं मघवा बोभवीति" (ऋक्सं० ३।५३।८) के अनुसार सौर मघवा इन्द्र ही प्रकाश-लक्षण है। अग्नि केवल तापलक्षण है। इस ज्योतिर्म्मय इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से सौरप्राणानुगत पार्थिव अग्नि भूतप्रधान होता हुआ भी "देवता" नाम से व्यवहृत होने लगता है। देवप्राणगर्भित (सौरप्राणगर्भित), अतएव ज्योतिर्म्मय इसी पार्थिव सूर्य्यानुगत अग्नि को "देवानां दूतः" कहा जाता है। पृथिवी का वह अर्द्धभाग, जिस ओर सौरज्योति का सम्बन्ध नहीं होता, उस ओर भी प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। क्योंकि केन्द्र से निकलने वाला यह प्राणाग्नि चारों ओर व्याप्त होता हुआ वर्त्तुलवृत्त बनकर महिमामण्डल का स्वरूपसम्पादक बनता है। सूर्य्य की विरुद्ध दिक् में प्रतिष्ठित अर्द्धमण्डलस्थ इस प्राणाग्नि में प्रकाश का अभाव है, यह विशुद्ध कृष्णमूर्त्ति है, तमोमय है, अत एव आसुर भावापन्न है। तम, और माया, असुरों की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति मानी गई है—(देखिए शत० २।४।२।४)। अत एव आसुरप्राणप्रधान इस अर्द्ध पार्थिव प्राणाग्नि को "असुराणां दूतः" कहा जाता है। देवदूत-अग्नि है, असुरदूत सहरक्षा है। इस प्रकार दिग्भेद से मण्डलावच्छिन्न एक ही पार्थिव प्राणाग्नि के दो रूप होजाते हैं। दोनों की मूलप्रतिष्ठा भूकेन्द्रस्थ अमृतमृत्युमय हृदय प्रजापति ही है। सूर्य्यविरुद्धभागानुगता अतएव मलीमस प्राणमयी पृथिवी सौर प्रकाश के कट जाने से "दितिपृथिवी" (प्रकाश से वञ्चित पृथिवी) कहलाती है, एवं सूर्य्यभागानुगता, अतएव ज्योतिर्म्मयी पृथिवी सौर प्रकाश के अविच्छिन्न सम्बन्ध से "अदितिपृथिवी" नाम से व्यवहृत होती है। यहां पृथिवी अर्द्धभाग से अदिति है, अर्द्धभाग से दिति है। अदिति में ज्योतिर्म्मय देवता प्रतिष्ठित हैं, दिति में तमोमय असुरों का साम्राज्य है। पूर्व कथनानुसार दोनों उसी हृदय प्रजापति की सहजन्मा सन्तान हैं। दिति-अदिति, दोनों इस हृदय प्रजापति की पत्नियाँ हैं। भूपिण्ड इन्द्रयज्ञ के द्वारा नैरन्तर्य्य प्राप्त करता हुआ घूमता है। इस भूपरिभ्रमण से दिति-अदिति गर्भ में प्रतिष्ठित असुर, एवं देवप्राण का परस्पर में सम्बन्ध सिद्ध होजाता है। यही देवता, एवं असुरों की प्रतिस्पर्द्धा है। दोनों के समुच्चय से ही भौतिक जड़ चेतन पदार्थों की

उत्पत्ति होती है। अतएव प्रत्येक पदार्थ में अपेक्षाकृत तारतम्य से विभूतिसम्बन्ध से देव–आसुर, दोनों भाव उपलब्ध होते हैं, जैसा कि आगे आने वाले कर्म्मात्मनिरूपण-प्रकरण में स्पष्ट होजायगा।

पार्थिव केन्द्राश्रितत्त्व पार्थिव प्रजा का अधिष्ठाता होने से "प्रजापति" नाम से प्रसिद्ध

**विस्रस्त–पार्थिव प्रजापति—** है। अग्निमूर्त्ति यह प्रजापति अपने विशकलनरूप स्वरूप-धर्म्म के कारण निरन्तर विस्रस्त होता रहता है। विस्रंसन प्रजापति का स्वाभाविक कर्म्म है। इस विस्रंसि के कारण ही इस सोमगर्भित प्राणाग्नि की अग्नि--वायु- आदित्य -दिक्सोम--भास्वरसोम, ये पांच अवस्थाएँ हो जाती हैं। यहां इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि, रोदसी-त्रिलोकी में जिन अग्निवायु सूर्य्य चन्द्रमा का दिग्दर्शन कराया गया है, वे सवथा पृथक तत्त्व हैं, एवं उक्त अग्न्यादि स्वतन्त्र तत्त्व हैं। नाम साम्य मात्र से इन में साकर्य का भ्रम नहीं करना चाहिए। विस्रस्त पार्थिव अग्नि रसरूप में परिणत होकर वाङ्मय आधारपात्ररूप वषट्कार मण्डल में प्रतिष्ठित होता है। सौर अग्नि सम्वत्सराग्नि कहलाता है, एवं पार्थिव अग्नि "उख्याग्नि" नाम से प्रसिद्ध है। विस्रस्त पार्थिव प्रजापति की क्षतिपूर्ति इसी सौर सवत्सराग्नि से होती है। कैसे होता है?, इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए आग्रमंस्फोर–विज्ञान की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

"अग्निसोमात्मकं जगत्" यह हमारा ध्रुव सिद्धान्त है। स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा

**पटुचक्रात्मक पार्थिव विवर्त्त—** पृथिवी, इन पांच उपेश्वरों की समष्टि ही विश्व है। यह विश्व शुक्र की प्रधानता से वास्तव में अग्निसोमात्मक ही बना हुआ है। अमृतभाव प्रधान *वाक्–आपः–अग्नि, मर्त्यभावप्रधान अग्नि–आपः–वाक् ये ६ करप्रधान शुक्र ही विश्व के मूल उपादान हैं। इन ६ ओं में मध्य के दोनों अग्नियों का एक ही स्थान में समावेश है, फलतः ५ ही विवर्त्त रहजाते हैं। वाङ्मय अमृत शुक्र का प्राणप्रकृतिक स्वयम्भू से सम्बन्ध है। आपामय अमृत शुक्र का अप्प्रकृतिक परमेष्ठी से सम्बन्ध है, अमृताग्नि शुक्र, एवं मर्त्याग्नि इन दोनों का वाक्प्रकृतिक सूर्य्य से सम्बन्ध है। मर्त्य आप शुक्र का अन्नप्रकृतिक चन्द्रमा से सम्बन्ध है। मर्त्यवाक् शुक्र का अन्नादप्रकृतिक भूपिण्ड से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में यों कहा जासकता है कि, जहां प्रकृति की अपेक्षा से विश्व के स्वयम्भू परमेष्ठी, आदि पांचों पर्व क्रमशः प्राणमय–आपोमय–वाङ्मय–अन्नमय–अन्नादमय कहलाते हैं, वहां शुक्रापेक्षया ये ही क्रमशः अमृतवाङ्मय, अमृतापोमय–अमृतमर्त्याग्निमय–मर्त्यापोमय–मर्त्यवाङ्मय,

* इन ६ ओं शुक्रों का सोपपत्तिक विवरण ईशोपनिषत् हिन्दी विज्ञान भाष्यान्तर्गत शुक्र निरुक्ति प्रकरण में देखना चाहिये।

इन नामों से व्यवहृत किए जासकते हैं। यदि प्रकृतिभाव की दृष्टि से इन अग्निषोमात्मक शुक्रों का विचार किया जाता है, तो स्वयम्भू प्राणाग्नि है, सूर्य्य वागग्नि है, पृथिवी अन्नादाग्नि है, परमेष्ठी आपोमय सोममूर्त्ति है, चन्द्रमा अन्नमय सोममूर्त्ति है। यदि शुक्र की दृष्टि से ही विचार किया जाता है, तो स्वयम्भू वागग्नि है, सूर्य्य अमृतमृत्योग्नि है, पृथिवी वागग्नि है। परमेष्ठी एवं चन्द्रमा आपोमय सोममूर्त्ति है।

| भौतिकपिण्ड | प्रकृत्यपेक्षया | शुक्रापेक्षया | |
|---|---|---|---|
| १—आकाशात्मा स्वयम्भूः | प्राणाग्निमयः | अमृतवागग्निमयः | अग्निः |
| २—वाय्वात्मा परमेष्ठी | अप्सोममयः | अमृतआपोमयः | सोमः |
| ३—तेजोमयः सूर्य्यः | वागग्निमयः | अमृतमर्त्याग्निमयः | अग्निः |
| ४—जलमूर्त्तिश्चन्द्रमाः | अन्नसोममयः | मर्त्यापोमयः | सोमः |
| ५—मृण्मयो भूपिण्ड | अन्नादाग्निमयः | मर्त्यवागग्निमयः | अग्निः |

"अग्नीषोमात्मकं जगत्"—इत्याहुः।

इन में स्वायम्भुवअग्नि अपौरुषेय वेद सम्बन्ध से वेदाग्नि नाम से, यजुः सम्बन्ध से पार्थिवाग्नि के विविध विवर्त्त—सार्वयाजुषाग्नि, सत्यावाक् के सम्बन्ध से सत्याग्नि, ब्रह्मा के सम्बन्ध से ब्रह्माग्नि, अश्वत्थ के अवयवभूत अमृत के सम्बन्ध से अमृताग्नि इत्यादि अनेक नामों से प्रसिद्ध है।

और अग्नि पौरुषेय वेद के सम्बन्ध से पुरुषाग्नि, ज्योतिर्म्मयी गायत्री के सम्बन्ध से गायत्र्याग्नि, संवत्सरप्रवृत्ति से संवत्सराग्नि, अङ्गिरा के सम्बन्ध से अङ्गिरोऽग्नि, देव-प्राण के विकास से देवाग्नि, अश्वत्थ के अवयवभूत ब्रह्मभाग के सम्बन्ध से ब्रह्माग्नि, इत्यादि रूप से अनेक नामों से प्रसिद्ध है।

तीसरा पार्थिव अग्नि यज्ञमात्रिक वेद के सम्बन्ध से यज्ञाग्नि, अष्टावयव-सम्बन्धिनी तमोभागी गायत्री के सम्बन्ध से गायत्राग्नि, उख्यभाव के सम्बन्ध से उख्याग्नि, क्षरप्रधान भूत के सम्बन्ध से भूताग्नि, अश्वत्थ के अवयवभूत शुक्र भाग की प्रधानता से शुक्राग्नि, आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है।

१—वागग्निः———————शुक्र की अपेक्षा से
२—प्राणाग्निः—————प्रकृति की अपेक्षा से
३—वेदाग्निः——————अपौरुषेय वेद की अपेक्षा से
४—सार्वयाजुषाग्निः——यजुर्वेद की अपेक्षा से
५—सत्याग्निः—————सत्यावाक् की अपेक्षा से
६—ब्रह्माग्निः—————अक्षर ब्रह्म की अपेक्षा से
७—अमृताग्निः————अमृत भाग की अपेक्षा से

} →स्वयम्भूः १

——:*:——

१—अमृतमर्त्याग्निः——शुक्र की अपेक्षा से
२—वागग्निः—————प्रकृति की अपेक्षा से
३—पुरुषाग्निः—————पौरुषेय वेद की अपेक्षा से
४—गायत्राग्निः————ज्यो० गायत्री की अपेक्षा से
५—सम्वत्सराग्निः———संवत्सरापेक्षा से
६—अङ्गिरोऽग्निः————पारमेष्ठ्य अङ्गिरा की अपेक्षा से
७—देवाग्निः——————देवप्राण की अपेक्षा से
८—ब्रह्माग्निः——————ब्रह्म भाग की अपेक्षा से

} →सूर्यः २

——:*:——

१—मर्त्यवागग्निः———शुक्र की अपेक्षा से
२—अन्नादाग्नि ———प्रकृति की अपेक्षा से
३—यज्ञाग्निः——— —यज्ञमात्रिक वेद की अपेक्षा से
४—गायत्राग्निः———र सोममयी गायत्री की अपेक्षा से
५—उक्थाग्निः————महिमा के सम्बन्ध से
६—भूताग्नि.————भूत की अपेक्षा से.
७—शुक्राग्निः————शुक्रभाग की अपेक्षा से

} →पृथिवी १

——:*:——

यद्यपि—"अन्नाद एवान्यतरोऽभवत्, अन्नमन्यतरः। अन्नाद एवाग्निरभवत्, पार्थिवाग्नि का अन्नादत्व—अन्नं सोमः। अन्नादश्च वाऽइदं सर्वमन्नं च" (शत० ११-का० ।१ अ०।६ ब्रा०।१६ कं० ) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार स्वायम्भुव- सौर-पार्थिव, इन तीनों

हो अग्नियों को अग्निसम्बन्ध से अन्नाद कहा जासकता है, एवं पारमेष्ठ्य-चान्द्र, दोनों सोमों को अन्न कहा जासकता है। तथापि प्रकृतिभाव की अपेक्षा से केवल पार्थिव अग्नि को ही अन्नादाग्नि कहा जायगा, एवं केवल चान्द्रसोम को ही अन्नसोम कहा जायगा। प्राणादि पाँचों प्रकृतियों में अन्नादप्रकृति का केवल पृथिवी में, एवं अन्नप्रकृति का केवल चन्द्रमा में ही विकास होता है। अन्न केवल चान्द्रसोम है। इसे न स्वायम्भुव अग्नि खाता, न सौरअग्नि। इस की आहुति एक मात्र पार्थिव अग्नि में ही होती है। अन्न (चान्द्र) सोम को खाने वाला तो केवल पार्थिव अग्नि ही है, इसलिए भी पार्थिव अग्नि को ही अन्नाद कहना न्यायसंगत होता है। अन्नाद अग्नि की अन्न-व्यवस्था नियत है, और वाग्नि का अन्नव्यवस्था अनियत है। उदाहरण के लिए पार्थिव-अन्नादाग्नि-प्रधान पुरुष को ही लीजिए। हमारे लिए "सायंप्रातरश्नीयात्" (शत० २।४।२।६) के अनुसार अन्नव्यवस्था सर्वथा नियत है। सायं-प्रातः हमें नियतमात्रा में अन्न खाना पड़ता है। परन्तु सौर अग्नि निरन्तर अन्न खाया करता है। अन्नादाग्नि का अन्न अप्‌गर्भित चान्द्रसोम है, सौराग्नि का अन्न ब्रह्मणस्पतिसोमगर्भित पारमेष्ठ्य आपः है। स्वायम्भुव अग्नि केवल आवपनमात्र है। जहाँ प्रतिष्ठित होकर सौर, एवं पार्थिव अग्नि अन्न खाते हैं, ऐसा संभव है। इस प्रकार यह मानलेने मे कोई आपत्ति नहीं हो जासकती कि, केवल पार्थिव अग्नि ही "अन्नाद" है।

उपर्युक्त अग्नि अपनी-अपनी संस्था के प्रजापति हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में सृष्टिधारा के

**कृष्णाजिन, और पुष्करपर्ण**—सम्बन्ध में स्थान स्थान पर प्रजापति शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह प्रजापति शब्द किसी एक अर्थ मे सम्बन्ध न रखता हुआ प्रकरणभेद से भिन्न-भिन्न तत्वों का ही सूचक बनता है। प्रकृत में अन्नादमूर्ति पार्थिव प्रजापति ही अभिप्रेत है। इस को 'अन्नाद, एवं उख्य' भेद से दो प्रधान अवस्थाएँ हैं। जब तक पार्थिव अग्नि भूपिण्ड मे प्रतिष्ठित रहता है तबतक तो अन्नाद नाम की पाँचवी प्रकृति से अनुगृहीत रहता हुआ यह 'अन्नादाग्नि' नाम से ही व्यवहृत होता है। यही अन्नाद विसस्त होता हुआ भूपिण्ड से बाहिर निकलकर क्रमशः अग्न्यादि देवतारूप मे परिणत होता हुआ 'उख्याग्नि' नाम से प्रसिद्ध होता है। पूर्वोक्त ब्रह्मसत्य" देवसत्य विज्ञान के अनुसार अन्नाद ब्रह्मसत्य का अवयव है। अतः अन्नादाग्निमूर्ति इस भूपिण्ड को हम "ब्रह्मसत्यात्मा" नामक भूतात्मा ही कहेंगे। दूसरा प्राणमूर्ति उख्याग्नि देवमूर्ति है, अतः इसे देवसत्यात्मा नामक प्राणात्मा कहेंगे। हाँ तो निष्कर्ष यह निकला कि, अन्नादाग्नि से भूपिण्ड का, एवं उख्याग्नि से उख्या पृथिवी नाम से प्रसिद्ध महापृथिवी का स्वरूप निष्पन्न हुआ

है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार मर्त्यभूतभागप्रधान, चीयमान अन्नादाग्नि "चित्याग्नि" नाम से, एवं अमृतप्राणभागप्रधान चित्य पर निहित उख्याग्नि 'चितेनिधेय' नाम से व्यवहृत हुआ है। चयनविज्ञान के अनुसार अन्नादाग्निमूर्त्ति भूपिण्ड कृष्णाजिन है, एवं उख्याग्निमूर्त्ति महापृथिवी पुष्करपर्ण है। कृष्णाजिनमूर्त्ति भूपिण्ड ही अयाढा नाम से भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार निम्न लिखित निगम वचनों के अनुसार अग्नि पार्थिव उभयविध अग्नि के उक्त नामों की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

१—
१-"अन्नादोऽग्निः" (शत० ७।१।४।१८)।
२-"अन्नाद एवाग्निः" (शत० ११।१।६।१६)।
३-"अन्नादो वा एषोऽन्नपतिर्यदग्निः" (ऐ० १।८)।
४-"इय वाऽअग्निः" (शत० ७।३।१।२२)।
}→अन्नादाग्निः-भूः

—#—०—#—

२—
१-"अयं वा अग्निरुख्यः" (शत० ८।२।१।४)।
२-"इमे वै लोका उखा" (शत० ६।५।२।१७)।
३-"योनिर्वा उखा" (शत० ७।५।२।२)।
४-"इमे वै लोका एषोऽग्निः" (शत० ६।७।१।१६)।
}→उख्याग्निः-पृथिवी

—०—०—

१—
१-"चेतव्यो ह्यासीत् तस्माच्चित्यः" (शत० ६।१।२।१६)।
२-"अयं वाव लोकोऽग्निश्चितः" (शत० १०।१।२।२)
३-"यच्चेतयमाना अपश्यंस्तस्माच्चितयः" (श० ६।२।२।९)।
४-"पञ्च ह्येतेऽग्नयो यदेताश्चितयः" शत० ६।२।१।११)।
५-"अयमेव मयोऽयमग्निश्चीयते" (शत० ६।१।१।५)।
}→चित्याग्निः-भूः

—०—०—

२—
१-"अथ यच्चितेऽग्निर्निधीयते, यदेवैतेषां श्रीः, यो रसः, तमूर्ध्वं समुदूहन्ति" (शत० ६।१।१।६)।
}→चितेनिधेयाग्निः-पृथिवी

—०—#—०—

१—
१-"इयं वै कृष्णाजिनम्" (शत० ६।४।१।९)।
२-"तस्य (अग्नेः) एष स्वो लोको यत्कृष्णाजिनम्" (शत० ६।४।१।६)।
३-"यज्ञो वै कृष्णाजिनम्" (शत० ६।४।१।६)।
}→कृष्णाजिनम्-भूः

—:०:—

१-"इयं वै पुष्करपर्णम्" (शत० ७।४।१।१२)।
२—२- 'वाक्पुष्करपर्णम्' (शत० ६।४।१।७)। } –पुष्करपर्णम्-पृथिवी
३-"योनिर्वै पुष्करपर्णम्" (शत० ६।४।१।७)।

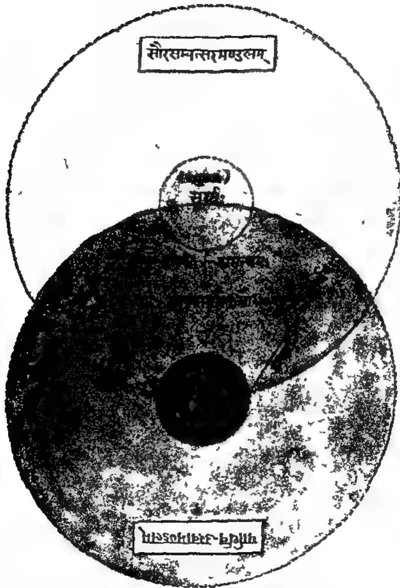
———०———

भूपिण्ड गार्हपत्यकुण्ड है। इस में रहने वाला अन्नादाग्नि गार्हपत्याग्नि है। द्युत्यग्नि-अग्निचितिरहस्य—लोकी आहवनीयकुण्ड है। पार्थिवअन्नाद ही प्राणप्रधान बनकर इस में प्रतिष्ठित होता है, अत एव इस उक्थआहवनीयाग्नि को आहुत (लेगया हुआ) कहाजाता है। यही कारण है कि, इस नित्य प्राकृतिक यज्ञ के आधार पर वितत वैध यज्ञ में गार्हपत्यअग्नि को ही तत्पूर्वस्थ आहवनीयकुण्ड में ऋत्विक् लोग प्रतिष्ठित करते हैं।

सौर सम्वत्सराग्नि पृथिवी की ओर निरन्तर आया करता है, ठीक इसके विपरीत पार्थिव विस्रस्त अन्नादाग्नि सम्वत्सर की ओर जाया करता है। सूर्य्य से आनेवाला सम्वत्सराग्नि सत्य-धर्म्मा होनेके कारण भूपिण्ड से टकराकर परावर्त्तित होता हुआ उसी अपने मण्डल ( सम्व-त्सर ) में प्रतिष्ठित होजाता है। भूपिण्डाघात से प्रतिफलित, गायत्रीमात्रिक नाम से प्रसिद्ध-पौरुषेय वेदावच्छिन्न ( ऋक्-यजुः-सामावच्छिन्न ), सम्वत्सरमण्डल में प्रतिष्ठित, अत एव सम्वत्सररूप यही सौराग्नि तत्रस्थ उक्थाग्नि में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता हुआ, इस पार्थिव अग्नि की पुष्टि का कारण बनता हुआ इस का अन्न बन जाता है। सीधे शब्दों में प्रति-फलित सम्वत्सराग्नि पार्थिव अग्नि का अन्न है। पार्थिव अग्नि अस्मदादि प्रजा निर्म्माण में विस्रस्त ( खर्च ) होता रहता है। इस कमी की पूर्त्ति सम्वत्सराग्नि से ही होती है। सौर सम्वत्सर, एवं पार्थिव उक्थाग्नि का एक स्थान पर समन्वय होता है। इसी सम्बन्ध से सम्वत्सराग्नि द्वारा पार्थिव अग्नि का संस्कार होता रहता है। दूसरे शब्दों में वेदावच्छिन्न अतएव ऋग्-यजु-साम मूर्त्ति सौर अग्नि की विस्रस्त पार्थिव अग्नि में चिति होती रहती है, अत एव यह अग्नि-यज्ञ ( अग्नि में अग्नि का आहुत होना ही अग्नि यज्ञ है ) "चित्या-चिति-चयन" आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है।

विस्रस्त पार्थिवाग्नि प्राणदपातत व्यापार से उक्थ त्रिलोकी में जाता है, अत एव अश्व-महाव्रत-उक्थ्य परिचय—"अचश्चरति" इस ब्राह्मणोक्त निर्वचन के अनुसार इसे "अर्क" कहा जाता है। यह अर्काग्नि यद्यपि प्रातिस्विकरूप से एक ही स्वरूप रखता है, परन्तु इस की विस्रति की पूर्त्ति ( क्षतिपूर्त्ति ) करने वाला, अत एव 'अग्नि' होते हुए भी "अन्न"

## सौरसम्वत्सरः




"स एष एवार्कः—यमेतमत्राग्निमाहरन्ति । तस्यैतदन्नं क्यं, योऽयमग्निश्चितः ।
तदर्क्यं यजुष्टः । एव एव महान् । तस्यैतदन्नं व्रतम् । तन्महाव्रतं सामतः ।
एष उ एव उक् । तस्यैतदन्नं थम् । तदुक्थं ऋक्तः" ( श० १०।१।५।२४। )

श्रीवालचन्द्रयन्त्रालय, जयपुर।

नाम से प्रसिद्ध, ऋग्-यजु-सामरूप-सम्वत्सराग्नि के सम्बन्ध से इस के अर्क्य-महाव्रत-उक्थ्य, ये तीन रूप होजाते हैं। आत्मरूप अन्नादाग्नि में आहुत होने वाला अन्न अन्तर्याम सम्बन्ध से आत्मसात् बनता हुआ आत्मा ही बन जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने अन्नावच्छिन्न पार्थिव अग्नि को 'अर्क्य-महाव्रत-उक्थ्य' नामों से व्यवहृत किया है। अर्क-महा-उक्-इन तीनों की समष्टि अन्नादाग्नि है, एव-क्यम्-व्रतम्-थम् इन तीनों की समष्टि सम्वत्सराग्निरूप अन्न है। क्यं-यजुरूप अन्न हैं। इस के सम्बन्ध से पार्थिव-अर्काग्नि 'अर्क्यम्'' बना हुआ हैं। व्रत-सामरूप अन्न हैं। इस के सम्बन्ध से पार्थिव-महदग्नि ''महाव्रतम्' बना हुआ है। थ-ऋग्रूप अन्न है। इस के सम्बन्ध से पार्थिव उगग्नि ''उक्थम्'' बना हुआ है। इस प्रकार एक ही पार्थिव अग्नि ऋग्-यजु-साममय उक्-क्य-व्रतम्-सम्वत्सराग्निरूप अन्नभेद से त्रिमूर्त्ति बन रहा है। अर्क्याग्नि को ही परोक्ष-भाषा में-''कयम्'' कहा जाता है। इस प्रकार ऋग्यजु सामात्मक सौर सम्वत्सराग्नि, एवं पार्थिव अन्नादाग्नि ( उक्थ्याग्नि ) का परस्पर सम्बन्ध होता रहता है। जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहा है।

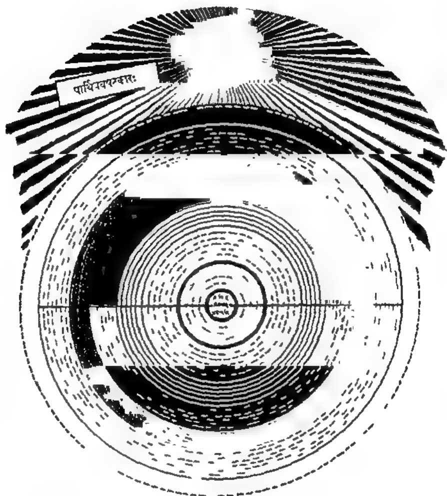
जिस स्थान पर वेदावच्छिन्न सौर सम्वत्सराग्नि, एवं विलक्षण पार्थिव उक्थ्याग्नि, इन वाक्साहस्री-स्वरूपपरिचय—दोनों का समन्वय होता है, वही प्रदेश विराट्-पुरुष की आधार-भूमि है। दूसरे शब्दों में अदितिमण्डल को विराट् की प्रतिष्ठा माना जासकता है। पूर्वमें पृथिवी के दिति, और अदिति, दो भेद बतलाए गए हैं। भूपिण्ड के लिए 'भूमि, पृथिवी, दिति, अदिति, मेदिनी, सागराम्बरा, मही, अपादा' इत्यादि अनेक शब्द व्यवहृत हुए हैं। भूपिण्डत्वेन इन सब में यथाकथञ्चित् पर्याय सम्बन्ध मान लेने पर भी विज्ञान दृष्टया सभी शब्द भिन्न भिन्न वस्तुतत्त्व के वाचक हैं। सुप्रसिद्ध भूपिण्ड ही भूमि है। इसी को अन्नादाग्निमूर्त्ति कहा गया है। आगे जाकर भूपिण्डस्थ प्राणाग्नि रस का वाक् के आधार पर प्रथन होता है। अर्थात् भूपिण्ड प्राणाग्नि-रसरूप से बाहिर निकल कर अपना मण्डल बनाता है। इस अग्नि के साथ आपः और वाक् नाम के दो शुक्र और हैं। वाक्-आपः-अग्नि का समुच्चित रूप ही भूपिण्ड है। इन तीनों शुक्रों के आधार पर क्रमशः द्यौ-गौ-वाक्, इन तीन पार्थिव मनोताओं का उदय होता है। स्मरण कीजिए हृदय प्रजापति का। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र की समष्टि ही हृदय प्रजापति है। इन में ब्रह्मा एकाकी है, विष्णु के साथ सोम का सम्बन्ध है,

इन्द्र के साथ अग्नि का सम्बन्ध है। ब्रह्मास्तर सौम्य है, विष्णुसोमास्तर गौमय है, इन्द्राग्निस्तर वाङ्मय है। अग्निस्तररूप पहिली संस्था 'अग्निर्भूस्थानः' के अनुसार भूः (महापृथिवी) है, आपस्तररूप दूसरी संस्था गौमय भुवः है, एवं वाक्स्तररूप तीसरी संस्था सौम्य स्वः है। केन्द्रस्थ यही तत्त्व रस रूप से ऊर्ध्वगमन करते हुए अपनी तीन संस्थाएं बनाते हैं। वाङ्मय ब्रह्मा केन्द्र से बद्ध रहते हुए प्राणरूप से जहां तक वितत होते हैं, वहां तक वाक्शुक्र व्याप्त रहता है। यही सर्वाधारभूता सौमयी पहिली संस्था है। इस में एक सहस्र मनःप्राणगर्भिता-वाग् विवर्त्त माने जाते हैं। अत एव आलम्बन रूप यह वाक्स्तर "वाक्साहस्री" नाम से प्रसिद्ध है। इसी का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥

( ऋक्सं० १०।११४।८ )

इन सहस्र वाक्-तत्त्वों में से ३०-३० वाक्-राशि का एक एक अहर्गण होता है। इस संख्या क्रम से ९०० वाग्रश्मियों के कुल ३३ अहर्गण होजाते हैं। १० अहर्गण शेष रह जाते हैं। यही उच्छिष्ट भाग रूप चौतीसवाँ प्राजापत्य अहर्गण है—"प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः"(शत० ४।५।७।१) है। वाङ्मय ३३-अहर्गणों में तीन अहर्गणों का भोग तो भूकेन्द्रस्थ ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, इन तीन हृदयाक्षरों के साथ होजाता है। दूसरे शब्दों में तीन अहर्गण तो भूपिण्ड में ही अन्तर्भूत हैं। शेष भूपृष्ठ से आरम्भ कर पूरे वाङ्मण्डल में ३० अहर्गण बच जाते हैं। इन ३० में से ६-६-अहर्गणों का एक एक स्वतन्त्र विभाग होता है। भूकेन्द्रस्थ ३ अहर्गणों के साथ ६ अहर्गणों को मिला दीजिए। इन ९ अहर्गणों का एक स्तोम त्रिवृत्स्तोम कहलाएगा। इन में ६ और मिला दीजिए। इन १५ अहर्गणों का दूसरा स्तोम पञ्चदशस्तोम कहलाएगा। और ६ अहर्गणों के योग से एकविंशस्तोम का, और ६ अहर्गणों के योग से त्रिणवस्तोम का, एवं और ६ अहर्गणों के योग से त्रयस्त्रिंशस्तोम का स्वरूप संपन्न होगा। इस प्रकार ९-१५-२१-२७-३३ इस क्रम से पांच प्रधान स्तोम होजायेंगे। यही पञ्चस्तोमात्मक वाङ्मण्डल बहिर्मण्डल कहलाएगा। जिसप्रकार अन्तर्मण्डलरूप भूपिण्ड का एक निश्चित केन्द्र होता है, एवमेव अहर्गणात्मक इस बहिर्मण्डल का भी एक स्वतन्त्र केन्द्र होता है। वह स्थान सत्रहवाँ अहर्गण माना गया है। ३३ का केन्द्र १७ वाँ ही बन सकता है। यही स्थान सप्तदशप्रजापति, उद्गी-




शर्मा आर्ट्स इलक्ट्रिक प्रेस अजमेर।

वषप्रजापति, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यही ६ ठा सप्तदशस्तोम है। इस प्रकार ब्रह्ममयी वाक् के ६ स्तोम होजाते हैं। इन्हीं ६ स्तोमों के कारण यह व क्रमण्डल "वषट्कार" कहलाया है। वाक् का षट्कार (६ स्तोम) ही "वाक्-षटकार" है। परोक्ष-भाषानुसार वाक्-षट्कार ही वषट्कार है।

वाङ्मय स्तोमविवर्त—वाङ्मय वषट्कार में ३३ अहर्गण, किंवा ३ स्तोम बतलाए गए है। यदि और भी सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो ४८ स्तोम हो जाते हैं। त्रयस्त्रिंशदहर्गणात्मक वषट्कार में एकविंश स्तोम पर्य्यन्त इन्द्रात्मक अग्निःशुक्र व्याप्त है, त्रिणवस्तोमपर्य्यन्त विष्णुमय आपःशुक्र की प्रतिष्ठा है, एवं त्रयस्त्रिंशस्तोम पर्य्यन्त वाङ्मय ब्रह्मा का साम्राज्य है। ३४वें अहर्गण में विशुद्ध ब्रह्मा प्रतिष्ठित है। अष्टाचत्वारिंशत्स्तोमात्मक वषट्कार में २१ पर्यन्त अग्नि, २३ पर्यन्त आपः, एवं ४८ पर्यन्त वाक् है। इन तीनो की आधारभूमि वही अग्निगर्भित इन्द्र, सोमगर्भित विष्णु, एवं ब्रह्मगर्भिता वाक् है। जहां तक अग्निगर्भित इन्द्र व्याप्त है, वह द्युलोक है, यही 'द्यौ' है। जहां तक विष्णुगर्भित अप्तत्त्व व्याप्त है, वह गोलोक है। एवं ब्रह्मगर्भित 'वाग्लोक ही 'वाक्' है। केन्द्रस्थ अग्निगर्भित इन्द्र, सोमगर्भित विष्णु, तथा ब्रह्म-युक्त वाक् तत्त्व ही वितत होकर ४८ पर्य्यन्त व्याप्त हुआ है। वाक् का यह वितान ही इस का प्रथन है। इसी लिए—"यदप्रथयत्" इस निर्वचन के अनुसार इस भौमविवर्त्त को 'पृथिवी' कहा जाता है। यह पृथिवी उस भूपिण्ड के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में पृथिवी के केन्द्र में भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। इस के चारों ओर प्रथम स्तर अग्नि का है। द्वितीय स्तर आपः (जल) का है, एवं तृतीय स्तर वाक् का है।

इस स्तरभाव का यह अभिप्राय नहीं है कि अग्नि के अनन्तर अप्स्तर का, एवं अप्स्तर के अनंतर वाक्स्तर का आरम्भ होता है। अपितु तीनों स्तरो का उपक्रम भूकेन्द्र ही है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर ४८ पर्य्यन्त व्यापक वाक्स्तर है। केन्द्र से ३३ पर्य्यन्त अप्स्तर है, एवं भूकेन्द्र से २१ पर्य्यन्त अग्निस्तर है। इसी लिए युग्म-अयुग्म स्तोमों की व्यवस्था केन्द्र से ही की जाती है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ पर्य्यन्त प्रतिष्ठित रहने वाले उपर्युक्त त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश, ये ६ ओं स्तोम अयुग्मस्तोम हैं। एवं केन्द्र से ४८ पर्य्यन्त गायत्री के सम्बन्ध से चतुर्विंशस्तोम, त्रिष्टुप् के सम्बन्ध से चतुश्चत्वारिंशस्तोम, एवं जगती के सम्बन्ध से अष्टाचत्वारिंशस्तोम, ये तीन छन्दोमास्तोम हैं। ये ही "युग्मन्ति स्तोमानि" हैं।

भूपिण्ड पञ्चीकृत प्राणादि से निष्पन्न हुआ है। ऐसी अवस्था में इस में ब्रह्मादि पाचों

लोकसाहस्री-स्वरूपपरिचय —अक्षरों से नित्य युक्त; प्राणादि पांचों क्षरप्रकृतियों की सत्ता सिद्ध होजाती है। भूपिण्ड में प्राणमय ब्रह्मा, आपोमय विष्णु, वाङ्मय इन्द्र, अन्नादमय अग्नि, अन्नमय सोम, पांचों का भोग सिद्ध है। ये पांचो ही भूतात्मक, प्राणात्मक ( देवात्मक ), भेद से दो भागों में विभक्त हैं। इन मे भूतात्मक पांचों से तो भूपिण्ड का निर्म्माण हुआ है, एवं प्राणात्मक पांचों वषट्कारात्मिका पृथिवी के स्वरूप समर्पक हैं। भूपिण्ड में केन्द्र और पिण्ड, ये दो भाग हैं। इन में केन्द्र में ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-प्रतिष्ठित है। स्वयं पिण्ड भूतप्रधान अग्नीषोममय है। इस प्रकार भूपिण्ड में पांचों का भोग सिद्ध होजाता है। पृथिवी के २१ पर्य्यन्त अग्निगर्भित इन्द्र है, ३३ पर्यन्त सोमगर्भित विष्णु है, एवं ४८ पर्यन्त ब्रह्मा है। इस स्तोम क्रम से पृथिवी में अमृत प्रधान इन पांचो का भोग सिद्ध होजाता है। स्वयम्भू का जो अंश प्रवर्ग्य बन कर पृथिवी में आता है, वही ४८ स्तोम में प्रतिष्ठित होकर पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु बन जाता है। परमेष्ठी का प्रवर्ग्यांश ३३ पर प्रतिष्ठित है। एवं सूर्य्य का प्रवर्ग्यांश २१ पर प्रतिष्ठित है। चन्द्रमा स्वयं पृथिवी का ही वषट् है। अष्टाचत्वारिंशस्तोम पृथिवी की अन्तिम परिधि है। इस का जगती छन्द से सम्बंध है। अतः समष्ट्यात्मिका भूपिण्डयुक्ता इस महापृथिवी को हम-"जगती" कहेंगे। "यत् किञ्च जगत्यां जगत्" (ईशोपनिषत्) से यही जगती अभिप्रेत है। यदि ३३ वें अहर्गण पर्यंत पृथिवीलोक अपेक्षित है, तो ऐसी अवस्था में इसे हम जगती न कह कर "सागराम्बरा" कहेंगे। कारण, ३३ का स्तर आपोमय है। यही सागर (अर्णवसमुद्र) अस्यपरिच्छिन्न पृथिवी का आवरण बना हुआ है। यदि २१ त्रिणवस्तोमपर्य्यन्त पृथिवी लोक अपेक्षित है, तो ऐसी अवस्था में इस पृथिवी को हम "उरव्या" कहेंगे। कारण, उरव्याग्नि एकविंश पर्य्यन्त ही व्याप्त है। यदि अन्तरिक्ष पर्य्यन्त पृथिवी लोक अपेक्षित होगा, तो उस अवस्था में हम इसे "मेदिनी" कहेंगे। कारण, मेदभाव-प्रवर्त्तक घृताक वायु अन्तरिक्षस्थानीय इसी पञ्चदश स्तोम में व्याप्त है। यदि केवल पिण्ड ही लक्ष्य रहेगा, तो उस अवस्था में हम इसे "भूमि" कहेंगे। यहां प्रथन का अभाव है। जगती-सागराम्बरा-उरव्या-मेदिनी-दिति-अदिति, सब का प्रथन भाव से सम्बन्ध है, अतः इन सब को पृथिवी नाम से व्यवहृत किया जासकता है। पृथिवी इन का साधारण नाम है। परन्तु-पिण्डभाग केवल भूमिः-धरा-धरित्री-धरणी-क्ष्मा-इत्यादि नामों से ही व्यवहृत होगा। फलतः विज्ञान काण्ड में भूमि और पृथिवी को परस्पर में पर्य्याय समझना, एवं उक्त जगती आदि नामों में पर्य्याय सम्बन्ध मानना नितान्त असंगत हो जाता है।

ब्रह्म के सम्बन्ध से पूर्व में वाक्-साहस्री का दिग्दर्शन कराया गया है। प्रसंगोपात्त-लोक-वेद-साहस्री का भी नाम मात्र जान लेना अनावश्यक न होगा। अग्निमूर्त्ति इन्द्र ही वेद साहस्री का प्रवर्त्तक है। २१ पर्यन्त व्याप्त रहने वाला इन्द्रमूर्त्ति अग्नि अग्नि-वायु-आदित्य, इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। इन्हीं तीनों से क्रमशः यज्ञस्वरूप समर्पक, अत एव यज्ञमात्रिक नाम से प्रसिद्ध पार्थिव छन्दात्मक ऋक् यजु -साम का विकास होता है। यही वेदसाहस्री है। सोमगर्भित विष्णु ही लोकसाहस्री के प्रवर्त्तक हैं। ३३ पर्यन्त व्याप्त रहने वाला विष्णु मूर्त्ति-सोम, किंवा आप ही मूर्त्तेन्द्र से ३३ पर्यन्त व्याप्त होता हुआ-"पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-आप"-इन चार लोकों का आरम्भक बनता है। यही तीसरी लोकसाहस्री है। इसी त्रयी को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥

(ऋक्सं० ६।६९।८)।

किं तत् सहस्रमिति ?—इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्।"

(ऐ० ब्रा० ६।१५)।

भौम प्रपञ्च के सभी विवर्त्तों का सक्षेप से दिग्दर्शन कराया गया। अब केवल दिति-अदिति का स्वरूप अवशिष्ट रहता है। सक्षेप से उस का भी दिग्दर्शन करा इस आधिभौतिक प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

पृथिवी का वह भाग, जो सूर्य की ओर रहता हुआ प्रकाश से युक्त रहता है, उसी को अदिति-दिति-विवर्त्त—पूर्व में हमनें-अदिति कहा है। उरुगापृथिवी, ३३ यज्ञिय देवता, अग्निचया, वितानयज्ञ, सब कुछ इसी अदिति के गर्भ में प्रतिष्ठित है। विराट् प्रजापति नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति स्वयं ईश्वर प्रजापति भी इसी अदिति के गर्भ में जन्म लेते हैं। अदिति पृथिवी ही जगन्माता है। भूपिण्डस्थ अग्नि की पूर्व में मर्त्य-अमृत, भेद से दो अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। मर्त्य अन्नादाग्नि भूत है, अमृत प्राणाग्नि रस है। यही रसाग्नि ऊपर जाता हुआ रस नाम से प्रसिद्ध होता है। वाङ्मय वषट्कार के त्रिवृत्-स्तोम पर्यन्त यह रसाग्नि घनभाव से रहता है, यही घनाग्नि अग्नि कहलाता है। पञ्चदशस्तोम पर्यन्त वितत होकर यही तरलावस्था में परिणत होजाता है। इसी तरलाग्नि को वायु कहा जाता

है। आगे जाकर वितत होता हुआ यह अग्नि बाष्पावस्था में परिणत होजाता है। इस की स्थिति सप्तदशस्तोम पर है। विरलावस्थापन्न इसी अग्नि को आदित्य कहा जाता है। त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न वषट्कार के अर्द्ध भाग में अमृताग्नि का साम्राज्य है, एवं अर्द्ध भाग में सोम प्रतिष्ठित है। १६ पर्य्यंत अग्नि है, ३३ पर्य्यंत सोम है, सत्रहवां स्थान इस का केन्द्र है। यही आहवनीय है। इस में ऊर्ध्वस्थित सोम की आहुति होती है। इसी सोमाहुति के कारण "आहूयते यत्र सोमः" के अनुसार यह सप्तदशस्तोमावच्छिन्न आदित्याग्नि आहवनीय कहलाता है। आदित्याग्नि दाहक है, सोम दाह्य है। दाह्य सोमाहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित हो जाता है। प्रज्वलित होकर यह एकविंश स्तोम पर्य्यंत व्याप्त होजाता है। इस प्रकार १५ से १७ पर्य्यंत मूलरूप से प्रतिष्ठित रहने वाले इस आदित्याग्नि का २१ स्तोम पर्य्यन्त वितान होजाता है। अग्नि पृथिवी-लोक का अधिष्ठाता माना जाता है, इस सामान्य परिभाषा के अनुसार भूपृष्ठ से आरम्भ कर २१ स्तोमावच्छिन्न इस आग्नेय प्रदेश को हम यज्ञिया-पृथिवी मानने के लिए तय्यार हैं। अग्नित्रय को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली सूर्य्यानुगता यह महापृथिवी ही "अदिति" है। अग्नि की इन्हीं तीन रसावस्थाओं का निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"आपो वाऽअर्कः। तद्यदपां शर आसीत्, तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः। स त्रेधात्मानं व्याकुरुत–आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स एष प्राणः (प्राणाग्निः–अमृताग्निः) त्रेधा विहितः" (शत० १०।६।५।२)।

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न घनावस्थापन्न अग्नि की घनता में तारतम्य है। इसी तारतम्य से इस की अवान्तर आठ अवस्थाएँ हो जाती हैं। तरलावस्थापन्न रुद्रमूर्त्ति वायु की अवान्तर ११ अवस्थाएं ही ११ रुद्र हैं। विरलावस्थापन्न आदित्याग्नि की अवान्तर १२ अवस्थाएं ही १२ आदित्य हैं। इस प्रकार अग्निप्रमुख आठ वसु, वायुप्रमुख ग्यारह रुद्र, इन्द्रप्रमुख १२ आदित्य भेद से ३१ प्राण देवता हो जाते हैं। त्रिवृत्–पञ्चदश, पञ्चदश–एकविंश, इन दो सन्धियों में रहने वाले दो प्राण अश्विनी नाम से प्रसिद्ध हैं। वही अग्नि पहिले अग्नि–वायु–आदित्य, इन तीन स्वरूपों में परिणत होता है। अनन्तर इसी की अवान्तर ३३ अवस्थाएँ हो जाती हैं। ये ही ३३ यज्ञिय देवता हैं। इन्हीं को लक्ष्य में रख कर यजुः-श्रुति कहती है—

इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च।
मनोर्देवा यज्ञियासः॥ (ऋक्सं० ८।३०।२)।

सम्पूर्ण देवता एकमात्र अग्नि के ही विवर्त्त हैं—"अग्निः सर्वा देवताः"—"अग्नि-पुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्" । उक्त तीनों अग्नियों में त्रिवृदवच्छिन्न घनाग्नि गार्हपत्याग्नि है, यह एकाकी है । एकविंशोऽवच्छिन्न आदित्याग्नि आहवनीयाग्नि है, यहभी एकाकी है । मध्य के तरलाग्नि में आठ नाक्षत्रिक सर्प-प्राण प्रविष्ट रहते हैं । इन नाक्षत्रिक धिष्ण्य प्राणों के समावेश से यह आन्तरिक्ष्य अग्नि अष्टकल बन जाता है । इस सक्रिय क्रमसे १—गार्हपत्य, ८ धिष्ण्य, १ आहवनीय, इस प्रकार पार्थिव अग्नि दशकल बन जाता है । यही दशाक्षर विराट् छन्द के अनुसार रुद्रमूर्त्ति विराट् भगवान् हैं, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । जिस प्रकार आग्नेय लोक पृथिवी कहलाता है, एवमेव वायव्यलोक अन्तरिक्ष, एवं आदित्यलोक द्यु नाम से प्रसिद्ध है । इस परिभाषा के अनुसार एक ही अग्नि की व्याप्ति के कारण जहां ९-१५-२१ स्तोमयुक्त महाप्रदेश को हमने महापृथिवी कहा था, एवमेव इस महापृथिवी के गर्भ में प्रतिष्ठित ९-१५-२१, इन तीनों स्तोम प्रदेशों को क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-द्वारा शासित होने के कारण क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं । दूसरे शब्दों में त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न घनाग्नि प्रदेश महा-पृथिवी के गर्भ में रहने वाला पृथिवीलोक है, पञ्चदश-स्तोमावच्छिन्न तरलाग्नि (वायु-) प्रदेश महापृथिवी के गर्भ में रहने वाला अन्तरिक्षलोक है, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न विरलाग्नि ( आदित्य- ) प्रदेश महापृथिवी के गर्भ में रहने वाला द्युलोक है । इस प्रकार महापृथिवीरूपा अदिति के गर्भ में पृ० अ० द्यौ, इन तीनों की सत्ता सिद्ध होजाती है । विज्ञानभाषा में पृथिवी को माता कहा जाता है, द्यौ को पिता कहा जाता है—"द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने०" ( ऋक् सं० ६।५१।५ ) । इस परिभाषा के अनुसार अदितिरूपा महापृथिवी त्रिवृत्स्तोमावच्छेदेन पृथिवी स्थानीया बनती हुई माता है, एकविंशस्तोमावच्छेदेन द्युस्थानीया होती हुई पिता है । अदिति के इसी स्वरूपविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं ।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥१॥
( ऋक् सं० १।८९।१० ) ।

अदितिर्द्यावापृथिवी ऋतं महदिन्द्राविष्णू मरुतः स्वर्बृहत् ।
देवाँ आदित्याँ अवसे हवामहे वसून्रुद्रान्त्सवितारं सुदंससम् ॥२॥
( ऋक् सं० १०।६६।४ ) ।

वसु रुद्र सविता-अग्नि-वायु-आदित्य, आदि सभी देवता यहीं प्रतिष्ठित हैं, इसी के पुत्र हैं। जैसाकि-अभियुक्त कहते हैं—

> अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम !
> आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परंतप ! ( वाल्मीकिरा० )

इन सब देवताओं का स्वरूपधर्म्म आगे की पितृदेवता-स्वरूपविज्ञानोपनिषत् में बतलाया जाने वाला है। प्रकृत में केवल यही जान लेना पर्याप्त होगा कि, भू पृष्ठ से संलग्न वषट्कार के २१ विंश स्तोम पर्यन्त व्याप्त महापृथिवी का सूर्याभिमुख, अत एव प्रकाशित, त्रैलोक्यात्मक अर्द्ध भाग ही अदिति पृथिवी है। स्तोम सम्बन्ध से ही इस महापृथिवीरूपा अदिति त्रिलोकी, किं वा उक्त त्रिलोकी को "स्तौम्यत्रिलोकी" कहा जाता है। "या प्राणेन सम्भ-वत्यदितिर्देवतामयी" ( कठ० ४।७। ) के अनुसार इस का प्राणाग्नि के साथ सम्बन्ध है, यह देवतामयी है। इस के सम्बन्ध में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि, सौर सम्वत्सर प्राण के आगमन से ही इस का स्वरूप निष्पन्न होता है, जैसा कि पूर्व के अक्षय-महाव्रत-रहस्य-प्रक-रण में बतलाया जाचुका है। सौर तेज सावित्री रूप से भूपिण्ड पर आता है। भूपिण्ड के दोनों प्रान्तों को काटता हुआ यह आगे निकल जाता है। आगे जाकर भूच्छायारूप राहु का शिर-च्छेद करता हुआ यह सावित्र सौर प्रकाश, पुनः मण्डलरूप में परिणत हो जाता है। जितना सा सौर प्रकाश भूपृष्ठ से संलग्न रहता है, वह सत्य भाव के कारण वापस लौटता हुआ, गो पृथिवी से सम्बद्ध होने के कारण वह गायत्री नाम से प्रसिद्ध होता है। इसी को अत्र कहा जाता है — ( देखिए ऐ० ब्रा० ६।४ )। जैसा आकार भू के सूर्य्य विरुद्ध दिक् में प्रतिष्ठित भूच्छाया का है, ठीक वैसा ही आकार इस अत्र का है। यही ज्योतिर्म्मय सौर अत्र, किं वा ज्योतिर्म्मया गायत्री अदिति की प्रतिष्ठा है। अदिति महाकाशी तमोमयी अर्द्ध भागात्मिका वषट्कार-पृथिवी दिति-पृथिवी है। यही असुरों की आवास भूमि है। दोनों का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। "द्वैधम्पस्य जगत् मदम्" ( यजुः ४।२०, ) के अनुसार-शान्तिमय देवता, एवं घरपर से परिगृहीत दितिगर्भ में प्रतिष्ठित असुर ही स्तौम्य त्रैलोक्य में रहने वाली प्रजा के आरम्भक बनते हैं। इन दोनों में से त्रैलोक्य का विकास ( देवता के सम्बन्ध से ) केवल अदिति पृथिवी में ही होता है। इसी पार्थिव विवर्त्त को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

१—"इयं वै पृथिव्यदितिः, सेयं देवानां पत्नी" ( शत० ।३।१।४ )।

२—"*तिस्रो वा इमाः पृथिव्यः। इयमहैका, द्वे ऽस्याः परे" (शत० ३।१।८।२१)

३—"अश्वा (अश्वरूपा) ह वा ऽइयं भूत्वा मनुमुवाह" (शत० १४।१।२।१५)

४—"इयं वै देव्यदितिर्विश्वरूपी" (तै० ब्रा० १।७।६।७)।

५—"तस्या एतत् परिमितं रूपं यदन्तर्वेदि (भूपिण्डः)। अथैष भूमाऽपरिमितो यो +बहिर्वेदिः (महापृथिवी) (ऐ० ८।५)।

६—"गायत्री वाऽइयं पृथिवी" (शत० ४।३।४।९)।

७—"पृथिव्यामिमे (पृथिवी—अन्तरिक्षं—द्यौरिमे त्रयो) लोकाः प्रतिष्ठिताः"

———:*:——— (जै० उ० १।१०।२)।

भू-विवर्तों के सम्बन्ध से अबतक जो कुछ कहा गया है, वह आगे के परिलेखों से सर्वथा बुद्धिमाह्य बन जाता है।

महिमा —महापृथिवी

४८ { १—ब्रह्मा (प्राणः)—अक्षरब्रह्मा

३३ { २—विष्णुः (आपः)—अक्षरविष्णुः
३—सोमः (अन्नम्)—अक्षरसोमः

२१ { ४—इन्द्रः (वाक्)—अक्षरेन्द्रः
५—अग्निः (अन्नाद.)—अक्षराग्निः

}—अक्षरत्वाय नमो नमः

———:*:———

भूपिण्ड पृथिवीः

पिण्ड.—{ ५—अग्निः (अन्नाद्)—क्षराग्निः
४—सोमः (अन्नम्)—क्षरसोमः

अन्तर्यामी { ३—इन्द्रः (वाक्)—क्षरेन्द्रः
२—विष्णुः (आपः)—क्षरविष्णुः (मध्यतो विष्णुरूपिणे)
१—ब्रह्मा (प्राणः)—क्षरब्रह्मा (मूलतो ब्रह्मरूपाय)

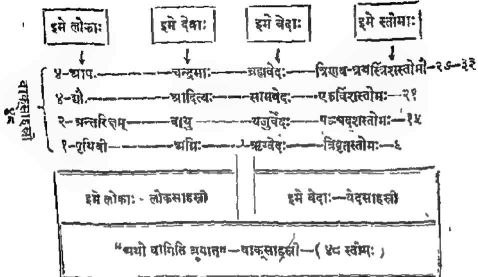
}—अग्रतः शिवरूपाय

भू—विवर्तः

---

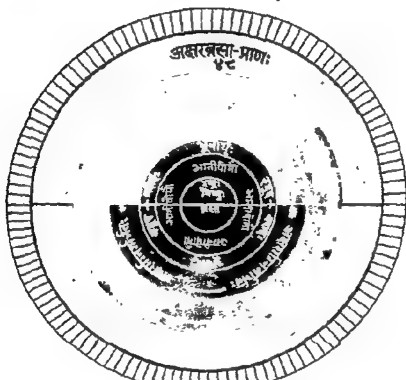
* भूपिण्ड एक पृथिवी है, स्तोमत्रयगुक्ता महापृथिवी दूसरी पृथिवी है। इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित त्रिवृत्स्तोमस्थानीया तीसरी पृथिवी है। इन तीनों में "इयमहैका" के अनुसार एक का भूपिण्ड से सम्बन्ध है, शेष दोनों का परस्थानरूप महिमामण्डल से सम्बन्ध है, यही तात्पर्य है।

+ नित्ययज्ञ में भूपिण्ड हविर्यज्ञ की वेदि है, इसी को यज्ञभाषा में अन्तर्वेदि कहा जाता है। एवं २१ स्तोमावच्छिन्ना महापृथिवी सोमयज्ञ की प्रतिष्ठारूपा महावेदि है। यही ही बहिर्मण्डलात्मिका होने से 'बहिर्वेदि' कहा जाता है। महापृथिवी के इसी याज्ञिक रूप के आधार पर—"इयं वै वेदिः" (शत० ७।३।१।१५)। "एतावती वै पृथिवी, यावती वेदिः" (तै० ब्रा० ३।२।९।१२)—"तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवी— इति" (शत० १।२।५।७) "वेदिमाहुः परमन्तः पृथिव्याः" (तै० ३।९।५।५) इत्यादि निगमवचन प्रतिष्ठित हैं।




पूर्व के भौमविवर्त्त-निरूपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि, पृथिवी भिन्न वस्तु है, एवं सर्वभूतान्तरात्मा—भूपिण्ड भिन्न वस्तु है। भूपिण्ड–भूतप्रधान है, पृथिवीमण्डल देवप्रधान है। भूतमय भूपिण्ड का अन्नाद-प्रकृति से सम्बन्ध है, अन्नादतत्त्व ब्रह्मसत्य से सम्बन्ध रखता है। अत एव ईश्वरीय आत्मसंस्था-क्रम में हम इसे ब्रह्मसत्यात्मा, किंवा भूतात्मा कहेंगे। देवतामयी पृथिवी का प्राणात्मक अन्नाग्नि से सम्बन्ध है। प्राणतत्त्व ही देवता है। इस का विकास–अग्नि पृथिवीस्वरूप-समर्पक एकविंश स्तोम पर्यन्त है। इस प्रकार २१ पर्यन्त व्याप्त, अग्नि–वायु–आदित्यात्मक इस प्राणाग्नि को हम प्राणात्मा, किंवा देवसत्यात्मा नामसे व्यवहृत करेंगे। इसी देवसत्य का नाम विराट् प्रजापति है, यही ईश्वर है। स्मरण कीजिए अश्वत्थवृक्ष की पञ्चपुण्डीरा वल्शा का। ईश्वर को साक्षीसुपर्ण–सर्वभूतान्तरात्मा, इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। गुहानिहित विज्ञानरहस्य का प्रसादभाषा में निरूपण करते हुए कहा जाता है कि, 'एक ही वृक्ष पर सुनहरे पक्ष(पंख–पर) वाले जोड़ले दो पक्षी बैठे हैं। इन दोनों में एक पक्षी उस वृक्ष का फल खा रहा है, एक पक्षी फल खाने वाले की चौकसी कर रहा है'। इन दोनों पक्षियों का एक ही वृक्ष में प्रतिष्ठित रहना केवल अध्यात्मसंस्था की अपेक्षा से ही उपपन्न हो सकता है। पूर्वप्रतिपादित चिदात्मा–प्रत्यगात्मा–शारीरकात्मा, इन तीनों में व्यापक षोडशी चिदात्मा है। वह जन्मातीत बतलाया गया है। बाकी बचा हुआ प्रत्यगात्मा

## भूविवर्त्तम् (क)




महिमा

जगती – – १–वाङ्मयो ब्रह्मा (अष्टाचत्वारिंशत्स्तोमावच्छिन्नः–४८) –वाक्साहस्री द्यौः–स्वः

सागराम्बरा–२–
- आपोमयो विष्णुः (त्रयस्त्रिंशत्स्तोमावच्छिन्नः–३३)
  - १–दिक्सोमः पारमेष्ठ्यः (आपः)–त्रयस्त्रिंशस्तोमः–३३)
  - २–भास्वरसोमश्चान्द्रः (अन्नम्) त्रिणवस्तोमः–(२७)

–लोकसाहस्री–गौः–भुवः

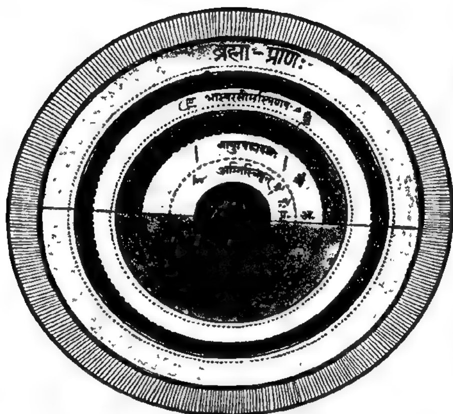
उर्व्या –––३–
- अग्निगर्भितः–इन्द्रः (एकविंशस्तोमावच्छिन्नः––२१)
  - १–आदित्यः (दिव्याग्निः)–एकविंशस्तोमः–२१)
  - २–वायुः (तरलाग्निः)–(पञ्चदशस्तोमः–१५)
  - ३–अग्निः (घनाग्निः) (त्रिणवस्तोमः ६)

–वेदसाहस्री–वाक्–भूः

पृथ्वी

भूः ––––४– ब्रह्मेन्द्रविष्णुगर्भितः–अग्नीषोमात्मको भूपिण्डः –प्रतिष्ठा लोकानाम्

## भूविवर्त्तम् (ख)




यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्, यद् भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥

—ऋक्संहिता

श्रीलालचन्द्रयन्त्रालय, जयपुर

# भूविवर्त्तं (ग)

अग्निः — वायुः —

त्रिवृत्स्तोमः पृथिवी

पञ्चदशस्तोमः अन्तरिक्षम्

भास्वरस्तोमः — त्रिणवस्तोमः

अष्टाचत्वारिंशस्तोमः

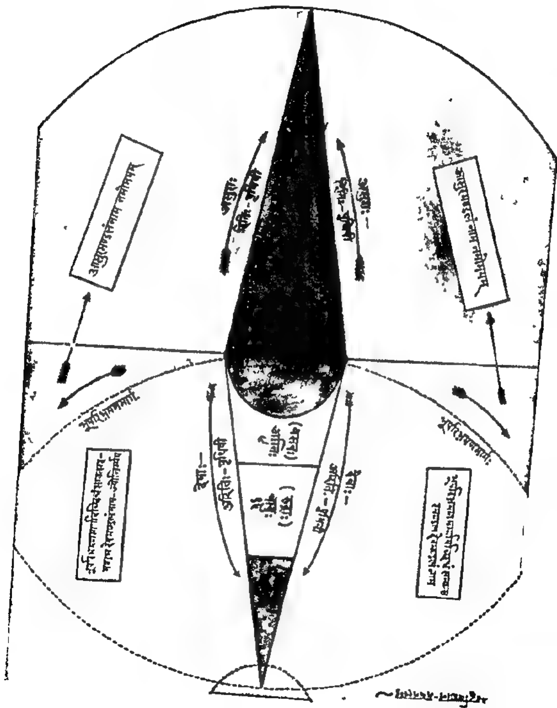
ज ग ती बृ ह ती

यौर्ब्रह्मा — वाक्

पृथिवी

तदिदं सर्वम्

# दित्यादितिमण्डलम्




श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय जयपुर।

-उस व्यापक का ही अंश होने से चिदंश है। यद्यपि यह व्यापक षोडशी की अपेक्षा परिच्छिन्न है, व्याप्य है। तथापि पार्थिव चतुर्दशविध भूत सर्ग में एक रूप से व्याप्त होने के कारण इसे सर्वभूतान्तरात्मा कह दिया जाता है। जीवात्मा नाम से प्रसिद्ध शारीरकात्मा ( चिदाभास ) इसी का अंश है, जैसा कि वहीं स्पष्ट कर दिया गया है। इन दोनों में सर्वभूतान्तरात्मा वही सुप्रसिद्ध अग्नित्रयमूर्त्ति, अदिति त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित देवसत्यात्मा है।

प्रकारान्तर से देखिए। पूर्व में प्रजापति के महेश्वर–विश्वेश्वर-उपेश्वर–ईश्वर, ये चार आत्म–ब्रह्म–देव–विभूतित्रयी—विवर्त्त बतलाए गए हैं। इसी विभाग को आत्मा–ब्रह्म–देवता, भेद से देखिए। इन तीन विभागों का मूलकारण अव्यय–अक्षर–क्षरमूर्त्ति, त्रिपुरुष-पुरुषात्मक अमृतात्मा ही है। क्षराक्षरगर्भित अव्ययप्रधान वही आत्मा आत्मा है। अव्ययक्षरगर्भित अक्षरप्रधान वही आत्मा ब्रह्म है। एवं अव्ययाक्षरगर्भित क्षरप्रधान वही आत्मा देवता है। मूल आत्मा ही ब्रह्म, और देवभेद से दो प्रधान विभागों में परिणत होता हुआ मीमांस्य बन रहा है। इन दोनों में अव्ययप्रधान आत्मा चिद्घन बनता हुआ चिदात्मा है। शेष दोनों अंशरूप होने से "चिदंश" हैं। एक चिदात्मा है, दो चिदंशात्मा है। ये तीनों ही पुनः दो–दो भागों में विभक्त हैं। इस प्रकार सभूय आत्मविवर्त्त षट्संस्थ बन जाता है।

इन ६ विवर्त्तों के प्रधान कारण माया–कला, आदि पूर्वोक्त ४ परिग्रह ही हैं। माया परिग्रह के सम्बन्ध से विशुद्ध परात्पर ही अंशात्मना ससीम बनता हुआ निष्कल पुरुष है, इसीःको हमने पूर्व में महेश्वर कहा है। कला–परिग्रह के सम्बन्ध से वही षोडशकल बनता हुआ षोडशीपुरुष है। दोनों में पहिला विशुद्ध अव्यय है, दूसरा अक्षरक्षरगर्भित अव्ययप्रधान है। यही पहिला आत्मविभाग है। यह सर्वव्यापक ( महामायाव्यापक-महाविश्वव्यापक ), अतएव खण्डात्म-मर्य्यादा से सर्वथा बहिष्कृत है। दूसरा है चिदंशरूप ब्रह्मविवर्त्त। इसके भी दो रूप हैं। समष्टि इसका पहिला रूप है, व्यष्टि इसका दूसरा रूप है। स्वयम्भू से आरम्भ कर भूपिण्ड पर्य्यन्त उस अश्वत्थवृक्ष की एक शाखा मानी गई है। इस सम्पूर्ण शाखा में एकरूप से रहने वाला। अवार-पारीण ( इस छोर से उस छोर तक रहने वाला ) समष्टिरूप एकात्मक चिदंश ही परमेश्वर नाम का पहिला ब्रह्मविवर्त्त है। षोडशीपुरुष सहस्रवल्शात्मक महाविश्व का साक्षी था, यह पञ्चपर्वात्मक वल्शारूप खण्डविश्व का साक्षी है। यही आगे जाकर व्यष्टिरूप में परिणत होता हुआ पांच भागों में विभक्त हो जाता है। स्व० पर० सू० च० भू०, पांचों में पृथक् पृथक साक्षी आत्मा प्रतिष्ठित हैं। पांचों अपनी संस्था के स्वतन्त्र सञ्चालक हैं। इन पांचों का साक्षी, पांचों विभिन्नों में अभिन्नरूप से व्याप्त एक परमेश्वर प्रतिष्ठित है। परस्पर की अपेक्षा से अतिविदूर,

अतएव असमीपरूप से प्रतिष्ठित ये पांचों उस एक ही के उप ( समीप ) बैठे हुए हैं, अतएव इन्हें उपेश्वर कहा जाता है। मल्शेश्वर यद्यपि अश्वत्थेश्वर की अपेक्षा चिदंशरूप था, परन्तु इन उपेश्वरों की अपेक्षा यह चिदात्मा है, उपेश्वर चिदंश है। चिदात्मा एक है, चिदंश पांच हैं। इस प्रकार एक ही चिदंशरूप ब्रह्म मल्शेश्वर चिदात्मा, उपेश्वर चिदंशरूप भेद से दो मार्गों में विभक्त हो जाता है। इन दोनों में मल्शेश्वर विशुद्ध अक्षरमूर्ति है, एवं उपेश्वर स्वराज्ययगर्भित अक्षरप्रधान है। इन दोनों का क्रमशः गुण-विकार नाम के दो परिग्रहों से सम्बन्ध है। मल्शेश्वर सगुण सत्यप्रजापति है, उपेश्वर सविकार-यज्ञप्रजापति है। तीसरा है चिदंशरूप- **देवविवर्त्त**।

इसके भी साक्षी भोक्ता-रूप से दो विवर्त्त हैं। महासत्यात्मिका मल्शा के सूक्ष्म अग्रभाग में सम्बन्ध रखने वाले पृथिवी विवर्त्त से ही इन दोनों का सम्बन्ध है। त्रैलोक्य व्यापक आग्नेयमूर्त्ति देव-सत्यात्मा साक्षी है। यह यद्यपि उपेश्वरादि की दृष्टि से चिदंश है, परन्तु जीवसृष्टि को अपने गर्भ में रखने के कारण जीवसृष्टि की अपेक्षा से यह चिदात्मा ही कहा जायगा। इसी को भौतिक पार्थिव विवर्त्त में व्याप्त रहने के कारण "सर्वभूतान्तरात्मा" कहा जाता है। चिदात्मरूप सर्वव्यापक ( भौमत्रैलोक्य में व्यापक ) इस सर्वभूतान्तरात्मा के आगे जाकर प्रत्यगात्मा, शारीरकात्मा, भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित रहने वाला, केवल पार्थिव विवर्त्तरूप आधिभौतिक प्रपञ्च का साक्षी रहने वाला यही चिदात्मा कहलाता है। अध्यात्म-संस्था में प्रविष्ट होकर यही अपने दो रूप धारण कर लेता है। अश्वत्थवृत्त कर्म्म-ब्रह्म, भेद से दो भागों में विभक्त है। इन में महाश्वत्थ का सम्बन्ध आधिभौतिक संस्था से है। एवं कर्म्माश्वत्थ का सम्बन्ध अध्यात्मसंस्था से है। इसी में फल भोगने के लिए प्राणी को आना पड़ता है। इस फलभोक्ता प्राणी के साथ उसी हृदयस्थान में साक्षीरूप से सर्वप्राणी-समान वही त्रैलोक्य व्यापक साक्षी आत्मा सर्वभूतसाधारणापेक्षया एकरूप से, किन्तु तत्तच्छरीरोपाधिभेद से तत्तच्छरीरावच्छिन्न बनता हुआ चिदंश रूप से प्रतिष्ठित होता है। यही प्रत्यगात्मा है। इस प्रकार एक ही कर्म्माश्वत्थ के शाखारूप एक ही शरीर में ( केन्द्र में ), एक ही स्थान पर अभिन्नरूप से प्रतिष्ठित रहते हुए, अतएव 'सयुजौ' ( जोड़ले ) नाम से प्रसिद्ध ये दोनों प्रतिष्ठित हो रहे हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं ( एकं ) वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

—मुण्डकोपनिषत् ( ३।१।१ )

इन दोनों चिदंशों में प्रत्यगात्मरूप साक्षी चिदंश शारीरोपाधिक बनता हुआ भी, सूर्य्य-
आत्मगत्यधिष्ठाता–सुपर्णात्मा—आतपवत् चेतनारूप से सूर्य्यप्रतिबिम्बस्थानीय सर्वथा
विभिन्न जीवात्माओं का समानोपकारक बनता हुआ उस त्रैलोक्य व्यापक साक्षी से अभिन्न है। अतः इसका, और उसका अभेद मानते हुए दोनों को एक ही तत्त्व मान लिया जाता है। जो चिदात्मा है, वही शारीरोपाधिक, परमार्थतः निरुपाधिक रहता हुआ, शारीर दोषों से सर्वथा-निर्लिप्त रहता हुआ प्रत्यगात्मा है। इसका उस सविकार यज्ञप्रजापति में अन्तर्भाव है। यही सर्वभूतान्तरात्मा नाम का पहिला देवसत्यात्मा है। दूसरा जीवात्मा इसी का अंशरूप चिदाभास लक्षण शारीरकात्मा है। इस का अन्न परिग्रह से सम्बन्ध है। यही साक्षन प्रतिशरीर भिन्न प्रत्यगात्मात्मा से नित्य अविनाभूत भोक्ता जीवात्मा अपनी अपनी प्रातिस्वक भूतसंस्था का अभिमानी बनता हुआ "भूतात्मा" नाम से प्रसिद्ध है। मधुरूप फल भोगने के कारण ही महर्षि कठ ने इसे "मध्वद्" ( मधुरूप फल खाने वाला ) नाम से व्यवहृत किया है। इस मध्वद् के साथ इस का ईशिता, अतएव "ईशान" नामसे प्रसिद्ध सर्वभूतान्तरात्मा अमध्वद सदा साथ रहता है। जो जीव स्वान्तिक (समीपस्थ) इस ईश को न जानता हुआ अनीश बना रहता है, वह—"अनीशया शोचति मुह्यमानः" के अनुसार क्लेशादि में फँसा रहता है। परन्तु जो जीव अपने प्रत्यगात्मरूप अपने इस ईशरूप को पहिचान लेता है वह—"अमुह्यमानो न शोचति, न शोचति"।

> य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
> ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥ (कठो० ४।५)।

इन दोनों में सर्वभूतान्तरात्मा नामक देवसत्यात्मा ही ईश्वर है, भूतात्मा नामक देवसत्यात्मा ही जीव है। दोनों में ईश्वर विशुद्ध आत्मक्षरमूर्ति है, जीव अव्ययाक्षरगर्भित आत्मक्षर-मूर्त्ति है। यही आत्मविवर्त्त की तीसरी सत्या है। दोनों ही सुपर्ण नाम से व्यवहृत हुए हैं। सुपर्ण शब्द का भी विचार कीजिए। जिस प्रकार मनुष्य का सौन्दर्य्य उस के सदाचार पर अवलम्बित है, स्त्री का उत्कर्ष पातिव्रत्य पर निर्भर है, एवमेव पक्षी का सौन्दर्य्य उसके पक्षों पर आश्रित है। पक्ष सम्बन्ध से ही वह पक्षी कहलाया है। पक्षों से पक्षी आकाश में विचरण किया करता है। जो पक्षी अपने पक्षों से आकाश में जितना अधिक दूर उड़ सकता है, वही पक्षों की प्रशंसा है, यही पक्षों का सौन्दर्य है। पक्षसौन्दर्य केवल उड़ने से सम्बन्ध रखता है। इतर पक्षियों की अपेक्षा गरुड़ पक्षी अधिक वेग से, अधिक दूर तक उड़ सकता है, अत एव इसके पक्ष इतर पक्षियों की अपेक्षा सुष्ठु ( सुन्दर ) माने जाते हैं। गरुड़ पक्षी के इसी पक्ष सौन्दर्य के कारण

वैज्ञानिकोंने इसे—"सुपर्ण" ( अच्छे पंख वाला ) कहा है। अत एव इसे खगेश्वर कहा गया है—"वीर्यं वै सुपर्णो गरुत्मान्" ( शत० १०।५।२।४ )। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवेश्वर की है। पक्षी अधिक से अधिक भू-वायु का तलस्पर्श कर सकता है। परन्तु हमारा यह कर्म्मभोक्ता जीवात्मा तो सुदूरस्थित विविध लोकों में आया करता है। यहाँ तक कि, पृथिवी के २१ अहर्गण पर सूर्य्य है—"एकविंशो वा इतः (पृथिवीलोकात्) आदित्यः ( तै० ब्रा० १।५।१०।६ ) वहाँ तक यह जा सकता है। भला इस से अधिक दूर जाने की किस पक्षी में शक्ति है ? जीव के साथ प्रत्यगात्मरूप ईश्वर भी नित्य सम्बद्ध रहता हुआ घटाकाशादिवत् लोकान्तर में जाता है। ईश्वरगर्भित जीव लोकान्तर में क्या जाता है, मानो एक बड़ पक्षी लोकान्तर में घूम रहा है। यही इन दोनों की सुपर्णता है। इसी सुपर्णसादृश्य से प्राणाचार्यों ने आत्मगति में आरूढ इस प्रेत जीव को "गरुड़"* नाम से व्यवहृत किया है। इसीलिए इन सयुजों को "सुपर्ण" ( अच्छे-शक्तिशाली पक्षों ) वाला पक्षी शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है। अपिच, सुपर्ण शब्द का दूसरा अर्थ है—सुनहरी पक्ष। अग्नि को हिरण्यरेता कहा जाता है। हिरण्य ही सुवर्ण है। उधर अग्निमयमूर्ति को ही हमने साक्षी कहा है। जीव भी इसी का अंश होता हुआ अग्निमयमूर्ति ही है। इस हिरण्य अग्नि के सम्बन्ध से भी इसे सुपर्ण ( सुनहरी-अग्निमय-पक्षवाला ) कहना उचित होता है। अपिच, इन दोनों ही पक्षियों का सुपर्णचिति नाम से प्रसिद्ध अग्निचिति से सम्बन्ध है। भूपिण्ड से निकलने वाला पार्थिव अग्नि ठीक पक्षी के आकार में परिणत होकर ही २१ स्तोम पर्य्यन्त वितत रहता है। और सम्वत्सर से युक्त होकर यह सम्वत्सर-रूप ही बन जाता है। इसी रहस्य का वैज्ञानिकों ने सुपर्णाख्यान रूप से निरूपण किया है। पार्थिव अग्नि गायत्री है। यह सुपर्ण पक्षी बन कर ही २१ स्थ सूर्य्य से ऊपर रहने वाले सौम्य-गन्धर्वप्राणों से सुरक्षित पारमेष्ठ्य सोमका अपहरण करती है। इसी आधार पर निम्न लिखित निगम वचन प्रतिष्ठित है—

१—"इमे वै लोका गायत्री" ( तां० ब्रा० १२।१०।१ )।

२—"अग्निर्ह वाव राजन् गायत्री मुखम्" ( जै० उ० ब्रा० ८।२ )।

---

* गरुड़रूप प्रेतात्मा शरीर से निकलकर किन किन लोकों में जाता है ?, वहाँ क्या क्या फल भोगता है ?, इत्यादि विषयों का निरूपण करने वाला आख्यानवादात्मक पुराण ही "गरुड़पुराण" नाम से प्रसिद्ध है। मृत प्राणी के दाहर कर्मानन्तर आशौचकाल में तद्‌वंशधर इसी का श्रवण करते हैं।

३—"यद् गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्—तेन सा श्येनः" (शत० ३।४।१।१२)।

४—"तृतीयस्यामितो दिव सोम आसीत्। तं गायत्र्याहरत्" (तै० १।१।३।१०)।

५—"इमऽउ लोकाः संवत्सरः" (शत० ८।१।१।७)।

६—"अग्निर्वाव संवत्सर" (तां० ब्रा० १७ १३।१७)।

उक्त वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, पार्थिव त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित गायत्राग्नि, संवत्सर, श्येन, आदि तत्त्व अपेक्षया भिन्न भिन्न नामों से व्यवहृत होते हुए भी अभिन्नेन अभिन्नार्थ के ही बोधक हैं। इस पञ्चचितिक अग्निमयी का ही नाम ईश्वर, किं वा देवसत्यात्मा है, यही संवत्सर प्रजापतिरूप महा सुपर्ण है। इसी का अंशरूप जीव क्षुद्र सुपर्ण है। सुपर्ण की इसी सुपर्णता का दिग्दर्शन कराता हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

ईश्वरः—१—"अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव यत् सम्वत्सरः। तस्य—यत् पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति सोऽन्यतरः पक्षः। अथ यान् षडुपरिष्टात् सोऽन्यतरः। आत्मा विषुवान्॥" (शत० १२।२।३।७)

जीवः—२—"पुरुष सुपर्णः" (शत० ७।४।२।४)

हाँ, इस सम्बन्ध में इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि, यदि सुपर्ण शब्द का "पञ्चचितिक अग्निमय पुरुष सुपर्ण है" यह अर्थ अभिप्रेत है, तब तो आत्मगति से कोई सम्बन्ध न रखने वाला स्थिरस्वरूप सम्वत्सरात्मक त्रैलोक्य व्यापक चिदात्मरूप ईश्वर ही सुपर्ण शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। यदि सुपर्ण का—"लोकान्तर में पक्षों से गमन करने वाला सुन्दर पक्षी सुपर्ण है" यह अर्थ है, तो उस दशा में विश्वात्मा शरीरोपाधिक प्रत्यगात्मेश्वर का ही वाची सुपर्ण शब्द से ग्रहण करना पड़ेगा। "द्वा सुपर्णा०" इत्यादि में सुपर्ण शब्द से इसी आध्यात्मिक सुपर्णयुग्म का ग्रहण अपेक्षित है। कारण—दोनों सुपर्णों का समान (एक) वृक्ष में अवस्थान, दोनों का सयुग्भाव अध्यात्मसंस्था में ही संभव होसकता है। अधिदैवतसंस्था का अव्यक्त सम्वत्सरात्मक-विश्वात्मक महासुपर्ण भौतिक विश्व का समानरूपसे साक्षी होता हुआ भी, अपने इस व्यापकरूप से यह अध्यात्मसंस्था का साक्षी नहीं माना जासकता। साथ ही में उस व्यापक का इस परिच्छिन्न चिदाभास के साथ समान वृक्ष

में अवस्थान, एवं सयुग्भाव भी उपपन्न नहीं होसकता। इस प्रकार द्विकल आत्मा, द्विकल ब्रह्म, द्विकल देव, इन तीन युग्मों में आत्म विवर्त्त समाप्त है। उत्तर उत्तर का युग्म पूर्व पूर्व के आधार पर प्रतिष्ठित है। इस क्रम से देवसत्ययुग्म में शेष दोनों आत्म-ब्रह्मयुग्मों की सत्ता सिद्ध होजाती है। देवसत्यात्म-परिज्ञान से सब कुछ विज्ञात है। देवसत्यात्मयुग्म त्रिकल है, इसी आधार पर "त्रिःसत्या वै देवाः" यह अनुगम प्रतिष्ठित है।

**परिच्छिन्न-मृत्युबन्धन**—अपरिच्छिन्न का परिच्छिन्न बन जाना ही मृत्युबन्धन है, यही भोग्य भाव है। इस सीमाभाव के तारतम्य से विश्वाधवर्त्त में (महामाया के गर्भ में) प्रतिष्ठित उक्त तीनों विवर्तों का हम भोग्य कह सकते हैं। इस दृष्टि से विशुद्ध भोक्तृलक्षण आत्मा केवल विश्वातीत अखण्ड परात्पर ही है। यही ब्राह्मी स्थिति है, यही ब्राह्मी उपनिषत् है। इस के गर्भ में प्रविष्ट सभी आत्मविवर्त्त परस्पर की अपेक्षा भोक्ता भी हैं, भोग्य भी हैं। साक्षी भी है, भोक्ता भी हैं। पहिले आत्मयुग्म को ही लीजिए अवान्तर युग्मों की अपेक्षा भोक्ता बनता हुआ भी षोडशीगर्भित महेश्वर परात्परदृष्ट्या भोग्य है। परात्पर चिदात्मा है, पुरुष चिदंश है। परात्पर साक्षी है, पुरुष भोक्ता है। परात्पर प्रतिष्ठा है, पुरुष प्रतिष्ठित है। परात्पर अन्नाद है, पुरुष अन्न है। स्वयं आत्मविवर्त्त में निष्कल महेश्वर चिदात्मा है, साक्षी है। षोडशी चिदंश है, भोक्ता है। इस की अपेक्षा ब्रह्मसत्यात्मविवर्त्त भोक्ता है, आत्मयुग्मसाक्षी है। स्वयं ब्रह्मसत्यविवर्त्त में परमेश्वर साक्षी है, उपेश्वर भोक्ता है। इस की अपेक्षा देवसत्यात्मविवर्त्त भोक्ता है, ब्रह्मसत्यात्मयुग्म साक्षी है। स्वयं देवसत्यात्मविवर्त्त में त्रैलोक्येश्वर साक्षी है, जीवप्रजापति भोक्ता है। सुवर्ण केवल इसी अन्तिम संस्था का नाम है। कारण, आत्मगति के साथ इस देवसत्यात्मविवर्त्त का ही सम्बन्ध है।

**चामत्कारिक-पुरुषात्मा**—एक और चमत्कार देखिए। सभी आत्मसंस्थाओं में पञ्चकल अव्यय की प्रधानता है—"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय" (गीता० ७।७)। अव्यय भी मनः प्राणवाङ्मय मूर्त्तिमात्री। अव्यय का ज्ञानघन मन, क्रियाघन प्राण, अर्थरूप वाक्तत्व ही षोडशी संस्था में क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षर रूपसे विकसित होता है। स्वयं अव्यय मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानप्रधान है। अक्षर प्राणप्रधान होता हुआ क्रियाप्रधान है। स्वयं क्षर वाक्प्रधान बनता हुआ अर्थप्रधान है। समष्टिरूप से स्वयं षोडशी अव्ययप्रधान है, ब्रह्मसत्यात्मयुग्म अक्षरप्रधान है, देवसत्यात्मयुग्म क्षर प्रधान है। प्रत्येक में पुनः मनःप्राणवाक्प्रधान, अत एव ज्ञानक्रियामूर्त्ति अव्यय-अक्षर-क्षर का विकास है। उदाहरण

के लिए आत्मयुग्म को ही लीजिए। इस में भी पहिले विशुद्ध पञ्चकल अव्यय नामक महेश्वर को लीजिए। इस की पांच कलाओं में से आनन्द विज्ञान का एक विभाग है। यह विभाग ज्ञान-प्रधान बनता हुआ अव्ययप्रधान है। प्राणवाक् का स्वतन्त्र विभाग है। यह विभाग अर्थ प्रधान बनता हुआ ईश्वरप्रधान है। मध्यस्थ उभयात्मक मन का स्वतन्त्र विभाग है। यह उभयात्मक बनता हुआ सेतुस्थानीय बनता हुआ अक्षरप्रधान है। केवल सृष्टिसाक्षी त्रिकल अव्यय में मन ज्ञानघन बनता हुआ अव्ययप्रधान, प्राण क्रियाघन बनता हुआ अक्षरप्रधान, वाक् अर्थघना बनती हुई क्षरप्रधाना है। षोडशी संस्था में पञ्चकल अव्यय ज्ञानप्रधान बनता हुआ मनोमय, पञ्चकल अक्षर क्रियाप्रधान बनता हुआ प्राणमय, एवं पञ्चकल क्षर-अर्थप्रधान बनता हुआ वाङ्मय है।

ब्रह्मसत्यात्मरूप दूसरे युग्म का विचार कीजिए। इस में भी पहिले विशुद्ध अक्षरात्मक अवारपारीण ओंकारात्मक वल्शेश्वर पर दृष्टि डालिए। प्रणवस्थानीय, पार्थिव संस्था का अनुग्राहक विशुद्ध अक्षरमूर्ति वही वल्शेश्वर मकारात्मक, अत एव वाक्प्रधान क्षर है। बहुगीन-स्थानीय, सौरसंस्था का अनुग्राहक विशुद्ध अक्षरमूर्ति-वही उकारात्मक वल्शेश्वर प्राणप्रधान अक्षर है। एवं ओंकारस्थानीय, स्वायम्भुव संस्था का अनुग्राहक विशुद्ध अक्षरमूर्ति वही अकारात्मक वल्शेश्वर मनःप्रधान अव्यय है। पर ( अव्यय ), परम ( अक्षर ) अवर ( क्षर ) रूप ओंकारात्मक विशुद्ध ही पारोवरीण विशुद्ध अक्षरमूर्ति वल्शेश्वर नामक ब्रह्मसत्यात्मा है। उपेश्वरसंस्था में से प्रत्येक का विचार कीजिए। पहिले स्वयम्भू को लीजिए। * स्वयम्भू के वेद-सूत्र-नियति-भेद से तीन मनोता माने गए हैं। वेदमूर्ति वही स्वयम्भू उपलब्धिरूप ज्ञान का प्रवर्त्तक बनता हुआ वेदानच्छेद से मनोमय बनता हुआ अव्ययप्रधान है। सम्बन्धसूत्रावच्छेदेन वही प्राणमय बनता हुआ अक्षरप्रधान है। नियति-सम्बन्ध से वही वाङ्मय बनता हुआ आत्मक्षरप्रधान है। इन तीनों विवर्तों का स्वरूप पूर्व की अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत् में बतलाया जा चुका है। इसी प्रकार परमेष्ठी नाम के उपेश्वर में इडा ( मनोमय अव्यय ), ऊर्क् ( प्राणमय अक्षर ), भोग (वाङ्मय क्षर) इस रूप से, सूर्य्योपेश्वर में ज्योति (वाङ्मय क्षर), गौ (प्राणमय क्षर), आयु ( मनोमय अव्यय ) इस रूप से, चन्द्रोपेश्वर में रेत. (वाङ्मय क्षर), श्रद्धा (प्राणमय अक्षर), यश ( मनोमय अव्यय)

---

* इस विषय का विशद दिग्दर्शन ईशोपनिषत् विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड के पुरुषात्माधिकरणान्तर्गत "मनःप्राणवाङ्मय अव्यय की व्यापकता" नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

इस रूप से, एवं भूपिण्डरूप उपेश्वर में वाक् (वाङ्मय क्षर), गौ (प्राणमय अक्षर), द्यौः (मनोमय अव्यय), इस रूप से तीनों पुरुषों का अवस्थान सिद्ध हो जाता है।

सर्वान्त में देवसत्यात्मरूप तीसरे विवर्त्त का विचार कीजिए। इसमें भी साक्षीरूप प्रत्यगात्मविवर्त्त पर पहिले दृष्टि डालिए। इसकी वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ, ये तीन कलाएँ हैं, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। इनमें अर्थप्रधान वैश्वानर वाङ्मय क्षर की विकासभूमि है। क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भ प्राणमय अक्षर से अनुगृहीत है। एवं सर्वज्ञ मनोमय अव्यय के अनुग्रह से युक्त है। इसी प्रकार भोक्ता (जीवसुपर्ण) देवसत्यात्मा की वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ, ये तीनों कलाएँ क्रमशः क्षर-अक्षर-अव्यय से समन्वय रखतीं हैं। यह है स्थूलनिदर्शन। यदि दशाक्रमानुसार इस त्रिपुरुष की व्याप्ति के सूक्ष्म दर्शन किए जाते हैं, तो अन्ततः त्रिपुरुष पर विश्राम करते हुए, इनके द्वारा षष्ठकलपुरुष, तद्द्वारा निष्कल पुरुष, सर्वान्त में उसी अखण्ड परात्पर का आश्रय लेना पड़ता है—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"। उक्त विषय का निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्टीकरण हो जाता है।

१—आत्मन्वी विवर्त्त

१-
- १- परात्परे मायापरिग्रहसम्बन्धात् ससीमः सन् मायोपाधिको निष्कलः पुरुषोऽव्ययः
- २- अव्यये कला (योगमाया, परिग्रहसम्बन्धात् योगमायोपाधिकः षोडशकलो महेश्वरः

—महेश्वरप्रजापतिः—अमृतात्मयुगम (आत्मविवर्त्त)

२-
- १- षोडशीपुरुषो गुणपरिग्रहयोगात् पद्मपुण्डीरात्मको परमेश्वरः सत्यात्मा } विश्वेश्वरप्रजापतिः
- २- ब्रह्मात्मनि विकारपरिग्रहयोगात् स० पर० सु० चन्द्र० भू०-इत्येता- पृथक् पृथक् पञ्चोपेश्वरा यज्ञात्मानः } —उपेश्वरप्रजापतयः

—ब्रह्मसत्यात्मयुगम (ब्रह्मविवर्त्त)

२ –
- १ – सर्वहुतयज्ञमूर्तिः-वैश्वानरहिरण्यगर्भ- सर्वज्ञकृतात्मा प्रत्यगात्मा साक्षी सुपर्णः } — ईश्वरः

———*———

- २ – विश्वदाग्नियज्ञमूर्तिः-वै० तैजस प्राज्ञ- कृतात्मा आवरणपरिग्रहयोगात् शारीरकात्मा भोक्ता सुपर्णः } — जीवः

} — ईश्वरप्रजापतिः — देवसत्यात्मयुग्म ( देवविवर्त्त )

———०———

## २ — चिदात्म – चिदंशविवर्त्त —

१ —
- १ – सर्वबलविशिष्टरसमूर्तिरमायी-अखण्डः परात्परः ———— चिदात्मा — विशुद्धात्मा
- २ – षोडशकलो महामायी विश्वव्यापको महेश्वरः ———— चिदंशः — आत्मन्वी

———*———

२ —
- १ – मायामात्रो निष्कलो विशुद्धोऽव्ययपुरुषः ———————— चिदात्मा — आत्मन्वी
- २ – अव्ययक्षराक्षरकृतरूपः षोडशकलस्त्रिपुरुषः पुरुषः ——— चिदंशः — आत्मन्वी

———*———

३ —
- १ – षोडशकलस्त्रिपुरुषः पुरुषो महेश्वरः ———————— चिदात्मा — आत्मन्वी
- २ – उपेश्वर-विश्वेश्वर-कृतरूपो ब्रह्मसत्यात्मा ———————— चिदंशः — आत्मन्वी

———*———

४ —
- १ – अपारपारीणो मत्लोश्वरो ब्रह्मसत्यात्मा ———————— चिदात्मा — आत्मन्वी
- २ – पृथक्संस्थाः स्व० प० सू० च० भू० इत्येता उपेश्वराः ——— चिदंशः — आत्मन्वी

———*———

५ —
- १ — उपेश्वरविश्वेश्वरकृतरूपो ब्रह्मसत्यात्मा ———→ चिदात्मा — आत्मन्वी
- २ — अग्नित्रयमूर्त्तिस्त्रैलोक्यव्यापको देवसत्यात्मा ——→ चिदंशः — आत्मन्वी

———:*:———

६ —
- १ — वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति-महासंवत्सरात्मको महासुपर्णः } → चिदात्मा — आत्मन्वी
- २ — वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्तिः-शरीरोपाधिविशिष्ट -साक्षी सुपर्णः प्रत्यगात्मा } → चिदंशः — आत्मन्वी

———:*:———

७— { १—महासंवत्सरसुपर्णसम्भिन्नः मायी प्रत्यगात्मा——चिदात्मा—आत्मन्वी
२—वै०—तैजसप्राज्ञकृतमूर्त्तिर्भोक्ता सुपर्णः शारीरकात्मा—चिदंशः—आत्मन्वी }

——:*:——

८— { १—विश्वप्रपञ्च-विशुद्धं शरीरम्-चिदात्मनः साक्षिणः
२—शरीरप्रपञ्च-विशुद्धं जगत्-चिदंशस्य भोक्तुः }

——*——

३—त्रिपुरुषविवर्त

१—क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययपुरुषः→ [ निष्कलः पुरुषः | सकलः षोडशी ] अमृतात्मपुरुष → अमृतात्मा (आत्मा)

२—क्षराव्ययगर्भितोऽक्षरपुरुषः→ [ पत्येश्वरः सत्य. | अपरेश्वरा यज्ञाः ] ब्रह्मसत्यात्मपुरुष → ब्रह्मसत्यात्मा (ब्रह्म)

३—अव्ययाक्षरगर्भितः क्षरपुरुषः→ [ प्रत्यगात्मा साक्षी | शारीरकात्मा भोक्ता ] देवसत्यात्मपुरुष → देवसत्यात्मा (देवः)

४—मनःप्राणवाङ्मयविवर्त —

१—प्राणवाग्गर्भितं त्रिवृन्मनः——तत्प्रधानः—अमृतात्मा ज्ञानमयः

२—मनोवाग्गर्भितस्त्रिवृत् प्राणः——तत्प्रधानः—ब्रह्मसत्यात्मा क्रियामयः

३—प्राणमनोगर्भिता त्रिवृता वाक्——तत्प्रधानः—देवसत्यात्मा—अर्थमयः

———

५—भोक्तृभोग्यविवर्त —

१— { १—असीमः परात्परः————भोक्ता (साक्षी)
२—निष्कलाव्ययपुक्तः षोडशीपुरुषः—भोग्यः (भोक्ता) }

——:o:——

२— १—निष्कलोऽव्ययपुरुषः ——————भोक्ता ( साक्षी )
२—षोडशी महेश्वरः ——————भोग्यः ( भोक्ता )

——:o:——

३— १—षोडशीपुरुषो महेश्वरः ——————भोक्ता ( साक्षी )
२—सोपेश्वरो वल्शेश्वरः ——————भोग्यः ( भोक्ता )

——:o:——

४— १—अक्षरपारीणो वल्शेश्वरः ——————भोक्ता ( साक्षी )
२—पञ्चोपेश्वराः पृथक् पृथक् ——————भोग्यः ( भोक्ता )

——:o:——

५— १—सोपेश्वरो वल्शेश्वरः ——————भोक्ता ( साक्षी )
२—प्रत्यगात्माभिन्नो महासुपर्णः——भोग्यः ( भोक्ता )

——:o:——

६— १—संवत्सरात्मको महासुपर्णः——भोक्ता ( साक्षी )
२—प्रत्यगात्मा साक्षी सुपर्णः——भोग्यः ( भोक्ता )

——:o:——

७— १—महासुपर्णाभिन्नः साक्षी——————भोक्ता ( साक्षी सुपर्णः )
२—शारीरको भोक्तात्मा ——————भोग्यः ( भोक्ता सुपर्णः )

——:o:——

## ६—पुरुषात्मविवर्त्त—( पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् )

१—पञ्चकलोऽव्ययो ज्ञान–काम–कर्म्ममूर्त्तिः—

१—आनन्दविज्ञाने ( ज्ञानात्माव्ययः )→ज्ञानघनोऽव्ययः
२—मनः ( कामात्माव्ययः )——→क्रियाघनोऽक्षरः
३—प्राणवाचौ ( कर्म्मात्माव्ययः )——→अर्थघनः क्षरः

——o——

१—त्रिकलोऽव्ययः सृष्टिसाक्षी—

१—ज्ञानमूर्तिमन ——————ज्ञानघनोऽव्यय
२—क्रियामूर्ति प्राण.—— क्रियाघनोऽक्षरः
३—अर्थमूर्तिर्वाक् ———— अर्थघन क्षरः

—— ० ——

३—षोडशकलो महेश्वर. क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययप्रधानः ( सृष्टेरालम्बनम् )—

१—पञ्चकलोऽव्ययो मनोमय —मनोऽव्ययरूपम्
२—पञ्चकलोऽक्षर प्राणमय —प्राणोऽक्षररूपम्
३—पञ्चकल क्षर –वाङ्मय —वाक् क्षररूपम्

—— * ——

४—षल्वीश्वरप्रजापतिर्विशुद्धाक्षरमूर्त्तिः–

१–स्वायम्भुवसंस्थानुग्राहक —ओङ्कारात्मको विशुद्धाक्षरमूर्त्तिर्मनोमयोऽकार —अव्यय
२–सौरसंस्थानुग्राहक –उद्गीथात्मको विशुद्धाक्षरमूर्त्ति प्राणमय –उकार ————अक्षरः
३–पार्थिवसंस्थानुग्राहक प्रणवात्मको विशुद्धाक्षरमूर्त्तिर्वाङ्मयो–मकारः————क्षर

—— ० ——

५—षल्वीश्वरगर्भितः-अव्ययक्षरगर्भितोऽक्षरप्रधानः–उपेश्वर स्वयम्भू ( १ )

१—वेदसत्यमूर्त्तिर्ज्ञानात्मा मनोमय.————अव्यय ( वेदा. )
२—सूत्रसत्यमूर्त्ति कामात्मा प्राणमय——अक्षर ( सूत्रम् )
३—नियति-सत्यमूर्त्ति कर्म्मात्मा वाङ्मय —क्षर ( नियति. )

—— ० ——

६—षल्वीश्वरगर्भित –अव्ययक्षरगर्भिताक्षरप्रधान –उपेश्वर –परमेष्ठी (२)

१—ब्रह्ममूर्त्तिर्ज्ञानप्रवर्त्तको मनोमय —अव्यय (ब्रह्म)
२—ऊर्ग्मूर्त्ति क्रियाप्रवर्त्तक प्राणमय —अक्षर (ऊर्क्)
३—भोगमूर्त्तिरर्थप्रवर्त्तको वाङ्मय —क्षर (भगा)

—— * ——

७—षल्वीश्वरगर्भितः–अव्ययक्षरगर्भिताक्षरप्रधानः–उपेश्वर् सूर्य्यः (२)

१—आयुर्मूर्त्तिर्ज्ञानप्रवर्त्तको मनोमय —अव्यय (आयु)
२—गोमूर्त्ति क्रियाप्रवर्त्तक प्राणमय अक्षर (गो)
३—ज्योतिर्मूर्त्तिरर्थप्रवर्त्तको वाङ्मय —क्षर (ज्योति)

—— • ——

८—वल्शेश्वरगर्भित-अव्ययक्षरगर्भिताक्षरप्रधान—उपेश्वरश्चन्द्रमाः (४)

१—यशोमूर्त्तिर्ज्ञानाधारो मनोमय—अव्यय (यश)

२—श्रद्धामूर्त्ति. क्रियाधार· प्राणमय—अक्षरः (श्रद्धा)

३—रेतोमूर्त्तिरर्थाधारो वाङ्मय—क्षर (रेत.)

—:*:—

९—वल्शेश्वरगर्भितः-अव्ययक्षरगर्भिताक्षरप्रधानः-उपेश्वरो भूपिण्डः (५)

१—द्यौमूर्त्तिर्ज्ञानसञ्चालको मनोमय—अव्ययः (द्यौ)

२—गौमूर्त्तिः क्रियासञ्चालक. प्राणमय—अक्षर. (गौ)

३—वाङ्मूर्त्तिरर्थसञ्चालको वाङ्मय—क्षरः (वाक्)

—:*:—

१०—अग्नित्रयमूर्त्ति.-अव्ययाक्षरगर्भितात्मक्षरप्रधानः प्रत्यगात्मा साक्षी सुपर्णः (१)

१—सर्वज्ञमूर्त्तिरादित्यप्रधानो ज्ञानप्रदाता मनोमय.—अव्यय. (सर्वज्ञ.)

२—हिरण्यगर्भमूर्त्तिर्वायुप्रधानः क्रियाप्रदाता प्राणमय-अक्षर.(हिरण्यगर्भः)

३—वैश्वानरमूर्त्तिरग्निप्रधानोऽर्थ प्रदाता वाङ्मयः—क्षर' (वैश्वानरः)

—.०—

११—अग्नित्रयमूर्त्तिरव्ययाक्षरगर्भितात्मक्षरप्रधानः सावरणो भोक्ता सुपर्णः (२)

१—प्राज्ञमूर्त्तिरादित्यप्रधानो० ——— अव्ययः (प्राज्ञ)

२—तैजसमूर्त्तिर्वायु०- ——— अक्षरः (तैजसः)

३—वैश्वानरमूर्त्तिरग्नि० ——— क्षरः (वैश्वानर.)

———*———

अदिति के गर्भ में हमने विराट्प्रजापति की सत्ता बतलाई है। इसी विराट्प्रजापति को—प्राणात्मोपनिषत् का उपनिषत्—हमने साक्षीसुपर्ण कहा है। यही हमारी इस प्राणात्मविज्ञानोपनिषत् की मूल प्रतिष्ठा है। यही हमारा (जीवात्मा का) उपास्य ईश्वर है। पूर्वोक्त आत्मविवर्तों में से हम सुगमता पूर्वक इसी की उपासना कर सकते हैं, अत एव पूर्व की प्राजापत्यसंस्थाचतुष्टयी में हमनें इसे सुविज्ञेय कहा है। इस बात को न भूल जाइए कि, कर्म्म सदा विश्व से सम्बन्ध रखता है, उपासना एकमात्र ब्रह्मगर्भित देवता की ही होसकती है, एवं ज्ञान का सम्बन्ध एकमात्र आत्मा के साथ ही है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जासकता है कि, कर्म्मकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा सावरण भौतिक विश्वरूप में परिणत आत्मा है, उपासना की आधारभूमि ब्रह्मसत्यगर्भित देवसत्यात्मा है, एवं ज्ञानकाण्ड का आश्रय अमृतात्मरूप षोडशी पुरुष है। अथवा यों कहिए कि, भौतिक विश्व को साथ लेकर वही आत्मा साञ्जन-सावरण बनता हुआ कर्म्म का

प्रवर्त्तक बनता है। प्राण (स्वयम्भू), आपः (परमेष्ठी), वाक् (सूर्य्य), अन्न (चन्द्रमा), अन्नाद (भूपिण्ड), इन ब्रह्मसत्यात्मक पाँचों प्रकृतियों से नित्ययुक्त अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टिरूप देवत्रयी को साथ लेकर तद्विशिष्ट यही आत्मा उपासना का प्रवर्त्तक बनता है। एवं अपने विशुद्ध षोडशीरूप से वही ज्ञान का प्रवर्त्तक बनता है। सर्वातीत परात्पर (निराकार परमेश्वर) कर्म्म उपासना-ज्ञान, तीनों धर्म्मों से बहिर्भूत होता हुआ सर्वथा निर्धर्म्मक है। और सूक्ष्मविचार कीजिए। क्षराक्षरगर्भित अव्ययमूर्त्ति अमृतात्मा ज्ञानकाण्ड का, क्षराव्ययगर्भित अक्षरमूर्त्ति ब्रह्मसत्यात्मानुगृहीत देवसत्यात्मा उपासनाकाण्ड का, एवं अक्षराव्ययगर्भित क्षर (विकार क्षर) मूर्त्ति विश्व कर्म्मकाण्ड का आश्रय है। कर्म्म का भौतिक क्षरविवर्त्त से ही सम्बन्ध है—"क्षर सर्वाणि भूतानि"। उपासनाका चरकूट पर एकरूप से प्रतिष्ठित, अतएव-कूटस्थ नाम से प्रसिद्ध अक्षरविवर्त्त से ही सम्बन्ध है—"कूटस्थोऽक्षर उच्यते"। इसीलिए उपनिषदों ने इसी अक्षरप्रधान देवसत्यात्मा को, किंवा देवसत्यसंस्था में विकसित अक्षर को उपास्य माना है, जैसाकि श्रुति कहतीहै—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धीयत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं विद्धि ॥१॥
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयोभवेत् ॥२॥ (मुण्डक २।२।३-४)

विशुद्ध अक्षर उपास्य नहीं है, अपितु देवसत्यात्मगर्भित ब्रह्मसत्यावच्छिन्न, अतएव ब्रह्म नाम से व्यवहृत सोपाधिक अक्षर ही उपास्य बनता है। यद्यपि उपासना का आश्रय ब्रह्म (ब्रह्मसत्यात्मक देवसत्यात्मा) है, परन्तु प्रधान लक्ष्य वही अक्षर है। इन्हीं दोनों भावों को सूचित करने के लिए पहिले श्रुतिने-"लक्ष्यं तदेवाक्षरम्" यह कहा, एवं आगे जाकर "ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते" यह कहा। ज्ञान का सर्वालम्बनरूप अव्ययविवर्त्त से हीसम्बन्ध है। इस आलम्बनरूप अव्ययप्रधान आत्मा को न आप उपासना कर सकते, एवं न इसे कर्म्म में अग्रणी बनाया जासकता। यह केवल बुद्धिगम्य (जानने की वस्तु) है—"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्तिः धीरा"। इसी रहस्य को लक्ष्यमें रखकर महर्षि कठ कहते हैं—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ (कठोपनिषत् १।२।१७)

धर्मों का पूर्ण विश्वास नहीं होता है। वेदान्तदर्शन ने-"जन्माद्यस्य यतः" के अनुसार विजिज्ञास्य ब्रह्म को जन्मस्थितिभङ्ग का कारण माना है। ऐसा ब्रह्म निर्धर्मक व्यापक तत्त्व नहीं हो सकता। वह तो एकमात्र अक्षर ही हो सकता है। कारण—"तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" (मुण्डकोपनिषत् २.१।१) इत्यादि श्रुति अक्षर को ही जन्मस्थितिभङ्ग का कारण बतलाती है। "अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके (अक्षरे)" इत्यादि स्मृतियाँ भी उक्त श्रौत अर्थ का ही समर्थन कर रही हैं। ऐसी स्थिति में जो व्याख्याता अभिनिवेश में पड़कर अव्ययब्रह्म-प्रतिपादक वेदान्त दर्शन को अक्षरब्रह्म का प्रतिपादक मान रहे हैं, यह उनका प्रौढिवाद ही समझना चाहिए। क्षर कार्यरूप जगत् है, अक्षर कारणरूप जगदीश्वर है, अव्यय कार्यकारणातीत सर्वालम्बन तत्त्व है। इन तीनों पूर्णेन्द्रों से अक्षर द्वारा अर्द्धेन्द्र जीवसृष्टि का विकास होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

जहाँ तक हमारा अनुमान है, पाठक इस आत्मविवर्त्त से ऊब गए होंगे। अच्छा तो <u>वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञात्मक विराट् के दर्शन</u>—एक बार अपने उपास्यदेव (विराट् प्रजापति) के दर्शन कर विश्राम कीजिए। अदिति का स्वरूप बतलाते हुए इस में अग्नि-वायु-आदित्यात्मक, तीन देवताओं की सत्ता बतलाई गई है। अग्नि के ये तीन विवर्त्त जहाँ देवतासम्बन्ध से पूर्वकथनानुसार ३३ अवस्थाओं में परिणत होते हैं, वहाँ यज्ञ की अपेक्षा से इसकी १० कलाएँ हो जाती हैं। दशाक्षरछन्द को ही विराट्छन्द कहा जाता है—"दशाक्षरा वै विराट्" (शत० १।१।१।२२)। पार्थिव प्राणाग्नि-तत्त्व दशकल बनता हुआ, अतएव विराट्सम्पत्ति से युक्त होता हुआ विराट् प्रजापति नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। त्रिवृत्स्तोमपर्य्यन्त एकल गार्हपत्याग्नि है, पञ्चदश पर्य्यन्त अष्टकल धिष्ण्याग्नि है, एवं एकविंश स्तोम पर्य्यन्त एकल आहवनीयाग्नि है। इन तीनों अग्नियों की स्व स्व स्तोमों में तो उक्थावस्था रहती है, शेष दोनों स्तोमों में यही अर्करूप से व्याप्त रहते हैं। त्रिवृत्रूप पृथिवी पर्य्यन्त अग्नि उक्थरूप से, पञ्चदश, एवं एकविंश पर्य्यन्त अर्करूप से व्याप्त है। पञ्चदशरूप अन्तरिक्ष में धिष्ण्यरूप वाय्वग्नि उक्थरूप से, एकविंश, एवं त्रिवृत् में अर्करूप से व्याप्त है। एकविंशस्तोमरूप द्युलोक में इन्द्ररूप आदित्याग्नि उक्थरूप से, एवं त्रिवृत्-पञ्चदश में अर्करूप से व्याप्त है। इस प्रकार महापृथिवी (अदिति पृथिवी) के अवयवभूत ९-१५-२१ स्तोमात्मक पृ० अन्त० द्यौः, तीनों में अग्नि-वायु-इन्द्र, तीनों की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि, स्व स्व स्थान में तीनों की क्रमशः प्रधानता है। अतः अग्नि पृथिवी लोक का, वायु अन्तरिक्षलोक का, एवं आदित्य द्युलोक का अधिपति माना जाता है। स्वस्थान से अतिरिक्त तीनों की दोनों स्थानों में गौणता

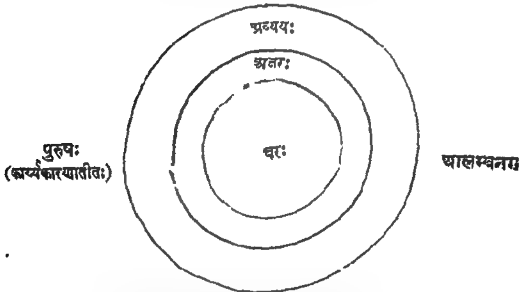
# १—अव्ययसंस्था—पूर्णपुरुषः

१—अव्ययसंस्था—पूर्णपुरुषः

क्षराक्षरगर्भितः—अव्ययप्रधानः—ब्रह्म—देवसत्याधिष्ठाता

अमृतात्मा

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥



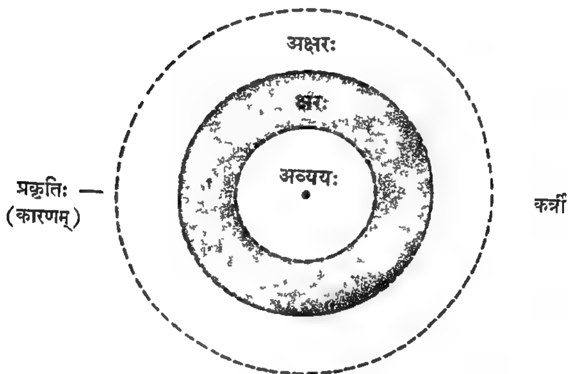

एतदालम्बनं श्रेष्ठं—एतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

ज्ञानकाण्डाधिष्ठाता

ज्ञानात्मा

## २ – अक्षरसंस्था—पूर्णप्रकृतिः

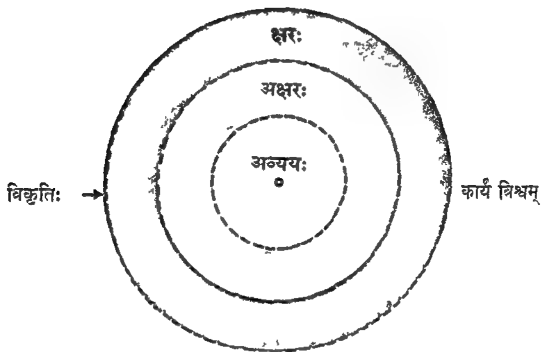
क्षराव्ययगर्भितः—अक्षरप्रधानः ब्रह्मसत्यात्मकः प्राकृतात्मा




उपासनकाण्डाधिष्ठाता
नियात्मा

[illegible]

## ३ – क्षरसंस्था—पूर्णविकृतिः



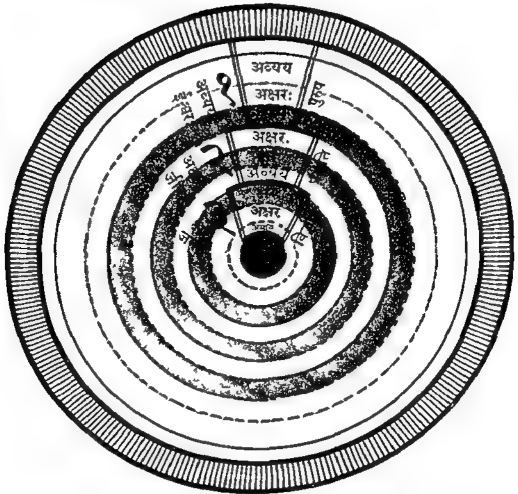

अक्षराव्ययगर्भितः—क्षरप्रधानः—विश्वमूर्त्तिर्विकृतात्मा

कर्म्मकाण्डाधिष्ठाता

भूतात्मा

शर्मा ब्रादर्स इलैक्ट्रिक प्रेस अलवर।

## १ – समष्टिः—
## तदिदं सर्वम्




(विशिष्टाद्वैतमूर्त्तिः—पुराणपुरुषः)

यस्मात्परं नापरमस्तिकिञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥१॥

शर्मा मार्डर्न इलैक्ट्रिक प्रेस, अलवर।

है। साथ ही में त्रैलोक्यभेद से तीनों के नाम रूप-कर्म्म भी बदल जाते हैं। पार्थिव वसव अग्नि पवमान कहलाता है, आन्तरिक्ष्य अर्काग्नि पावक कहलाता है, एवं दिव्य अर्काग्नि शुचि नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव वायु मातरिश्वा (पिण्डप्रवर्त्तक वायु) कहलाता है। आन्तरिक्ष्य वायु यम कहलाता है। दिव्य वायु पवित्र नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव इन्द्र वासव कहलाता है। आन्तरिक्ष्य इन्द्र मरुत्वान् कहलाता है। एवं दिव्य इन्द्र मघवा नाम से प्रसिद्ध है। देवत्रयी के इसी त्रिवृद्भाव का स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित निगम वचन हमारे सामने आते हैं।

---

**पवमानः**—

१—"स वा अग्नये पवमानाय निर्वपति"——(शत० २।२।१।६)।
२—"प्राणो (प्राणाग्निः) वै पवमानः"——(शत० २।२।१।६)।
३—"यो वा अग्निः पवमानः"————(ऐ० ३।३७)।
४—"स यदग्नये पवमानाय निर्वपति यदेवास्या-स्या पृथिव्यां रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोति"—(शत० २।२।१।१४)
५—"यदस्य पवमान-रूपमासीत्-तदस्यां-पृथिव्यां न्यधत्त"—(शत० २।२।१।१४)

---

**पावकः**—

१—"अथाग्नये पावकाय निर्वपति"——(शत० २।२।१।७)
२—"अन्नं वै पावकम्"————(शत० २।२।१।७)
३—"यत् (अग्नेः) पावक (रूपं) तदन्तरिक्षे (न्यधत्त)"—(शत० २।२।१।१४)
४—"अथ यदग्नये पावकाय निर्वपति—यदेवा-स्यान्तरिक्षे रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोति"—(शत० २।२।१।१४)

---

**शुचिः**—

१—"अथाग्नये शुचये निर्वपति"——(शत० २।२।१।८)।
२—"ओर्द्ध्वं वै शुचि"————(शत० २।२।१।८)।
३—"अथ यत् (अग्नेः) शुचिः (रूपं) तद्दिवि (न्यधत्त)"—(शत० २।२।१।१४)
४—"अथ यदग्नये शुचये निर्वपति यदेवास्य दिवि रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोति"—(शत० २।२।१।१४)।

---

**मातरिश्वा** —
- १—"अयं वै वायुर्मातरिश्वा योऽयं पवते" —— ( शत० ६।४।३।४ )
- २—"सर्वा दिशो ( भूपिण्डस्य समन्तात् ) ऽनुश्वसिति सर्वा दिशोऽनुसञ्चरति—स वा एष मातरिश्वैव" —— ( तै०ब्रा० २।३।९।६ )

—— ० ——

**यमः** ——
- १—"अयं वै यमो योऽयं ( वायु ) पवते" —— शत० ६। ।४।१४ )
- २—"यमो ऽस्या अस्या अवस्थानस्य" —— ( शत० ७।१।१।३ )

—— ० ——

**पवित्र** —
- १ "अयं वै पवित्रं योऽयं ( वायु ) पवते" — शत० १।१।३।२ )
- २—"पवित्रं वै वायुः" — ( तै० ब्रा० ३।२।५।११ )

—— ——

**वासवः**
- १—"इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु" ( शत० ३।५।२।४ ) ।
- २—"( वासवो वृत्रहा वृषा )" —— ( अमर ) ।

—— * ——

**मरुत्वान्**
- १—"इन्द्रो वै मरुत्वान्" ( गो० उ० ११२३ ) ।
- २—"( इन्द्रो मरुत्वान् )" —— ( अमर ।

—— ० ——

**मघवा**
- १—"इन्द्रो वै मघवान्" ( शत० ५।१। ।१५ ) ।
- २—"( मघवा बिडौजाः )" ( अमर )

—— ० ——

**अग्नि** —
- १—पवमानाग्नि—त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव —— स्वयंरूप
- २—पावकाग्नि —— पञ्चदशस्तो० आन्तरिक्ष —— अर्करूप
- ३—शुचिरग्नि —— एकविंशस्तो० दिव्य —— अर्करूप

—पृथिवीप्रधान

—— ० ——

**वायुः**
- १—मातरिश्वा वायु —त्रिवृत्० पार्थिव —— उक्थरूप
- २—यम वायु —— पञ्चदश आन्तरिक्ष अर्करूप
- ३—पवित्रवायु —— एकविंश दिव्य —— अर्करूप

—अन्तरिक्षप्रधान

—— ० ——

**इन्द्रः** —
- १—वासव इन्द्र — त्रिवृत्० पार्थिव —— स्वयंरूप
- २—मरुत्वानिन्द्र —— पञ्चदश० आन्तरिक्ष —अर्करूप
- ३—मघवानिन्द्र —— एकविंश० दिव्य —— अर्करूप

—द्युप्रधानः

अग्नि-वायु-इन्द्र (आदित्य), इन तीनों देवताओं के (प्रत्येक के) तीन-तीन रूप क्यों होगए ?, इस प्रश्न का समाधान तानूनप्त्रविज्ञान पर निर्भर है। जिस याज्ञिक प्रक्रिया-विशेष के कारण इन तीनों देवताओं के शरीर सुरक्षित रहते हैं। जिस यज्ञ के आधार पर इन के तनू गिरने नहीं पाते, वही यज्ञेष्टि "तानूनप्त्रेष्टि" नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव अग्नि अर्थशरीरी है, आन्तरिक्ष्य वायु क्रियाशरीरी है, एवं दिव्य इन्द्र ज्ञानशरीरी है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ, तीनों स्वतन्त्र रह कर कभी विकसित नहीं होसकते। इन तीनों में अर्थ, एवं क्रिया के विना ज्ञान यद्यपि स्वस्वरूप से रह सकता है, परन्तु अर्थ, एवं क्रिया विना नित्यधर्म्मा ज्ञान को आलम्बन बनाए जीवित ही नहीं रह सकते। यदि ज्ञान को अर्थ, तथा क्रिया का सहकार प्राप्त नहीं होगा, तो वह निर्विकल्पक बनता हुआ विज्ञान (जानना) कोटि से बाहिर मात्र निकल जायगा, परन्तु इस की स्वरूप हानि नहीं होगी। "अयं घटः-अयं पटः-तमहं जानामि" इस प्रकार का लौकिक ज्ञान विना अर्थ ( विषय ) के कभी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। उधर क्षणिक क्रिया विना ज्ञानाश्रित विषय ( अर्थ ) को अपना आधार बनाए सर्वथा अनुपपन्न है। इस प्रकार विश्वोपाधिक ज्ञान-क्रिया-अर्थ, तीनों को ही स्वस्वरूप सिद्धि के लिए परस्पर तीनों का सहयोग अपेक्षित है। जब तक तीनों पृथक् हैं --(यद्यपि ऐसा संभव नहीं है), तब तक तीनों ही आसुर भावापन्न नास्तिसार बल से अभिभूत होते हुए पराजित हैं। जब तीनों परस्पर मिल जाते हैं, इस बात की प्रतिज्ञा ( शपथ ) कर लेते हैं कि, असुरबल को नष्ट करने के लिए अपन सदा मिल जुल कर रहेंगे, कभी अलग नहीं होंगे, तो इस संघशक्ति के प्रभाव से तीनों का सम्पूर्ण पार्थिव त्रैलोक्य (सम्वत्सर) में एकच्छत्र शासन हो जाता है। सम्वत्सर में से असुर निकल जाते हैं। इसी शपथ ( प्रतिज्ञा ) के कारण इन के तनू नहीं गिरने पाते, अत एव शपथ को भी विज्ञान भाषा में "तानूनप्त्र" नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। देवताओं का यह तानूनप्त्र कर्म्म ( शपथ कर्म्म ) वरुण के घर में होता है। भूपिण्ड के चारो ओर अर्णव समुद्र व्याप्त है। यही आपोमण्डल वरुणप्राण प्रधान होने से वारुणलोक कहलाता है। इसी वारुण अप्तत्त्व के आधार पर इन्द्राविष्णु की स्पर्धा से वेद-लोक-वाक् साहस्रियों का वितान होता है, जैसा कि— 'इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्' इत्यादि रूप से पूर्व में कहा जा चुका है। इस तानूनप्त्र का विशद रहस्य शतपथ की तानूनप्त्रेष्टि में देखना चाहिए—(शत० ३।४।२।)।

अग्नितत्त्व सदा गायत्रीछन्द से छन्दित रहता है। अष्टाक्षर गायत्री छन्द के सम्बन्ध से इस गायत्राग्नि की आठ मात्राएँ हो जाती हैं। अष्टाक्षर गायत्रछन्दा अग्नि के ही अग्नि-वायु-इन्द्र, ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं। इस दृष्टि से पार्थिव अग्नि-(अग्नि)-आन्तरिक्ष्य अग्नि(वायु)-दिव्याग्नि-( इन्द्र ), तीनों की आठ आठ मात्राएँ हो जाती हैं। पार्थिव अग्नि की आठ मात्राओं

में से ४ मात्रा पर तो स्वयं अग्नि प्रतिष्ठित होता है। एवं शेष चार में से २ पर वायु, २ पर इन्द्र प्रतिष्ठित है। इस प्रकार अर्द्धभाग में अग्नि की सत्ता सिद्ध हो जाती है, एवं अर्द्धभाग में वायु, तथा इन्द्र दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। फलतः पार्थिव अग्नि-अग्नि वायु इन्द्रात्मक बनता हुआ सर्वमूर्त्ति बन जाता है। अग्नि अर्थ है, वायु क्रिया है, इन्द्र ज्ञान है। अग्नि यद्यपि त्रिमूर्त्ति है, तथापि प्रधानता अर्थमूर्ति अग्नि की ही है। अतः—इस त्रिदेवमूर्त्ति अग्नि को अर्थशक्ति का ही अधिष्ठाता माना जाता है। पृथिवी एक विश्व है, अन्तरिक्ष एक विश्व है, द्युलोक एक स्वतन्त्र ही विश्व है। इन तीनों विश्वों के अग्नि-वायु-इन्द्र, ये तीन नर हैं। त्रिमूर्त्ति तापधर्मा अग्नि इन्हीं विश्वनरों के समन्वय से संपन्न हुआ है। अत एव इसे "वैश्वानर" कहा जाता है। यह त्रैलोक्य में व्याप्त है, इसी आधार पर "वैश्वानरो यतते सूर्य्येण"(ऋक्सं० १।९८।१। आ यो द्यां भात्या-पृथिवीम्" यह कहा जाता है। ठीक यही व्यवस्था आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य इन्द्र की आठ आठ मात्राओं के सम्बन्ध में समझिए। वायु में से चार में वायु, २-२-में अग्नि-इन्द्र हैं। इन्द्र में से चार में स्वयं इन्द्र, २-२-में अग्नि-वायु हैं। यही त्रिमूर्त्ति वायुप्रधान, अत एव क्रियाप्रधान वायु हिरण्यगर्भ नाम से, त्रिमूर्त्ति इन्द्र प्रधान, अत एव ज्ञान प्रधान इन्द्र सर्वज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि, पार्थिव अग्नि अग्नि है, इसमें सोमस्थानीय वायु-इन्द्र की आहुति से वैश्वानर का जन्म होता है। वायु अग्नि है, इसमें अग्नीन्द्र की आहुति से 'हिरण्यगर्भ प्रकट होता है'। एव इन्द्र अग्नि है, इसमें वाय्वग्नि की आहुति होने से सर्वज्ञ का विकास होता है। सर्वज्ञ ( ज्ञान ) की प्रतिष्ठा हिरण्यगर्भ ( क्रिया ) है, हिरण्यगर्भ की प्रतिष्ठा वैश्वानर ( अर्थ ) है। वैश्वानर की प्रतिष्ठा भूपिण्ड है। भूपिण्ड से आरम्भ कर त्रिकलयुक्त त्रिमूर्त्ति दशकल अग्निमूर्त्ति विराट् पुरुष खड़ा हुआ है। समष्टि रूप से एक अग्नि ही विराट् है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"दश वा एतानग्नींश्चिनुते। अष्टौ धिष्ण्यान्, आहवनीयं च-
गार्हपत्यं च। तस्मादाहुर्विराडग्निरिति। दशाक्षरा हि विराट्। तान्नु
सर्वानेक इवैवाचक्षते-अग्निरिति। एतस्यैवैतानि सर्वाणि रूपाणि"
( शत० १०।३।२। १। ) इति॥

वैश्वानर इसके पाद हैं, हिरण्यगर्भ हृदयस्थानीय है, सर्वज्ञ शिरःस्थानीय है, भूपिण्ड प्रतिष्ठा है, जैसा कि पूर्व की ईश्वरप्रकृति में स्पष्ट कर दिया गया है। अग्नित्रयकलमूर्त्ति सप्तत्म-रात्मक यह विराट्प्रजापति स्वांसत्ता से पतिपत्नीरूप धारण कर लेता है। विराट् अग्निमूर्त्ति है, यह अन्नाद की ही अवान्तर है। अन्न सोम के बिना यह अप्रतिष्ठित है। फलतः विराट् को

अग्निसोममूर्त्ति मानना आवश्यक हो जाता है। एक स्थान पर अग्नि आधार है, सोम आधेय है, यही पति है। अन्यत्र सोम आधार है, अग्नि आधेय है, यही पत्नी है। सोमगर्भित अग्नि वृषा है, अग्निगर्भित सोम योषा है। वृषा पुरुष है, योषा स्त्री है। दोनों स्वतन्त्र विराट् हैं। दोनों में १०-१० कल अग्नि विद्यमान है। केवल अग्नि सोम की प्रधानता, अप्रधानता का तारतम्य है। दोनों एकमूर्त्ति बन कर त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित हैं। दोनों में प्रधानता अत्ता अग्नि पुरुष की ही है, अतः विराट् को पुरुष शब्द से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। योषा-वृषात्मक इसी विराट्-मिथुन से प्रजोत्पत्ति होती है। पति-पत्नी-भाव से यह विराट् सर्वत्र विराजमान हो रहा है। य" "विराजते" से ही विराट् नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। हमारे प्रकरण का यही साक्षी सुपर्ण है। तन्त्र परिभाषा के अनुसार यही 'पक्षीराज' नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषत् परिभाषा के अनुसार यही 'सर्वभूतान्तरात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। यज्ञपरिभाषानुसार यही 'सर्वहुतयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। अध्यात्मभाषानुसार यही 'प्रत्यगात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञानभाषा में यही 'देवसत्यात्मा' नाम से प्रसिद्ध है—"सोऽनुष्यातव्यः, स विजिज्ञासितव्यः, स उपासितव्यः, सोऽन्वेष्टव्यः"। इस में आवरण मूलक क्लेशकर्मादि का अभाव है। अत एव इस का—"क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" यह लक्षण किया जाता है।

इसी त्रैलोक्यव्यापक अग्निमूर्त्ति विराट् की रुद्ररूप से भी उपासना की जासकती है, ब्रह्मरूप से भी की जासकती है, विष्णुरूप से भी की जासकती है। क्यों कि अर्थशक्तियुत अग्नि का अव्यय के वाग्भाग से अनुगृहीत इन्द्र-सोम-अग्नि समष्टिरूप तीनों अक्षरों से सम्बन्ध है। अक्षरत्रय समष्टि ही रुद्र, किंवा शिव है। यह मूलमें सब की प्रतिष्ठा बना हुआ है। व्यक्त मूर्त्तिक्षरप्रधान बनता हुआ यह देवाधिदेव शीघ्र ही आत्मसात् होजाता है, अत एव इसे "आशुतोष" कहा जाता है। यही रुद्र त्रैलोक्याग्नि रूप में परिणत होते हुए, विष्णु और ब्रह्मा की प्रतिष्ठा बनते हुए विश्वाधिप बनरहे हैं, जैसा कि भगवान् श्वेताश्वतर कहते हैं —

> यो देवाना प्रभवाद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
> हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुध्या शुभया संयुनक्तु॥ (श्वे० ३।४)

इस का पार्थिव प्राणाग्नि से सम्बन्ध है, इसी को वर्मविज्ञान के अनुसार पूर्व में हमने पवमान कहा है। रुद्रमूर्त्ति पवमानाग्नि प्राणरूप होने से "ऋषि" है। अत इसे ऋषि शब्द से व्यवहृत किया गया है—"अग्निर्ऋषिः पवमान-इति" (ऐ० २।३७)। ऋषिमूर्त्ति आन्त-

रिक्ष्य दिव्याग्नियों की यही एकर्षि रुद्र मूल प्रतिष्ठा है, अत एव इसे महर्षि कहा गया है। मध्यस्थ आन्तरिक्ष्य अग्नि अव्यय के प्राणभाग से अनुगृहीत मध्यस्थ विष्णु-अक्षर से सम्बन्ध रखता है। एवं दिव्य अग्नि अव्यय के मनोभाग से अनुगृहीत शीर्ष स्थानीय ब्रह्माक्षर से सम्बन्ध रखता है। इन तीनों में भी रुद्र क्षरप्रधान अक्षर है, विष्णु अक्षरप्रधान अक्षर है, एवं ब्रह्मा अव्ययप्रधान अक्षर है। उपासना का प्रधान सम्बन्ध अक्षर से है, इस की प्रधानता अक्षरमूर्त्ति विष्णु में है, अतः उपासनाकाण्ड में विष्णु ही प्रधान माने जाते हैं। इसी प्रधानता के आधार पर प्रजा को "वैष्णवी" कहा जाता है। रुद्र क्षरप्रधान अक्षर हैं, जैसा कि श्रुति कहती है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
( श्वे० १।१० )

अत एव भारतवर्ष में विष्णु की उपासना की अपेक्षा रुद्रोपासना की कम प्रधानता है। उधर अव्यय-प्रधान अक्षरमूर्त्ति ब्रह्मा की उपासना का प्रचार तो और भी कम है। क्यों कि अव्यय प्रत्येक दशा में अनुपास्य ही रहता है।

१—वैश्वानरमूर्त्तिरिन्द्राग्निसोमाक्षरमयः क्षरप्रधानः—रुद्रः
२—हिरण्यगर्भमूर्त्तिर्विष्ण्वक्षरमयोऽक्षरप्रधानः—— विष्णुः
३—सर्वज्ञमूर्त्तिर्ब्रह्माक्षरमयोऽव्ययप्रधानः————ब्रह्मा
}—विराट्

इन तीनों की समष्टि ही विराट् है। विराट् की उपासना से ईश्वर उपासित होता है। जो एक एक अङ्ग (देवता) की उपासना करते हैं, वे भी परम्परया ईश्वर की ही उपासना करते हैं।

१—अन्नादाग्निः—पार्थिवः———अग्निः
२—दिश्याग्निः—— आन्तरिक्ष्यः——वायुः
३—अन्नाग्निः——दिव्यः————इन्द्रः
}—समन्वयात्-विराडुत्पत्तिः

———

१—गार्हपत्याग्निरेकलः——पार्थिवः
२—धिष्ण्याग्निरष्टकलः—आन्तरिक्ष्यः
३—आहवनीयाग्निरेकलः—दिव्यः
}—स एव रुद्रविष्णुब्रह्ममूर्त्तिर्दशकलो विराट्

———

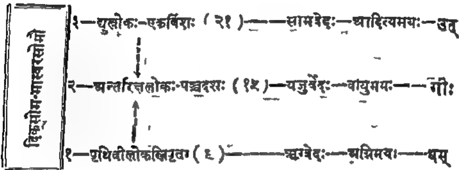
| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| | १-पवमानः पार्थिवाग्निः (अर्थः)<br>२-मातरिश्वाः पार्थिववायुः (क्रिया)<br>३-वासवः—पार्थिवेन्द्रः (ज्ञानम्) | त्रिमूर्त्तिरग्निरर्थप्राधनः पार्थिवः (१ | वैश्वानरः | स्रष्टा—विराट्प्रजापतिरीश्वरः साक्षी |
| २-क्रिया | १-पावकः—आन्तरिक्ष्योऽग्निः (अर्थः)<br>२-यमः—आन्तरिक्ष्यो वायुः (क्रिया)<br>३-मरुत्वान्-आन्तरिक्ष्य इन्द्रः (ज्ञानम्) | त्रिमूर्त्तिर्वायुः क्रियाप्रधनः आन्तरिक्ष्यः (८) | हिरण्यगर्भः | |
| ३-ज्ञानम् | १-शुचिः—दिव्याग्निः—(अर्थः)<br>२-पवित्रः—दिव्याग्निः—(क्रिया)<br>३-मघवा—दिव्य इन्द्रः—(ज्ञानम्) | त्रिमूर्त्तिरिन्द्रः-ज्ञानप्रधानो दिव्यः (१) | सर्वज्ञः | |

पाठकों को स्मरण होगा कि, इस विराट् प्रकरण के आरम्भ में हमने महिमा-पृथिवी में रहने वाले अमृतभावापन्न अग्नि, एवं सोम, दोनों की संभूय पांच अवस्थाएँ बतलाई हैं—(देखिए पृ० सं० २८१)। पार्थिव अग्नि, वायु, आदित्य, तीनों को पूर्व में उक्थ-अर्क-भेद से दो दो अवस्थाएँ बतलाई हैं। इन दोनों में उक्थावस्था मूलप्रतिष्ठा बनती हुई आत्मा है, एवं अर्कावस्था तूलप्रतिष्ठा बनती हुई प्राण है। प्राणों की अनुचीन, मुख्य, भेद से दो जातियाँ हैं। मुख्यप्राण आत्मा है। यही उक्थ है, इसी को छान्दोग्यश्रुति ने उद्गीथ कहा है। इस उक्थ (विश्व) रूप उद्गीथात्मक आत्मप्राण से निकलने वाले पञ्चप्राण अनुचीन नाम से व्यवहृत होते हैं। ये अङ्गप्राण हैं। "यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश" (मुण्डकोपनिषत् ३।१।६।) के अनुसार आत्मप्राणरूप उस मुख्य प्राण में ये पांच अनुचीन अङ्ग प्राण नित्य युक्त रहते हैं। वह मुख्य-प्राण अग्नीषोमात्मक है। अत एव उससे निकलने वाले ये पांचों अङ्गप्राण भी अग्नीषोमात्मक ही हैं। इन में तीन अग्निप्रधान हैं, दो सोम, किंवा अप्प्रधान हैं। ये पांचों उसी उद्गीथ की उपासना किया करते हैं। यही उद्गीथ ज्येष्ठ, एवं श्रेष्ठ प्राण माना गया है। मुख्यप्राण के इसी आत्मभाव का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

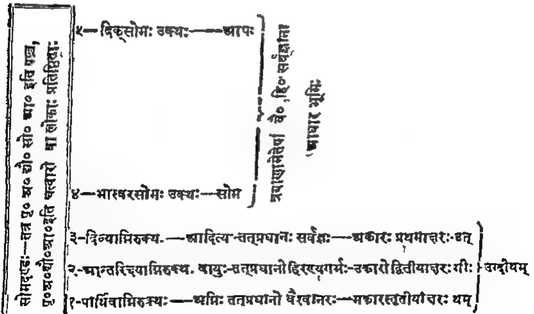
"अथ ह य एवायं मुख्यप्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे।
तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुः+++आगाता ह वै का-
मानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते" (छां० १।२।)।

उद्गीथ में 'उत्–गी–थम्' ये तीन अक्षर ( किन्तु, व्यञ्जन ८ ) हैं। 'उत्'-एक अक्षर है, 'गी' दूसरा अक्षर है, 'थम्'-तीसरा अक्षर है। उत्-सर्वोच्चभाव का सूचक बनता हुआ शिरःस्थानीय है, 'गी'-गच्छत् भाव का सूचक बनता हुआ हृदयस्थानीय है, थम्-स्थितिभाव का सूचक बनता हुआ पादस्थानीय है। अन्त–मध्य–मूल, प्राण की इन तीन अवस्थाओं के लिए ही क्रमशः उत्–गी–थम्, ये तीन अक्षर प्रयुक्त हुए हैं। तीनों में 'थम्' इन्द्राग्निसोमाक्षर है, 'गी' विष्ण्वक्षर है, 'उत्' महाक्षर है। त्रिमूर्त्तिरूप यही एकमूर्ति सम्पूर्ण त्रैलोक्य का उद्गीथ ( प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण ) है। द्यौ-सामवेद-आदित्य, तीनों का 'उत्' से सम्बन्ध है। अन्तरिक्ष-यजुर्वेद-वायु, इन तीनों का 'गी' से सम्बन्ध है। पृथिवी- ऋग्वेद–अग्नि, इन तीनों का थम्–अक्षर से सम्बन्ध है। पृथिवी ही स्तोमभेद से पृ० अ० द्यौ, तीन रूप में परिणत हो रहा है। ऋग्वेद ही वितान के तारतम्य से ऋक्–यजु – साम-रूप में परिणत हो रहा है। अग्नि ही अवस्था भेद से अग्नि–वायु–आदित्यरूप में परिणत हो रहा है। तीनों लोकों में प्रतिष्ठित तीनों वेदों से छन्दशरीरी तीनों देवता ही उत् गी-थम् हैं। यही आप का सुपरिचित विराट् पुरुष है। यद्यपि अग्नि–वायु–आदित्य, तीनों ही प्राणमय हैं, तथापि आदित्य में प्राण की प्रधानता है। वायु में वाक्तत्त्व की प्रधानता है। अग्नि में अन्न की प्रधानता है। प्राणमय आदित्य उत् है, वाङ्मय–वायु गी है; अन्नमय अग्नि थम् है, समष्टि उद्गीथम् है। उत्रूप आदित्य अकार है, गीरूप–वायु उकार है, थम्रूप अग्नि मकार है, समष्टिरूप उद्गीथ ओंकार है। "अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवः, यः प्रणवः स उद्गीथः" ( छां० ३।५ ) के अनुसार यही प्रणव है। प्रणव की अकार कला का विकास आदित्यप्रधान सर्वज्ञ में है, उकार कला का विकास वायुप्रधान हिरण्यगर्भ में है, एवं मकार का विकास अग्निप्रधान वैश्वानर में है। इस दृष्टि से इस ईश्वर-प्रजापति का भी प्रणवमूर्त्तित्व सिद्ध होजाता है— "तस्य वाचकः प्रणवः"। निष्कर्ष यही हुआ कि, उक्त रूप अग्नि–वायु–आदित्य की समष्टि ही 'थम्–गी–उत्' रूप उद्गीथ प्राण है। यही मुख्य प्राण है, यही आत्मा है। इस त्रिकल उद्गीथाक्षररूप प्राणात्मा के अर्क ही पञ्च प्राण हैं। उक्थाग्नि की अर्कावस्था आग्नेयप्राण है, उक्थवायु की अर्कावस्था वायव्यप्राण है, उक्थ आदित्य की अर्कावस्था ऐन्द्रप्राण है। भास्वर सोममय प्राण सौम्यप्राण है, दिक्सोमावच्छिन्न प्राण आप्यप्राण है। ये पांचों अनूचीन प्राण उस ईश्वरात्मरूप मुख्य प्राण के इन्द्रिय स्थानीय हैं, जैसाकि अध्यात्मविवेचन से स्पष्ट होजायगा। इसी प्राणरहस्य को लक्ष्य में रख कर सामश्रुति कहती है—

"अथ खलु–उद्गीथाक्षराण्युपासीत इति ( आदेशः )। प्राण एव उत्, प्राणेन ह्युत्तिष्ठति। वाक्–गीः, वाचो ह गिर इत्याचक्षते। अन्नं थम्, अन्ने हीदं सर्वं स्थितम्। द्यौरेव उत्, अन्तरिक्षं गीः, पृथिवी थम्। आदित्य एवं उत्, वायुर्गीः, अग्निस्थम्। सामवेद एव उत्, यजुर्वेदो गीः, ऋग्वेदस्थम्" ( छां० उ० ३।३ )। 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" ( छां० ३।४ ) ॥ इति ॥




मुख्यप्राणः—आत्मा—अङ्गी—



## अनूचीनप्राणः—अङ्गानि

| आत्मा विराट् | ——→प्राणाः—विराड्विभूतयः | |
|---|---|---|
| उक्थापः | ५—त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्नाः आप्याः अर्काः (आप्यप्राणाः) | [illegible] |
| उक्थसोमः | ४—त्रिणवस्तोमावच्छिन्नाः सौम्या अर्काः (सौम्यप्राणाः) | |
| उक्थादित्यः | ३—एकविंशस्तोमावच्छिन्नाः—दिव्याः अर्काः (ऐन्द्रप्राणाः) | [illegible] |
| उक्थवायुः | २—पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नाः-आन्तरिक्ष्याःअर्काः(वायव्यप्राणाः) | |
| उक्थाग्निः | १—त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नाः पार्थिवाः अर्काः (आग्नेयप्राणाः) | |

१—ब्रह्माक्षरः————प्राणः ————यत (सर्वज्ञो ब्रह्मा)
२—विष्णुरक्षरः————वाक्———गौः (हिरण्यगर्भो विष्णुः) } मुख्यः—प्राणात्मा
३—इन्द्राग्निसोमाक्षरः——अन्नम्————यम् (वैश्वानरो रुद्रः)

——:o:——

उक्थीथरूप विराट्प्रजापति साक्षी देवसत्यात्मा है। यही ईश्वर है, इस में कोई सन्देह नहीं। साथ ही में उक्थीथरूप क्षुद्र विराट्प्रजापति भोक्ता देवसत्यात्मा है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। तथापि जिस प्रकार जीवात्मा एकाकी न रहता हुआ अपने परिकर के साथ रहता है, एवमेव वह ईश्वर भी अपने परिकर के साथ नित्य सम्बद्ध रहता है। जीवात्मा में 'शरीर-प्राणा-विभूति-मन-बुद्धि-महत्-अव्यक्त-पुरुष' इत्यादि परिकर हैं। अतः परिकरविशिष्ट जीव ही जीवशब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है। एवमेव 'भूः-विभूति-चन्द्रमा-सूर्य्य-परमेष्ठी-स्वयम्भू-पुरुष' इत्यादि परिकरों से ईश्वरात्मा कभी पृथक् नहीं होता, अतएव परिकरविशिष्ट ईश्वर ही ईश्वर कहलाने योग्य है। ईश्वरीय संस्था में जितने खण्डात्मा हैं, उन सब की आधारभूमि यही षोडशीपुरुष है। दूसरे शब्दों में समष्टि में एकरूप से व्याप्त रहता हुआ भी षोडशीपुरुष खण्डात्मोपाधि भेद से प्रत्येक का स्वतन्त्ररूप से आलम्बन बना हुआ है—"अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च-स्थितम्"। इसी विभक्तभाव के कारण ईश्वरीय, एवं जैवसंस्था में अनेक कलाएँ होजाती हैं। इन विशेषकलाओं का विचार आगे कीजिए। अभी दोनों की सामान्य कलाओं पर दृष्टि डालिए। एक ओर ईश्वरसंस्था को रख लीजिए, दूसरी ओर जीवसंस्था को रख लीजिए। दोनों का संस्थान-क्रम आपको समान मिलेगा। संयती-क्रन्दसी-रोदसी-भेदसे ईश्वर में तीन त्रैलोक्य हैं। रोदसी

भूः है, क्रन्दसी भुवः है, संयती स्वः है। प्रत्येक लोक त्रिवृद्भाव से पुनः 'भूः भुवः स्वः' भेद से तीन-तीन लोकोंमें विभक्त है। इस प्रकार यद्यपि तीन के ६ लोक हो जाने चाहिए थे। परन्तु रोदसी त्रिलोकी का स्वर्लोक क्रन्दसी त्रैलोक्य का भूलोक बन जाता है, एवं क्रन्दसी का स्वर्लोक संयतीत्रैलोक्य का भूलोक बन जाता है। इस क्रम से दो लोकों का मध्य में अन्तर्भाव हो जाता है, ९ के स्थान में सात ही लोक रह जाते हैं। एक एक लोक एक एक वितस्ति है। अतएव सप्त लोकात्मक ईश्वर को 'सप्तवितस्तिकाय' कहा गया है। एक वितस्ति में १२ अङ्गुल होते हैं। सभूय सात वितस्तियों के ८४ अङ्गुल हो जाते हैं। ईश्वरात्मक विराट् पुरुष अपनी अङ्गुलियों के प्रमाण से ८४ अङ्गुलात्मक है। जीव इसी का अंश है, फलतः इस में भी इस जीव के अङ्गुलि प्रमाण से ८४ अङ्गुल ही माने जाते हैं। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि, ईश्वरीय परिमाण जहाँ वितस्ति नाम से व्यवहृत होता है, वहाँ जीव परिमाण प्रादेश नाम से प्रसिद्ध है। वितस्ति जहाँ १२ अङ्गुल की है, वहाँ प्रादेश १०॥ (साढे दस) अङ्गुल का माना गया है। सप्त चितिमय, अतएव सप्तलोकात्मक अग्नि से अग्निमूर्त्ति ईश्वर जहाँ सप्तवितस्तिरूप होता हुआ ८४ अङ्गुल का है, वहाँ गायत्राग्नि की चितिके सम्बन्ध से अग्निमूर्त्ति जीव अष्ट प्रादेशमित होता हुआ ८४ अङ्गुल का है। गायत्राग्नि से ही जीवसंस्था का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। गायत्राग्नि अष्टाक्षर बनता हुआ गायत्री छन्द से छन्दित (सीमित) है। एक एक अक्षर एक-एक स्वतन्त्र प्राण है। एक गायत्राग्नि ऐसे आठ प्राणों की समष्टि है "प्रादेशमितो वै प्राणः" (कौ० ब्रा० २।२।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्राण की व्याप्ति प्रादेशमित है। ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ पर्य्यन्त एक प्रादेश, कण्ठ से हृदयपर्य्यन्त दूसरा प्रादेश, हृदय से नाभिपर्य्यन्त तीसरा प्रादेश, नाभि से ब्रह्मग्रन्थिपर्य्यन्त चौथा प्रादेश, यहाँ से गोडों तक दो प्रादेश, यहाँसे पादपर्य्यन्त दो प्रादेश, सभूय पुरुषशरीर में आठ प्रादेश हैं। सब के संकलन से ८४ अङ्गुल हो जाते हैं। एक छः मास का शिशु भी अपनी अङ्गुली के परिमाण से ८४ अङ्गुल का है, साढे तीन हाथ का एक दीर्घकाय मनुष्य भी अपनी अङ्गुली के परिमाण से ८४ अङ्गुल का ही है। यह समानता सर्वात्मना केवल पुरुष (मनुष्य) के साथ ही समन्वित होती है, अन्य प्राणियों के साथ नहीं, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

ईश्वर यदि पादस्थानीय वैश्वानर भाग से भूपिण्ड पर खड़ा है, तो तत्समानधर्म्मा पुरुष भी अपने पैरों से इसी भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित है। पैर से आरम्भ कर हृदयपर्य्यन्त रोदसी त्रैलोक्य है। हृदय से आरम्भ कर तालुमूल पर्य्यन्त क्रन्दसी त्रैलोक्य है, एवं यहां से आरम्भकर ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त संयती त्रैलोक्य है। ईश्वरीय संस्थावत् ब्रह्मरन्ध्र में स्वयम्भू प्रतिष्ठित है,

तालुमूल में महास्तन ( कागलो ) रूप से परमेष्ठी प्रतिष्ठित है, हृदय में प्रज्ञानचन्द्रमा के आधार पर विज्ञानसूर्य्य प्रतिष्ठित है। ईश्वरशरीररूप 'विश्व के केन्द्र में यदि सूर्य्य है, तो जीवशरीररूप विश्व के केन्द्र में विज्ञानात्मा प्रतिष्ठित है—"आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्"। पाद से हृदय पर्य्यन्त पृथिवी लोक की प्रधानता है। तीनों में पुनः भूः-भुवः-स्वः का विकास है। पृथिवीरूप भूलोक की प्रतिकृति ब्रह्मग्रन्थि ( गुदस्थान ) है, यही पुच्छ प्रतिष्ठा है, प्रतिष्ठा ही पृथिवी है—( देखिए शत० ६।६।१।१५ )। ब्रह्मग्रन्थि से आरम्भ कर पादमूल पर्य्यन्त पार्थिव प्राण की ही प्रधानता है, अतएव इस प्रादेश को हम महिमापृथिवी मानने के लिए तय्यार हैं। पादमूल से आरम्भ कर गोड़ों तक त्रिवृत्स्थानीय पृथिवी लोक है, यही स्तौम्य त्रिलोकी का भूलोक है। यहां से जङ्घामूल तक का प्रदेश पञ्चदश स्थानीय अन्तरिक्ष लोक है, यही स्तौ० का भुवर्लोक है। यहां से नाभि पर्य्यन्त एकविंश स्थानीय द्युलोक है। यही स्तौ० का स्वर्लोक है। तीनों की समष्टि रोदसी त्रिलोकी का भूलोक है। नाभि, एवं हृदय के मध्य का प्रदेश रोदसी त्रिलोकी का अन्तरिक्ष लोकात्मक भुवर्लोक है, विज्ञान प्रज्ञान प्रतिष्ठारूप हृदयस्थान रोदसी का द्युलोकात्मक स्वर्लोक है। तीनों की समष्टि रोदसी त्रिलोकी है। हृदयरूप द्युलोक क्रन्दसी त्रिलोकी का भूलोक है, हृदय से तालु मूल तक का प्रदेश क्रन्दसी का अन्तरिक्ष लोकात्मक भुवर्लोक है, स्वयं तालुस्थान क्रन्दसी का द्युलोक स्थानीय स्वर्लोक है। यही संयती त्रैलोक्य का भूलोक है, शिरोगुहा संयती का भुवर्लोक है, ब्रह्मरन्ध्र संयती का स्वर्लोक है। इस प्रकार ईश्वर विवर्तवत् जीवसंस्था में सातों लोकों का संस्थान सिद्ध हो जाता है। यहां केवल विषमता इतनी ही है कि, जीवतत्त्व अध्यात्मसंस्था में रोदसी त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित है, एवं अधिदैवत में स्तौम्यत्रिलोकी में प्रतिष्ठित है। स्तौम्यत्रिलोकी का द्युलोक स्थानीय, रोदसी त्रिलोकी का भूलोक स्थानीय ब्रह्म ग्रन्थिस्थान वैश्वानर की प्रतिष्ठा है। नाभि, और ब्रह्मग्रन्थि का मध्य स्थान तैजस की प्रतिष्ठा है। एवं स्वयं नाभि प्राज्ञ की प्रतिष्ठा है। हृदय का अधः प्रदेश चन्द्रात्मक प्रज्ञान की, स्वयं हृदय सूर्य्यात्मक विज्ञान की, तालुस्थान महत् की, ब्रह्मरन्ध्र स्वयम्भू की प्रतिष्ठा है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त सोमखण्ड है। इस के आधार पर तीन आग्नेय प्राण, दो सौम्य प्राण प्रतिष्ठित हैं। मूल में रहने वाला सौम्य ( भास्वरसौम्य ) प्राण इन्द्रियमन है, वाक् ( मुख ) अग्निप्रधान है, प्राण ( नासिका ) वायुप्रधान है, चक्षु आदित्यप्रधान है, श्रोत्र दिक्सौम्य प्राणप्रधान है। अधिदैवत में ये पांचों स्तौम्य त्रिलोकी में ही प्रतिष्ठित हैं। भूवायु का अंश ही अध्यात्म में हंसात्मा है, भूपिण्डांश ही वाह्यात्मा है। इस प्रकार दोनों संस्थाओं के सम्बन्ध में—"यदेवेह तदमुत्र।

यदमुत्र तदन्विह" यह श्रौत सिद्धान्त सर्वात्मना संगत होरहा है, जितने पदार्थ ईश्वरसंस्था में हैं, उतने तो जीवसंस्था में हैं ही, परन्तु प्रज्ञापराधवश जीवसंस्था में कुछ और भी पदार्थ सम्मिलित होजाते हैं। वे ही आगन्तुक पाप्मा ईश्वर और जीव के पार्थक्य के कारण हैं। यदि इन प्रतिबन्धकों को हटा दिया जाता है, तो जीव अपना जीवत्व छोड़ता हुआ ईश्वरकोटि में प्रविष्ट होजाता है।

## ईश्वरसंस्था—

षोडशीपुरुषः—अमृतात्मा

१—सत्यलोकः१——स्वयम्भूः.............................स्वः }
२—तपोलोकः२——*.............................भुवः } संयतीत्रिलोकी = ब्रह्म
३—जनल्लोकः३——परमेष्ठी..............स्वः } ..............भूः }
४—महर्लोकः——*..............भुवः } क्रन्दसीत्रिलोकी = सूर्य्यः
५—स्वर्लोकः३——सूर्य्यः—स्वः——भूः }

६—भुवर्लोकः४—{ १ चन्द्रमाः / २ वायु / ३ मरुत्वानिन्द्रः }—भुवः रोदसी त्रिलोकी = भूः

७—भूलोकः—५—{ वैश्वानरः / प्रतिष्ठात्मा ‖
..........विं० सौ० प्राणः (५)
..........भा० सौ० प्राणः (४)
सर्वज्ञ..........ऐन्द्रप्राण——(३)
हिरण्यगर्भः..........वायव्यप्राण——(२)
वैश्वानरः..........आग्नेयप्राणः——(१)
} मनुष्यीताः प्राणाः } सौम्यत्रिलोकी } —भूः
एमूषवराहो भूवायुः
भूपिण्डः }

सप्तविनाशिकायः—ईश्वरः

१—स्वयम्भूः—सत्यलोकः ........................................ स्वः
२—सूत्रवायुः—तपोलोकः ........................................ भुवः
३—परमेष्ठी—जनल्लोकः ......................... स्वः ...... भूः
४—शिववायुः—महर्लोकः ......................... भुवः
५—सूर्य्यः——स्वर्लोकः—स्वः ........ भूः
६—चन्द्रमाः——भुवर्लोकः—भुवः
७—पृथिवी——भूर्लोकः—भूः

(१, २, ३) संयती त्रिलोकी = स्वः
(३, ४, ५) क्रन्दसी त्रिलोकी = भुवः
(५, ६, ७) रोदसी त्रिलोकी = भूः

## जीवसंस्था—

षोडशीपुरुषः—अमृतात्मा

१-सत्यः—१—अव्यक्तात्मा ( ब्रह्मरन्ध्र ) ........................ स्वः
२-तपः ............ * ........ (शिरोगुहा) ........................ भुवः
३-जनत्—२—महानात्मा ...... (ब्रह्मस्तन) ........................ स्वः ...... भूः
४-महः ............ * ........ (उरोगुहा) ........................ भुवः
५-स्वः—३—विज्ञानात्मा ... ( हृदयम् ) ........................ स्वः ...... भूः

(१, २, ३) संयती-स्वः
(३, ४, ५) क्रन्दसी-भुवः

६-भुवः—४—{ १ चान्द्र. प्रज्ञानात्मा, २ शुक्रमूर्त्तिर्महानात्मा, ३ प्रज्ञात्मकः प्राणः } (उदरगुहा) .. भुवः

७-भूः—५—{ पञ्चकलः प्राणात्मा:
....... मनः (५)
....... श्रोत्रम् (४)
प्राज्ञः ... चक्षुः (३)
तैजसः ... प्राणः (२)
वैश्वानरः वाक् (१)
} ऋतूपीनाः प्राणाः — सौम्यत्रिलोकी
हंसात्मा ... (वस्तिगुहा)
शरीरम्
} भूः

(५, ६, ७) रोदसी—भूः

अष्टप्रादेशमितः—पुरुषः

| | | |
|---|---|---|
| १—ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठपर्य्यन्त | ( १ प्रादेश १० अङ्गुल ) | ९६-अङ्गुल |
| २—कण्ठ से—हृदयपर्य्यन्त | ( ,, ) | |
| ३—हृदय से—नाभिपर्यन्त | ( ,, ) | |
| ४—नाभि से—ब्रह्मग्रन्थिपर्य्यन्त | ( ,, ) | |
| ५—ब्रह्मग्रन्थि से—अर्द्धजङ्घापर्य्यन्त | ( ,, ) | |
| ६—अर्द्धजङ्घा से—जानुकपालपर्य्यन्त | ( ,, ) | |
| ७—जानुकपाल से-अर्द्धपादपर्य्यन्त | ( ,, ) | |
| ८—अर्द्धपाद से—गुल्फपर्य्यन्त | ( ,, ) | |

जिस प्रकार वै० हि० सर्वज्ञ की समष्टि का नाम ईश्वर है, एवमेव वै०—तैजस—प्राज्ञ, इन तीनों के समुच्चितरूप को ही जीवात्मा कहते हैं। जीवात्मा का वैश्वानर भाग अर्थप्रधान बनता हुआ शरीर रसादि सप्तधातु-उपधातुओं का निर्माण करता है। तैजसात्मा क्रिया का प्रवर्त्तक है। गर्भाशय में आरम्भ में शुक्र रूप में प्रतिष्ठित गर्भ प्रादेशपर्य्यन्त कैसे फैल गया ?, एवं वही बाहर निकल कर साढ़ेतीन हाथ लम्बा कैसे होगया ?, इन प्रश्नों का समाधान क्रियामूर्त्ति इसी तैजसात्मा पर ही अवलम्बित है। एवं विषय-भोग करना तीसरे ज्ञान प्रधान प्राज्ञात्मा का काम है। यह प्राज्ञ आत्मा अन्नरसमय है। इसका अन्तर्याम सम्बन्ध शुक्र के द्वारा होता है, बहिर्य्याम सम्बन्ध अन्न से होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। वास्तव में यद्यपि देवसत्यात्मा का यह प्राज्ञ भाग ही भोक्तात्मा है, परन्तु यह तैजस-वैश्वानर से अविनाभूत रहता है, अतः तीनों के समुच्चित रूप को ही भोक्तात्मा मान लिया जाता है। ईश्वरीय देवसत्य के सर्वज्ञादि तीनों विवर्तों का दिग्दर्शन कराया जाचुका है। अब क्रमप्राप्त जीवदेवसत्य के तीनों खण्डात्माओं का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जाता है।

त्रिवृत् पृथिवी, पञ्चदश अन्तरिक्ष, एकविंश द्यु, ये तीन विश्व हैं, तीनों विश्वों के अर्थ-

अर्थमूर्त्ति—वैश्वानरात्मा—सोमपात् (अतिष्ठाता-अधिष्ठाता) क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य, तीन नर हैं, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। पार्थिव अग्निनर में आन्तरिक्ष्य वायुनर तथा दिव्य इन्द्रनर की आहुति होने से अग्नि-वायु इन्द्र, तीनों का यजन ( संगतिकरण) होता है। इस रासायनिक संयोग लक्षण, अन्तर्याम सम्बन्धात्मक याग से जो एक अपूर्व सांयौगिक, वैकारिक भाव उत्पन्न होता है, वही वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि वायु-इन्द्र-तीनों ही प्राणा-

मियाँ हैं। प्राणमय होने से तीनों ही रूप–रस गन्ध–स्पर्श-शब्द, इन मात्राओं से शून्य है। परन्तु एतल्लक्षण इन तीनों प्राणियों से उत्पन्न वैश्वानर में ताप है। सर्वाङ्गशरीर में यह व्याप्त है। पार्थिव प्राणाग्नि अपान है, आन्तरिक्ष्य प्राणाग्नि व्यान है, दिव्य प्राणाग्नि प्राण है। इन तीनों में प्राणापान विचाली हैं, मध्यस्थ व्यान स्थिर है। यह स्थिरधर्मा व्यान ही यज्ञपरिभाषा के उपांशुसवन ( शिला-मिल ) नाम से प्रसिद्ध है, एवं विचाली पार्थिव अपान अन्तर्याम विचाली दिव्य प्राण उपांशु नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि महश्रुति कहती है—

> "प्राणो ह वा अस्य (यज्ञात्मानः) उपांशुः, व्यान उपांशुसवनः,
> उदान (अपान) एवान्तर्यामः" ( शत० ४।१।१।१ )।

यदि उपांशुसवन रूप व्यान दृषत् ( सिल ) है, तो उपांशु, एवं अन्तर्याम रूप प्राणोदान (प्राणापान) उपल ( लोढी ) हैं। उपांशुसवन रूप स्थिर शिला पर होने वाला उपांशु-अन्तर्याम रूप प्राणापान व्यापार ही "उपांश्वन्तर्याम" नाम से व्यवहृत हुआ है। पार्थिव प्राण मूलग्रन्थि से जब ऊपर की ओर ( हृदय की ओर ) जाता है, तो उस समय यह समान नाम से व्यवहृत होने लगता है। ज्यों ज्यों यह ऊर्ध्वगमन करता है, त्यों त्यों व्यानशिला पर आया हुआ दिव्य प्राण पार्थिव प्राणाघात से ऊपर (कण्ठ-प्रदेश की ओर चढ़ने लगता है, इस अवस्था में यही दिव्य प्राण उदान नाम से व्यवहृत होने लगता है। चरम सीमा पर ( मूर्धग्रंथि नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मरन्ध्र पर ) पहुँचने के अनन्तर यह उदान प्रत्याघात से वापस लौट कर हृदय की ओर आने लगता है। इस आगच्छत् अवस्था में यही दिव्य प्राण प्राण कहलाने लगता है। ज्यों ज्यों व्यानशिला पर आया हुआ पार्थिव समान प्राण इस दिव्य प्राण के आघात से नीचे की ओर ( गुदस्थान की ओर ) आने लगता है। इस आगच्छत् अवस्था में यही पार्थिव प्राण अपान कहलाने लगता है। चरम सीमापर ( मूलग्रन्थि नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मग्रन्थि पर ) पहुँचने के अनन्तर यह उदान प्रत्याघात से वापस लौट पड़ता है। ज्यों ज्यों यह समानावस्था में परिणत होता हुआ ऊपर चढ़ने लगता है, त्यों त्यों प्राणावस्था में परिणत दिव्य प्राण ऊपर जाता हुआ उदानभाव में परिणत होने लगता है। प्राणापान की इसी निर्गच्छत्-आगच्छत् अवस्था का नाम "प्राणदपानत्" है। प्राणाग्निमयी सौर रश्मियों में आप जो ताप ( गर्मी ) देखते हैं, वह इसी प्राणदपानत् व्यापार की महिमा है। "अस्य प्राणदपानती" ( यजुः सं० ३।६। )।

---

* शतपथ के ब्रह्मकाण्ड में उदानशब्द से सर्वत्र अपान ही अभिप्रेत है। तभी प्राणापान व्यापार का समन्वय होता है।

इसी घर्षण से प्राण अपान-व्यानरूप इन्द्र-अग्नि वायु के समन्वय से शरीर-संस्था में तापलक्षण अपूर्ण अग्नि उत्पन्न हो जाता है। यही आध्यात्मिक वैश्वानर है। क्रियामूर्ति तैजसात्मा ज्ञानमूर्त्ति प्राज्ञात्मा, दोनों की मूल प्रतिष्ठा यह वैश्वानर है। एवं इस की प्रतिष्ठा व्यान है। व्यानाधार पर प्रतिष्ठित यह वैश्वानर रुधिररूप आशय में व्याप्त रहता है। शरीर में जहाँ तक रुधिर की व्याप्ति है, वहीं तक वैश्वानराग्नि व्याप्त है। वहीं तक वैश्वानराभिन्न तैजस-प्राज्ञ व्याप्त हैं, इसी आधार पर "यावानु वै रसस्तावानात्मा" यह कहा जाता है। केश-लोम-नखाग्र भागों में रसरूप रुधिर का अभाव है। प्राणाग्नि से वारित (निवारित-प्रक्षिप्त) मल भाग (अग्नि का उच्छिष्ट भाग) ही निवारित होने से वार है, वार ही वाल, किंवा बाल (केशलोम, है। 'ख'-रूप इन्द्रियप्राणशून्य मल भाग ही "न-खम्" के अनुसार नख है। लोक-भाषा में यही नाखून (खून से विरहित भाग) है। यहाँ अग्निरस का अभाव है। अतएव इन में आत्मा नहीं रहता। अतएव इन के निकृन्तन से कोई पीड़ा नहीं होती, अपितु भार (बोझ) उतरा सा मालुम होता है। केश नखों का जो मूलभाग रसाग्निरूप रुधिर में अन्तःप्रविष्ट रहता है, उसमें अवश्य ही आत्मा है। यही कारण है कि यदि नापित की असावधानी से उस रसमय, अतएव आत्ममय केशनखमूल पर क्षुरिका (उस्तरा) से किसी प्रकार का आघात होजाता है, तो पीड़ा होने लगती है। अतएव आत्मव्याप्ति के सम्बन्ध में-"आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः" यह कहा जाता है। हम शरीर को जहाँ छूते हैं, गरम पाते हैं, यही वैश्वानर की दृष्टि (त्वक्-प्रत्यक्ष) है, एवं कान-नाक बन्द करलेने से जो धक धक् धक् शब्द सुनाई पड़ता है, वह इसकी श्रुति (श्रौत्रप्रत्यक्ष) है। शरीर में अधिक भाग पानी का है, जैसा कि अमृतात्मविज्ञानोपनिषत् में "व्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" इत्यादि सूत्रार्थ के सम्बन्ध में कहा जाचुका है। शरीररूप पात्र में पानी भरा है, नीचे के स्तर से वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित हो रहा है। इसी अग्नि से यह पानी खौल रहा है। खौलते हुए पानी का जो शब्द है, वही अनाहतनाद है। कान नाक बन्द करने पर हम इसे ही सुनते हैं। नाद शब्द को कहते हैं। "संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः" (वै० द० २।२।३१) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार शब्द आघात से उत्पन्न होता है। परन्तु यह शब्द बिना आघात के उत्पन्न होता हुआ अनाहत है। वैश्वानर की इसी दृष्टिश्रुति का निरूपण करती हुई मैत्री श्रुति कहती है—

"अन्यत्राप्युक्तमयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेद-
मन्नं पच्यते, यदिदमद्यते, तस्यैष घोषो भवति, यमेतत्

वर्णाचविधाय शृणोति। स यदोत्क्रमिष्यन् भवति, नैनं घोषं शृणोति। स वा एष पञ्चधात्मानं विभज्य निहितो गुहायां मनोमयः, प्राणशरीरः, भारूपः, सत्यसंकल्पः, आकाशात्मा"
( बृ० आ० ६।६। )।— ( मैं० उ० २।६। ) इति।

प्राण व्यान अपान के उपांश्वन्तर्य्याम लक्षण प्राणादपानन व्यापार से ही तापलक्षण वैश्वानर का जन्म होता है। जबतक वैश्वानर स्वरूप से प्रतिष्ठित है, तभी तक तैजसात्मा, एवं प्राज्ञ आत्मा की स्वरूप रक्षा है, तभी तक जीवन सत्ता है। वैश्वानर के इसी मायौगिक धर्म्म का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

"स एको नाशकत्। स पञ्चधात्मानं विभज्योच्यते, य प्राणो-ऽपानः, समान, उदानो, व्यान इति। अथाय य ऊर्ध्वमुत्क्रामति, एष वाव स प्राणः। अथयोऽयम-वाङ् सक्रामति एष वाव सोऽपानः। अथ येन नैतानुगृहीतस्यैष वाव स व्यानः।

अथ योऽयं स्थविष्ठो धातुरन्नस्यापाने प्रापयतति, अणिष्ठोवाऽङ्गे ऽङ्गे समान-यति, एष वाव स समानसंज्ञा। उत्तरं व्यानस्य रूप चैतेषामन्तरा प्रसूतिरेवोदानस्य। अथ योऽय पीताशीतमुद्गिरति, निगिरति इति वैष वाव स उदानः। अथोपांशुरन्तर्य्या-ममभिभवति, अन्तर्य्याम उपांशु (प्राणः अपान, अपानः प्राणम्)। चैतयोरन्तरादेवौष्ण्यं (ताप) प्रासुवत्। यदौष्ण्यं स पुरुष। अथ य पुरुष सोऽग्निर्वैश्वानरः।" ( मैं० २।६। ) इति।

जब तक ताप है तभी तक जीवनसत्ता है। जबतक वैश्वानर है, तभी तक ताप है। जबतक प्राणापान का उपांश्वन्तर्य्यामरूप प्राणादपानन ( घर्षण ) व्यापार है, तभी तक वैश्वानर है। जब तक मध्यस्थ व्यान स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है, तभी तक उपांश्वन्तर्य्याम है। इस प्रकार परम्परया मध्यस्थ, प्रादेशमित, अत एव वामन नाम से प्रसिद्ध, ऊर्ध्वस्थ दिव्य सौरप्राणदेवता, एवं अधोऽवस्थित पार्थिव प्राणदेवताओं का अनुग्राहक व्यानप्राण ही जीवनसत्ता का मूल आधार बन जाता है। इसी व्यानविज्ञान को लक्ष्य में रख कर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥१॥
न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥२॥

( कठोपनिषत ५।३४ )

यद्यपि पूर्व कथनानुसार अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों का समुच्चित रूप ही वैश्वानर है। परन्तु आधार भाव की मुख्यता के कारण प्रधानता इसमें अग्नि की है। अग्नि योनि है, वायु-इन्द्र-रेत है। दूसरे शब्दों में अग्नि आधार है, वायु इन्द्र आधेय हैं। चतुर्मात्रिक अग्नि है, द्विमात्रिक वायु है, द्विमात्रिक इन्द्र है, जैसा कि ईश्वरीय देवसत्यनिरूपण में बतलाया जा चुका है। अग्नि का अर्थमात्रा से सम्बन्ध है। अर्थ भौतिक है। वैश्वानर में इसी की प्रधानता है। क्रियामूर्ति तैजस, तथा ज्ञानमूर्ति प्राज्ञ, दोनों इसमें सुप्त हैं। अतएव जिन असंज्ञ जीवों में (लोष्ठ-पाषाण-धातु आदि जड़ पदार्थों में) केवल वैश्वानर का विकास होता है, न उनमें क्रियारूप वृद्धि व्यापार देखा जाता, न उनमें भोग सामर्थ्य देखा जाता। दूसरे शब्दों में लोकभाषा में धातुजीव जड़पदार्थ, आदि नामों से प्रसिद्ध जीवों की जीवन सत्ता यही वैश्वानर है। अतएव इन्हें विज्ञान भाषा में 'ऐकात्मक' जीव कहा जाता है, दर्शन भाषा में यही "असंज्ञ" ( जड़ ) नामसे प्रसिद्ध हैं।

शरीर में शिरा-धमनी स्नायु, भेद से तीन प्रकार की नाड़ियाँ हैं। रक्तवहन करने वाली नाड़ीयाँ "शिरा" हैं। वायु वहन करने वाली धमनी हैं। एवं ज्ञान का सञ्चार करने वाली नाड़ियाँ "स्नायु" हैं। इन तीनों में से वैश्वानर का केवल रक्तवाहिनी 'शिरा' नाम की नाड़ियों का ही सम्बन्ध है। रक्ताग्नि ही वैश्वानर का आशय (उपादान) है, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। इन्हीं के द्वारा वैश्वानर अग्नि का सर्वाङ्ग शरीर में सञ्चार होता है। भुक्त अन्न का परिपाक करना, केशलोमादि उत्पन्न करना, भुक्तान्न को रसासृङ्-मांसादि धातुओं में परिणत करना, उत्पन्न धातुओं को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना, अर्थशक्तिप्रधान वैश्वानर का ही कर्म है। साथ ही में वागिन्द्रिय, चक्षु, आग्नेय प्राण ( समान अपान ), शरीरसंस्था इनकी प्रतिष्ठा भी यही वैश्वानर है। भूताग्नि से सम्बन्ध से इस वैश्वानर को हम 'भूतात्मा' कह सकते हैं। इस वैश्वानर का प्रभव हिरण्मयोपलक्षित

आधिदैविक वैश्वानरावच्छिन्न पार्थिव अन्नात्मक शुक्र है, प्रतिष्ठा ब्रह्मग्रन्थि है, योनि अन्न है, आशय सर्वाङ्ग शरीर है। निम्नलिखित श्रुति इसी वैश्वानर का स्वरूप निरूपण करती हुई यही श्रुति कहती है—

स यः स वैश्वानरः-इमे स लोकाः। "इयमेव पृथिवी विश्वं-अग्निर्नरः।
अन्तरिक्षमेव विश्वं-वायुर्नरः। द्यौरेव विश्वं-आदित्यो नरः॥" (शत० ६।३।१।३)

—— :o: ——

पार्थिव पञ्चदश स्तोम में वायुदेवता की प्रधानता है। यहां हृदय में वायु प्रतिष्ठित है। इस तैजसात्मा–क्रियामूर्त्तिः—वायु के साथ पार्थिव अग्नि, एवं दिव्य आदित्य का सम्बन्ध होता है. चतुर्मात्रिक वायु में द्विमात्रिक अग्नि, एवं द्विमात्रिक आदित्य का प्रवेश होता है। इस प्रकार वायुप्रधान वायु–अग्नि–आदित्य के समन्वय से जो सांयमिक, श्वासप्रश्वासरूप से प्रत्यक्षानुभूत अपूर्व भाव उत्पन्न होता है, वही "तैजसात्मा" है। यहां वायु योनि है, अग्नि एवं आदित्य रेत है। दूसरे शब्दों में वायु आधार है, अग्नि है। अग्नि–आदित्य आधेय हैं, सोम हैं। तैजस में प्रधानता वायु की ही है, उधर वायु ही एकमात्र क्रियातत्त्व का अधिष्ठाता है, अतः तत्प्रधान इस तैजसात्मा को हम अवश्य ही क्रियामूर्त्ति मानने के लिए तय्यार हैं। "तेजो वै वायुः" (तै० ब्रा० ३।२।८।१) के अनुसार वायु तेज है। इसी के सम्बन्ध से यह क्रियात्मा "तैजसात्मा" कहलाया है। ओषधि-वनस्पतियों में वैश्वानर के साथ साथ इस तैजसात्मा का भी विकास रहता है। ज्ञानप्रधान प्राज्ञ आत्मा यहां सुप्त है, अत एव इन्हें–अन्तःसंज्ञ, कहा जाता है—"अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः"। दो आत्माओं के विकास के कारण ही इन्हें विज्ञानभाषा में "द्व्यात्मक" जीव माना गया है। ये ही अर्द्धचेतन जीव हैं। इन का मूल पृथिवी के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है, अतः इन्हें मूलजीव भी कहा जाता है। तैजस के विकास से ही इन का ऊर्ध्व गमन होता है, यही क्रियामूर्त्ति तैजसात्मा के प्रत्यक्ष निदर्शन हैं।

इस तैजसात्मा का प्रधान सम्बन्ध वायुवाहिनी, धमनी नाम की नाड़ियों से है। इन्हीं नाड़ियों के द्वारा यह वैश्वानर द्वारा निर्मित धातुओं का वायु द्वारा सर्वाङ्ग शरीर में संचार करता हुआ धातुओं को पुष्ट करता है। यदि तैजसात्मा न होता, तो प्रादेशमित गर्भ कभी पुरुषाकार में परिणत न होता। शरीरगत दूषित भावों को निकालना, शरीरधातुओं का सर्वाङ्गशरीर में प्रसार करना, धातुओं को वृद्धिगत करना, श्वासप्रश्वास का संचालन

करना, इस तैजसात्मा के मुख्य कर्म्म हैं। घ्राणेन्द्रिय ( नासेन्द्रिय ), वायव्यप्राण ( व्यान ) ओज, इनकी प्रतिष्ठा भी यही तैजसात्मा है। वायुतत्व प्राणप्रधान होता हुआ ही क्रियामूर्ति है। इसी प्राण के सम्बन्ध से हम इसे "प्राणात्मा" नाम से व्यवहृत करसकते हैं। यही देवसत्यात्मा का दूसरा विवर्त्त है। इस तैजसात्मा का प्रभव पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न आधिदैविक हिरण्यगर्भावच्छिन्न आन्तरिक्ष्य वायु प्रधान अन्नात्मक शुक्र है, प्रतिष्ठा हृदय है, योनि अन्न है, आशय सर्वाङ्गशरीर है।

पार्थिव एकविंशस्तोम में आदित्य ( इन्द्र- ) तत्त्व प्रतिष्ठित है। इस इन्द्र तत्त्व के साथ ज्ञानमूर्त्ति–प्राज्ञात्मा—पार्थिव अग्नि, एवं आन्तरिक्ष्य वायु का सम्बन्ध होता है। यहाँ इन्द्र चतुर्मात्रिक है, अग्नि द्विमात्रिक है, एवं वायु भी द्विमात्रिक है। अतएव इन्द्र की प्रधानता सिद्ध होजाती है। इन्द्र योनि है, अग्नि एवं वायु रेत हैं। इन्द्र आधार है, अग्नि है, अग्नि-वायु आधेय हैं, सोम है। इन्द्रतत्त्व एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक की वस्तु है। इसके ऊपर ही त्रिणव-त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न पारमेष्ठ्य सौम्य सोम प्रतिष्ठित है। इस सोम का भी इन्द्र के साथ, सम्बन्ध हो जाता है। सोम महद्दश है, महान् ही ज्ञानघन विज्ञात्मा की योनि है। अतएव ( महत्सोम सम्बन्ध से ) इस इन्द्र में चिच्छक्ति ( ज्ञानशक्ति ) का विकास होजाता है। इन्द्र सोम-चिदंश, तीनों की समष्टि दिव्य इन्द्र है। इसके गर्भ में अग्नि वायु प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार सोमचिदंशगर्भित इन्द्रप्रधान-इन्द्र-अग्नि वायुमूर्त्ति इस तीसरे दिव्य आत्मा का ज्ञानमयत्व भलीभांति सिद्ध होजाता है। इसी ज्ञान के सम्बन्ध से इसे 'प्राज्ञात्मा' कहा जाता है। चिद्विशिष्ट सोम प्रज्ञा है, तद्युक्त प्राण इन्द्र है। प्रज्ञाप्राण की समष्टि ही प्राज्ञात्मा है। इन्द्र ही चिदंशरूप ब्रह्म के समीपतम है, इसी आधार पर इसके लिये— "स हि नेदिष्ठं पस्पर्श" (केनोपनिषत्) यह कहा जाता है। भोग का ज्ञान से ही प्रधान सम्बन्ध है। अतः इस प्राज्ञ को ही हम प्रधानतया "भोक्तात्मा" कहने के लिए तैय्यार हैं। नागदन्त (खूंटी) में टंगे हुए एक दर्पण में आने जाने वाले पदार्थों का प्रतिबिम्ब विकसित होता रहता है। प्रतिबिम्ब रूप से वे पदार्थ दर्पण के उदर में भुक्त होजाते हैं। यही दर्पण का भोक्तृत्व है। जिस के उदर में जो वस्तु चली जाती है वह भोग्य है, भोग्य को उदर में रखने वाला सत्ता ही भोक्ता है। यही भोग-भोक्ता की साधारण मीमांसा है। बिना प्रोज्ज्वल पदार्थ के यह भोग्य भोक्तृभाव उदित नहीं होसकता। एक पाषाण न प्रतिबिम्बों का भोक्ता होसकता, न प्रतिबिम्ब पाषाण के उदर में भुक्त होसकते। दर्पण प्रोज्ज्वल है, अतः यहाँ भोक्तृभोग्य भाव का उदय सुलभ है। वैश्वानर तैजस-प्राज्ञ, तीनों में महत् सोम सम्बन्ध से एकमात्र प्राज्ञ ही प्रोज्ज्वल है। इन्द्रिय-मन बुद्धि के संयोग जनित व्यापार से आने वाले प्रतिबिम्ब स्थानीय विषय

संस्कार यहीं प्रतिबिम्बित होते हैं। यही संस्कारों की आवास भूमि है। विषय संस्कार रूप से प्राज्ञोदर में भुक्त हैं, अतः इसी को भोक्तात्मा मानना उचित होगा है।

इस प्राज्ञात्मा का प्रधान रूप से ज्ञानवाहिनी स्नायु नाम की नाड़ियों से सम्बन्ध है। इन्हीं नाड़ियों के द्वारा यह ज्ञानधारा सर्वत्र व्याप्त रहती है। यदि कहीं भी, किसी प्रकार की भी पीड़ा होती है, तो इसी प्राज्ञ ज्ञान से तत्काल उसका अनुभव होजाता है। यही प्राज्ञ सुख-दुःख भोक्ता है। यही संस्कार वश जन्म लेता है। यही पाप पुण्य का फल भोक्ता है। यद्यपि त्र्यात्मक ससंज्ञ नाम से प्रसिद्ध कृमी-कीट-पक्षी-पशु-पुरुष, पाचों में प्राज्ञ का विकास है, दूसरे शब्दों में पाँचों में ही वैश्वै प्राज्ञ, तीनों आत्माओं का विकास है, परन्तु प्राज्ञ का पूर्ण विकास तो पुरुष में ही होता है। वै० तै० प्राज्ञ को समष्टि रूप यह देवसत्यात्मा अर्थ-क्रिया ज्ञानमय है। यह सहस्रात्मा अव्यय नाम से प्रसिद्ध मनःप्राणवाङ्मय उसी अखण्ड विश्वेश्वर आत्मा के आधार पर प्रतिष्ठित है। जिस भाग में आत्मा की मनः-प्राण-वाक्, इन तीनों कलाओं का पूर्ण विकास होता है, चरसृष्टि में वही तत्तत्त्व पुरुष कहलाता है। धातु-मूल पशु-पक्षी, आदि चर प्रजाएँ पुरुष नहीं कहलातीं। कारण, इन में वै० तै० प्रा० अल्पमात्रा में अवस्थित है। मनुष्य में तीनों का पूर्ण विकास है, अतः यही पुरुष कहलाता है। और और जीवों की अपेक्षा वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ के पूर्ण विकास के कारण एक मात्र पुरुष ही उस अव्ययेश्वर प्रजापति के नेदिष्ठ (निकट तम) कहलाता है। इसी विज्ञान के आधार पर—"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (शत० ४।३।४।३।) यह कहा जाता है। वैश्वानर अर्थशक्ति प्रधान है, यह अव्ययेश्वर की वाक् कला का विकास है। तैजस क्रियाशक्ति प्रधान है, यह अव्यय की प्राण कला का विकास है। प्राज्ञ ज्ञानशक्ति प्रधान है, यह अव्यय की मनः कला का विकास है। इस प्रकार यह देवसत्य तत्त्व मन प्राणवाङ्मय अव्ययेश्वर के सारभाग को आगे कर अग्नि वायु-इन्द्र को अपना स्वरूप समर्पण बनाता हुआ वैश्वानर तैजस प्राज्ञरूप से अंशात्मना जीवस्वरूप में परिणत होरहा है - "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गीता)

भूतात्मा वैश्वानर, प्राणात्मा तैजस, भोक्तात्मा प्राज्ञ, तीनों परस्पर अविनाभूत हैं। तीनों मिल कर ही आध्यात्मिक कर्मकलाप का सञ्चालन करने में समर्थ होते हैं। कर्म में ज्ञान क्रिया अर्थ तीनों का सहयोग अपेक्षित है। अतएव उक्त तीनों की समष्टि को हम "कर्मात्मा" नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। साथ ही में तीनों के अविनाभाव से समष्टि को भी वैश्वानररूप्या भूतात्मा, तैजसरूप्या प्राणात्मा, प्राज्ञरूप्या भोक्तात्मा कहा जासकता है। इन तीनों में से प्राज्ञात्मा का सम्बन्ध एकविंशस्तोमावच्छिन्न आधिदैविक सर्वज्ञावच्छिन्न दिव्य

इन्द्र प्रधान अन्नात्मक शुक्र है, प्रतिष्ठा अन्तरन्न है, योनि अन्न है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। इस के अतिरिक्त पार्थिव इरारस प्रधान होने से हिरण्मय नाम से प्रसिद्ध यह पार्थिव प्राज्ञपुरुष प्रपद से भी प्रविष्ट होता है। अतएव उत्पन्न शिशु के पैरों में ही सर्वप्रथम चेतना का विकास देखा-जाता है। विषयानुभव, सुख दुःख भोग, धातुओं का यथाव्यवस्थित सचालन, इत्यादि प्राज्ञ के मुख्यकर्म हैं। साथ ही, मैं मन, चक्षुरिन्द्रिय, दिव्यप्राण, आदि की प्रतिष्ठा भी यही है।

पूर्व कथन से निष्कर्ष यह निकला कि अग्नि वायु आदित्य प्रधान वैश्वानर तैजस प्राज्ञ की समष्टिरूप, ज्ञान क्रिया अर्थ शक्तिमय उक्थत्रिलोकी में प्रतिष्ठित, वै० हि० सर्वज्ञमूर्त्ति साक्षी देव-सत्य का अंशभूत, त्रिदृत्शिष्ट देवसत्य ही 'जीवात्मा' है। स्थूलशरीर के नष्ट होजाने पर यही कर्म्मात्मा कर्म्मफल भोगने के लिए लोकान्तर में जाता है। इस जीवात्मा का स्वरूप सुपर्ण ( गरुडपक्षी ) जैसा है। पांच अग्नियों की चिति से इसका स्वरूप निष्पन्न हुआ है। प्रकारान्तर से चार आत्मा, दो पक्ष, पुच्छ प्रतिष्ठा, इस प्रकार सात अवयवों से इसका चयन हुआ है। विज्ञानभाषा में यही चिति सुपर्णचिति नाम से प्रसिद्ध है। चान्द्र मन सोमसागर है। चान्द्र विवर्त्त में सोम-दिव्य प्राण, इन तीनों तत्त्वों का समावेश है। प्राण इन्द्र है, सोमभूत है। इसी के संबन्ध से यहां त्रिदश प्रतिष्ठित हुआ है। अतएव यह चान्द्र सोम भी दिव्य इन्द्रवत् प्रज्ञा नाम से ही व्यवहृत होता है, जैसा कि पूर्व की महदात्मविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस प्राज्ञ प्राण की समष्टि ही प्रज्ञान मन है। बिना इस के विषयभोग सम्भव नहीं है। साथ ही मैं बिना बुद्धि एवं इन्द्रियों के भी भोग अनुपपन्न है। इसी आधार पर उक्त भोक्तात्मा का—"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" (कठोपनिषत् १।३।४) यह लक्षण किया जाता है। अव्यक्त महात्मा-विज्ञान महत्युक्त प्रज्ञान-शरीर की समष्टि ब्रह्मसत्य है, एवं वैश्वानर तैजस प्राज्ञ की समष्टि देवसत्य है। यह चान्द्र प्रज्ञान के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, उस के बिना भोग ही नहीं बन सकता, अतएव ब्रह्मसत्यांशभूत इस चान्द्र प्रज्ञान का "एतद्वै देवसत्यं यच्चन्द्रमा" के अनुसार देवसत्यरूप उक्त लक्षण जीवात्मा में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। यह तो हुआ भूपिण्ड के आधार पर वितत पार्थिव उक्थ त्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाले कर्म्मात्मा का संक्षिप्त स्वरूप परिचय। अब भूतात्मा नाम से प्रसिद्ध पार्थिव स्थिर वायु ( भूवायु ) से निष्पन्न होने वाले हंसात्मा की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

शुक्र-शोणित के समन्वितरूप में औपपातिक कर्म-भोक्ता जीवात्मा गर्भाशय में प्रविष्ट होता है। ज्यों ज्यों पार्थिव मात्रा की वृद्धि होती है, त्यों त्यों गर्भ पुष्ट होने लगता है। ऋतुकाल में पिता योनिगत आग्नेय रुधिर में सौम्य शुक्र की आहुति देता है। सिक्त बीज औपपातिक आत्मा से अनुगृहीत रहता हुआ एक अहोरात्र की प्रतिष्ठा के अनन्तर कलल रूप में परिणत होजाता है। ईषद्घनवर्त्तुलवृत्तमावापन्न शुक्रशोणित समष्टि ही कलल है। सात रात्रि में बुद्बुदावस्था होती है। एक पक्ष में पिण्ड निष्पत्ति होती है। एक मास में कठिनता आती है। दो मास में मस्तक बनता है, तीन मास में पाद निर्म्माण होता है। चतुर्थ मास में अंगुलियाँ, जठर, एवं कटि प्रदेश सम्पन्न होते हैं। पञ्चम मास में मेरुदण्ड ( रीढ़ की हड्डी ) बनता है। षष्ठमास में नासा-चक्षु-श्रोत्र की स्वरूप निष्पत्ति होती है। सप्तम मास में जीव-नीय शक्ति उद्बुद्ध होती है। अष्टम मास में सर्वाङ्ग निष्पत्ति होती है। ( इन सब अङ्गोपाङ्गों की बीजावस्था के अनुसार महर्षि चरक के मतानुसार सब की एक साथ ही अष्टम मास में पूर्ण निष्पत्ति होजाती है-( देखिए चरक सं० शा० ३। ) *पिता के रेत (शुक्र) की अधिकता से पुरुष ( लड़का ) प्रजा, माता के रेत (शोणित) की अधिकता से स्त्री (लड़की) प्रजा के चिन्ह बनते हैं। दोनों की समानता से नपुंसक प्रजोत्पत्ति होती है, एवं विषमता में शुक्राहुति व्यर्थ जाती है। शुक्राहुति देते समय यदि पिता का चित्त व्याकुल रहता है, उस समय उसकी जिस इन्द्रिय में, जिस अवयव में विकार रहता है, वही विकृतावस्था प्रजा में उत्पन्न होजाती है। अन्ध-खञ्ज-कुब्ज-वामन-बधिर-अतिरिक्ताङ्ग आदि विकृत भावों का यही कारण है। योनिगत आग्नेय-वायु, शुक्रगत सौम्यवायु, दोनों आङ्गिरस भार्गव वायुओं का यदि परस्पर संघर्ष होजाता है, तो वहाँ का "एवयामरुत्" नाम से प्रसिद्ध रेतोधा मातरिश्वा वायु भी दो भागों में विभक्त होता हुआ शुक्र को दो भागों में विभक्त कर देता है। द्विधा विभक्त ऐसे शुक्र से यमज (जोड़ली) सन्तान उत्पन्न होजाती है। यदि एवयामरुत् के तीन-चार, अथवा इससे अधिक विभाग होजाते हैं, तो उतने में ही स्वतन्त्र गर्भ बन जाते हैं। इसी वायु-विभेद की कृपा से एक ही समय में सात सात गर्भों की स्थिति देखी गई है। इस गर्भोत्पत्ति क्रम से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, गर्भ उत्तरोत्तर घन बनता जाता है। नवम मासानन्तर एवयामरुत् के प्रत्याघात से जब वह गर्भा-शय से बाहिर निकल कर भूमिष्ठ होता है, तो इसके साथ उसी पार्थिव स्थिर वायु का सम्बन्ध

---

* आधिक्ये रेतसः पुंसः कन्यास्यादार्त्तवाधिके।
नपुंसकं तयोः साम्ये यथेच्छा पारमेश्वरी ॥ ( भावप्रकाश )

होने लगता है। इस वायु में अश्मा सोम रहता है। वायुद्वारा अश्मा सोम की घनता उत्पन्न शिशु में धीरे धीरे प्रविष्ट होने लगती है। यदि माता पिता सबल, एवं पूर्ण स्वस्थ होते हैं, तो इन के मिथुनभाव से उत्पन्न शिशु में पृथिवी की एक साम्वत्सरिक परिक्रमा के अनन्तर ही इस मे अश्मासोम *"दन्त" (दांत) रूप से प्रतिष्ठित हो जाता हैं। अश्मासोमगर्भित एमूषवायु एकवर्ष में ही प्रविष्ट हो जाता है, इस की सत्ता का द्योतक दांत ही है। पृथिवी का प्रातिस्विक प्राण पूषा है। यह अश्मासोम-विरहित है। एक वर्ष तक बच्चे में इसी पार्थिव पूषा-प्राण की प्रधानता रहती है, अत एव इस काल मे बच्चे के दांत उत्पन्न नहीं होते। इसी विज्ञान के आधार पर— "तस्मादाहुरदन्तकः पूषा" ( शत० १।७।४।७ ) यह कहा जाता है। जब तक दांत उत्पन्न नहीं होते, तबतक भूस्थिर वायु प्रविष्ट नहीं होता, दूसरे शब्दों में प्रविष्ट होकर भी स्थिर नहीं होता। दन्तपङ्क्ति उत्पत्ति के सहकाल मे ही प्रविष्ट होने वाला यही वायव्यांश "हंसात्मा" नाम से प्रसिद्ध है। हंसात्मा के उपादानभूत वायु का एमूष वराह रूप से पूर्व में निरूपण किया जा चुका है, अतः यहां पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है। प्रकृत में केवल हंसात्मा के कुछ एक कर्म्मों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

हंसात्मा का उपादान भूवायु है। एक वर्ष के पार्थिव परिभ्रमण से शरीर में जब घनता ( प्रतिष्ठा ) आजाती है, तभी दांत उत्पन्न होते हैं, यह कहा जाचुका है। तभी हंसात्मा उत्पन्न होता है। भूवायु तब तक स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, जब तक कि भूपिण्ड स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। ठीक इसी प्रकार यह वायव्य हंसात्मा भी तबतक शरीर से अवश्य ही बद्ध रहता है, जब तक कि शरीरधातु प्रतिष्ठित रहते हैं। जीवात्मा नाम से प्रसिद्ध पूर्वोक्त कर्म्मात्मा के शरीर से निकलते ही अव्यक्त-महान्-विज्ञान-महत्-प्रज्ञान, आदि सब खण्डात्मा उत्क्रान्त होजाते हैं। परन्तु शरीर-पिण्ड से सम्बन्ध रखने वाला यह हंसात्मा यहीं, इसी भौतिक मर्त्य शरीरपिण्ड से बद्ध रह जाता है। यह तबतक शरीर-पिण्ड से बद्ध रहेगा, जब तक कि शरीर-भौतिक धातु अग्नि के सम्बन्ध मे विशकलित न कर दिए जायेंगे। इस की उत्पत्ति दन्तोत्पत्ति सम कालीना बतलाई गई है। अत एव जिस बालक के दांत पैदा नहीं होते, धर्म्मशास्त्रने उसे केवल भूमि मे गाड़ने का आदेश दिया है। परन्तु दांत पैदा होने के अनन्तर यदि शव को नहीं जलाया जाता है, तो हंसात्मा को शरीर के साथ बधा रहना पड़ता है। कर्म्मात्मा अपने गृह रूप शरीर को छोड़ कर लोकान्तर में कर्म्म भोगने के लिए चला जाता है, परन्तु हंसात्मा प्राण

* पहिले नीचे के दांत क्यों उत्पन्न होते हैं ?, नीचे के पतले संहत, ऊपर के मोटे एवं वितत क्यों होते हैं ? दंष्ट्रा वरीयसी क्यों होती है ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए शतपथ विज्ञानभाष्य द्रष्टव्य है।

शून्य, अत एव मर्त्य शरीरगृह के साथ ही बद्ध रहता है। इसी आधार पर अन्य संप्रदाय वाले आचार्यों ने (मुहम्मदीयों ने) कर्म्मात्मा को "सैलानी" (लोकान्तर में सैर करने वाला), एवं हंसात्मा को "मक्कानी" (गृहरूप-शरीर में बद्ध रहने वाला) कहा है। जिन का शरीर भूमि में गाड़ दिया जाता है, उनका हंसात्मा वहीं बद्ध रहता है। जिस प्रकार एक पक्षी दिन भर इधर उधर घूम घाम कर सायंकाल अपने कुलाय (घोंसले) का आश्रय ले लेता है, एवमेव यह हंसात्मा भी दिनभर इधर उधर घूमघाम कर पुनः उसी स्थान पर विश्राम करता है। "कब्रों से रूहें निकला करतीं हैं" यह सच्ची किंवदन्ती है। यह "रूह" यही हंसात्मा है। परम कारुणिक अतीतानागतज्ञ आर्य महर्षियोंने अपनी आर्षदृष्टि से हंसात्मा के इस शरीर बन्धन को देखा, एवं इसे इस बन्धन से मुक्त करने के लिए ही शवदाह की धर्म्माज्ञा प्रचलित की। दुःख है कि, अनार्षदृष्टि वाले हठवादी इस मर्म्म को न समझते हुए आज भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ते।

इस हंसात्मा की मुक्ति अमर्यादित है। किन्हीं ऋषियों का मत है कि, जब सृष्टि का प्रतिसंचर (प्रलय) होगा, तभी हंसात्मा की मुक्ति होगी, तबतक हंसात्मा इसी भूवायु में घूमता रहेगा। संभव है, इसी आधार पर मुहम्मदीयों का—"कयामत के दिन खुदा ताला रूह का फैसला करेंगे, जिन की आखिरी पैगम्बर मुहम्मद साहिब सिफारिश करेंगे, उन्हें बहिश्त (स्वर्ग) बख्शी जायगी, जिन को वे काफिर कहेंगे, उन्हें दोजख (नर्क) मिलेगी" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो। इतना अवश्य है कि, ईश्वरवादी आस्तिकों का हंसात्मा सुखी रहता है, एवं अनीश्वरवादी नास्तिकों का हंसात्मा दुःखी रहता है। जिस मनुष्य का सात्त्विक-राजस-तामस, तीनों में से जैसा स्वभाव होता है, उनके हंसात्मा का भी वैसा ही स्वभाव होता है। कितनों ही के हंसात्मा का स्वभाव महादुष्ट होता है, कितनें हो साधु-स्वभाव वाले होते हैं। हंसात्मा का शरीर वायव्य है, एवं इस में २८ इन्द्रियाँ हैं। यह छोटे से छोटा शरीर धारण कर सकता है, संकल्पमात्र से बृहत्काय बन सकता है। लघु हो जाता है, गुरु बन जाता है। पतला बन सकता है, मोटा बन सकता है। तत्तद् विशेष योनियाँ धारण कर यह मनुष्यों का उपकार-अपकार करने में समर्थ है। यह एक प्रकार की प्रेतयोनि है। इसी हंसात्मा पर मेस्मेरेजम (Maismaradum) किया जाता है। रामचन्द्र कृष्ण परशुराम व्यास कपिल-कणादादि अवतार पुरुष, एवं महा पुरुषों का कर्म्मात्मा नित्य मुक्त था, परन्तु इन के हंसात्मा

आज भी प्रतिष्ठित हैं। इतना ही नहीं दृष्टिनिरोधरूपा संयमविद्या से आज भी इन का साक्षात्कार किया जासकता है। यही हंसात्मा दर्शनभाषा में—"अभिमानी" देवता नाम से प्रसिद्ध है। "अमुक देवताने दर्शन दिए" "अमुक मनुष्य आज हमें स्वप्न में दिखलाई दिया" "अमुक प्रेतात्मा आज हमें दीखा, और उसने यह कहा" यह 'अमुक' शब्द वाच्य यही हंसात्मा है।

मनुष्य जब घोर निद्रा में (बेखबर) सोजाता है, तो उस का हंसात्मा उसकी रक्षा किया करता है। आप सो रहे हैं। कर्म्मात्मा प्रज्ञान विज्ञान को साथ लेकर पुरीतति नाड़ी में प्रतिष्ठित होरहा है। ऐसी अचेतनावस्था में यदि एक विषधर सर्प आप की ओर आता है, अथवा उपर की छत गिरना चाहती है, अथवा कोई शत्रु आक्रमण करने आरहा है, अथवा और कोई आकस्मिक आपत्ति आरही है, तो इस समय आप अकस्मात् हड़बड़ा कर जग पड़ते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है। यह कर्म्म उसी हंसात्मा का है। घोर विपत्ति में यही हंसात्मा विचार में स्फूर्ति डाल कर, अथवा अन्य योनि में आकर सकेतद्वारा आपको सावधान कर देगा। आप किसी विषय की गुत्थी (ग्रन्थि) सुलझाने में व्यस्त हो रहे हैं। एक व्यक्ति आप के सामने से कुछ बड़बड़ाता हुआ निकल जाता है। वह उस समय ऐसी बात बोलता है, जिस से आप की गुत्थी सुलझ जाती है। यह उसी हंसात्मा का संकेत है। बच्चे का हंसात्मा निर्मल, अत एव सत्यवादी होता है। इसी लिए शकुन परीक्षक बच्चे से प्रश्न कर उस के निर्णय के आधार पर शुभाशुभ की व्यवस्था कर लेते हैं। योग प्रक्रियाविशेष से यह हंसात्मा सिद्ध होजाता है, एवं इस से यथेच्छ काम लिया जाता है। यही सिद्धि पातञ्जल योगदर्शन में—"छायापुरुषसिद्धि" कह लाती है। आप सोते समय जरा दृढ़ भावना से यह विचार कर लीजिए कि, मुझे आज प्रात ३ बजे उठना है। घोर निद्रा में निमग्न रहते हुए भी आप अपने उसी सकल्पित समय में जग पड़ेंगे। इस सम्बन्ध में हम आपसे प्रश्न करेंगे कि, कर्म्मात्मा-विज्ञान-प्रज्ञान, सब इस समय सुप्त थे, फिर किसने आप को जगाया? इस प्रश्न का एकमात्र समाधान यही हंसात्मा होगा। साथ ही में यह भी स्मरण रखिए कि, कर्म्मात्मा जिस समय शरीर छोड़ता है, उस समय शरीर की सुखी, अथवा दुःखी, जैसी अवस्था होती है, उस का हंसात्मा भविष्य में उसी अवस्था से युक्त रहता है। जीवित अवस्था में भी जो अवस्था शरीर की होती है, वही अवस्था हंसात्मा की रहती है। शरीर के जला देने पर यह स्वायतनभूत सूत्रवायु में विचरा करता है। सौर प्रकाश इस का घोर शत्रु है, चान्द्रज्योति इस का परम मित्र है। हंसात्मा जब रहेगा छाया में, एवं चन्द्रिका में। धूप में यह क्षणमात्र भी नहीं ठहर सकता। इसी हंसात्मा के स्वरूप परिचय के लिए

देव प्रतिमाओं के चारों ओर, विशेषतः शिरोमण्डल के चारों ओर एक ज्योतिर्मण्डल बनाया जाता है। जिन का हंसात्मा सात्त्विक-पवित्र-ज्ञान युक्त रहता है, उन मनुष्यों के शरीर के, एवं मुख मण्डल के चारों ओर भी एक कान्तिमण्डल रहता है। अतितेजस्वी के मुख पर साधारण व्यक्ति की आंखें नहीं ठहर सकतीं। यह मण्डल उसी हंसात्मा का है। तामस हंसात्मा का बहिर्मण्डल अप्रत्यक्ष रहता है। इसी वायुमय हंसात्ममण्डल को लोकभाषा में—"वातावरण" कहा जाता है। इस के परिज्ञान से मनुष्य के मानसिक भाव विदित होजाते हैं। कारण, मनुष्य अपने मन में जैसा सकल्प करता है, उस का हंसात्ममण्डलात्मक वातावरण, किंवा बहिर्मण्डल वैसे ही भावों से युक्त होजाता है। मार्मिक विद्वान् इस से इस के अन्तर्भावों का पता लगा लेते हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर यजुःश्रुति कहती है—

"तस्मादाहुः-'मनो वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति'–इति। मनसा संकल्पयति, तत्–प्राणमपिपद्यते, प्राणो वातं, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष मनः। तस्मा–देतद् ऋषिणाऽभ्यनूक्तम्—

"मनसो संकल्पयति तद्वातमपिगच्छति।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः ॥" ( शत० ३।४।२।६ )।

इस हंसात्मा का प्रभव भूवायु है, प्रतिष्ठा बहिर्मण्डल है, योनि संवत्सर चक्र है, आशय सर्वाङ्ग शरीर है। ईश्वर शरीर में यही एमूषवराह नाम से प्रसिद्ध है, एवं जीव शरीर में यही "हंसात्मा" नाम से व्यवहृत होता है। "त्रिवृतं च हंसमाहुः" ( अथर्व० १०।८।१७ ), "हंसो वातस्य" ( यजु० २४।३५ ) "वायु तृतीयम्" ( शत० १०।६।६।३ इत्यादि मन्त्र। ब्राह्मणोक्त प्रमाणों के अनुसार ही यह वायव्यात्मा "हंसात्मा" नाम से प्रसिद्ध है। लोकभाषा में जिस तत्त्व के लिए—"हंसा उड़ गया, शरीर रह गया" यह किंवदन्ती प्रचलित है, वह 'हंसा' ( पक्षी ) यही हंसात्मा है। हंसात्मा का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नाद, इन पांचों पुरञ्जनों का पञ्चीकृत रूप ही "भूपिण्ड" **वाह्यात्मा–भूतमूर्त्तिः—**है, पांचों ही अग्निमूर्त्ति हैं, जैसाकि पूर्व प्रकरणों में कई स्थलों में स्पष्ट किया जाचुका है। अग्नि गायत्र छन्द से छन्दित रहने के कारण अष्टाक्षर माना जाता है। इस

गायत्र भाव के कारण प्राणादि पाँचों पुरंजनों की ( प्रत्येक की ) आठ आठ मात्राएँ होजाती हैं। इन में चार मात्रा में प्राणादि स्वयं रहते हैं, शेष चार मात्राएँ इतर पुरञ्जनों में रहतीं हैं, यही प्रक्रिया पञ्चीकरण नाम से प्रसिद्ध है। इन में यदि चतुर्म्मात्रिक अन्नाद है, एवं—प्राण-आपः-वाक्-अन्न, ये चारों एक एक मात्रिक हैं, तो पञ्चीकृत अन्नाद का स्वरूप निष्पन्न होता है। यही पञ्चीकृत अन्नाद विज्ञान भाषानुसार "भूत" किंवा महाभूत नाम से प्रसिद्ध है। इसी पञ्चीकृत अन्नादप्रधान पञ्च महाभूतात्मक भूत से भूपिण्ड निष्पन्न हुआ है। प्राण आकाश है, आपः वायु है, वाक् तेज है, अन्न जल है, अन्नाद मिट्टी है। "पृथिवी वै सर्वेषां भूतानां रसः" ( शत० १४।८।४।१ ) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड में पाँचों-महा भूतों का समन्वय है, तभी तो इस का सर्वभूत-रसमूर्त्तित्व सिद्ध हो सकता है। इन्हीं पञ्चात्मक पञ्च महाभूतों से शरीरयष्टि का निर्माण होता है।

मांस-अस्थि-कपाल त्वचा-मेद-मज्जा-शुक्र, आदि आपेक्षिक घन भाग पृथिवी है। स्वेद-मूत्र-रस-असृक्-लाला-कफ, आदि तरलभाग जल है। शारीर ऊष्मा (गर्मी) तेज है श्वासप्रश्वासादि वायु है। विवर आकाश है। इस प्रकार शरीरसंस्था में पाचों महाभूतों का सर्वथा प्रत्यक्ष होरहा है। पञ्च महाभूतों से निष्पन्न होने वाले ये शारीर महाभूत "सत्त्वभूत," किंवा भूतभौतिक नाम से प्रसिद्ध हैं। सत्त्वभूतों के मूल महाभूत हैं, महाभूतों के मूल अपञ्चीकृत भूत हैं, इन के मूल अणुभूत हैं, इन के मूल पञ्चतन्मात्रा नाम से प्रसिद्ध गुणभूत हैं। इन्हें ही ( जो कि सर्वथा अयौगिक हैं ) भारतीय विज्ञान ने "तत्त्व" नाम से व्यवहृत किया है। इन्हीं तत्त्वों की चरम यौगिक अवस्था शरीररूप सत्त्वभूत हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से इस शरीर को भूतात्मा कहा जाता है। पार्थिव सप्त्या त्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्मात्मा भी पार्थिव प्राणप्रधान भूतमय बनता हुआ भूतात्माहै, इधर शरीर भी भूतात्मा है। उधर वायव्य हंसात्मा भी भूतात्मा है। तीनों में अन्तर केवल इतनाही है कि, कर्म्मात्म-हंसात्मरूप भूतात्मा प्राणप्रधान होते हुए अन्तरात्मा हैं, एवं भूतप्रधान शरीररूप भूतात्मा बाह्यात्मा है। इन्हीं दोनों भूतात्मविवर्तों के पार्थक्य का विस्पष्ट निरूपण करती हुई मैत्री-श्रुति कहती है—

"कोऽयमात्माख्यो योऽयं सितासितैः कर्म्मफलैरभिभूयमानः- सदसद्योनिमापद्यता इति ? अवाञ्चोर्ध्वा वा गतिर्द्वन्द्वैरभि- भूयमानः परिभ्रमति? अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्माख्यो योऽ- यं सितासितैः परिभ्रमति, इत्यस्य (प्रोणात्मकस्य भोक्तुर्भूतात्मन.) उपन्याख्यानम्। पञ्चतन्मात्रा भूतशब्देनोच्यन्ते। अथ पञ्च- महाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्ते। अथ तेषां यत् समुदयं तच्छरीर- मित्युक्तम्। अथ यो ह खलु वाव शरीर इत्युक्तं स "भूतात्मा" इत्युक्तम्" ( मै० उ० ३ प्र० ) इति।

इस शरीररूप भूतात्मा का प्रभव भूपिण्डांशात्मक शुक्र-शोणित की समष्टि है, प्रतिष्ठा आत्मा है, योनि अन्न है, आशय सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था है। यही इस प्राणात्माधिकरण का पांचवाँ विवर्त्त है।

इस प्रकार भूपिण्ड, भूवायु, त्रिवृत्स्तोमरूप पृथिवी में प्रतिष्ठित वैश्वानर, पञ्च० अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित हिरण्यगर्भ, एकविंश० द्युलोक में प्रतिष्ठित सर्वज्ञ, इन पांच पार्थिव विभू- तियों से क्रमशः शरीररूप भूतात्मा, वायुरूप हंसात्मा, वैश्वानरांशभूत वैश्वानरात्मा, हिर- ण्यगर्भांशभूत तैजसात्मा, सर्वज्ञांशभूत प्राज्ञात्मा, इन पांच आध्यात्मिक प्रपञ्चों का उदय होजाता है, यह अब तक के प्रकरण से भलीभांति सिद्ध होजाता है। साथ ही में यह भी सिद्ध होजाता है कि, उक्त पांचों विवर्त्तों में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ की समष्टि ही भोक्तात्मा, किंवा कर्म्मात्मा है यही लोकान्तर में कर्म्मभोगने के लिए जाता है। साथ ही में विज्ञ पाठकों को यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, उक्त पांचों विवर्त्तों में किसी विवर्त्त के साथ श्राद्धकर्म्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल गयाश्राद्ध का सम्बन्ध वायव्य हंसात्मा के साथ है, जैसा कि आगे के श्राद्धप्रकरण में स्पष्ट होजायगा।

—पञ्चपर्वा—विश्व— { महद्विश्व { ३-५—सर्वज्ञः——२१—एक० द्यौः———→प्राज्ञात्मा (५) } } —कर्म्मात्मा } भूतात्मा
२-४—हिरण्यगर्भः—१५—पञ्च० अ०———→तैजसात्मा (४)
१-३—वैश्वानरः——९——त्रि० पृ०———→वैश्वानरात्मा (३)
भूः { २-२—भूवायु——एमूषवराहः————→हंसात्मा (२) ]—हंसात्मा
१-१—भूपिण्डम् —पञ्चमहाभूतानि———→शरीरम् (१) ]—भूतात्मा] बाह्यात्म

प्रकरणारम्भ से अब तक आधिदैविक-आध्यात्मिक, जिन दो संस्थाओं का स्वरूप सर्वज्ञ-अल्पज्ञसमतुलन-निरूपित हुआ है, उत्तास में दोनों हीं समानधर्म्मा हैं। जितनीं कलाएँ ईश्वर में हैं, ठीक उतनीं हीं कलाए जीव में हैं। ये सब तो दोनों के स्वरूपधर्म्म हैं। इन के अतिरिक्त विभूति-पाप्मा, ये दो विभाग बच जाते हैं। इन दोनों में से विभूति भाग ईश्वर का स्वरूप धर्म्म है, साथ ही में उस में पाप्मा का अभाव है। जीव में रहने वाली विभूति पाप्मा के अभाव में जीव का स्वरूप धर्म्म है, एव पाप्मा क रहने पर वही विभूति आश्रित धर्म्मकोटि म प्रविष्ट हो जाती है। यही जीवेश्वर की पहिली विषमता है। ईश्वर पूर्णेन्द्र है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति है, सर्ववित् है। जीव अर्द्धेन्द्र है, अल्पज्ञ है, अल्पशक्ति है, अल्पवित् है। यही जीवेश्वर की दूसरी विषमता है। इन सब विषमताओं का मूल पाप्मा ही है। इन पाप्माओं का ईश्वर संस्था से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। यह जीवात्मा की स्वतन्त्र कमाई है स्वतन्त्र कमाई क्या है, प्रज्ञापराध है, बन्धन के मूल हैं। यद्यपि बन्धन मुक्ति लक्षणा विभूति का भी यह संग्रह करता है, परन्तु वित्त-मोह से मुग्ध बना हुआ यह विशेषरूप से बन्धन के हेतुभूत पाप्माओं का ही संचय करता है। पशु-पक्षी-आदि इतर योनियाँ प्रज्ञा भाग की अल्पता से प्रज्ञापराध करने में असमर्थ हैं। एकमात्र मनुष्य ही प्रज्ञा की पूर्णमात्रा लेकर उस से अनुचित लाभ उठाता हुआ प्रज्ञापराध कर बैठता है। इस की स्वतन्त्रता प्रज्ञापराध के कारण इसी के बन्धन का कारण बन जाती है। जब से सृष्टिक्रम चला है, तब से अद्यावधि देवता-असुर-पितर-पशु, आदि किसी भी प्रजाने ईश्वरीय सत्य-नियमों का उल्लङ्घन नहीं किया है। कारण इस का यही है कि इनमें किसी में भी पूर्णमात्रा नहीं है, अत एव इन म से कोई भी ईश्वर प्रजापति क नेदिष्ठ नहीं है। एकमात्र मनुष्य ही ईश्वरीय सम्पूर्ण सम्पत्ति प्राप्त कर नियति का अतिक्रमण करने लगता है—

"ता इमा प्रजास्तथैवोपजीवन्ति, यथैवाभ्य. प्रजापतिर्व्यदधात्। नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशव। मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति" (शत० २।४।२।६)।

'देव-पितर-असुरादि सब की अपेक्षा ईश्वरीय मात्रा को पूर्णरूप से लेने क कारण, साथ ही में प्रज्ञाबल स अपनी मुक्ति का अधिष्ठाता बनन क कारण मानवतन उत्कृष्टतम, अत एव दुर्लभ है"—यह आर्यसर्वस्व (पुराण) का निश्चत सिद्धान्त है। परन्तु प्रज्ञापराध जनित पाप्माओ से आक्रान्त होकर मुक्ति के स्थान में यह अपने आपको और भी अधिक बन्धन में डाल लेता है।

पूर्व में विभूति को हमनें पाप्मा के सम्बन्ध से जीव का आश्रित धर्म्म कहा है, एवं पाप्मा के अभाव में उसी को स्वरूप धर्म्म कहा है। इन विभूतियों के सम्बन्ध में इतना स्पष्टीकरण और कर लेना चाहिए कि, कुछ विभूतियाँ तो ऐसी हैं, जो पाप्मा के रहने, न रहने, दोनों अवस्थाओं में स्वरूपधर्म्म हो बनीं रहतीं हैं। एवं कुछ विभूतियाँ ऐसी हैं, जो पाप्मा के रहने पर वे ही स्वरूप-धर्म्मरूप में परिणत होजातीं हैं। जीववर्ग के विभूति-पाप्म-प्रपञ्च को थोड़ी देर के लिए छोड़िए। पहिले ईश्वरीय विभूति का विचार कीजिए। संख्या क्रम के अनुसार ईश्वर में २८२ ( दोसौ बियासी ) तो विभूति-कलाएं होजाती हैं, एवं ७२ ( बहत्तर ) आत्म कलाएँ हो जातीं हैं। सम्भूय स्थूलदृष्टि से ईश्वर विराट् ३५४ ( तीन सौ चौवन ) कलाओं से युक्त माना जासकता है। आत्मकलाओं का दिग्दर्शन कराया जाचुका है। केवल विभूति-कलाओं के नामों का उल्लेख कर दिया जाता है। इस ईश्वरीय विभूति के भी सामान्य, विशेष रूप से दो विभाग हैं। इन में सामान्य विभूतियाँ २३१ ( दोसौ इकत्तीस ) हैं, विशेष विभूति ५१ (इक्यावन) हैं। सम्भुय २८४ होजाती हैं। इन में २३१ सामान्य विभूतियों की ईश्वर, जीव दोनों में समानता है, एवं ५१ विशेष विभूतियाँ असाधारण हैं। इन में से प्रथम सामान्य विभूतियों का ही दिग्दर्शन कराया जाता है।

१—ऋषयः (१२)—( विरूपास इद् ऋषय )

सब से पहिली विभूति 'ऋषि' है। असत् प्राण को ही ऋषि कहा जाता है। ये ही विभूतिलक्षण 'ऋषि' तत्त्व—सृष्टि के मूल-प्रवर्त्तक हैं। इस ऋषि प्राण की एकर्षि-द्व्यर्षि-सप्तर्षि-त्र्यर्षि-आदि अनेक जातियाँ हैं। "विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीर वेपसः" ( ऋक्सं० १०।६२।५ ) के अनुसार यद्यपि ऋषि प्राण अनन्त हैं, परन्तु सृष्टिविद्या में १२ ऋषि प्राणों को ही ईश्वर की प्रधान विभूति माना गया है। आप वसिष्ठ-कश्यप-भरद्वाज-जमदग्नि, आदि जितनें ऋषि नाम सुना करते हैं, विश्वास कीजिए ये सब मौलिक प्राणों के नाम हैं। यह ऋषि प्राण वेदमूर्त्ति है, इसी आधार पर "ऋषिर्वेदमन्त्रः" यह कहा जाता है। जिस ऋषि प्राण का जिस विद्वान ने आर्षदृष्टि से सर्व प्रथम साक्षात् कार किया, आविष्कार किया, प्रथम द्रष्टा वह विद्वान् उसी ऋषि प्राण नाम से प्रसिद्ध होगया। वसिष्ठ-अगस्त्य-विश्वामित्रादि मौलिक ऋषिप्राणों के प्रथम द्रष्टा विद्वान् ही वसिष्ठ-अगस्त्य-विश्वामित्रादि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इस ऋषि प्राण का—"रूपरसगन्धस्पर्शशून्यत्वमतएवाघाम-स्पृदत्वं प्राणत्वम्" यह लक्षण किया जासकता है। यह रूप रसादि से पृथक् होता हुआ

नीरूप है, अत एव यह जगह नहीं रोकता। एक ही बिन्दु ( Point ) में अनन्त प्राण समा सकते हैं। जिसे आप शक्ति (Force) कहते हैं, थोड़ी देर के लिए उसे ही आप ऋषि प्राण कह सकते हैं। प्राण सामान्य शब्द है। ऋषिगत पितर-देव-गन्धर्व, सभी प्राण हैं। परन्तु जो भी एक वेदमूर्त्ति असत् प्राण है, उसे ही ऋषि कहा जायगा। इस ऋषिप्राण की विकास-भूमि ईश्वरीय संस्था का "स्वयम्भू" भाग है। दूसरे शब्दों में अपौरुषेय वेदमूर्त्ति स्वायम्भुव असत् प्राण को ही ऋषि कहा जाता है। गोत्रसृष्टि का इसी ऋषि प्राण से सम्बन्ध है। इस विभूति का प्रधान कर्म है—ज्ञानतन्तुप्रसार। हमारे अध्यात्म में इस ईश्वरीय संस्था का जो ऋषि भाग आता है, वही "ऋषिऋण" नाम से प्रसिद्ध है। स्वाध्यायरूप ज्ञान दान ही ऋषिऋण का शोधक है। बिना अध्ययनाध्यापन ( वेदाध्ययनाध्यापन ) के हमारा आत्मा कभी ऋषिऋण से मुक्त नहीं होसकता। आगे की सम्पूर्ण विभूतियाँ इसी ऋषि विभूति पर प्रतिष्ठित हैं, अत एव हम इसे मूलविभूति कह सकते हैं। जब कुछ नहीं रहता, तब एकमात्र इसी असत्प्राण का साम्राज्य रहता है। यही आगे जाकर पितर-देवादि का उपादान बनता हुआ विश्वसृष्टि का कारण बनता है—( देखिए गी० १०।१।१ )। इस विभूति के प्रधान १२ विवर्त हैं।

२- पितरः (८)—

विजातीय अनेक, अथवा दो मौलिक ऋषि प्राणों के रासायनिक संयोग से उत्पन्न होने वाला यौगिक अपूर्वभाव ही पितृतत्त्व है। भार्गव-आङ्गिरस प्राण के समन्वय से ही पितर की स्वरूप निष्पत्ति होती है। यही पितर प्राण मैथुनी सृष्टि का प्रथम आरम्भक है, अत एव इसे पितर ( बाप-बाप ) कहा जाता है। भार्गव प्राण सौम्य है, आङ्गिरस प्राण आग्नेय है। दोनों ही पारमेष्ठ्य तत्त्व हैं। इन पारमेष्ठ्य तत्त्वों के समन्वय से उत्पन्न, दूसरे शब्दों में ऋषिप्राण के समन्वय से उत्पन्न इन पितरों की आठ जातियाँ हैं, जैसा कि आगे की पितृस्वरूपनिरूपणोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। अभी प्रकरण सङ्गति के लिए केवल यही जानलेना पर्याप्त होगा कि, अनेक ऋषि प्राणों के योग से उत्पन्न, मैथुनी सृष्टि का मूल प्रवर्त्तक परमेष्ठी से सम्बन्ध रखने वाला सांयौगिक अग्निगर्भित सोम-प्रधान तत्त्व ( आग्नेय प्राणगर्भित सौम्यप्राण ) ही पितृविभूति है।

Margin label: विभूतिलक्षण-पितृतत्त्व—

### ३-असुराः (९९)—

परमेष्ठी में प्रतिष्ठित भृगु की सौम्यावस्था का सम्बन्ध पितरों से है, एवं घनावस्थारूप-
**विभूतिलक्षण-असुरतत्त्व**—आप्य भाव का सम्बन्ध असुरों से । दूसरे शब्दों में आप्य पारमेष्ठ्य प्राण का ही नाम असुर है। यह असुर प्राण संख्या में भी देवताओं से त्रिगुण है, एवं उत्पत्ति में भी प्रथम है। कारण परमेष्ठी के अनन्तर ही देवावास भूमिरूप सूर्य्य का उदय होता है। इधर देवता ३३ हैं, तो आप्य असुर प्राण ९९ हैं। ये ही असुर प्राण जातियाँ—वृत्र, नमुचि, अररु, त्वष्टा, विरूपाक्ष, किलात, आकुली, आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। बल प्रदान करना इस असुर प्राण का मुख्य कर्म्म है। देवता यदि ज्ञान प्रधान हैं, तो असुर बलप्रधान हैं। असुर, एवं पितर, दोनों विभूतियों का ईश्वरीय संस्था के दूसरे पारमेष्ठ्य विवर्त के साथ सम्बन्ध है।

### ४-देवाः (३३)—

परमेष्ठी के अङ्गिरा नाम के मनोता में सोम सम्बन्ध द्वारा जो एक ज्योतिर्मय प्राण
**विभूतिलक्षण-देवतत्त्व**—उत्पन्न होता है, वही द्योतनात् देवता नाम से प्रसिद्ध है। अङ्गिरा की घनावस्था अग्नि है, तरलावस्था वायु है, विरलावस्था आदित्य है। तीनों के आगे जाकर ३३ विभाग होजाते हैं, जैसा कि पूर्व के अदिति प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अग्नि-वायु-आदित्यमूर्त्ति इन ३३ नो प्राणदेवताओं की विकासभूमि ईश्वरीय संस्था का तीसरा विवर्त्त सूर्य्य ही है। यही उस प्रजापति की चौथी विभूति है। इस देवप्राण का जो ,प्रवर्ग्यांश अध्यात्म का आरम्भक बनता है, वही "देवऋण" नाम से प्रसिद्ध है। ज्योतिष्टोमादि यज्ञ ही इस देवऋण के निराकरणार्थ उपयुक्त माने गए हैं।

### ५-मनव (४)—

सूर्य्य संस्था के केन्द्र में रहने वाली वह विभूति, जो विराट्रूप में , अण्डज-पिण्डज-
**विभूतिलक्षण-मनुतत्त्व**—स्वेदज-उद्भिज्ज, इन चारों प्रजाओं का आरम्भक बनती है, वही "मनु" नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि प्रारम्भ के "अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्" के मन्वन्तर निरूपण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अतः यहां पिष्ट पेषण की आवश्यकता नहीं है।

यहां केवल यही समझलेना बस होगा कि, अण्डजादि भेद से चार प्रकार का यह मनुस्तत्त्व सूर्य्य की ही विभूति है। मनुस्तत्त्व ही मानव विवर्त्त की मूल प्रतिष्ठा है।

६–गन्धर्वाः (२७)—

सोमतत्त्व को आप्यप्राण प्रधान असुरों के आक्रमण से सुरक्षित रखने वाला सौम्य विभूतिलक्षण–गन्धर्वतत्त्व—वायव्य प्राण ही गन्धर्व नाम से प्रसिद्ध है। गन्धर्व को अप्सरा प्राण का भी उपलक्षण समझना चाहिए। क्योंकि जहां गन्धर्व प्राण रहता है, वहां अप्सरा प्राण अवश्य रहता है। गन्धर्व प्राण ही चपलता–विलासिता का प्रवर्त्तक है। इस के २७ रूप हैं। इन सब का चन्द्रमा से सम्बन्ध है। अत एव गन्धर्व को हम चान्द्रविभूति कहने के लिए तय्यार हैं।

७–ग्रहाः (४०)—

चान्द्र सोम अर्करूप से वायव्या-न्तरिक्ष में व्याप्त रहता है। वायु पात्र में प्रतिष्ठित यह विभूतिलक्षण—ग्रहतत्त्व—चान्द्र सोम ही "ग्रह" नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रह जिस वायु में प्रतिष्ठित रहता है, वही वायु "ग्रहपात्र" नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रह सोम से ही ग्रहयाग निष्पन्न होता है। इस ग्रह तत्त्व की उपांशु–अन्तर्याम–उपांशुसवन–मरुत्वतीय–ऐन्द्र–वायव्य–मैत्रावरुण–आदि ४० जातियाँ हैं। यह एक प्रकार के गेस हैं। इन्हीं के समन्वय तारतम्य से विश्वचक्र सञ्चालित है। शतपथ ब्राह्मण के चतुर्थकाण्ड में इन चालीसों ग्रहों का सुविशद–सोमपत्तिक वैज्ञानिक निरूपण हुआ है। हम ऐसा विश्वास रखते हैं कि, जिस दिन भारतीय विद्वान् इन आन्तरिक्ष्य वायव्य ४० ग्रहों को पहिचान कर इन से काम लेने लगेंगे, उस दिन पश्चिम का गेसकाण्ड इस ग्रहकाण्ड में ही गत होजायगा। परन्तु आवश्यकता है परीक्षा की। इस ग्रहविभूति का भी चन्द्रमा से ही सम्बन्ध है।

८–पशवः (५)—

त्रिवृत् पृथिवी, पञ्चदश अन्तरिक्ष, एकविंश द्यु, इन तीनों लोकों के उच्छिष्ट भागों के विभूतिलक्षण–पशुतत्त्व—समन्वय तारतम्य से जो एक अन्नात्मयमात्र उत्पन्न होता है, वही पशु–विभूति है। इस पशुविभूति के 'छन्दः–पोष–सलिल–अग्नि–अन्न' भेद से अवान्तर पांच विभाग हैं। पांचो ही पशु महापृथिवी रूप द्यावापृथिव्य हैं। इन पांचों में जो अग्नि नाम का पशु है, उस के पुनः–अवान्तर पांच विभाग हैं। वे ही पांचों आग्नेय पशु पुरुष–अश्व–गौ–अवि–अज, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ये पांचों ही पशु प्राणात्मक हैं। जिस प्राणी पशु में

जिस प्राणपशु की प्रधानता रहती है, वह प्राणीपशु उस प्राणपशु के नाम से ही व्यवहृत होता है। इस *पशुविभूति का सम्बन्ध सौम्य त्रिलोकी रूप महापृथिवी से ही है। चयन यज्ञ में इन पांचों पशुप्राणों से कृतात्मा पांचो प्राणी पशुओं के मस्तकों की चिति होती है।

९–जीवाः (३ —

ससञ्ज्ञ जीव, अन्तःसंज्ञः जीव, असंज्ञ जीव (जीव-जीव, मूल जीव-धातु जीव), इन विभूतिलक्षण–जीवतत्त्व—तीनों जीवों की समष्टिरूप जीव विवर्त्त ईश्वर की अन्तिम विभूति है। जीवमात्र ईश्वर की महिमा है, विभूति है, ईश्वर के गर्भ में प्रविष्ट है, विभूति सम्बन्ध से ही ईश्वर जीवों में व्याप्त हो रहा है। उक्त तीनों जीव भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित हैं, अतः ईश्वरीय सत्ता के अन्तिम विवर्त्तरूप भूपिण्ड को ही जीवविभूति का आलम्बन माना जासकता है।

इस प्रकार क्रमशः स्वयम्भू की विभूतिरूप १२ ऋषि, परमेष्ठी की विभूति रूप ८ पितर एवं ९९ असुर, सूर्य्य की विभूति रूप ३३ देवता, एवं ४ मनु, चन्द्रमा की विभूति रूप २७ गन्धर्व, एवं ४० ग्रह, महापृथिवी की विभूति रूप ५ पशु, भूपिण्ड की विभूतिरूप तीन प्रकार के जीव, संकलन से कुल २३१ सामान्य विभूतियाँ होजाती हैं।

सामान्य विभूतयः—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| (१)—१२—ऋषयः | → स्वयम्भूः | | | सामान्यविभूतयः—२३१ |
| (२)—८—पितरः | → परमेष्ठी | | | |
| (३)—९९—असुराः | | | | |
| (४)—३३—देवाः | → सूर्य्यः | | | |
| (५)—४—मनवः | | | | |
| (६)—२७—गन्धर्वाः | → चन्द्रमाः | | | |
| (७)—४०—ग्रहाः | | | | |
| (८)—५—पशवः | —महापृथिवी | → पृथिवी | | |
| (९)—३—जीवाः | —भूः | | | |
| २३१ | | | | |

* इस विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण शतपथ विज्ञान भाष्यान्तर्गत पशुआलम्भन विज्ञान प्रक॰ [illegible] में देखना चाहिए।

स्व०— १—आपयः—"विरूपास इद् ऋषयस्त इद्गम्भीरवेपसः ।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥"—ऋक्सं० १०।६२।५ ।

पर०— २—पितरः—"त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम् ।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥
—ऋक्सं० १।९१।१ ।
३—असुराः—"इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः ।
जघान नवतीर्नव (९९) ॥"—ऋक्सं० १।८४।१३ ।

सू०— ४—देवाः—"इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च (३३) ।
मनोर्देवा यज्ञियासः ॥"—ऋक्सं० ८।३०।२ ।
५—मनवः—"पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥"—अथर्वसं० ६।१९।१ ।

चं०— ६—गन्धर्वाः—"अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन् ।
केशी केतस्य विद्वान्त्सखा स्वादुर्मदिन्तमः ॥"—ऋक्सं० १०।१३६।६
७—ग्रहाः—"सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश ॥"
—ऋक्सं० १०।११४।५

पृ०— ८—पशवः—"तद् भद्रं तव दंसना पाकाय चिच्छदयति ।
त्वां यदग्ने पशवः समासते समिद्धमपिशर्वरे ॥"—ऋक्सं० ३।९।७
९—जीवाः—"दशमासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥"—ऋक्सं० ५।७८।९

अब क्रमप्राप्त विशेष विभूतियों का विचार कीजिए । ये विभूतियाँ २६ भागों में विभ[illegible]
। इन्हीं विभूतियों का संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है ।

१—विद्याविभूतिः (४)—

पहली सर्वालम्बन विभूति विद्या है। इस का उदय सूर्य्य में होता है, अतः हम इसे सूर्य-विद्याचतुष्टयीलक्षणा-विद्याविभूति—विभूति मानने के लिए तय्यार हैं। सूर्य्यसंस्था में धिषणा-प्राण, ये दो विभाग है। इन में धिषणा भाग ज्ञानप्रधान बनता हुआ विद्याविभूति का अधिष्ठाता बनता है। यही धिषणात्मक विद्याभाग धर्म-ज्ञान-वैराग्य ऐश्वर्य, इन चार भागों में विभक्त होता हुआ विद्यात्मक आनन्दविज्ञानमनोमय अव्ययपुरुष के प्रसाद का कारण बनता है। दूसरे शब्दों में सौर धिषणा चतुष्टयी से अव्यय का विद्याभाग विकसित होता है। अत एव इस बुद्धिरूप धिषणा को "विद्याविभूति" कहा जाता है। जीवसृष्टि में जिस जीव में इन चारों विद्याओं का पूर्ण विकास होता है, वह ईश्वर के समकक्ष होता हुआ अवतारपुरुष कहलाता है। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

ऐश्वर्य्यस्य च समग्रस्य धर्म्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा ॥१॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥२॥

ईश्वर में विद्यामात्र की प्रधानता है। उधर जीव में विद्या के साथ साथ पाप्मा रूप अविद्या भाग का भी प्राबल्य रहता है। यही जीव का जीवत्व है। हमारे में (अध्यात्मसंस्था में) जो धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य भावों का उदय होता है, वह एक मात्र ईश्वरविभूतिरूप धिषणात्मक सौर विद्याभाग की ही महिमा है। इस विभूति के प्रभाव से जीवात्मा अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-अभिनिवेश रूप अविद्या चतुष्टयी के आवरण से विमुक्त होता हुआ-निर्धूत किल्विष बन कर मुक्त होजाता है। इस विद्या विभूति की प्राप्ति का उपाय है—उद्गीथ रूप में सूर्य्य की उपासना, जिस का कि प्रकार छान्दोग्यादि उपनिषदों में विस्तार से बतलाया गया है। देखिए छां० उ० २ प्र०। "श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ०" (यजु.सं० ३१।२२) के अनुसार श्री, एवं लक्ष्मीपति सूर्य्यनारायण के अतिरिक्त दूसरा कौन ऐश्वर्य प्रदाता 'य एवैष

आदित्ये 'पुरुषस्तमेवाहमुपासे' (कौ० उ० ४।३।४)—"असङ्गोऽयं पुरुषो न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति" (बृ० उ० ४।३।१४) इत्यादि रूप से उपस्तुत, विश्व के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त रहते हुए भी सर्वथा असङ्ग सौरविज्ञान तत्त्व के अतिरिक्त दूसरा कौन वैराग्यभाव का उदय कर सकता है। "धियो यो नः प्रचोदयात्" (यजुःसं० २२।६, "त्रयी वा एषा विद्या तपति" (शत० ७।०।२।१२) "त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः" इत्यादि श्रौतस्मार्त्त सिद्धान्तों के अनुसार त्रयीमूर्त्ति, अत एव ज्ञानमूर्त्ति, अत एव च सविता (प्रेरयिता-) प्राणात्मक सूर्य्य के अतिरिक्त दूसरा कौन हमारी बुद्धि में ज्ञानोदय कर सकता है। प्रकृति सिद्ध नियति भाव के सञ्चालक, विश्व-मध्यस्थ, अत एव अक्षरमूर्त्ति शास्ता नियन्ता सूर्य्य के अतिरिक्त और कौन हमारी बुद्धि को धर्म्ममार्ग पर आरूढ रख सकता है। इस प्रकार सर्वात्मना यह सिद्ध होजाता है कि, सौरधिषणा भाग ही ईश्वर की विद्याविभूति है, एवं इस के धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य, ये चार पर्व हैं। साथ ही में यह भी सिद्ध होजाता है कि, जीवात्मा में यह विद्या विभूति जन्मना, एवं उद्गीथोपासनारूप कर्म्मणा उभयथा सूर्य्य से ही आती है।

२—कामविभूतिः (२)—

दूसरी है काम नाम की महाविभूति। अव्यय मन से सम्बन्ध रखने वाले मन का रेतो महाविभूतिलक्षणा-कामविभूति—रूप यह काम ही विश्व का मूल है। इसी काम विभूति से ईश्वर प्रजापति सत्-रस के आधार पर असद्बलों का ग्रन्थिबन्धन कर सृष्टि के अधिष्ठाता बनते हैं, एवं इसी काम से ग्रन्थिविमोक द्वारा मुक्ति के प्रवर्त्तक बनते हैं। ईश्वर की इसी महा विभूति का स्वरूप बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
—(ऋक्सं० १०।१२९।४)।

"एकोऽहं बहु स्याम्" "स ऐक्षत-सोऽकामयत भूयान्त्स्यां प्रजायेय" इत्यादि काम विभूतियों से ही ईश्वर प्रजापति विश्व, एवं तत्प्रतिष्ठ प्रजोत्पत्ति में समर्थ हुआ है। इस काम की मूल प्रतिष्ठा अव्ययमन है, जैसा कि ऊपर कहा जाचुका है। इस लिए इस काम

है—"सिसृक्षा" "मुमुक्षा" ये दो रूप होजाते हैं। मन रस बलात्मिक होने से उभयात्मक है। रसानुग्राहक काम मुमुक्षा ( मुक्ति की कामना ) है, बलानुग्राहक काम सिसृक्षा ( सृष्टि की इच्छा ) है। मुमुक्षाबल निवर्त्तक बल है, सिसृक्षाबल प्रवर्त्तक बल है। शब्दार्थ की अभिन्न मर्यादा के अनुसार सुख का वाचक "कम्" है। भौतिक सृष्टि में नित्य अन्तर्भूत रहता हुआ भी मन स्वस्वरूप से सर्वथा असङ्ग है। अत एव इस असङ्ग मन के लिए "अकार" का सङ्केत है। शब्दसृष्टि में 'अकार' कण्ठताल्वादि के अभिघात से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ निर्लेप है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए कामना होती है। उदाहरण के लिए जीव कामना को सामने रखिए। हम जो भी विषय प्राप्त करना चाहते हैं, पहिले उस की कामना होती है। कामना विषय प्राप्ति का प्रथमद्वार है। बिना कामना के विषय प्राप्ति असम्भव है। इसी कामना से हमारा मन प्राप्तव्य विषयमय ( विषयाकाराकारित ) बन जाता है। इस बौद्ध विषय से ही मन सुख का अनुभव करने लगता है, अत एव इस बौद्ध विषय की "कम्" ( सुखम् ) संज्ञा रख दी गई है। मन इस विषय में डूबा रहता है। चारों ओर विषय व्याप्त रहता है। दूसरे शब्दों में मन सम्पूर्ण विषय से घिरा रहता है। इसी नित्य स्थिति को लक्ष्य में रख कर ऋषि ने इस मनोवृत्ति को "काम" शब्द से व्यवहृत किया है। काम शब्द की "क्-अ-म्-अ"—यह परिस्थिति है। कम् रूप विषय अकार रूप मन में ओत है, मन रूप अकार विषय रूप 'कम्' में प्रोत है। यही दोनों का ( मन—अ विषय का—अकार एवं कम् का ) ओतप्रोत भाव सम्बन्ध है। सुखात्मक ककार के आगे मनोमूर्त्ति अकार है। इस प्रकार कम् के मध्य में क्-अ-म्-इस रूप से अकार बैठा है ( सुखरूप विषय के मध्य में सुखभोक्ता मन बैठा है )। सुखात्मक मकार के आगे भी म्-अ-इस रूप से मनोमूर्त्ति अकार बैठा है। इस प्रकार मन विषय के बाहिर, भीतर, मध्य और व्याप्त हो रहा है। इस अ-म्-अ-की सम्मिलित अवस्था ही "कामः" है। ध्यान रखिए, एक शिल्पी पहिले अपने मनो धरातल में अभिमत चित्र बनाता है। यही ज्ञानात्मक ( खयाली ) चित्र है। विषयात्मक चित्र पहिले मन में प्रतिष्ठित होता है। यही इस का चित्रकाम ( चित्रनिर्माणेच्छा ) है। इसी काम रूप चित्र से वह इसे भौतिक रूप देता है। इस लिए हम कह सकते हैं कि, काम में बौद्ध विषय प्रतिष्ठित रहता है। इस काम के काम, और इच्छा, ये दो रूप हैं। इन में कामात्मक काम का ईश्वरीय विभूति से सम्बन्ध है, एवं इच्छात्मक काम का जीवविभूति से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में ईश्वर का

इच्छा "काम" कहलाती है, जीव का काम "इच्छा" शब्द से व्यवहृत होता है। कामत्वेन दोनों समान होते हुए भी दोनों सर्वथा विभक्त तत्त्व हैं।

यदि विषय के साथ मन की आसक्ति होजाती है, तो विषय प्रधान बन जाता है, मन गौण रहजाता है। दूसरे शब्दों में मन विषयमय बन जाता है। यहां मन सुप्त है, विषय जाग्रत हैं। इस विषयासक्तिप्रधान काम को काम न कह कर हम "इच्छा" कहेंगे। इट अन्न है, सम्पूर्ण-विषय मन के भोग्य बनते हुए इट्रूप अन्न हैं। आसक्तिवश मन इस इडन्न में सुप्त है। अत एव विषय में सुप्त, विषयाधीन मन ही—"इट्-विषयात्मकमन्नं-तत्र सुप्तं मन"—"इट-तत्र शेते" के अनुसार "इच्छा" है। इसी विषयानुबन्धिनी इच्छा को "उत्थाप्याकाङ्क्षा" कहा जाता है। इच्छारूप यही काम आसक्ति का मूल बनता हुआ बन्धन का कारण है। इस का सम्बन्ध एकमात्र जीव के साथ ही है। ठीक इस के विपरीत यदि अनासक्ति पूर्वक मन का विषय के साथ सम्बन्ध होता है, तो ऐसी अवस्था में मन प्रधान रहता है, एवं विषय गौण होजाते हैं। यहां मन जाग्रत है, विषय सुप्त हैं। इस अनासक्तिमूलक काम को हम—"काम" ही कहेंगे। ईश्वर में इसी कामविभूति की प्रधानता है। यदि जीवात्मा इस कामविभूति का अनुगामी बन जाता है तो शरीर यात्रा निर्वाहक मात्र आगत विषय उस के महान मन पर कोई प्रभाव नहीं जमा सकते। ऐसा काम अकाम है, ऐसे काम से कृत कर्म अकर्म हैं। ऐसी इच्छा अनिच्छा, किंवा ईश्वरेच्छा है। इसी को दर्शन भाषा में—"उत्थिताकाङ्क्षा" (स्वाभाविकी इच्छा) कहा जाता है। इस कामप्रधाना अनासक्तिमूला इच्छा से होने वाली अन्नाहुति (विषय भोग) यज्ञार्थ कर्म हैं, आत्मार्थ कर्म हैं, अत एव ये अबन्धन हैं। इन के अतिरिक्त जो कर्म आसक्तिमूलक बनते हुए विषय प्रधान बन जाते हैं, वे यज्ञ (आत्म) मर्यादा से बहिर्भूत होते हुए बन्धन के कारण बन जाते हैं- "यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः" (गीता ३।९)। निश्चय से साथ भूख बुभुक्षा लगना स्वाभाविक कामना है, उत्थिताकाङ्क्षा है। इस कामना के शान्त करने के लिए विषय संग्रह करना अबन्धन कर्म है। आप भोजन से तृप्त होगए। सामने पेट वाले को देख कर चाट खाने की इच्छा हो पड़ती है। यही उत्थाप्याकाङ्क्षा है, यही बन्धन का मूल है। भूख लगी, भोजन कर लिया, प्यास लगी, पानी पी लिया, गरमी लगी, पंखा झल लिया बैठे बैठे थक गए, टहलने लगे, ये सब उत्थिताकाङ्क्षा मूलक अबन्धन कर्म हैं। बिना भूख स्वादवश सदा मुंह

में ठुड्ढ टालते रहे, बिना प्यास के ही सोडा-लेमन-आइसक्रीम आदि को गले के नीचे उतारते रहे, बिना आवश्यकता के ही विद्युत् व्यजन ( बिजली के पङ्खे ) से शरीर को कम्पित करते रहे, बिना थकान के ही इधर उधर भटकते रहे, सोते रहे, ये सब अत्याप्याइच्छामूलक बन्धन कर्म्म हैं। ऐसा इच्छारूप काम विभूति नहीं, अपितु पाप्मा है। ईश्वर नित्य काम होता हुआ भी निर्लेप है। उस का काम निष्काम है। अत एव—"कुर्वन्नपि न लिप्यते"। ऐसी काम विभूति ईश्वर में सहज सिद्ध है। जीव में भी यद्यपि यह सहज सिद्ध है, परन्तु वहां यदि पाप्मा आ जाते हैं, तो इस का सहजभाव आवृत होजाता है। बतलाना इस काम प्रपञ्च से प्रकृत में यही है कि, ईश्वरीय काम सिसृक्षा-मुमुक्षा, इन दो भागों में विभक्त है। इन दोनों की प्रतिष्ठा श्वोवसीयस् नाम से प्रसिद्ध अव्यय मन है। इधर जीव के निवृत्ति काम की प्रतिष्ठा बुद्धियुक्त मन है, एवं प्रवृत्ति काम की प्रतिष्ठा विषय प्रधान मन है।

३-कर्म्मविभूतिः (७)—

सौर विद्याभाग का निरूपण करते हुए हमनें बतलाया है कि, सूर्य्य में धिषणा-प्राण, अनुष्ठानलक्षणा-कर्म्मविभूति—नाम के दो तत्व प्रतिष्ठित हैं। इन दोनों में से जिस प्रकार धिषणा भाग विद्याविभूति की मूल प्रतिष्ठा है, एवमेव प्राणभाग कर्म्मविभूति की आश्रय भूमि है। सूर्य्यप्राण त्रयीमय है। इसी त्रयी प्राण के आधार पर स्तोत्र-शस्त्र-ग्रह रूप यज्ञकर्म्म का वितान होता है। सौर ऋक्तत्व से शस्त्रकर्म्म का, सौर सामतत्व से स्तोत्रकर्म्म का, एवं सौर यजुस्तत्व से ग्रहकर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। स्तोत्र औद्गात्र कर्म्म है, शस्त्र हौत्र कर्म्म है, एवं ग्रह आध्वर्यव कर्म्म है। अग्नि द्वारा हौत्र कर्म्म, वायु द्वारा आध्वर्यव कर्म्म, एवं आदित्य द्वारा औद्गात्र कर्म्म सम्पन्न होता है। इस प्रकार प्रकृति मण्डल में ( ईश्वर संस्था में ) यह यज्ञ कर्म्म प्राणमूर्त्ति सूर्य्यत्रयी पर प्रतिष्ठित है—"सैषा त्रयी विद्या यज्ञ" ( शत० १।१।४।३ )। कर्म्मत्रयसमष्टिरूप यज्ञ कर्म्म सौर प्राण का प्रथम कर्म्म है। इसी यज्ञ कर्म्म से यह सौर प्राण षडृतु रूप संवत्सर रूप में परिणत होकर सोऽसौ प्रजा को उत्पन्न करता है—"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा०"। प्रकृति मण्डल में जितने भी कर्म्म हैं, उन सब में श्रेष्ठतम यही यज्ञ कर्म्म है। जिस यज्ञकर्म्म से प्रजोत्पत्ति होती है, जो यज्ञ कर्म्म प्रजा की स्थिति का कारण है, जो यज्ञकर्म्म यज्ञेश्वर का स्वरूप सम्पादक है, जो यज्ञकर्म्म समष्टि-

व्यष्टि रूप से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होरहा है, उस यज्ञकर्म से बढ़ कर दूसरा कौनसा कर्म्म श्रेष्ठ होसकता है ? अत एव—"इषे त्वोर्जेत्वा वायवस्थ देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे" ( यजुःसं० १।१ , इस मन्त्र का व्याख्यान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने—"यज्ञो व श्रेष्ठतमं कर्म्म—तस्मादाह श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे" । ( शत० १।७।१।५ ) यह कहा है। इस यज्ञकर्म्म के अवान्तर अनेक भेद हैं, जिन का कि संक्षिप्त निदर्शन पूर्व की विज्ञानोपनिषत् में किया जाचुका है।

सौर प्राण सावित्राग्निमय है। इस प्राणमूर्त्ति सावित्राग्नि में निरन्तर पारमेष्ठ्य वनस्पति सोम की आहुति हो रही है। इसी आहुति से सौरप्राणाग्नि प्रकाशित बन रहा है—'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ' (ऋक्सं० १।६१।२२)। इस प्रकाशित प्राणाग्नि में पारमेष्ठ्य आहुत सोम, एवं स्वयं प्राणाग्नि, इन दोनों का समन्वय है। दूसरे शब्दों में सोमाग्नि का समन्वित रूप ही सौर प्रकाश है। यह प्रकाश ही ईश्वर प्रजापति की तपो विभूति है। सूर्य्य क्या तप रहा है, ईश्वर प्रजापति तप कर्म्म का अनुष्ठान कर रहे हैं, तपश्चर्य्या कर रहे हैं। तपोमूर्त्ति यह सौर प्राण ( सोमगर्भित, अत एव प्रकाशित सम्वत्सरावच्छिन्न सावित्राग्नि ) पृथिवी–बुध–मङ्गल–बृहस्पति–शनि–देवसेना, आदि स्व–उपग्रहों के पोषण में प्रवर्ग्यरूप से निरन्तर खर्च हो रहा है। उधर परमेष्ठी में से इस में निरन्तर सोम आहुत होता रहता है। अत एव उपग्रह रूप लोक, एवं तत् प्रतिष्ठ प्रजाओं में प्रवर्ग्य रूप से निरन्तर अपना प्राण समर्पित करता हुआ भी सूर्य्य स्वमात्रा से क्षीण नहीं होने पाता। बिना किसी स्वार्थ के सूर्य्य इस प्रकार निरन्तर अपने प्राणों को खर्च करता रहता है। यही सौर प्राण का दूसरा तप कर्म्म है। इस तपो रूप प्राणाग्नि में हमने सोम, अग्नि, इन दो तत्त्वों का समन्वय बतलाया है। सोम भृगु है, अग्नि अङ्गिरा है। भृगु–अङ्गिरा का समन्वय ही तप का प्रवर्त्तक है, इसी आधार पर "भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्" ( यजुःसं० १।१८ ) यह कहा जाता है। अपने प्राणों को निरन्तर अन्योपयोग में खर्च करना ही तप है। इसी आधार पर तप का—"एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति" यह लक्षण किया जाता है। यही सौरप्राण सम्वत्सर रूप में परिणत होकर स्वयं तपो मूर्त्ति बनता हुआ सब को तपा रहा है। इसी तप के सम्बन्ध से ग्रीष्म ऋतु के दोनों मास (ज्येष्ठ–आषाढ़ ) तप तपस्य नाम से प्रसिद्ध हैं। सूर्य्य के इसी तप स्वरूप को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

से अभिभूत होजाता है। ऐसी अवस्था में यज्ञ-तपो-दान, तीनों इष्ट-आपूर्त-दत्त इन रूपों में परिणत होजाते हैं। ये तीनों पार्थिव कर्म्म हैं। वस्तुतस्तु—"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः" (प्रश्नोपनिषत्) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार कर्ममात्र का प्रवर्त्तक सौरप्राण ही है, परन्तु पार्थिवप्राण से आक्रान्त होकर पार्थिवरूप में परिणत होता हुआ वह स्व विद्या भाग से तिरोहित हो जाता है। इसी आधार पर इष्ट-आपूर्त-दत्त नाम की कर्म्मत्रयी को वैज्ञानिकों ने—"विद्यानिरपेक्षसत्कर्म्म" इस नाम से व्यवहृत किया है। पृथिवी गृह (घर) है। पृथिवी का अग्नि—गृहपति इस से सम्बन्ध रखने वाले पार्थिव कर्म्म 'इष्ट' है। जल पूरित प्राकृतिक नद नदियों का इधर उधर बहकर प्रजा का पालन करना, ओषधि, वनस्पतियों का परोपकारार्थ परिपक्व होना, ये सब "आपूर्त" हैं। वृक्षच्छाया—पर्वत कन्दरा-आदि आश्रय भूमि रूप से पार्थिव विवर्त्तों का दूसरों के उपयोग में आना ही दत्त है। इन तीनों प्राकृतिक विद्या निरपेक्ष कर्मों के आधार पर क्रमशः प्रतिष्ठित पञ्चयज्ञादि नित्यकर्म्म, एवं पराग्नि से सम्बन्ध रखने वाले पाकयज्ञ नाम से प्रसिद्ध गृह्यकर्म्म "इष्टकर्म्म" हैं। ये कर्म्म स्वार्थ मूलक हैं। वापी-कूप-तडाग-धर्म्मशाला-पाठशाला-आदि बनवाना आपूर्त कर्म्म हैं। एवं असमर्थों को देना दत्त कर्म्म है। आपूर्त और दत्त का परार्थ से सम्बन्ध है। इन तीनों ही पार्थिव कर्म्मों में शास्त्र ज्ञान अपेक्षित है। सरस्वती के अन्यतम शत्रु, एवं लक्ष्मी के अनन्य भक्त भी इन तीनों कर्म्मों में निष्णात देखे जाते हैं। ईश्वरीय संस्था में ये तीनों पार्थिव कर्म्म भी निष्काम भाव से सम्बन्ध रखते हुए अबन्धन हैं। यदि जीव भी निष्काम बुद्धि से इन में प्रवृत्त होता है, तब तो वह भी मुक्त ही होजाता है। आसक्ति की प्रधानता में ये ही तीनों पार्थिव विभूतियाँ एकमात्र चिरस्वर्ग प्राप्ति का कारण बनतीं हैं।

इन पार्थिव कर्म्मों के दिति, अदिति, भेद से दो विभाग हो जाते हैं। अदिति कर्म्म सत् कर्म्म हैं, दिति कर्म्म तमः प्रधान होते हुए असत् कर्म्म हैं। पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले दिति-अदिति, दोनों विवर्त्तों का स्वरूप पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रकरण समन्वय के लिए केवल इतना स्मरण करलेना पर्य्याप्त होगा कि, सूर्य्य की ओर रहने वाला भूभाग सौर प्राण सम्बन्ध से प्रकाशित रहता है, विरुद्ध भाग अप्रकाशित रहता है। प्रकाशित पार्थिव विवर्त्त अदिति है, अप्रकाशित भूच्छायारूप पार्थिव भाग दिति है। उपर्युक्त इष्ट-आपूर्त-दत्त कर्मों का सम्बन्ध अदिति पृथिवी से है, एवं हिंसा-स्तेय—आलस्यादि तमोमय कर्म्मों का

वद्य दिति भाग से सम्बद्ध है। ऐसे कर्म्म "विद्यानिरपेक्ष असत्" कर्म्म कहलाते हैं। मादक वस्तु का सेवन-हिंसा-स्तेय, ये तीनों कर्म्म इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-के प्रतिद्वन्द्वी भाग हैं। दूसरे को देना जहां दत्त है, वहां दूसरे का छीन लेना स्तेय है। दूसरे का पालन करना जहां आपूर्त्त है, वहां दूसरे का नाश करना हिंसा है। अपने आत्मज्ञान को विकसित करना जहां इष्ट कर्म्म है, वहां मद्यादि मादक पदार्थों से अपने ज्ञान को तिरोहित कर लेना अनिष्ट कर्म्म है। सूर्य्य उत्तर में है, उत्तरपथ स्वर्गपथ है।

"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥"

उक्त श्रौत सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त विद्यासापेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्माधिकारी उत्तर मार्ग रूप देवयान का आश्रय लेते हुए देवस्वर्ग में जाते हैं। दिग्विज्ञान के अनुसार पृथिवी दक्षिणादिक् में मानी गई है। अतएव तत्सम्बन्धी (अदिति पृथिवी सम्बन्धी) विद्योनिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्माधिकारी दक्षिणायन का आश्रय लेते हुए पितृस्वर्ग में जाते हैं। एवं दिति पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले विरुद्धकर्म्माधिकारी (विद्यानिरपेक्ष शास्त्रनिषिद्ध कर्म्माधिकारी) तमोमय नरक लोकों के अधिकारी बनते हैं। ईश्वरीय संस्था में सौरकर्म्म-अदितिकर्म्म-दितिकर्म्म, तीनों ही अनासक्तिभाव के कारण विभूतिकोटि में प्रविष्ट मान लिए जाते हैं। यदि दैवीसम्पत दैवीविभूति है, तो आसुरीसम्पत आसुरी विभूति है। सदसत् (अच्छा बुरा), सब उस के गर्भ में निविष्ट है। उस का दोनों पर समान रूप से निग्रहानुग्रह चलता है। इस प्रकार कर्म्मविभूति के सम्बन्ध में इस कर्म्म के (ईश्वरसंस्था की अपेक्षा से) सौर यज्ञ तप-दान, अदिति पृथिवी से सम्बद्ध पार्थिव इष्ट-आपूर्त्त-दत्त, दितिकर्म्म, मात ६ कर्म होजाते हैं। जीवसंस्था के क्रम से ६ विभाग होजाते हैं। इन ६ में से अन्त के तीन जोवात्मा पाप्मा हैं। आरम्भ के ६ निवृत्तिपथ में आत्मरूपा विभूतियाँ हैं। प्रवृत्तिपथ में संसाररूपा विभूतियां हैं।

जीवसंस्था के इन ६ विभागों में से विद्यासापेक्ष यज्ञ-तप-दान, इन तीनों की प्रतिष्ठा सूर्य्य है। विद्यानिरपेक्ष इष्ट-आपूर्त्त दत्त, इन तीनों सत्कर्म्मों की प्रतिष्ठा अदितियुक्त पार्थिव-शुक्रप्राण है। विद्यानिरपेक्ष अनिष्ट-हिंसा-स्तेय, इन तीनों असत्कर्म्मों की प्रतिष्ठा दिति-

१—"असौ वा आदित्यस्तपः" (शत० ८।७।१।१४)।
२—"सम्वत्सरो वाव तपो नवदशः। तस्य द्वादश मासाः, षड्ऋतवः सम्वत्सर एव तपो नवदश। तदेतमाह तप इति, सम्वत्सरो हि सर्वाणि तपति" (शत० ८।४।१।१४) इति ॥

जिस जीवसंस्था में तपोविभूति की प्रधानता रहती है, वही आत्मोत्सर्ग (बलिदान) करने में समर्थ होता है, वही स्व-तप प्रभाव से अन्यों पर अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रखने में समर्थ होता है।

तीसरा है **दानकर्म**। सौर प्राणाग्नि सम्वत्सर में से निरन्तर इस का स्वभाग प्रयुक्त होता रहता है। यही प्रयुक्त भाग "उच्छिष्ट" नाम से प्रसिद्ध है। "**उच्छिष्टात् सकलं जगत्**" यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है। प्रयुक्त सौर भाग सूर्यसत्ता से पृथक् होता हुआ, साथ ही जिस की सत्ता से यह प्रयुक्त भाग आक्रान्त हुआ है उस के सत्त्व से युक्त बनता हुआ दान कोटि में प्रविष्ट हो जाता है। 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वस्थापनम्' ही दान का दानत्व है। इस दान भाग में सूर्य का अपना स्वत्व हट जाता है, एवं जिस पदार्थ का इस दान भाग के साथ सम्बन्ध होता है, वह उसी की वस्तु बन जाती है। यह दानवृत्ति, किंवा दानकर्म यज्ञ मर्यादा से मर्यादित है। पृथिवी-बुध-मङ्गलादि उपर्युक्त उपग्रह सूर्य के दान कर्म के ही फल हैं। सूर्य का ही प्रवृत्त भाग दान रूप से पृथिवी आदि रूपों में परिणत हुआ है। सौर प्राण से सम्बन्ध रखने वाला यही तीसरा दानकर्म है।

सूर्य मन-प्राण-वाङ्मय बनता हुआ ज्ञान-क्रिया-अर्थमय है। इन में ज्ञानमय मन की प्रधानता—यज्ञकर्म के साथ है, तपः कर्म क्रियामय प्राणप्रधान है, एवं दान कर्म अर्थमय वाक् प्रधान है। दूसरे शब्दों में यज्ञकर्म से मनोमय ज्ञान का उदय होता है, तप कर्म से प्राणमय क्रियाभाव का, एवं दान कर्म से वाङ्मय अर्थभाव का उदय होता है। तीनों ही कर्म त्रिगुणात्मक भाव से सम्बन्ध रखते हुए आवश्यक हैं। ईश्वर प्रजापति के ये कर्म नित्य कर्म हैं।

अध्यात्मसंस्था में यज्ञ-तपो-दान, तीनों कर्म सूर्य से ही आते हैं। तीनों की मूल प्रतिष्ठा त्रयीशास्त्र है। बिना विद्याध्ययन के तीनों की इतिकर्त्तव्यता सर्वथा अविदित रहती

है। तीनों के स्वरूप-परिचय के लिए वेदशास्त्र का परिज्ञान नितान्त अपेक्षित है। अत एव इन तीनों को वैज्ञानिक महर्षियों ने "विद्यासमुच्चित-कर्म"-नाम से व्यवहृत किया है। प्रकृति सिद्ध नित्य यज्ञ के आधार पर प्रतिष्ठित वैधयज्ञकर्म यज्ञ है, प्राणदान लक्षण कर्म तप है, यज्ञ सम्बन्धी दक्षिणा दान है। ("दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्" गीता) वाला सिद्धान्त दान के सम्बन्ध में लागू नहीं होता। दानतत्त्व से अपरिचित कितने ही महानुभावों से हमने यह कहते सुना है कि, धनवानों को कभी दान नहीं देना चाहिए। अन्धे-लूले-लंगड़े-असमर्थ व्यक्ति ही दानपात्र हैं। उन्हें यह विदित नहीं है कि, यह दान 'दान' शब्द से व्यवहृत न होकर 'दत्त' शब्द से व्यवहृत होता है। पुण्यात्मा-विद्वान्-याज्ञिक-ही इस शास्त्रीय दान के अधिकारी हैं, चाहे वे निर्धन हों, अथवा धनी। यज्ञियदान--ग्रहशान्तिदान -- तत्तदीश्वर विभूतियों के साधनभूत गौ-अश्व-वस्त्र-सुवर्ण-भूमि--अन्नादि दानों के अधिकारी एकमात्र योग्य विद्वान् ही हैं। यह दान दान नहीं, अपितु दक्षिणा है। इस में दानदाता का आसन नीचा है, ग्रहीता का आसन ऊँचा है। यह दान 'भेंट' है। इस में दाता प्रतिग्रहीता पर पूज्य दृष्टि रखता है। यदि ऐसे दान में दाता प्रतिग्रहीता को निरादर की दृष्टि से देखता है, तो यह दान सर्वथा निरर्थक बनता हुआ अभ्युदय के स्थान में प्रत्यवाय का कारण बन जाता है।

इन तीनों शास्त्रीय कर्मों के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, जिस के आत्मा में जन्म से ही पूर्व्य द्वारा यज्ञ-तपो-दान-कर्मों का बीजरूप से अवस्थान रहता है, वही वेद-शास्त्र की ओर प्रवृत्त रहता है, एवं वही इन तीनों कर्मों के अनुष्ठान में सफल भी होता है। यदि इन तीनों का निष्काम बुद्धि से अनुष्ठान किया जाता है तो ये तीनों आत्मविकास के कारण बन जाते हैं। इस स्थिति में ये तीनों कर्म विभूतियाँ ईश्वर विभूतियों की श्रेणी में आ जाती हैं। इसी निवृत्ति भाव प्रधान कर्मत्रयी की आवश्यकता पर जोर देते हुए भगवान् जहाँ--"यज्ञ-दान-तपः-कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्" यह आदेश देते हैं, वहाँ त्रिगुण भाव से सम्बन्ध रखने वाले प्रवृत्ति प्रधान इन्हीं सकाम कर्मों के सम्बन्ध में--"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" यह कहते हैं। प्रवृत्ति पक्ष में यही कर्म प्रवृत्ति कर्म बनते हुए, ईश्वरीय विभूति भाव से गिरते हुए केवल स्वर्गप्राप्ति के कारण रह जाते हैं।

यदि अध्यात्मसंस्था में जन्म से ही उपर्युक्त और प्राण प्रबल रहता है, तो तत्सम्बन्धी यज्ञ-तपो-दान, तीनों अन्तरात्मा में विकसित रहते हैं। यदि किसी व्यक्ति का पार्थिव भौतिक विभूति में अधिक आसक्ति रहती है, तो उस का आध्यात्मिक सौर प्राण पार्थिव भौतिक प्राण

से अभिभूत होजाता है। ऐसी अवस्था में यज्ञ-तपो-दान, तीनों इष्ट-आपूर्त-दत्त इन रूपों में परिणत होजाते हैं। ये तीनों पार्थिव कर्म्म हैं। वस्तुतस्तु—"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः" (प्रश्नोपनिषत्) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार कर्म्ममात्र का प्रवर्त्तक सौरप्राण ही है, परन्तु पार्थिवप्राण से आक्रान्त होकर पार्थिवरूप में परिणत होता हुआ वह स्व विद्या भाग से तिरोहित हो जाता है। इसी आधार पर इष्ट-आपूर्त-दत्त नाम की कर्म्मत्रयी को वैज्ञानिकों ने—"विद्यानिरपेक्षसत्कर्म्म" इस नाम से व्यवहृत किया है। पृथिवी गृह (घर) है। पृथिवी का अग्नि—गृहपति इस से सम्बन्ध रखने वाले पार्थिव कर्म्म 'इष्ट' है। जल पूरित प्राकृतिक नद नदियों का इधर उधर बहकर प्रजा का पालन करना, ओषधि वनस्पतियों का परोपकारार्थ परिपक्व होना, ये सब "आपूर्त" हैं। वृक्षच्छाया—पर्वत कन्दरा आदि आश्रय भूमि रूप से पार्थिव विवर्त्तों का दूसरों के उपयोग में आना ही दत्त है। इन तीनों प्राकृतिक विद्या निरपेक्ष कर्म्मों के आधार पर क्रमशः प्रतिष्ठित पञ्चयज्ञादि नित्यकर्म्म, एवं एकाग्नि से सम्बन्ध रखने वाले पाकयज्ञ नाम से प्रसिद्ध गृह्यकर्म्म "इष्टकर्म्म" हैं। ये कर्म्म स्वार्थ मूलक हैं। वापी—कूप—तडाग—धर्म्मशाला—पाठशाला—आदि बनवाना आपूर्त कर्म्म हैं। एवं असमर्थों को देना दत्त कर्म्म है। आपूर्त—और दत्त का परार्थ से सम्बन्ध है। इन तीनों ही पार्थिव कर्म्मों में शास्त्र ज्ञान अपेक्षित है। सरस्वती के अन्यतम शत्रु, एवं लक्ष्मी के अनन्य भक्त भी इन तीनों कर्म्मों में निरत देखे जाते हैं। ईश्वरीय संस्था में ये तीनों पार्थिव कर्म्म भी निष्काम भाव से सम्बन्ध रखते हुए अबन्धन हैं। यदि जीव भी निष्काम बुद्धि से इन में प्रवृत्त होता है, तब तो वह भी मुक्त ही होजाता है। आसक्ति की प्रधानता में ये ही तीनों पार्थिव विभूतियाँ एकमात्र पितृस्वर्ग प्राप्ति का कारण बनती हैं।

इन पार्थिव कर्म्मों के दिति, अदिति, भेद से दो विभाग हो जाते हैं। अदिति कर्म्म सत् कर्म्म हैं, दिति कर्म्म तमः प्रधान होते हुए असत् कर्म्म हैं। पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले दिति-अदिति, दोनों विवर्त्तों का स्वरूप पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रकरण समन्वय के लिए केवल इतना स्मरण करलेना पर्य्याप्त होगा कि, सूर्य्य की ओर रहने वाला भूभाग सौर प्राण सम्बन्ध से प्रकाशित रहता है, विरुद्ध भाग अप्रकाशित रहता है। प्रकाशित पार्थिव विवर्त्त अदिति है, अप्रकाशित भूच्छायारूप पार्थिव भाग दिति है। उपर्युक्त इष्ट-आपूर्त-दत्त कर्म्मों का सम्बन्ध अदिति पृथिवी से है, एवं हिंसा-स्तेय—आलस्यादि तमोमय कर्म्मों का

चद्य दिति भाग से सम्बद्ध है। ऐसे कर्म "विद्यानिरपेक्ष असत्" कर्म कहलाते हैं। मादक वस्तु का सेवन-हिंसा-स्तेय, ये तीनों कर्म्म इष्ट आपूर्त-दत्त-के प्रतिद्वन्द्वी भाग हैं। दूसरे को देना जहां दत्त है, वहां दूसरे का छीन लेना स्तेय है। दूसरे का पालन करना जहां आपूर्त्त है, वहां दूसरे का नाश करना हिंसा है। अपने आत्मज्ञान को विकसित करना जहां इष्ट कर्म्म है, वहां मद्यादि मादक पदार्थों से अपने ज्ञान को तिरोहित कर लेना अनिष्ट कर्म्म है। सूर्य्य उत्तर में है, उत्तरपथ स्वर्गपथ है।

"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः पराहताः ।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥"

उक्त श्रौत सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त विद्यासापेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्माधिकारी उत्तर मार्ग रूप देवयान का आश्रय लेते हुए देवस्वर्ग में जाते हैं। दिग्विज्ञान के अनुसार पृथिवी दक्षिणादिक् में मानी गई है। एतत् सम्बन्धी (अदिति पृथिवी सम्बन्धी) विद्योनिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्माधिकारी दक्षिणायन का आश्रय लेते हुए पितृस्वर्ग में जाते हैं। एवं दिति पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले निरुद्धकर्म्माधिकारी (विद्यानिरपेक्ष शास्त्रनिषिद्ध कर्म्माधिकारी) तमोमय नरक लोकों के अधिकारी बनते हैं। ईश्वरीय संस्था में सौरकर्म्म-अदितिकर्म्म-दितिकर्म्म, तीनों ही अनासक्तिभाव के कारण विभूतिकोटि में प्रविष्ट मान लिए जाते हैं। यदि दैवीसम्पत् दैवीविभूति है, तो आसुरीसम्पत् आसुरी विभूति है। सदसत् (अच्छा बुरा), सब उस के गर्भ में निविष्ट है। उस का दोनों पर समान रूप से निग्रहानुग्रह चलता है। इस प्रकार कर्म्मविभूति के सम्बन्ध में इस कर्म्म के (ईश्वरसंस्था की अपेक्षा से) सौर यज्ञ तप-दान, अदिति पृथिवी से सम्बद्ध पार्थिव इष्ट-आपूर्त-दत्त, दितिकर्म्म, सात कर्म्म होजाते हैं। जीवसंस्था के क्रम से ६ विभाग होजाते हैं। इन ६ में से अन्त के तीन ओशापेक्षया पाप्मा हैं। आरम्भ के ६ निवृत्तिपक्ष में आत्मरूपा विभूतियाँ हैं। प्रवृत्तिपक्ष में संसाररूपा विभूतियाँ हैं।

जीवसंस्था के इन ६ विभागों में से विद्यासापेक्ष यज्ञ-तप-दान, इन तीनों की प्रतिष्ठा सूर्य्य है। विद्यानिरपेक्ष इष्ट-आपूर्त्त दत्त, इन तीनों सत्कर्म्मों की प्रतिष्ठा अदितियुक्त पार्थिवशुक्रप्राण है। विद्यानिरपेक्ष अनिष्ट-हिंसा-स्तेय, इन तीनों असत्कर्म्मों की प्रतिष्ठा दिति-

युक्त पार्थिव कृष्णप्राण है। प्रकारान्तर से यों समझिए। सूर्य्य को मनः-प्राण-वाङ्मय बतलाया है। सूर्य्य की इन तीनों कलाओं से क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थ, का विकास होता है। मन कामना का जनक है, प्राण विक्षेप की प्रतिष्ठा है, एवं वाक् आवरण की जननी है। इन तीनों का क्रमशः सूर्य्य-अदितिमय अन्तरिक्ष-दितिपृथिवी, इन भागों में विकास होता है। स्वयं सूर्य्य मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानप्रधान है। अतएव सौर कर्म विद्यासमुच्चित कर्म कहलाता है। सत्त्व का ज्ञान से सम्बन्ध है, अतः इस कर्मत्रयी को हम सात्त्विक कर्म कह सकते हैं। अदितिमय अन्तरिक्ष प्राणप्रधान होता हुआ क्रियाप्रधान है। यहाँ विद्याभाग गौण है। अतएव इस अदिति-कर्मत्रयी को विद्यानिरपेक्ष कहा गया है। रजोगुण का क्रिया से सम्बन्ध है। अतः यह कर्म विवर्त्त "राजसकर्म" कहला सकते हैं। दितिमय पार्थिव भाग वाक्प्रधान बनता हुआ अर्थप्रधान है। यहाँ वित्तमोह की प्रधानता है। अतएव इस कर्म को 'असत्-कर्म' कहा गया है। तमोगुण का आवरणलक्षण वाङ्मय अर्थ से सम्बन्ध है, अतः इसे "तामस-कर्म" कहा जासकता है। इन तीनों में दो आत्मा की विभूतियाँ हैं, तीसरा विभाग ईश्वर में तो विभूति, किन्तु जीव में पाप्मा है। मनः-प्राण-वाक्, तीनों ही त्रिवृत्कृत हैं। अतएव प्रत्येक कर्म तीन-तीन भागों में विभक्त होजाता है। कर्मविभूति † का यही संक्षिप्त स्वरूप परिचय है।

## १–विद्यासमुच्चितसत्कर्म—

१—यज्ञः (मनोमयः) -काममयः
२—तपः (प्राणमयम्) -विक्षेपमयम्
३—दानम् (वाङ्मयम्)-आवरणमयम्

} सौरकर्मविभूतिः (मनोमयं सात्त्विकं कर्म)

—— cxɔ ——

## २–विद्यानिरपेक्षसत्कर्म—

१—इष्टम् (मनो० ) -काम०
२—आपूर्तम (प्राण०) विक्षे०
३—दत्तम् (वाक्) आवरण०

} अदितिकर्मविभूतिः (प्राणमयं राजसं कर्म)

—— cxo ——

† इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत 'कर्मयोगरहस्य' नाम के प्रकरण में देखना चाहिये।

## ३—विद्यानिरपेक्षासत्कर्म्म—

| | | |
|---|---|---|
| ३ | १—अनिष्टम् (मनो०) —काम० | दितिकर्म्मविभूतिः ( वाङ्मयं तामसं कर्म्म ) |
| | २—हिंसा ( प्राण० ) —विक्षेप० | |
| | ३—स्तेयम् (वाक्० —आवरण०) | |

—— ०×० ——

## ईश्वरसंस्थापेक्षया विभूतिकर्म्माणि—सप्त (७)

| | | | |
|---|---|---|---|
| १—यज्ञकर्म्म | १—इष्टकर्म्म | —१—दितिकर्म्म |
| २—तप कर्म | २—आपूर्तकर्म्म | |
| ३—दानकर्म्म | ३—दत्तकर्म्म | |

—— ०×० ——

## जीवसंस्थापेक्षया विभूतिकर्म्माणि—षट् (६)

| | | | |
|---|---|---|---|
| १—यज्ञकर्म्म | सौरविभूतिः | १—इष्टकर्म्म | पार्थिवविभूतिः |
| २—तप कर्म्म | | २—आपूर्तकर्म्म | |
| ३—दानकर्म्म | | ३—दत्तकर्म्म | |

—— * ——

## ४—शुक्रविभूतिः —— (६)

चौथी विभूति शुक्र* है। जिस विभूति के द्वारा ईश्वरात्मा विश्व का उपादान बनने में बन्धनलक्षणा शुक्रविभूति—समर्थ होता है, वही शुक्र विभूति है। यह शुक्र अमृत-मृत्यु, भेद से दो भागों में विभक्त है प्रत्येक की पुनः तीन तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। संभूय ६ शुक्र हो जाते हैं। यही ६ ओं शुक्र विज्ञानभाषामें अमृतवाक्-अमृतआपः-अमृताग्नि, मर्त्याग्नि, मर्त्य आप-मर्त्यावाक्, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अमृत वाक्शुक्र स्वयम्भूपुर का, अमृत आप शुक्र परमेष्ठीपुर का, अमृताग्निशुक्र, एवं मर्त्याग्निशुक्र, दोनों सूर्यपुर के, मर्त्याप-

* इस विषय का विशद विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्यान्तर्गत ( प्रथमखण्ड ) चतुष्पाद्-ब्रह्मनिरूपण प्रकरण के "शुक्रनिरुक्ति" प्रकरण में देखना चाहिये।

शुक्र चन्द्रपुर का, एवं मर्त्य भाग शुक्र पृथिवीपुर का उपादान है। जब तक यह शुक्रविभूति है, तभी तक शुक्रमूला-विश्वविभूति (संसार) है। शुक्रोच्छित्तिकाल ही लयावस्था कहलाती है।

—:०:—

## ५—प्राणविभूतिः—(१७)

पांच वीं प्राणविभूति है। इस प्राणविभूति के तीन प्रधान विवर्त्त हैं। ५ ब्रह्मसत्यात्मक गतिलक्षणा—प्राणविभूति—ब्रह्मप्राण हैं, ५ देवसत्यात्मक देवप्राण हैं। सात साकञ्ज-प्राण हैं। सम्भूय १७ प्राण हो जाते हैं। स्वयम्भू उक्थ है, इसका अर्करूप मुख्यप्राण परोरजा है। परमेष्ठी उक्थ है, इस का अर्कप्राण वारुण है। सूर्य्य उक्थ है, अर्कप्राण ऐन्द्र है। चन्द्रमा उक्थ है, अर्कप्राण सौम्य है। भूपिण्ड उक्थ है, अर्कप्राण आग्नेय है। स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि पांचों पर्वों की समष्टि ब्रह्मसत्य है। अत एव तद्विभूतिरूप इन पांचों को हम 'ब्रह्मप्राण" कह सकते हैं।

त्रैलोक्यत्रिलोकी में प्रतिष्ठित सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानरमूर्ति देवसत्यात्मा पार्थिव है। इन में से सर्वज्ञ उक्थ है, इसका अर्कप्राण प्राण है। हिरण्यगर्भ उक्थ है, इस का अर्कप्राण व्यान है। वैश्वानर उक्थ है, इसका अर्कप्राण अपान है। सर्वज्ञप्रतिष्ठारूप २१ स्तोमा-वच्छिन्न द्युलोक से अन्तरिक्ष की ओर आता हुआ दिव्य प्राण प्राण है, स्वर्लोक की ओर जाता हुआ वही उदान है। इसी प्रकार वैश्वानर की प्रतिष्ठारूप त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवी लोक से अन्तरिक्ष की ओर जाता हुआ पार्थिवप्राण समान है, भूलोक की ओर आता हुआ वही अपान है। इस प्रकार प्राणापान के दो दो रूप हो जाने से इस पार्थिव प्राण के पांच विभाग हो जाते हैं। यह देवसत्य के अर्क हैं, अत: इन पांचों को "देवप्राण" कहा जा सकता है।

सूर्य्य में सप्ताक्षय ऋषिप्राण का विकास और होता है। सामान्य विभूति में जिस असत्प्राणात्मक ऋषितत्त्व का दिग्दर्शन कराया गया है, उन से यह सप्तर्षिप्राण सर्वथा विभिन्न है। ये ऋषिप्राण देवप्राण के पितामह स्थानीय हैं, ये साकञ्ज ऋषिप्राण देवप्राण के पुत्रस्थानीय हैं। दूसरे शब्दों में ये ऋषिप्राण पितृद्वारा देवताओं के जनक हैं, ये ऋषिप्राण देवजन्य हैं। सूर्य्य देवघन है। यहीं, इसी देवप्राण से इन सात सहचारी पित्र्य प्राणों का विकास

होता है। इसी को उपनिषत् परिभाषा के अनुसार **ग्रहप्राण** भी कहा जाता है। यही **साकञ्ज-सप्तर्षि,** आदि नामों से भी प्रसिद्ध हैं। इन्हीं का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

> साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः ।
> तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥
>
> —ऋक्सं० १।१६४।१५।

> अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।
> तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥२॥
>
> —शत० ब्रा० १४।५।२।५

सृष्टिक्रमानुसार ऋषि से पितर, पितर से देवता उत्पन्न होते हैं। परन्तु यहां विपरीत क्रम है। सौर प्राणरूप देवता से इन साकञ्ज ऋषिप्राणों का विकास होता है, अत एव इनके लिए "**ऋषयो देवजाः**" यह कहा गया है। स्वायम्भुव विभूतिरूप ऋषि अमृतप्रधान थे, सौर-विभूतिरूप ये ऋषि मृत्युप्रधान होते हुए चित्य हैं। इन सातों में चार प्राण सदा मध्य में रहते हैं, दो प्राण क्रमशः दोनों पार्श्व में रहते हैं, एक प्राण सदा मूल में रहता है। इसी अभिप्राय से—"**चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा**" ( शत० ६।१।१।६। ) यह कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ का शरीर ( पिण्ड ) इसी समष्टिरूप साकञ्ज प्राण के संस्थान पर प्रतिष्ठित है। ईश्वरीय संस्था में सूर्य्यप्राणप्रधाना सर्वज्ञसंस्था **शिरोगुहा** है, हिरण्यगर्भसंस्था **उरोगुहा** है, वैश्वानरसंस्था **उदरगुहा** है, भूपिण्ड **वस्तिगुहा** है। इन चार स्थानों में समानरूप से इस साकञ्जप्राण की स्वतन्त्र चिति होती है। संभूय चारों गुहाओं के २८ प्राण हो जाते हैं। ये अट्ठाईसों प्राण सूर्य्यविभूति हैं। पूर्वोक्त प्राणोदानादि पञ्चप्राण पार्थिव विभूति हैं, पञ्च महा-प्राण ब्रह्मसत्यविभूति हैं। इनके अतिरिक्त इन्हीं की अवान्तर विभूतियों से देवदत्त-धनञ्जय हंस-आदि भेद से अनन्त प्राण हो जाते हैं। केवल व्यानप्राण के ही ७२००० (बहत्तर हजार) भेद हो जाते हैं। इस प्राणविभूति के सम्बन्ध में अधिक विस्तार नहीं किया जासकता। इस विषय की अधिक जिज्ञासा रखने वालों को "प्राणोपनिषत्-( प्रश्नोपनिषत् )-हिन्दी विज्ञानभाष्य" देखना चाहिए। प्रकृत में प्राणविभूति के सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, ४—ब्रह्मप्राण ब्रह्मसत्यात्मा की, ५-देवप्राण देवसत्यात्मा की, एवं ७-गुहा-

प्राण सूर्य्य की विभूतियाँ हैं। सम्भूय १७-प्राण हो जाते हैं। प्राणविभूति का यही संक्षिप्त दिग्दर्शन है।

—:*:—

## ५—ब्रह्मप्राणाः—ब्रह्मसत्यात्मनि प्रतिष्ठिता विभूतिरूपाः—

१—स्वायम्भुवार्कप्राणः—परोरजाः

२—पारमेष्ठ्यार्कप्राणः—वारुणः

३—सौरार्कप्राणः—ऐन्द्रः

४—चान्द्रार्कप्राणः—सौम्यः

५—भौमार्कप्राणः—आग्नेयः

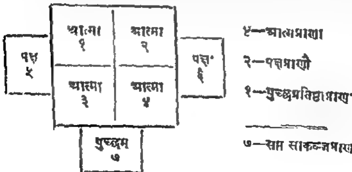
— × —

## ५—देवप्राणाः—देवसत्यात्मनि प्रतिष्ठिता विभूतिरूपाः पार्थिवाः—

महापृथिवी-विभूतिः

- २१ द्यौः
  - १—सर्वज्ञे प्रतिष्ठितः गतिभावयुक्तो दिव्यप्राणः—प्राणः
  - २—सर्वज्ञे प्रतिष्ठितः आगतिभावयुक्तो दिव्यप्राणः—उदानः
- १५ अन्त०
  - ३—हिरण्यगर्भे प्रतिष्ठितः स्थितिभावयुक्त आन्तरिक्ष्यप्राणः—व्यानः
- ९ पृथिवी
  - ४—वैश्वानरे प्रतिष्ठितः—गतिभावयुक्त पार्थिवप्राणः—समानः
  - ५—वैश्वानरे प्रतिष्ठितः—आगतिभावयुक्त पार्थिवप्राणः—अपानः

## ७—साकञ्जप्राणाः-सूर्य्यात्मकसर्वज्ञ-हिरण्य०-वैश्वा०—भूपिण्डेषु तत्तद्गुहासु चितिरूपेण प्रतिष्ठिताः सौरविभूतिरूपाः सौराः




—०×०—

## ६—ज्ञान-कर्मेन्द्रियविभूतिः—(५)

इस ६ ठी विभूति का सम्बन्ध यद्यपि केवल पार्थिव अग्नि के साथ ही समझना जीवनयात्रासाधनलक्षणा ज्ञान-कर्मेन्द्रियविभूति—चाहिये। वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-मूर्ति ईश्वर आत्मा है। चन्द्रमा इस का प्रज्ञानमन है, सूर्य इसकी बुद्धि है, परमेष्ठी इसका महानात्मा है, स्वयम्भू इसका आत्मा है, षोडशी इसका आलम्बन आत्मा है। जब सब विवर्त इसमें रूपों के त्यों (जीववत्) प्रतिष्ठित हैं, तो अवश्य ही ज्ञानकर्मेन्द्रियों का भी यहाँ सम्बन्ध मानना पड़ेगा। मानना क्या पड़ेगा, हैं ही। यदि ईश्वरसंस्था में ज्ञानकर्मेन्द्रिय विवर्त न होता, तो जीवसंस्था में इन्द्रियों का विकास असम्भव था। अब देखना यह है कि, त्रिमूर्ति वैश्वानरात्मा इस साक्षी ईश्वर की इन्द्रियों का स्वरूप कैसा है? ईश्वरतत्त्व भूपिण्ड के आधार पर प्रतिष्ठित महापृथिवी में प्रतिष्ठित है। भूपिण्ड यदि मर्त्याग्निसोममय है, तो यह पृथिवी (सौम्य त्रिलोकीरूपा महापृथिवी) अमृताग्निसोममयी है। इन दोनों की एक, अर्क, भेद से दो दो अवस्थाएँ हैं, जिनका कि दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है—(देखिए पृ० संख्या ३११)। पूर्व की प्राणविभूति में महासत्याशभूत, अतएव ब्रह्मप्राण नाम से प्रसिद्ध जिस भीम आग्नेय प्राण का दिग्दर्शन कराया गया है, इसी की घन-तरल-विरल, भेद से तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में एक ही अग्नि-अग्नि, वायु, इन्द्र, इन तीन स्वरूपों में परिणत हो रहा है। एक उक्थाग्नि के तीन उक्थ बन रहे हैं, उन साहस्रों की तीन साहस्रियाँ बन रही हैं, एक आत्मा त्रिकल बन रहा है। भूपिण्ड से आरम्भ कर ३३ वें स्तोम तक का यद्वाऽर मण्डल सत्यप्रधान होता हुआ परमेष्ठी है—"ऋतमेव परमेष्ठी"। इस ऋत परमेष्ठी के गर्भ में सत्यविध भूपिण्ड प्रतिष्ठित है—"ऋते भूमिरियं श्रिता"। (गोपथब्राह्मण)। यह ऋत पारमेष्ठ्य तत्त्व सोम है। इसी अवस्था से यह सिद्ध हो जाता है कि, भूपिण्ड से, अथवा भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ तक सोममण्डल है। इस सोममण्डल में त्रिवृत्स्तोम तक उक्थरूप घनाग्निमूर्ति महदात्मा-वैश्वानरात्मा प्रतिष्ठित है, सोममण्डल के पञ्चदश स्तोमपर्यन्त उक्थरूप तरलाग्निमूर्ति तन्त्र भावापन्न सर्वदा प्रतिष्ठित है। इन तीन स्तोमों में चूंकि अग्नि की प्रधानता है, सोम गौण है। अतः इन तीनों को अग्नि शब्द से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। आगे के त्रिवृत् से लेकर (२७-३३-), इन दो स्तोमों में सोम की प्रधानता है, यहाँ अग्नि गर्भ में है। अतएव त्रिवृत्-अवच्छिन्न इस आपोगर्भित सोम लोक को—"अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" इत्यादि रूप से सोमलोक ही मान लिया जाता है। यही सोमलोक चन्द्रमा की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर

देवगणना में—"अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमाः" यह क्रम माना गया है। चान्द्रसोम चिदंश से युक्त होकर ज्ञानमूर्त्ति बना हुआ है, एवं प्राणाग्नि स्वयं क्रियामूर्त्ति है। इस प्रकार पञ्चसंस्थ, किंवा चतुःसंस्थ उक्थाग्निसोममूर्त्ति इस देवसत्यात्मा में सोमरूप अर्थ, चिद्रूप ज्ञान, प्राणरूप क्रिया, तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन तीनों के प्रधानरूप से ५ विवर्त्त हो जाते हैं। तीनों ही तत्त्व पाँच भागों में विभक्त होकर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। इनकी पूर्वोक्त उक्थावस्था तो स्वयं आत्मा है, एवं इन पाँचों की अर्कावस्था इन्द्रियाँ हैं। पाँचों का ज्ञानांश ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, प्राणांश कर्म्मेन्द्रियाँ हैं। दूसरे शब्दों में भूतप्राणगर्भित ज्ञानांश ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, ज्ञानगर्भित प्राणांश कर्म्मेन्द्रियाँ हैं, प्राणज्ञानगर्भित भूतांश भूतमात्रारूप इन्द्रियों के विषय हैं। अर्क की पाँच अवस्थाओं के कारण ज्ञान-प्राण-भूत, तीनों की पांच पांच अवस्थाएँ हो जाती हैं। संभूय पन्द्रह कलाएँ हो जाती हैं। इन १५ द्दों का अधिष्ठाता यही उक्थ देवसत्यात्मा है,—"षोडशकलं वा इदं सर्वम्।"

अध्यात्म में जो स्थान वागिन्द्रिय का है, वही यहां सोमगर्भित आग्नेय अर्कप्राण है। दूसरे शब्दों में यही ईश्वर की वागिन्द्रिय है। यही वाक् नामों की अधिष्ठात्री है। वागिन्द्रिय के आधार पर ही नाम विवर्त्त प्रतिष्ठित है। प्राण ( घ्राण ) स्थानीय सोमगर्भित वायव्य अर्कप्राण है। यही गन्धमात्रा का, एवं स्पर्श का आलम्बन है। चक्षुःस्थानीय सोमगर्भित आदित्यार्कप्राण है। रूपों का अधिष्ठाता यही है। इन्द्रियमनःस्थानीय अग्निगर्भित भास्वर सौम्यार्कप्राण है। श्रोत्रस्थानीय अग्निगर्भित दिक्सौम्यार्कप्राण है। दर्शनाभिमत ११ इन्द्रियों का इन्हीं पांच में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रज्ञावच्छेदेन ये ही पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, प्राणावच्छेदेन ये ही पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ हैं। संभूय १० इन्द्रियाँ हो जाती हैं। ईश्वर में इन इन्द्रियों का सर्वतः विकास है। जीव हमारा नियतेन्द्रिय है, ईश्वर सर्वेन्द्रिय है। इसका कारण इसकी पूर्णता ही है। ईश्वर वर्त्तुल है। वर्त्तुलवृत्त काष्ठ्युक्त पदार्थ के केन्द्र में से सभी शक्तियाँ चारों ओर समानरूप से वितत होतीं हैं। ईश्वरशरीर का प्रत्येक अवयव सुन सकता है, देख सकता है, बोल सकता है, गन्धग्रहण कर सकता है। बस जीवेश्वर की इन्द्रियों में यही वैषम्य है। इन्द्रियों के सर्वतः विकास के कारण ही वह सर्वज्ञ-सर्वकर्म्मा-सर्वशक्ति-सर्ववित्, इत्यादि नामों से व्यवहृत होता है। इसी ईश्वरीय इन्द्रियभाव का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

साथ ही में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, आपके ( जीव के शरीर में आँख कान-नाक, आदि इन्द्रियों का जैसा आकार है, उसकी इन्द्रियों का वैसा आकार नहीं है। दूसरे शब्दों में वह आप जैसा शरीर नहीं रखता। उसका शरीर सर्वथा गोलाकार है। उसमें शक्ति रूप से ही इन्द्रियों का विकास है। इसी अभिप्राय से शक्त्यपेक्षया ईश्वर को शक्ति पाद ब्रति-त्व इन्द्रिययुक्त मानती हुई भी श्रुति इसे आकारभाव के प्रभाव के कारण अपाणिपाद-बतला रही है —

> अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
> स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
> (श्वे० ३।१९।)
>
> सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
> सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥

(३३) ५—अग्निगर्भितो —उक्थाप (आत्मा)
(२७) ४—अग्निगर्भित —उक्थसोम (आत्मा) } —सर्वज्ञ
(२१) ३—सोमगर्भित —उक्थादित्य (आत्मा)
(१५) २—सोमगर्भित —उक्थवायु (आत्मा) ]—हिरण्यगर्भ
(९) १—सोमगर्भित —उक्थाग्नि (आत्मा) ]—वैश्वानर

} उक्थाग्निसोममूर्तिः आत्मा (मुख्यप्राण)

—०※०—

(३३) ५—आग्नेयार्कप्राणगर्भिता —अर्काप (प्राणा) —श्रोत्रेन्द्रियम्
(२७) ४—आग्नेयार्कप्राणगर्भित —अर्कसोम (प्राणा) —इन्द्रिय मन
(२१) ३—सौम्यार्कप्राणगर्भित —अर्कादित्य (प्राणा) —चक्षु रेन्द्रियम्
(१५) २—सौम्यार्कप्राणगर्भित —अर्कवायु (प्राणा) प्राणेन्द्रियम्
(९) १—सौम्यार्कप्राणगर्भित —अर्काग्नि (प्राणा) —वागिन्द्रियम्

} अर्काग्निसोममूर्त्तय प्राणाः (अनूचीना प्राणा)

—०※०—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ ( मनु १।३२ )

* अपने दृश्य भाग रूप सूर्य्यप्रधान पुरुषभाग से वही पुरुषसृष्टि का कारण बनता है, चान्द्र-भागप्रधान अदृश्यभाग रूप स्त्रीभाग से वही स्त्रीसृष्टि का उपादान बनता है । दोनों अरड कटाहों का समुच्चय पूर्णेन्द्र है, वही पूर्ण पुरुष है, इसी के लिए—"पूर्णमद" यह कहा जाता है ।

—:o:—

## ८—सत्यसंकल्पत्त्व—(१)

पूर्णेन्द्रता ही ईश्वर के सत्य सङ्कल्प की प्रतिष्ठा है । सहृदय, सशरीरी भाव ही सत्य है । सत्यसंकल्पत्व विभूति—यद्यपि अध्यात्मसंस्था में भी सत्य का उक्त लक्षण समन्वित हो सकता है । परन्तु जीव अर्द्धेन्द्र होने से पूर्ण सत्य की मर्य्यादा से च्युत हो जाता है । अत एव इस के लिए "अनृतसंहिता वै मनुष्याः" ( शत० १।१।१ ) यह कहा जाता है । इधर ईश्वर पूर्णेन्द्र होता हुआ पूर्ण सत्य रूप है । इसी पूर्णता के बल पर इस के हृदय से जो भी सङ्कल्प उठता है, वह सर्वथा सत्य ( त्रिकालाबाधित ) होता है ।

—:o—

## ९—एकरसत्व—(१)

पूर्णता ही ईश्वर के एक रसत्व का कारण है । जो वस्तु अपूर्ण होती है, वही अनेक एकरसत्व विभूति—रस होती है । यदि एक पात्र में थोड़ा पानी है, तो उस में ऊर्म्मियों ( लहरों ) का उदय होता रहेगा । यह ऊर्म्मि भाव ही पानी का रसत्व है । यदि पानी ऊपर तक भरा रहता है तो ऊर्म्मियाँ शान्त होजाती हैं । ईश्वर पूर्णेन्द्र है, अत एव वह अवश्य ही एक रस है । इस के गर्भ में प्रतिष्ठित प्रजा-वर्ग भले ही ऊर्म्मि भाव से नित्य आक्रान्त रहे, परन्तु वह तो समष्टि रूप से समुद्रवत् सर्वथा शान्त रहता हुआ एकरस ही है ।

—o—

## १०—एकावस्थत्त्व—(१)

जिस प्रकार जीवात्मा जाग्रत–स्वप्न–सुषुप्ति–आदि ६ अवस्थाओं में परिवर्तित एकावस्थत्व विभूति—होता रहता है, वैसे यह इन अवस्थाओं से एकान्तत विमुक्त है ।

सु. प्रजा में यह नित्य जाग्रत रहता हुआ सदा एक ही अवस्था से युक्त है। परिच्छिन्न वस्तु को अनेक अवस्थाओं में परिवर्त्तित होने का अवसर मिल सकता है, परन्तु जो पूर्ण है, एक रस है, वह किस प्रदेश में परिवर्त्तित हो। फलतः उस में अपरिवर्त्तनभावरूपत्व एकावस्थत्व सिद्ध हो जाता है। इसी विभूति का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाणः।
> तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
> तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्व्वे तदु नात्येति कश्चन "एतद्वै तत्"।
> (कठ० ५।८)।

———:———

## ११-१२—विश्वव्यापकत्व, एवं विश्वसृष्टत्व—(२)

अपनी ज्ञान-क्रिया-अर्थ शक्ति से यही सम्पूर्ण विश्व को (रौद्र्य त्रिलोकी रूप पार्थिव **विश्वव्यापकत्व, विश्वसृष्टत्व विभूति**—विश्व को) उत्पन्न कर आत्मरूप से सब में प्रविष्ट हो रहा है। सम्पूर्ण भूत इस में प्रविष्ट हैं, सब भूतों में यह प्रविष्ट है, अत एव श्वेताश्वतरादि ने इसे "सर्वभूतान्तरात्मा" कहा है। "प्रजापतिः सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च। स आत्मन्नेव (आत्मनि-एव) प्रजातिमधत्त"। इन्हीं दोनों विभूतियों का उल्लेख करती हुई श्रुति कहती है—

> अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
> विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥१॥
> —श्वे० उ० ५।१३।

———:०:———

## १३-१४-१५—'सर्वसाक्षित्व, सर्ववशित्व, एवं कर्म्माध्यक्षत्व—(३)

पूर्णेन्द्रता के प्रभाव से ही यह अपने विश्व, एवं प्रजा का प्रत्यगात्मरूप से साक्षी **सर्वसाक्षित्व, सर्ववशित्व, कर्म्माध्यक्षत्व विभूति**—बनता हुआ साक्षीसुपर्ण नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। यही प्रत्यगात्मरूप से शारीरकात्मा (भोक्ता सुपर्ण) की प्रतिष्ठा बनता हुआ अन्तर्य्यामी रूप से अपने नियतिदण्ड से उस पर शासन करता हुआ "वशी" (( परा :

| भूतमात्राः ५ | प्रज्ञामात्रा ५ | प्राणमात्राः ५ |
|---|---|---|
| १—दिक्सोमो ——दिङ्मूर्ति. सौम्यचिदंशः प्रज्ञा— | —दिक्सौम्यप्राणः प्राणः | |
| २—भास्वरसोमो ——भास्वरसौम्यचिदंशः प्रज्ञा —— | —भास्वरसौम्यप्राणः प्राणः | |
| ३—ऐन्द्रसोमो —— —ऐन्द्रसौम्यचिदंशः प्रज्ञा —— | —ऐन्द्रप्राणः प्राणः | |
| ४—वायव्यसोमो——वायव्यसौम्यचिदंशः प्रज्ञा —— | —वायव्यप्राणः प्राणः | |
| ५—आग्नेयसोमो——आग्नेयसौम्यचिदंशः प्रज्ञा—— | —आग्नेयप्राणः प्राणः | |
| अर्थः | ज्ञानम् | क्रिया |
| अर्थो मूलप्रतिष्ठा ——→ | अर्थाधारे ज्ञानप्रवृत्तिः ——→ | ज्ञानाधारे कर्मप्रवृत्तिः |

**षोडशकलो देवसत्यात्मा—ईश्वरः**

## ७—पूर्णेन्द्रत्वविभूतिः (१)—

पूर्णेन्द्रता ईश्वर की विभूति है। इसी पूर्णता ने इसे "ओप्तकाम" बना रक्खा है। इसी **सर्वव्याप्तिलक्षणा-पूर्णेन्द्रविभूति**—आत्मकामना से यह काममय रहता हुआ भी निष्काम है। ईश्वर की इसी पूर्णता में स्त्रीपुम्भाव समाविष्ट है। अपने अर्द्ध भाग से वह पुरुष बन रहा है, अर्द्ध भाग से स्त्री बन रहा है। सर्वज्ञ—हिरण्यगर्भ—वैश्वानर की समष्टि ही ईश्वर है, यह पाठक न भूले होंगे। इस ईश्वर का रोदसी त्रिलोकी के अधिष्ठाता कश्यपप्रजापति के साथ ही सम्बन्ध है। सूर्य द्वादश प्राणसमष्टि है। इन १२ प्राणों में से आत्मस्वरूप समर्पक, आयुः प्राणाधिष्ठाता, ज्येष्ठ, एवं श्रेष्ठ, सर्वमुख्य, अमृतप्रधान प्राण ही "इन्द्र" नाम से प्रसिद्ध है। यह इन्द्र प्राण (सौरप्राण) कूर्म्माकृति में परिणत होकर ही सम्पूर्ण विश्व का प्रभव बनता है— 'एतद्वै रूप कृत्वा प्रजा असृजत्, यदसृजत्—अकरोत्तत्, यदकरोत्तस्मात् कूर्म्मः। कश्यपो वै कूर्म्मः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' इति (शत० ७।५।१।५)। "कश्यपात् सकलं जगत्"। इसी मौर प्राणमूर्ति (इन्द्रमूर्ति) कश्यप प्रजापति के गर्भ में, तद्रूप हो पूर्वोक्त ईश्वर तत्त्व प्रतिष्ठित है। सौरप्राण ही तो सम्वत्सर में परिणत होता है। सम्वत्सर प्रजापति ही तो ईश्वरीय देवसत्य प्रजापति है।

इस कश्यप प्राण के दृश्यमण्डल—अदृश्यमण्डल, भेद से दो विभाग हैं। किसी निरावरण प्रान्त में आप खड़े हो जाइए। वहां चारों ओर का भूस्तर आप को समतल दिखलाई

देगा, साथ ही मैं चारों ओर का हरिज्न ( क्षितिज-Horizion ) आकाश से संलग्न दिखाई देगा। यही दृश्य कश्यप प्रजापति की साक्षात् प्रतिकृति (चित्र) है। जैसा स्वरूप कूर्म्म (कछुवा) का है, ठीक वैसा ही स्वरूप कश्यप का है, अत एव इसे "कूर्म्म" नाम से व्यवहृत किया गया है।' इस सौर संस्थात्मक कश्यप, किंवा कूर्म्मप्रजापति के चारों ओर पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व व्याप्त है। दूसरे शब्दों में प्राणमूर्त्ति सम्वत्सरात्मक कश्यप समुद्र गर्भ में प्रतिष्ठित है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है—

> अपां गम्भन्त्सनसीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः।
> अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा *दिव्यो वृष्टिः सचन्ताम्॥
>
> —( यजुः १३।३० )

आपोमय-चतुर्थ लोक के गर्भ में प्रतिष्ठित त्रैलोक्यमूर्ति इस कश्यप प्रजापति का त्रिवृत्-स्थानीय वैश्वानराग्निमय पार्थिवरस दधि ( घन ) है, पञ्चदशस्थानीय हिरण्यगर्भवायुमय आन्तरिक्ष्य रस घृत (तरल) है, एकविंश स्थानीय सर्वज्ञ आदित्यमय दिव्यरस मधु ( विरल ) है, एवं स्वयं पारमेष्ठ्य रस अमृत ( सोम ) है। दधि भाग से हमारे अस्थि मांसादि घन भागों का, आन्तरिक्ष्य घृत रस से मेद-मज्जा-कफ-लाला-असृक्-रस-आदि तरल भागों का, दिव्य मधु रस से शुक्र का, एवं पारमेष्ठ्य अमृत रस से मन का, निर्म्माण होता है। इन्हीं चारों रसों से तो कश्यप प्रजापति प्रजा निर्म्माण में समर्थ होते हैं। यही अवस्था अदृश्य मण्डलस्थ कूर्म प्रजापति की है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि, दृश्यकूर्म्म में अहः स्वरूप सपादिका अदिति के सम्बन्ध से सूर्य्य की प्रधानता है, एवं अदृश्य कूर्म्म में रात्रिस्वरूप सपादिका दिति के सम्बन्ध से चन्द्रमा का साम्राज्य है। इस प्रकार खगोलात्मक ( आकाश गोलात्मक ) कश्यप मण्डल भूपिण्ड के मध्य पतित होने से दो भागों में विभक्त होरहा है। ऊपर के अण्ड कटाह में सौर अग्नि की प्रधानता है, अधोऽवस्थित अण्ड कटाह में चान्द्र सोम की प्रधानता है। एक ही आण्डप्रजापति अग्नि-सोम की प्रधानता से दो भागों में विभक्त हो रहा है। इस का अग्निमुख्य ऐन्द्रभाग पुरुष है, सोममुख्य ऐन्द्र भाग स्त्री है। आधा इन्द्र भाग आग्नप्रधान बन कर पुरुष बन रहा है, आधा इन्द्र भाग सोमप्रधान बनता हुआ स्त्री कहला रहा है। दोनों का समष्टि पूर्णेन्द्र रूप कश्यप प्रजापति है। इस के इसी दाम्पत्य स्वरूप का निरूपण करता हुआ मानव शास्त्र कहता है—



* पारमेष्ठ्य वृष्टि।

रखने वाला ) बन रहा है। यही नियति द्वारा हमारे कर्म्मों की प्रवृत्ति का कारण बनता हुआ कर्म्माध्यक्ष बन रहा है। इन्हीं तीनों विभूतियों का स्वरूप परिचय कराते हुए ऋषि कहते हैं—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्म्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
—श्वे० उप० ६।११।१२।

———:०:———

## १६–पाप्मासंसृष्टत्व—(१)

ईश्वरसंस्था के उदर में ही सदसत् सब कुछ प्रतिष्ठित है। पाप्माओं से ससृष्ट जीव भी पाप्माऽसंसृष्टत्व विभूति—इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित है। परन्तु निष्काम कर्म्म के प्रभाव से सब में रहता हुआ भी यह इन पाप्माओं से पृथक् रहता है। क्लेशादि पाप्मा इस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। यही तो ईश्वर की ईश्वरता है—"पश्य मे योगमैश्वरम्"। इसी विभूति का स्पष्टीकरण करते हुए—"क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" यह कहा जाता है।

———:०:———

उक्त विभूतियों से युक्त अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टि रूप, अत एव अग्नि-वायु-आदित्यवत् उपास्तुत इसी सर्वभूतान्तरात्मा, वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति साक्षी देवसत्यात्मा का समष्ट रूप से निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥१॥
तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्य्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः॥२॥
तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्य्यः।३॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥४॥
सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्तहोमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥५॥
अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥६॥
पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥७॥
(मुण्डक० २।१)

सर्वभूतान्तरात्मा

१—अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥८॥
२—वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥९॥
३—सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥१०॥

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥११॥
तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१२॥

—————

पूर्व में जिस आत्मसंस्था का, सामान्य विभूति कलाओं का, एवं विशेष विभूति कलाओं का दिग्दर्शन कराया गया है, यदि उन सब का सङ्कलन किया जाता है, तो ईश्वरसंस्था

में निम्न लिखित क्रम से २५६ कलाएँ होजाती हैं। इन के सम्बन्ध में भी यह ध्यान रखना चाहिए कि, यह संख्या व्यवस्था सर्वथा नियत ही नहीं है। अनन्त की विभूतियाँ भी अनन्त ही हैं। उनकी गणना कौन कर सकता है। उदाहरण के लिए इस की एकमात्र रुद्र विभूति को ही लीजिए। सामान्य दृष्टि से "एको रुद्रः" के अनुसार जहां रुद्र उस की एक विभूति मानी गई है, वहां रुद्र की ही अवान्तर विभूतियों के सम्बन्ध में "असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्" यह कहा जाता है। अतः सर्वांश में —"सहस्रधा महिमानः सहस्रम्" एतच्छ्रुतिमूलक "सर्वमिदमानन्त्यम्" इसी सिद्धान्त पर विश्राम मानना पड़ता है।

## १–आत्मकलाविभागाः—(७२)

- ६—परात्परकलाः ⎫
- ६—अव्ययकलाः ⎬ —अर्द्धमात्रा
- ६—अक्षरकलाः ⎪
- ६—आत्मक्षरकलाः ⎭
- ६—आत्मकलाः ] —अकारः
- १८—प्राणकलाः ] —उकारः
- ६—पशुकलाः ] —मकारः

७२—कलाः प्रत्यक्षमूर्ति[redacted]रम्प्रजापतिः

हेतुसत्यात्मा—साक्षी

——:०:——

## २–सामान्यविभूतिकलाविभागाः—(२३१)—(देखिए पृ० सं० ३५०)

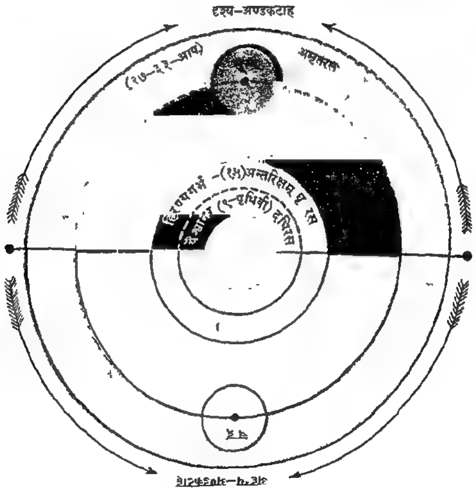
## ३–विशेषविभूतिकलाविभागाः—(५१)

- १—विद्याविभूतिः—(४)।
- २—कामविभूतिः—(२)।
- ३—कर्म्मविभूतिः—(७)।
- ४—शुक्रविभूतिः—(६)।
- ५—प्राणविभूतिः—(१७)।
- ६—ज्ञानकर्म्मेन्द्रिय०—(५)।
- ७—पूर्णेन्द्रत्वावि०—(१)।
- ८—सत्यसंकल्पत्व०—(१)।
- ९—एकरसत्व०—(१)।
- १०—एकावस्थत्व०—(१)।
- ११—विश्वव्यापकत्व०(१)।
- १२—विश्वस्रष्टृत्व०—(१)।
- १३—सर्वसाक्षित्व०—(१)।
- १४—सर्ववशित्व०—(१)।
- १५—कर्म्माध्यक्षत्व०—(१)।
- १६—पाप्मासंसृष्टत्व०(१)

(५१)

## पूर्णेन्द्रविभूतिरूपः कश्यपप्रजापतिः पश्यकः साक्षी

### सोमगर्भितसावित्राग्निः—अहः—पुरुषः (अदितिमण्डलम्)




इलेक्ट्रिक प्रेस अजमेर।

३५४ कलात्मकः प्रणवमूर्त्तिरयं देवसत्यात्मासाक्षी सुपर्णः.

| | | अमृतम् — अर्द्धमात्रा | | | | आत्मा— अकारः | प्राणाः— उकारः | पशवः मकारः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ब्रह्म — स | १ | परात्परः १ | अव्ययः १० | ब्रह्माक्षरः १९ | प्राणः २८ | स्वयम्भूः ३७ | वाक्-प्राणी ४६ ५५ | आकाशः ६४ |
| | २ | परात्परः २ | अव्ययः ११ | विष्णुरक्षरः २० | आपः २९ | परमेष्ठी ३८ | [illegible]-प्राणी ४७ ५६ | वायु ६५ |
| | ३ | परात्परः ३ | अव्ययः १२ | इन्द्राक्षरः २१ | वाक् ३० | सूर्य्यः ३९ | [illegible]-प्राणी ४० ५१ | तेजः ६६ |
| | ४ | परात्परः ४ | अव्ययः १३ | सोमाक्षरः २२ | अन्नम् ३१ | चन्द्रमाः ४० | [illegible]-प्राणी ५२ ५३ | आपः ६७ |
| देवसत्यात्मा | १ | परात्परः ५ | अव्ययः १४ | इन्द्राक्षरः २३ | प्राणाक्षरः ३२ | सर्वज्ञः (अन्तरात्मा) ४१ | [illegible]-प्राणी ५४ [illegible] | [illegible] |
| | २ | परात्परः ६ | अव्ययः १५ | वायुरक्षरः २४ | प्राणाक्षरः ३३ | हिरण्यगर्भः (कर्मात्मा) ४२ | वायु-प्राणी ५६ ५७ | अन्तःसंज्ञजीवी ६९ |
| | ३ | परात्परः ८ | अव्ययः १६ | अग्निरक्षरः २५ | प्राणाक्षरः ३४ | वैश्वानरः (अर्थात्मा) ४३ | अग्नि-प्राणी ५८ ५९ | असंज्ञजीवा ६० |
| → [illegible] | ५ | परात्परः ८ | अव्ययः १८ | भूतासुरक्षरः २६ | भूतासुरक्षरः ३५ | प्राणिभूतात्मा ४४ | वायु-प्राणी ६० ६१ | भूतरसः ६१ |
| | ६ | परात्परः ९ | अव्ययः १८ | भूताग्निरक्षरः २८ | भूताक्षरः ३६ | भू-भूतात्मा ४५ | भूत-प्राणी ६२ ६३ | ओषधिवनस्पतयः ६२ |

| सामान्यविभूतयः. २३१ | विशेषविभूतयः | |
|---|---|---|
| १२ — ऋषयः | ५१ | |
| ८ — पितरः ९९ — असुराः | १- विद्या (४) | ९-[illegible](१) |
| ३३ — देवाः ४ — गन्धर्वाः | २- कामः (२) | १०-[illegible](१) |
| २८ — गन्धर्वाः ५० — गुह्यः | ३- कर्म्म (८) | ११ [illegible] (१) |
| ५- पशवः | ४- शुक्रम् (६) | १२- सर्वसाक्षिरूप (१) |
| | ५- प्राणः (१८) | १३- सर्वगुणमयत्व(१) |
| | ६- [illegible](५) | १४- [illegible](१) |
| जीवात्मानः | ८- पूर्णेन्द्रत्वं (१) | १५- [illegible](१) |
| | ८-[illegible] (१) | १६- पापासंस्पृष्टत्वं(१) |

ईश्वरीय विभूतियों का दिग्दर्शन समाप्त हुआ। अब क्रमप्राप्त वैश्वानर-तैजस-यात्रयात्री भोक्तात्मा—प्राज्ञ मूर्त्ति भोक्ता जीव की विभूतियों, एवं यात्राओं का संक्षिप्त निरूपण कर इस प्राणात्मविद्योपनिषत् को समाप्त किया जाता है। जीवात्मा एक पथिक है। इसे लक्ष्यप्राप्ति में अनेक मार्ग पार करने पड़ते हैं। अपनी प्रज्ञापराधमूला असावधानी से यह पथभ्रष्ट बनता हुआ लक्ष्यस्थान (ईश्वरीय जगत्) में पहुँचने में असमर्थ रहता है। यात्री यात्रा करने अकेला नहीं जाता, अपितु यात्रोपयोगी अनेक उपकरणों को साथ लेकर, खाने पीने की सामग्री (पाथेय) जुटा कर, सब प्रकार का प्रबन्ध करके ही यात्रा करने निकलता है। इस जीवयात्री का भौतिक शरीर रथ है। ज्ञान-कर्म्मेन्द्रियाँ चपल घोड़े हैं। प्रज्ञान मन प्रग्रह (लगाम) है। बुद्धि सारथि है। भावना वासनात्मक संस्काररूप कर्म्मफल खाने पीने की सामग्री है। इस यात्री का बुद्धिरूप सारथी यदि सावधान रहता है, तो वह सारथी मनोरूप लगाम से इन्द्रिय रूप अश्वों को कुपथ नहीं जाने देता। अपितु सावधानी के साथ यात्री को ठीक लक्ष्य स्थान पर पहुँचा देता है। यदि सारथी असावधानी कर बैठता है, तो उस के हाथ से लगाम (मन) छूट जाती है, घोड़े बिगड़ जाते हैं, रथ टूट जाता है, यात्री क्षत विक्षत होता हुआ पथभ्रष्ट होजाता है। ऐसी अवस्था में इस यात्री का सब से प्रधान, एवं प्रथम यह आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह सदा अपने बुद्धिरूप सारथी के हाथ में मनोरूप लगाम को सौंपे रहे। यदि जीवात्मा का कर्म्म बुद्धिपूर्वक होता है, तो वह कभी बन्धन में नहीं पड़ता, कभी पथभ्रष्ट नहीं होता। यही कर्म्म बुद्धियोग है। इस में मन बुद्धि के वश में रहता है। यदि कर्म्म में मन प्रधान बन जाता है, तो बुद्धि निर्बल होजाती है। आत्मा का मन के साथ योग होजाता है, बुद्धियोग विच्छिन्न होजाता है। ऐसा यात्री कभी लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। ऐसे जीव की क्या परिस्थिति होती है ?, इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

इस निदर्शन से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ, प्रधान रूप जीवात्मा की विभूतियाँ—से भोग साधन हैं। भोक्ता जीव पशुपति है, भोगसाधनभूत

मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ प्राणस्थानीय होने से पाश हैं। एवं इस पाश द्वारा भोक्ता जिन ऐहलौकिक पारलौकिक भोगों का भोग करता है, वे सब भोग्य वित्त पशु हैं। भोगरूप पशु ( सांसारिक विषय ) बन्धन के कारण नहीं हैं, अपितु पाप्मा बन्धन के कारण हैं। ईश्वर भी सम्पूर्ण विश्व, एवं विश्वप्रजा का भोग करता है, परन्तु विभूति द्वारा। जीव भी यदि विभूति को प्रधान बना कर ही भोग करता है, तो वह भी ईश्वरवत् कभी बन्धन में नहीं पड़सकता। अब देखना यह है कि, जिन विभूतियों से जीव भोगरत रहता हुआ भी निर्लिप्त रहता है, वे विभूतियाँ कौनसी हैं। एवं जिन पाप्माओं के कारण यह बद्ध हो जाता है, वे पाप्मा कौन से हैं ?।

ईश्वरसंस्था में ७२ अा मकलाओं से अतिरिक्त २३१ तो सामान्य विभूतियाँ बतलाई गई हैं, एवं ४१ विशेष विभूतियाँ बतलाई हैं। वहीं यह भी कहा गया है कि, २३१ सामान्य विभूतियाँ जीवेश्वर में समान हैं। अतः उन का पिष्टपेषण करने की प्रकृत जीव प्रकरण में कोई आवश्यकता नहीं है। शेष ४१ विशेष विभूतियों के संस्थान में अन्तर है, वह भी कहीं कहीं। सूचीकटाहन्याय से पहिले इन विशेष विभूतियों का ही दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

जीव में प्रधान रूप से विद्या, काम, कर्म्म, शुक्र, प्राण- ज्ञानेन्द्रिय-कर्म्मेन्द्रिय, ये सात विभूतियाँ हैं। सातों में से पहिले विद्याविभूति को ही लीजिए। इस के जन्म काल से ही सूर्य्य द्वारा जो धिषणा भाग अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है, वही इस की विद्याविभूति है। इस के धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य, ये चार विवर्त हैं, जैसा कि ईश्वरीय विद्याविभूति प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। यदि निष्कामभाव है, तब तो यह विद्याचतुष्टयी अन्यविमोक का कारण बनती हुई विभूति है, सकामभाव में यही अविद्या से आवृत होकर अन्तर्हित होजाती है। उस अवस्था में जीवात्मा अपनी इस विद्याविभूति को खो बैठता है।

दूसरी है काम नाम की महा विभूति। बुद्धिपूर्विका इच्छितकामना ही काम विभूति है। ईश्वरात्मा में यह विभूति अव्यय मन से सम्बन्ध रखती थी, एवं जीवसंस्था में इस कामविभूति का चान्द्र प्रज्ञान ( सर्वेन्द्रिय मन ) से सम्बन्ध है। यही विशेषता है। यदि इस मन की कामना बुद्धिपूर्विका है, तब तो यह अबन्धन का कारण बनती हुई कामरूपा विभूति है। यदि बुद्धि का प्राधान्य नहीं है, विषय का प्राधान्य है, तो ऐसी दशा में वह काम

विभूति पथ से च्युत होता हुआ 'इच्छा" रूप पाप्मभाव में परिणत होजाता है, जैसा कि धर्मविभूति प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। तीसरी विभूति कर्म्म है। इस का उदय सूर्य्य के प्राण भाग में होता है। तीन कर्म्म सौर हैं, तीन पार्थिव हैं। इन्हों निष्काम भाव में विभूति हैं, सकाम भाव में ये ही पाप्मा हैं। चौथी विभूति शुक्र है। इस के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य है। ऐहिक-आमुष्मिक, भेद से कर्म्मकलाप दो भागों में विभक्त है। वाणिज्य-राज्य-सेवा-शिल्प-कला-संगीत, आदि सांसारिक कर्म्म ऐहिक कर्म्म हैं। यज्ञ-तप-दान-इष्ट-आपूर्त्त-दत्तादि-आमुष्मिक हैं। एक का फल प्रत्यक्ष दृष्ट है, दूसरे विभाग का फल श्रुति सिद्ध मात्र होने से आनुश्रविक है। ऐहिक कर्म्मों का फल हमें इसी लोक में मिल जाता है। हम इन कर्म्मों का फल इसी शरीर से, यहाँ देख लेते हैं, अत एव प्राधानिक दर्शन ने इन लौकिक कर्म्मों के फल को "दृष्ट" नाम से व्यवहृत किया है। परन्तु—"ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग-कामो यजेत" इत्यादि शास्त्रीय अनुशासनों से सम्बन्ध रखने वाले पारलौकिक कर्म्मों का फल इस शरीर से न मिल कर परलोक में मिलता है। यह फल केवल सुना हुआ है, चर्म्म चक्षुओं के परे की वस्तु है। अत एव उक्त दर्शन में यह "आनुश्रविक" ( सुना हुआ ) नाम से सम्बोधित हुआ है। केवल श्रुतिवचन को सुन कर उसी पर विश्वास कर के स्वर्गादि सुख साधक कर्म्मों में हम प्रवृत्त होजाते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्म्मों का मूल है भावना-वासना संस्कार। आत्मा ज्ञानकर्म्ममय है। "ज्ञायते, अथ च किञ्चत् क्रियते" के अतिरिक्त हमारे समीप अन्य तीसरी सम्पत्ति का अभाव है। इन में से ज्ञान द्वारा आत्मा पर ( प्रज्ञान मन से अनुगृहीत कर्म्मात्मा पर, उस में भी विशेषतः प्राज्ञ भाग पर ) जो ज्ञानीय संस्कार होता है, वही भावना नाम से प्रसिद्ध है। एवं कर्म्मजनित संस्कार वासना नाम से व्यवहृत हुआ है। भावना-वासना संस्कार की चिति ( समूह ) ही विज्ञानभाषा में "बीजचिति" नाम से प्रसिद्ध है। यही बीजचिति जन्म-मृत्यु की मूल प्रतिष्ठा है। इन दोनों चितियों में भी कर्म्ममयी बीजचिति ही प्रधान है। यह कर्म्म आत्मा में प्रक्रम, अभिक्रम रूप से प्रतिष्ठित रहता है। एक एक कर्म्म प्रक्रम है, कर्म्म सन्तान अभिक्रम है। उदाहरणार्थ पाककर्म्म को लीजिए। चूल्हा-इंधन-दीपशलाका-फूत्कार-स्थाली-चढ़ाना, आदि पाक कर्म्म के साधक अवान्तर सब कर्म्म ( प्रत्येक ) एक एक स्वतन्त्र प्रक्रम है। इन अनेक प्रक्रम कर्म्मों से पाक कर्म्म

चुका है। इन में से गुहाप्राणात्मक साकञ्ज प्राण शरीर की चारों गुहाओं में समान क्रम से प्रतिष्ठित हो रहे हैं। अध्यात्म में इन के २८ विभागों का स्पष्ट विकास है। अत यहां सात के स्थान मे ( संख्या क्रम के अनुसार ) हम २८ गुहा प्राण मानेंगे। परोरजा-वारुणादि पाच ब्रह्मप्राण हैं, प्राणोदानादि पाच देवप्राण हैं। सभूय ३८ प्राण होजाते हैं। गुहाप्राणचतुष्टयी का संस्थान क्रम देखिए-दो प्राण दोनों श्रोत्र विवरों में, दो प्राण दोनों नासा विवरों में, दो प्राण दोनों चक्षुर्गोलकों मे, एक मुख में प्रतिष्ठित है। सातों में ६ सयुक हे, जोड़ल हैं, सातवाँ मुख स्थानीय प्राण एकाकी है। यह सप्तक शिरोगुहा का सचालक है। दो हाथ, दो स्तन, दो पुप्फुस, हृदय, इन सातों में दूसरा सप्तक प्रतिष्ठित है। यह सप्तक उरोगुहा का सञ्चालक है। यकृत् (जिगर), प्लीहा ( तिल्ली ), दो क्लोम, दो वृक्क, नाभि, इन सातों में तीसरा सप्तक प्रतिष्ठित है। यही उदरगुहा का सञ्चालक है। दो श्रोणी, मूत्र-रेतसी दो अण्ड, गुद, इन सातों में चौथा सप्तक प्रतिष्ठित है। यही वस्तिगुहा का सञ्चालक है।

६-७-वीं विभूति ज्ञान-कर्म्मेन्द्रियाँ हैं। स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर-पार्थिव-प्राणतत्त्व क्रमशः चित्-प्राण, रयि-प्राण, धिषणा-प्राण, भूत-प्राण, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। एवमेव चान्द्र प्राण प्रज्ञा-प्राण भेद से दो भागों मे विभक्त है। प्रज्ञा भाग सोम के कारण ज्ञानप्रधान है। प्राण भाग क्रियाप्रधान है। ज्ञानक्रियामय प्रज्ञा प्राणात्मक चान्द्ररस औषधियों मे प्रतिष्ठित होता है। ओषधियाँ पार्थिव भूत से उत्पन्न हुई हैं। फलतः ओषधियों में प्रज्ञा प्राणात्मक चान्द्र रस, एवं पार्थिव भूत भाग की सत्ता सिद्ध हो जाती है। एतल्लक्षण ओषधिरूप अन्न शरीराग्नि में आहुत होकर अन्न-मल के क्रमिक विश्लेषण से क्रमशः रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-ओज-धातुओं में परिणित होता हुआ अन्ततः अपने विशुद्ध रूप से "मनो" रूप में परिणत होता है। इस प्रकार प्रज्ञा-प्राण-भूतमय अन्न से उत्पन्न इस मन में भी इन तीनों कलाओं की सत्ता सिद्ध होजाती है। इन तीनों में से पार्थिव भूत भाग-नाम, गन्ध, रूप, शब्द, अन्नरस, कर्म्म, सुखदुःख, आनन्द रति प्रजाति, इच्छा, धी--भेद से दस भागों में विभक्त है। दूसरे शब्दों में भूत मात्रा १० हैं। इन के सम्बन्ध से ही प्रज्ञा-प्राणात्मक मन को भी अर्थरूप से १० भागों में विभक्त हो जाना पड़ता है। उक्त १० सों भूतमात्राओं में से गन्ध-रूप-रस-शब्द-धी-सुख दुःख, इन पाच मात्राओं का प्रज्ञा भाग से सम्बन्ध है, शेष कर्म्मप्रधान हैं। ज्ञानप्रधान भाग ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, कर्म्मप्रधान भाग

कर्म्मेन्द्रियाँ है। श्रोत्र–त्वक्–चक्षुः–जिह्वा–घ्राण, ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वाक्–पाणि–पाद–पायु–उपस्थ ये पांच कर्म्मेन्द्रियाँ है। प्रज्ञाभाग प्राण में ओत है, प्राणभाग प्रज्ञा में प्रोत है। इसी तादात्म्यभाव को लक्ष्य में रख कर महर्षि कौषीतकि कहते हैं—

"यो वै प्राणः–सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा–स प्राणः।
या वै प्रज्ञा स प्राणः, यः प्राणः सा प्रज्ञा।
स ह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः॥" (कौ० उ० ३।३)।

इस से बतलाना यही है कि, प्रज्ञाप्रधान ज्ञानेन्द्रियों में भी प्राणमात्रा है, एवं प्राणप्रधान कर्म्मेन्द्रियों में भी प्रज्ञामात्रा है। अत एव ज्ञानेन्द्रियों में भी क्रियाभाव प्रतीत होता है, एवं कर्म्मेन्द्रियों में भी ज्ञान का आभास होता है। वस्तुतस्तु भूतमात्रा—रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द, भेद से पांच ही भागों में विभक्त है। यही प्रज्ञा–प्राण युक्त होकर १० भागों में विभक्त होजातीं हैं। पांच प्रज्ञा मात्राएँ ज्ञानेन्द्रियों की प्रतिष्ठा हैं, पांच प्राणमात्राएँ कर्म्मेन्द्रियों की प्रतिष्ठा है। यह इन्द्रियविभूति प्रज्ञा प्राणात्मक प्रज्ञान मन से सम्बन्ध रखती हुई परम्परया चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने के कारण चान्द्रविभूति कहलाती है। प्रज्ञान इन्द्र के सम्बन्ध से ही इन दशों विवर्त्तों को "इन्द्रिय" शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

जीवात्मा की इन सातों विभूतियों के अवान्तर भेदों का यदि संकलन किया जाता है, तो कुल ४० विभूतियाँ होजाती हैं, जैसा कि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

१—विद्याविभूतिः (४)—धर्म्मः—ज्ञानम्—वैराग्यम्—ऐश्वर्यम्→सौरविभूतिः
२—कामविभूतिः (१)—एकविधः—विषयभेदादनेकविधः→चान्द्रविभूतिः
३—कर्म्मविभूतिः (६)—यज्ञः–तपः–दानम्–(सौरविभूति), इष्टं–आपूर्त्तं–दत्तं→पार्थिवविभूतिः
४—शुक्रविभूति (२)—१ भावना, २ वासना→पार्थिवविभूतिः
५—प्राणविभूतिः (१७)—पञ्च ब्रह्मप्राणाः, पञ्च देवप्राणाः, सप्त गुहाप्राणाः
आत्मविभूतिः—— दैवविभूतिः सूर्य्यविभूतिः
६—ज्ञानेन्द्रियवि० (५)—श्रोत्र—त्वक्—चक्षु—जिह्वा—घ्राणः } चान्द्रविभूतिः
७—कर्म्मेन्द्रियवि० (५)—वाक्—पाणिः—पादः—उपस्थम्–पायु }

७ ———→(४०) तदित्थं चत्वारिंशत्

रूप एक अभिक्रम कर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। जैमिनि दर्शन के अनुसार क्रत्वर्थ कर्म्म प्रक्रम है, पुरुषार्थ कर्म्म अभिक्रम है। अनेक क्रत्वर्थ कर्म्मों से एक पुरुषार्थ कर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। चौपाटी के मैदान से हम विक्टोरिया गार्डेन जाते हैं। एक पैर उठाते हैं, दूसरा आगे धरते हैं। इन में एक एक पाद विन्यास ( पांवड़ा ) एक एक प्रक्रम है, ऐसे ऐसे अनेक प्रक्रम मिल कर गतिरूप एक अभिक्रम रूपा महागति का स्वरूप निष्पन्न होता है। इसी महागति के आधार पर—"हम आज विक्टोरिया गार्डेन गये थे" ये अक्षर निकलते हैं। इसी प्रकार भोजन-शयन-पान-पठन-पाठन, आदि प्रत्येक कर्म्मों को प्रक्रम अभिक्रम रूप दो दो अवस्थाओं से आक्रान्त समझना चाहिए। अनेक प्रक्रम गर्भित ऐसे अनेक अभिक्रम कर्म्म वासना रूप से आत्मधरातल पर प्रतिष्ठित रहते हैं। इन सब अभिक्रम कर्म्मों की समष्टि को "कर्म्मव्यूह" कहा जाता है। निर्धूत किल्बिष आत्मा आगत, एवं अतीत कर्म्मों से मुक्त हो सकता है। दूसरे शब्दों में बुद्धियोगानुयायी आत्मा ज्ञानाग्नि के प्रभाव से सञ्चित कर्म्मों को जला कर, आगन्तुक कर्म्मसंस्कारों का द्वार अवरुद्ध कर विदेह मुक्ति का अधिकारी बन सकता है। परन्तु जो अभिक्रम कर्म्म चल पड़ा है, उस का तब तक क्षय असम्भव है, जब तक कि तद्गत सम्पूर्ण प्रक्रम कर्म्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता है। यही कर्म्म "प्रारब्ध कर्म्म" कहलाए हैं—"प्रारब्धकर्म्मणां भोगादेव क्षयः"। हां जो मुक्तात्मा होते हैं, वे अभिक्रम ( प्रारब्ध ) कर्म्म फल भोगते हुए भी तज्जनित प्रत्यवाय, दुःखादि से असंस्पृष्ट रहते हैं। इसी कर्म्मविज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

> नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
> स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ( गी० २।४० )

उपर्युक्त ज्ञान कर्म्ममय जिन भावना-वासना-संस्कारों को जन्म मृत्यु चक्र का कारण बतलाया गया है, उन दोनों का क्रमशः व्यक्त संसार, एवं अव्यक्त प्रकृति से सम्बन्ध है। वासनात्मक कर्म्म व्यक्त संसार की ओर ले जाता है, भावनारूप ज्ञान अव्यक्त प्रकृति की ओर आकर्षित करता है। एक ऐहलौकिक प्रवृत्ति का कारण है, दूसरा पारलौकिक प्रवृत्ति का हेतु है। दूसरे शब्दों में एक दृष्ट है, दूसरा आनुश्रविक है। परिणाम में दोनों ही दुःख के मूल हैं। यदि अनासक्तिमय, निष्काम कर्म्मरूप, बुद्धियोगापरपर्य्यायक, ज्ञानयोग के द्वारा इस वासना भावनात्मक गुह्य को नष्ट कर दिया जाता है, तो आत्मा व्यक्त संसार, एवं अव्यक्त प्रकृति,

दोनों से पृथक् होता हुआ उस व्यक्ताव्यक्त से परे रहने वाले अव्यय पुरुष में लीन होजाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर सर्वश्री ईश्वरकृष्ण कहते हैं—

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ (सांख्यकारिका २)

कहना यह है कि, दृष्ट-एवं आनुश्रविक फल से सम्बन्ध रखने वाले, ऐहिकामुष्मिक भावना वासनारूप विषयसंस्कार ही जीवात्मा के पुन पुन होने वाले जन्म मृत्यु के कारण हैं। इस उपादान कारणता के सम्बन्ध से ही इस संस्कार पुञ्ज को "शुक्र" कहा जाता है।

पृथिवी का भूत भाग, दूसरे शब्दों में पार्थिव भौतिक संपत्ति ही वासना का कारण है। अत' हम इस शुक्रविभूति को पार्थिव विभूति मानने के लिए तैय्यार हैं। इतर सम्पूर्ण विभूतियों की मूल प्रतिष्ठा यही शुक्रविभूति है। शुक्रविभूति ही काम की जननी है। इस के बिना जन्म नहीं, जन्म के बिना इतर विभूतियों का उदय असंभव। इस शुक्रविभूति के साथ ऊष्मा का भी सम्बन्ध रहता है। शुक्र को पार्थिव कहा गया है। उधर पृथिवी में रहने वाला अग्नि चित्य-चितेनिधेय भेद से दो भागों में विभक्त है। चित्याग्नि भूत है, चितेनिधेयाग्नि प्राण है, यही ऊष्मा है। भूत भाग वासना का जनक है, प्राणभाग ऊष्मा का प्रभव है। दोनों परस्पर में नित्य सम्बद्ध हैं। इन दोनों में प्रधानता ऊष्मा भाग की ही है। जब तक शरीर में गर्मी प्रतिष्ठित रहती है, तभी तक शुक्र स्व स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। जिस समय ऊष्मा उत्क्रान्त हो जाती है, उस के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह शुक्र भी जन्मान्तर का कारण बनने के लिए शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है। "शुक्र" अग्नि भाव है। यही ताप-रूप शोक का जनक है। तन्मय शुक्र भी जन्म मृत्युरूप शोकार्णव का ही प्रवर्तक है। जब तक शुक्र है, तभी तक जीव जीव है। चूंकि शुक्र के आधार पर ही जीव का स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है, अत एव इस के दु ख मूल होने पर भी (जीवापेक्षया) इसे विभूति मान लिया गया है। जो विद्वान् निष्काम भाव से आत्मदेव की उपासना करते हैं, वे ही इस संस्काररूपा शुक्रद्वयी का अतिक्रमण कर मुक्त होने का अधिकार प्राप्त करने में समर्थ होते हैं—"उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः"।

पांचवीं विभूति प्राण है। इस के ७-सौरगुहाप्राण, ५-अन्नप्राण, ५-देवप्राण भेद से १७ विवर्त हैं, जिन का कि स्वरूप परिचय ईश्वरीय प्राण विभूति निरूपणावसर में कराया जा-

१—चतस्रो विधाः—धर्म्म, ज्ञानम्, वैराग्यम्, ऐश्वर्यमिति——४
१—मनसः क्रिया कामः——१
३—षट् कर्म्माणि—यजनादानेष्टापूर्त्तदत्तानि——६
४—ऐहिकामुष्मिकयोर्दृष्टानुश्रविकयोर्विषयग्रामयोरुपजनहेतुभूते-भावनावासनाभिधे द्वे शुक्र }—२
५—अन्न—रेत—गुहाभेदेन ३८ विभक्ता. प्राणाः——१७
६—श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राणमिति पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि——५
७—वाक्-पाणि-पादौ-पस्थ-पायव.-इति पञ्च कर्म्मेन्द्रियाणि——५

चत्वारिंशत् ४०

## इति जीवविभूतयः

उक्त सात विभूतियों के अतिरिक्त जीवसंस्था में आठ प्रकार के पाप्मा रहते हैं। ये ही पाप्मा भोक्तात्मा के बन्धन के कारण हैं। जीवात्मा की ईश्वरता के, दूसरे शब्दों में भोक्ता सुपर्ण के साक्षी सुपर्णभाव में परिणत होने में ये ही पाप्मा प्रतिबन्धक हैं। जीव, एवं ईश्वर में व्यवच्छेद डालने वाले ये ही पाप्मा हैं। इन आठ पाप्माओं की अवान्तर-कलाएँ हो जाती हैं। क्रमप्राप्त क्रमशः इन्हीं पाप्माओं का दिग्दर्शन कराया जाता है।

## १—ऊर्म्मिः—(६)

ऊर्म्मि शब्द का अर्थ है लहर-वीचि-तरङ्ग। यह संसार रस बल का समुद्र है। षडूर्म्मिस्वरूपपरिचय——रसरूप समुद्र में बलात्मिका तरङ्गें उच्चावचभाव से इतस्ततः दोलायमान रहतीं हैं। इन बल तरङ्गों की अवस्थाविशेष ही क्षुधा (भूख)-पिपासा (प्यास), शोक (मनोवेदना)-मोह (चित्त वैक्लव्य), जरा (बुढ़ापा)-व्याधि (रोग), इन नामों से प्रसिद्ध हैं। भोक्तात्मा आसक्ति कर्म्म में रत रहता हुआ इन ६ ओं ऊर्म्मियों में से एक न एक

से नित्य आक्रान्त रहता है। इन ६ ओं ऊर्म्मियों में से सब से प्रधान ऊर्म्मि क्षुधा है। यह **अशनाया** नाम का महापाप्मा है—"पाप्मा वै अशनाया"। जीवात्मा में निरन्तर किसी न किसी की भूख बनी रहती है। एक विषय की क्षुधा शान्त होती है, दूसरी का उदय होजाता है। यही अवस्था पिपासा की है। सांसारिक आपत्तियों का आक्रमण सहने में यह असमर्थ है। कारण इस का यही है कि, जिस संसार चक्र के गर्भ में जीवात्मा प्रतिष्ठित है, वह इस अध्यात्म-संस्था की अपेक्षा कहीं अधिक बल रखता है। प्रकृति का आघात सदा प्रबल होता है। इस को सहने में असमर्थ इस का मन व्याकुल हो पड़ता है। शरीर में मन के क्षोभ से जो एक प्रकार की जलन (सताप) होती है, वही "शुक्" भाव है। शुक् वृत्ति ही "शोक", किंवा सन्ताप है। यही तीसरी ऊर्म्मि है। यदि यह शोकाग्नि पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तो मन इस प्रवृद्धतम शोकाग्नि से अभिभूत होता हुआ अपने ज्ञानमय विकास स्वरूप से तिरोहित हो जाता है। उस समय मन को कुछ भी भान (ज्ञान) नहीं होता। सुषुप्ति अवस्था में मन की जो दशा होती है, शोकातिवेग में मन की वही दशा हो जाती है। चक्षुर्द्वार खुले हुए हैं, मन पुरीतति नाड़ी में नहीं है, इसलिए तो इस अवस्था को सुषुप्ति नहीं कहा जासकता। साथ ही में जाग्रदवस्था में ऐन्द्रियक ज्ञानानुभवरूप मन का जो व्यापार होना चाहिए, उस का भी यहां अभाव है, इसलिए इस अवस्था को जाग्रदवस्था भी नहीं कहा जासकता। वस्तुतः यह दोनों की मध्यावस्था है। इस में एक प्रकार की स्तम्भवृत्ति रहती है। जिस वृत्ति के लिए लोक-भाषा में "भौं चक्का रह गया" "हक्का बक्का रह गया" इत्यादि शब्द प्रयुक्त होते हैं, वही वृत्ति यह मध्यम वृत्ति है। आत्मकल्याणेच्छु को सांसारिक आपत्ति से बचने के लिए, संसर्ग दोष से बचने के लिए इसी मध्यम वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए—"मध्यां वृत्ति समाश्रयेत्"। दूसरे इस को पागल समझें, मोहग्रस्त समझें, उन्मत्त समझें, असभ्यादि मानते रहें, इसी में हमारा कल्याण है। इसी जड़वृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्—न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥

ऐसा कृत्रिम मोहभाव जहां आत्मशान्ति का कारण है, वहां यह प्राकृतिक शोक-समुत्थानमूलक मोह वास्तव में जड़भाव का कारण है। इस में जागृत सुषुप्ति, दोनों अवस्थाओं

का सम्मिश्रण है। इसी अभिप्राय से भगवान् व्यास ने इस का "सुखेऽद्धं सम्पत्तिः" ( शा० सू० ३।९।१० ) यह लक्षण किया है। गीताविज्ञान के अनुसार अज्ञान से आवृत ज्ञान ही मोह है। अर्द्धज्ञान, किंवा यत्किञ्चित् ज्ञान ही मोह है। मोह ही भय का मूल कारण है। पूर्ण अज्ञान में भी भय का अभाव है—"अज्ञानं तस्य शरणम्" (पातञ्जल महाभाष्य० १।१।२)। एवं पूर्ण ज्ञान भी अभय भूमि है—"विज्ञानं तस्य शरणम्"। भय होता है-अर्द्धज्ञान स्वरूप मोह से। यही भयमूलिका मोह नाम की चौथी ऊर्म्मि है।

प्रत्येक मनुष्य प्रतिक्षण जीर्ण होता रहता है। आयु के २५ वर्ष पर्य्यन्त शरीरावयव पुष्ट होते हैं। ४० वर्ष पर्य्यन्त समान रूप से रहते हैं। ४० के अनन्तर विशेषण धर्म्मों इन्द्र के प्रबल होजाने से अधिक मात्रा से शरीर मात्राओं के निकल जाने से शरीरावयव क्रमशः शिथिल होते जाते हैं। यही जराभाव इस की नित्य मृत्यु कहलाती है। यही जरा नाम की पांचवीं ऊर्म्मि है। हीनयोग–अतियोग–मिथ्यायोग–अयोग, प्रज्ञापराधमूलक इन चारों दुःखद योगों से मिथ्याहार-विहार करता हुआ जीवात्मा अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट मोल ले लेता है। खाना चाहिए सेर भर, खाया पाव भर ही, यह हीनयोग है। सेर के स्थान में २ सेर खा गए, यही अतियोग है। खाना चाहिए प्रकृति के अनुकूल अन्न, खा गए प्रकृति से विरुद्ध अन्न-यही मिथ्यायोग है। जिस समय अन्न का आत्मा के साथ योग करना चाहिए, उस समय तो खाया नहीं, लोभ विलोम कर के अनिश्चित समय में भोजन किया, यही अयोग है। प्रज्ञापराधमूलक ये ही चार विषमयोग रोगोत्पत्ति के कारण हैं। अन्नतत्त्व के प्रथमजा, अत एव अनृत सहित मनुष्य से प्रज्ञापराध होना स्वाभाविक है, फलतः रोग का आक्रमण होना भी स्वाभाविक ही है—"शरीरं व्याधिमन्दिरम्"। यही व्याधि नाम की ६ ऊर्म्मि है। इन ६ ओं में दो-दो के तीन युग्म हैं। तीनों युग्मों से प्रत्येक युग्म की प्रथम कला आधार है, दूसरी आधेयरूपा है। पिपासा के रहने पर क्षुधा नहीं भी रह सकती, परन्तु क्षुधा है, तो पिपासा अवश्य है। साथ ही में अन्न से क्षुधा शान्त कर लेने पर पिपासा अवश्य उदित होती है, एवं क्षुधा के साथ साथ ही इस पिपासा को भी शान्त करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार शोक ही मोह की मूल प्रतिष्ठा है। पहिले शोक है, फिर मोह है। जरा ही व्याधि का

उद्गम स्थान है। जरा और व्याधि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी भाव का बड़ी प्रसाद भाषा में दिग्दर्शन कराते हुए एक महात्मा कहते हैं—

यम सेना की विमल ध्वजा अब *"जरा" दृष्टि में आती है।
करती हुई युद्ध रोगों से देह हारती जाती है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| १—क्षुधा<br>२—पिपासा | १—शोकः<br>२—मोहः | १—जरा<br>२—व्याधिः | षडूर्मयः |

जिस प्रकार महासमुद्र में प्रक्षिप्त एक काष्ठ खण्ड समुद्र की उत्ताल तरङ्गों से इतस्ततः दोलायमान रहता है, इसी प्रकार विश्वरूप समुद्र में काष्ठ स्थानीय यह भोक्तात्मा उपर्युक्त जल-रूप ऊर्म्मियों से इतस्ततः इन्द्रम्यमाण रहता है।



## २—अवस्था—(६)

**षडवस्थास्वरूपपरिचय**—दूसरा पाप्मा अवस्था नाम से प्रसिद्ध है। जीवात्मा जाग्रत—(जागना), स्वप्न (सपना), सुषुप्ति (सोना), मोह (विक्षिप्तता), मूर्च्छा (बेहोशी), मृत्यु (शरीरावसान), इन अवस्थाओं में से अवश्य ही किसी एक न एक अवस्था से युक्त रहता है। अध्यात्मसंस्था में महान् (सत्त्व), विज्ञान (बुद्धि), प्रज्ञान (मन) भेद से तीन स्वतन्त्र ज्ञान धाराएँ प्रवाहित रहती हैं। इन तीनो में महानात्मा प्रधान है, यही चिदात्मा की प्रतिष्ठा है, जैसा कि पूर्व की महदात्मविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इसी महद्ज्ञान से विज्ञान (बुद्धि) प्रकाशित रहता है, विज्ञान से प्रज्ञान प्रकाशित रहता है। प्रज्ञान मन के द्वारा वही ज्ञानप्रकाश इन्द्रिय द्वारों से निकल कर विषयों को प्रकाशित करता है। विषयज्ञान में मनोज्ञान की प्रधानता है। बहिर्जगत् के भौतिक विषयो के परिज्ञान के लिए मानस ज्ञान का इन्द्रियों के द्वारा बाहिर निकलना सर्वथा अपेक्षित है। जिस समय मन का इन्द्रियों के द्वारा विषय जात के साथ सम्बन्ध होता है, ऐसी स्थिति में यह मान

* जरा—वृद्धावस्था, जरा—थोड़ी सी।

लेना पड़ता है कि, इस दशा में महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–इन्द्रियाँ–चारों जाग्रत हैं, उद्बुद्ध हैं। चारों अपना काम कर रहे हैं। इन चारों विवर्तों की जाग्रदवस्था ही "जाग्रदवस्था" है। दूसरे शब्दों में इन्द्रिय सहकृत जाग्रदवस्थापन्न प्रज्ञान ही जाग्रदवस्था का अधिष्ठाता है।।

जब इन्द्रियाँ अपना काम करना छोड़ देती हैं, इन्द्रिय द्वार अवरुद्ध होजाते हैं, तो उस समय प्रज्ञान मन के पास बाहिर के विषयों का आगमन बन्द होजाता है। उस समय केवल भावना वासना रूप सांस्कारिक विषय ही रहते हैं। संस्कारात्मक इसी विषय समष्टि को "अन्तर्जगत्" कहा जाता है। प्रज्ञान मन विज्ञान प्रकाश से अनुगृहीत रहता हुआ सांस्कारिक विषयों के आधार पर नवीन रचना किया करता है। मन की इसी अवस्था का नाम "स्वप्नावस्था" है। यह अवस्था सुषुप्ति, एवं जाग्रदवस्था के मध्य की अवस्था है, अत एव इसे "सन्ध्यावस्था" भी कहा जासकता है। "सन्ध्ये सृष्टिराह हि"—"निर्म्मातारं चैके पुत्रादयश्च" ( शा० द० ३।२।१ ) "सूचकश्च हि" ( शा० दर्शन ३।२।४ ) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार जाग्रत–सुषुप्ति की सन्धि में रहने वाली इस स्वप्नावस्था में प्रज्ञान मन नवीन नवीन कल्पनाएं किया करता है। यह मानस कल्पनाएं शुभाशुभ फल को सूचित करती हैं। इस स्वाप्नसृष्टि के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त समझना चाहिए कि, जाग्रदवस्था में इन्द्रियों के द्वारा जिन बाह्य विषयों का ( स्वप्नद्रष्टा ) साक्षात्कार करता है, स्वप्न में उन्हीं दृष्ट पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। हां संस्कारों के समन्वय में अवश्य ही विशृङ्खलता हो जाती है। स्वप्न में आप वही बात देख सकते हैं, सुन सकते हैं, जो कि जाग्रदवस्था में देख–सुन चुके हैं। एक मनुष्य स्वप्नावस्था में अपने आप को आकाश में उड़ता हुआ देखता है। आप प्रश्न करेंगे कि, जाग्रदवस्था में यह आकाश में कभी नहीं उड़ा था, फिर स्वप्न में यह अपूर्वता कैसे उत्पन्न हुई ? इस का उत्तर वही संस्कार विशृङ्खलता है। इस व्यक्ति ने आकाश में पक्षी का उड़ना देखा है। इस का संस्कार इस के प्रज्ञा भाग पर खचित है। स्वप्न में इस के मन का उस उड़ने के साथ सम्बन्ध हो जाता है। फलतः यह अपने आप को उड़ता हुआ समझने लगता है। यही अवस्था असम्बद्धवत्–अदृष्टवत् प्रतीत अन्यान्य स्वाप्न दृश्यों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। इसी अभिप्राय से—बृहदारण्यक श्रुति कहती है—

"स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥

अथो खल्वाहुः—जागरितदेश एवास्यैष इति । यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति, तानि सुप्त इति" ( बृ० आ० ६।३।१३।१४ ) ।

कहना यही है कि, विज्ञानसहकृत संस्कारावच्छिन्न अन्तर्मुख प्रज्ञान मन ही स्वप्नावस्था का अधिष्ठाता है । यहाँ केवल अन्तर्जगत् का भोग है । आगे जाकर विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा को साथ लेता हुआ पुरीतति नाम से प्रसिद्ध हृदयस्थ व्यान नाडी में प्रविष्ट हो जाता है । चिद्विशिष्ट प्राणात्मा ही इस व्यानात्मिका पुरीतति नाडी की प्रतिष्ठा है, वहाँ विज्ञान अपीत हो जाता है । दूसरे शब्दों में अपने चिज्ज्योतिघन स्वस्वरूप में डूब जाता है । विज्ञान का स्वतन्त्र प्रकाश तिरोहित हो जाता है । बस प्रज्ञानावच्छिन्न विज्ञान की इस स्वस्वरूप में अपीति ही स्वपिति नाम की सुषुप्ति अवस्था है ।

चौथी अवस्था मोह है । ऊर्म्मि वाला मोह स्वस्थ वृत्ति थी, इस अवस्था सम्बन्धी मोह का विक्षिप्तता से सम्बन्ध है । किसी आकस्मिक प्रबल आघात से, मादक पदार्थों के अत्यधिक मात्रा में सेवन से, शक्ति परिमाण से अधिक ज्ञान तन्तुओं को काम में लाने से, इत्यादि इत्यादि कारणों से मनुष्य के स्नायुतन्तु ( ज्ञानतन्तु ) शिथिल होजाते हैं । ज्ञान तन्तुओं के आधार पर होने वाले सुव्यवस्थित इन्द्रिय व्यापारों की व्यवस्था टूट जाती है । विवेक नष्ट हो जाता है, मन उत्पथगामी बनता हुआ इन्द्रिय स्वातन्त्र्य का कारण बन जता है । यही अवस्था मोह ( पागलपन ) है ।

यदि मोह की मात्रा पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तो मन अतिमूर्च्छित हो जाता है । कारण इस का यही है कि, इन्द्रियों से मन की नियत, एवं परिमित शक्ति के अनुसार ही यदि काम लिया जाता है, तो वे स्वस्वरूप से सुरक्षित रहतीं है । परन्तु मोहावस्था में इन्द्रिय संयम टूट जाता है । किस इन्द्रिय से कितना काम लेना, यह विवेक जाता रहता है । मुग्ध ( पागल ) आदमी यदि दौडना आरम्भ कर देता है, तो वह घन्टों निरन्तर दौड़ा ही करता है । बोलना आरम्भ कर देता है, तो अनर्गल बोला ही करता है । इस नैरन्तर्य्य से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है । अन्ततोगत्वा इन्द्रियाँ अपना काम करना छोड़ देती हैं, निश्चेष्ट हो कर आदमी धरा पर गिर जाता है । यही "मूर्च्छा" है । इस प्रकार प्रवृद्ध मोह ही इस-मूर्च्छावस्था का कारण बन जाता है ।

पाञ्चभौतिक- स्थूलशरीर के साथ जीवात्मा को बद्ध रखने वाला सौर सूत्र ही "आयु" नाम से प्रसिद्ध है। इन्द्रात्मक सौर आत्मसूत्र ही हमारी आयु की प्रतिष्ठा है। जब तक शरीर, एवं आत्मा आयुःसूत्र में बद्ध है, तभी तक जीवन सत्ता है। सामान्य सृष्टि विज्ञान के अनुसार सूर्य्य से ऐसे ३६००० (छत्तीस हजार) आयुःसूत्र आते हैं। प्रतिदिन एक एक आयुःसूत्र का भोग समाप्त हो जाता है। इस क्रम से ३६००० दिन की समष्टि रूप १०० वर्ष में आयुःसूत्र निःशेष हो जाता है। इसी आधार पर—"शतायुर्वै पुरुषः" यह श्रौत सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। जिस दिन यह आयुःसूत्र सर्वथा निःशेष हो जाता है, उस दिन जीवात्मा का पाञ्चभौतिक शरीर-बन्धन टूट जाता है। यही अवस्था मृत्यु नाम की ६ * ठी अवस्था है।

—:o:—

## ३—अविद्या—(४)

**अविद्यास्वरूपपरिचय**—ईश्वरीय विद्याविभूति का निरूपण करते हुए हमनें सूर्य्य में धिषणा-प्राण, नाम के दो धातु बतलाए हैं। इन दोनों में धिषणाभाग विद्या है, प्राणभाग कर्म्म है। सत-असत भेद से दोनों ही दो दो भागों में विभक्त हैं। विद्या—अविद्या धिषणाभाग प्रधान प्रधान हैं, संभूति–विनाश प्राणभाग प्रधान हैं। धर्म्म–ज्ञानादि चार विद्या भागों के, अधर्म्म—अज्ञान—आसक्ति—अनैश्वर्य्य ये चार विपर्य्यय हैं। इन चारों अविद्या-बुद्धियों से धर्म्म ज्ञानादि चारों विद्या भाग दब जाते हैं। अज्ञान अविद्या है। किसी भी विषय के यथार्थ स्वरूप को न जानना ही अविद्या है। अभिनिवेश ही अधर्म्म है। "हम ऐसा नहीं करते, यह नहीं मानते, हम तो ऐसा ही करेंगे" इस प्रकार का दुराग्रह (हठधर्म्मी) ही अधर्म्म का मूल है। ऐसे अभिनिविष्ट (दुराग्रही) का मनोरञ्जन सर्वथा असंभव है। राग-द्वेष आसक्ति हैं। मन का वशीभूत विषय के रस में रञ्जित हो जाना, तल्लीन हो जाना ही राग है। यह राग अनुकूल-प्रतिकूल भेद से दो अवस्थाओं में परिणत रहता है। अनुकूलराग राग है, प्रतिकूलराग द्वेष है। एक प्रेमी जिस प्रकार सदा मन पर चढ़ा रहता है, द्वेषी भी

---

* इन ६ ओं अवस्थाओं का औपपत्तिक वैज्ञानिक निरूपण माण्डूक्योपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

कहीं अधिक शत्रु खयाल पर चढ़ा रहता है। दोनों के साथ बन्धन का पूर्ण सम्बन्ध है। इन दोनों का मूलप्रभव रजोगुण है। ये दोनों आसक्ति के मूल हैं। दोनों बन्धन सजातीय हैं, अत एव रागद्वेष की समष्टि को आशक्ति शब्द से ही व्यवहृत किया गया है। आत्मा में सम्पूर्ण विभूतियाँ स्वभावतः प्रतिष्ठित हैं। तथापि मनुष्य सदा—"आज मेरे पास अमुक वस्तु नहीं है, आज यह नहीं है, आज यह नहीं है" इस तृष्णा में लिप्त रहता है। दूसरे शब्दों में यह सदा अल्पता का अनुभव किया करता है। यही आत्मा का अनैश्वर्य है। इस अवस्था में आत्मस्वरूप के विकास का अभाव है, अत एव इसे "अस्मिता" (विकासाभाव) कहा जाता है। उक्त कथनानुसार राग द्वेष को एक वस्तु मान लेने पर अधर्म-अज्ञान-आसक्ति-अनैश्वर्य, ये चार ही अविद्याभाग बन जाते हैं। धर्मबुद्धियोग से अधर्म का, ज्ञानबुद्धियोग से अज्ञान का, वैराग्यबुद्धियोग से आसक्ति का, एवं ऐश्वर्यबुद्धियोग से अनैश्वर्य का निराकरण किया जा सकता है। योगदर्शन ने—अज्ञान को अविद्या शब्द से, अनैश्वर्य को अस्मिता शब्द से, आसक्ति को राग द्वेष शब्द से, अधर्म को अभिनिवेश शब्द से व्यवहृत करते हुए क्लेशरूप चार अविद्या बुद्धियों को पञ्च क्लेश माना है—"अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः" (यो० द० २।३)। अविद्यानुगत मनः ही तीसरा महा भय बन जाता है।



## ४—बन्ध—(३)

यह कर्मभोक्ता धर्मात्मा तीन दुःखों से सदा घिरा रहता है। काम-क्रोध-मत्सरस्वरूपपरिषत्—लोभ-मोह-मद-मात्सर्य-अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-अभिनिवेश-ज्वर-वातव्याधि-आदि दुःख आध्यात्मिक दुःख हैं। इनमें भी ज्वर-उदरशूल-शिरःशूल-पादशूल-(गुल्म) -पाण्डुरोग—छर्दी-हिक्का— श्वास- उपदंश- -वर्णशूल-राजयक्ष्मा—आदि रोग प्रधानरूप से स्थूलशरीर पर आक्रमण करते हैं। काम क्रोध मोहादि षड्रिपु सूक्ष्मशरीर पर प्रधान रूप से आक्रमण करते हैं, एवं अविद्यादि क्लेशचतुष्टयी प्रधानतया कारणशरीर पर आघात करती है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरत्रयी का आध्यात्मिक

प्रपञ्च हैं। प्रकारान्त से रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र, ये सात धातु वाङ्मय स्थूल-शरीर की प्रतिष्ठा हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य, ये ६ धातु प्राणमय सूक्ष्मशरीर की प्रतिष्ठा हैं, एवं क्लेश चतुष्टयी के आधार पर प्रतिष्ठित भावना वासना नाम के दो शुक्र मयोमय कारणशरीर की आधारभूमि हैं। "त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्" के अनुसार तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि एक शरीर व्याकुल रहता है, तो शेष दोनों भी म्लान रहते हैं। वासना भावना संस्कार की जागृति से सूक्ष्मशरीर, सप्तधातु समष्टिरूप स्थूलशरीर, दोनों क्षुब्ध हो जाते हैं। शरीरघात से मन खिन्न रहता है, मनोवेदना से शरीर में काम क्रोधादि षष धातु निश्चेष्टप्राय रहते हैं। यदि तीनों के धातु सम हैं, तो स्वस्थता है, विषमता में दुःख है, अशान्ति है, क्षोभ है। इस विषमता का मूल कारण एकमात्र प्रज्ञापराध ही है। प्रज्ञापराध मन का कार्य है। अत एव आध्यात्मिक पूर्वोक्त त्रिविध दुःखों का कारण भी यही मन है, एवं बुद्धियोग के प्रभाव से सुख का कारण भी एक मात्र यही मन है। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

> मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
> अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥१॥
> मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।
> बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥२॥
>
> (ब्रह्मबिन्दूपनिषत्)

सप्तधातु सम्बन्धी वैषम्य विशेषतः स्थूलशरीर की हानि करता है, षड्रिपु सम्बन्धी वैषम्य विशेषतः सूक्ष्मशरीर को क्षुब्ध करता है, एवं संस्कार सम्बन्धी वैषम्य विशेषतः कारण-शरीर के क्षोभ का कारण बनता है। तीनों का मूल प्रज्ञापराधमूलक मन ही है। साथ ही में पूर्व कथनानुसार सामान्य रूप से तीनों वैषम्य तीनों पर भी आक्रमण किए बिना नहीं रहते। यही कारण है कि, भारतवर्ष के परम वैज्ञानिक प्राणाचार्यों ने प्रकृति के आधार पर ही औषधि का विधान किया है। विज्ञान की चरम सीमा पर पहुँचने का गर्व करने वाला आधुनिक भिषक्समाज (एलोपैथिक चिकित्सक—डाक्टर) आज भी इस प्रकृति विज्ञान से कितने हीं अंशों में अपरिचित है, यह कहने में कोई आपत्ति न होगी। उदाहरण के लिए कुछ एक बातें वर्तमान चिकित्सा पद्धति में ऐसी मिलती हैं, जो "अंधेर नगरी अबूझ राजा, टके सेर भाजी, टके सेर खाजा" वाली किंवदन्ती को सर्वात्मना चरितार्थ कर रही हैं।

नेत्र रोगों के सम्बन्ध में डाक्टर लोग विशेष कॉस्टिक (Costic), आर्जिरापल (Orgirol), प्रोटार्गोल (Protargal), यलो आइन्टमेन्ट (Yellow Ointment), इन औषधियों का उपयोग में लाते हैं। इन सब में कॉस्टिक महा उग्र औषधि है। इस के उपयोग की कथा सुनिए। ६ मास के कोमलाङ्ग शिशु पर भी इसी का प्रयोग, ३० वर्ष का युवा भी इसी का उपासक, ६० वर्ष का वृद्ध भी इसी का उपासक बनता है। प्रकृति निरीक्षण की कोई आवश्यकता नहीं। ६ मास के बच्चे, जिन के नेत्रगोलक अतिशय कोमल हैं, २०-३०—ग्रीन् (Green) के कास्टिक प्रयोग में छूट पड़ते जाते हैं। एक बार के प्रयोग से इन के नेत्रों की प्राकृतिक ज्योति नष्टप्राय हो जाती है। भविष्य में मिलने वाले चरम की सनद इसी सुकुमार अवस्था में प्राप्त हो जाती है। परन्तु अपने नेत्रों की रक्षा के लिए वह इन चिकित्सकों के भरोसे छोड़ देता है। यही अवस्था इन्जेक्शन (Injection) की है। इन के अन्धाधुन्ध प्रयोग से स्नायुतन्तुओं (ज्ञानतन्तुओं) पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता है ?, यह भी मार्मिकों की दृष्टि में तिरोहित नहीं है। निर्बलता को दूर करने वाला कॉडलिवर आयल (Cadliveroil) प्रसिद्ध है। चाहे उसे हजम करने की शक्ति किसी में हो, अथवा न हो। यह दिव्य बोतलें सदा ही डिस्पेन्सिरियों (Dispensary) की प्रतिष्ठा बढ़ाती हुई सब को समान रूप से आह्वान करती रहती हैं। आज के १०० वर्ष पहिले, जब कि हृदयशून्य इन सत्यातीत चिकित्सकों का अभाव था, देश में शान्ति थी, देश पूर्ण स्वस्थ था। परन्तु आज उस दशा में भी रोग अधिक संख्या में बढ़ते, एवं असाध्य होते जा रहे हैं, जब कि सर्वत्र कीटाणुओं के समान चिकित्सक व्याप्त हो रहे हैं। उधर हमारे प्राणाचार्य प्रकृति के अनुसार चिकित्सा करते हैं। करते क्या हैं, पुरायुग में करते थे। आज तो अपने ही बुद्धिदोष से ओषधिपरिचयविज्ञानशून्य ये वैद्यप्रवर भी उसी रसकादि में प्रविष्ट होते हुए डाक्टरों से भी कहीं अधिक भयङ्कर सिद्ध हो रहे हैं। अस्तु पुरानी बात पर ही ध्यान रखिए। तत्त्वदृष्टया स्वरूपों को लक्ष्य में रखते हुए आयुर्वेद शास्त्र का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह उन्हीं ओषधियों का प्रयोग करे, जिन के प्रयोग से सूक्ष्म एवं कारणशरीर पर किसी प्रकार का आघात न हो। आज उस तत्त्व पर कोई ध्यान नहीं है। यदि न्यूमोनिया है, तो खूब ब्रान्डी (Brandy) पिलाइए। केवल स्थूलशरीर का उपकार अपेक्षित है। कारण-सूक्ष्म भाव भले ही मलिन हो जाय। पूर्व में कहा जा चुका है कि रोग का मूल कारण प्रज्ञान मन से होने वाला प्रज्ञापराध ही है। यही कारण है कि स्थूल-शरीरसम्बन्धी ज्वरादि रोगों की प्रधानता न मानते हुए भिषग्वरों ने रागादि रोगों को ही मुख्य माना है। जैसा कि निम्न लिखित सूक्ति से स्पष्ट हो जाता है—

रागादिरोगान् सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान् ।
औत्सुक्यमोहारतिदान् जघान यो पूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥ (अ०हृ० १)

हमारे आचार्यों ने उन्हीं औषधियों का विधान किया है, जो स्थूलशरीर की रक्षा करती हुई—कारण एवं सूक्ष्मशरीर पर किसी प्रकार का आघात नहीं करती हैं। जिस प्रकार स्थूलशरीर की चिकित्सा करने वाले आयुर्वेदशास्त्र को इतर दोनों शरीरों की रक्षा का ध्यान रखना पड़ता है, एवमेव सूक्ष्मशरीर की चिकित्सा करने वाले धर्मशास्त्र, एवं कारणशरीररूप आत्मा की चिकित्सा करने वाले उपनिषच्छास्त्र, एवं वेदान्तशास्त्र को स्थूलशरीर की रक्षा का पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है। देश-काल-पात्र द्रव्य श्रद्धादि की पूर्ण परीक्षा कर के ही धर्मोपायों का विधान है, एवं इसी परिस्थिति के अनुसार अधिकारी के भेद से व्यवस्थित ही आत्मोपासना विहित है। यह है आध्यात्मिक दुःख का संक्षिप्त दिग्दर्शन। इस दुःख का चिकित्सक ब्राह्मण वर्ग है।

दूसरा आधिभौतिक दुःख है। वन्य हिंसक पशुओं का आक्रमण, अन्य शत्रुओं का आक्रमण, मोटर-साइकल-तांगा-बग्घी-आदि से आघात, ये सब आधिभौतिक आक्रमण हैं। इन सब का चिकित्सास्थान राजदण्ड, एवं तत्सम्बन्धी न्यायालय हैं। भूकम्प-विद्युत्पात-अनावृष्टि-अतिवृष्टि झंझावात (आंधी) उल्कापात घोरशीत घोरगर्मी-अकाल-दुष्काल-जनपदविध्वंसिनी (महामारी), आदि सब आधिदैविक आक्रमण हैं। आध्यात्मिक-आधिभौतिक आक्रमणों का सम्बन्ध व्यक्ति से है, अतः इनका शुभाशुभ फल भी व्यक्ति को ही भोगना पड़ता है। परन्तु इस तीसरे आक्रमण का सम्बन्ध राष्ट्र से है। जिस राष्ट्र में राजा एवं प्रजा वर्ग पाप कर्म्म में लिप्त हो जाते हैं, वहां का प्रकृतिमण्डल क्षुब्ध होजाता है। क्षुब्ध प्रकृतिमण्डल ही भूकम्पादि आक्रमणों का कारण बनता है। यह 'राष्ट्र' के पाप का फल है, अतः इसका आक्रमण किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध न रखता हुआ समूचे राष्ट्र के साथ सम्बन्ध रखता है। इन की चिकित्सा प्रकृतिरहस्यवेत्ता कर्म्मठ वेदज्ञ ब्राह्मण हैं। वे ही यज्ञकर्म्म द्वारा प्रकृति के कोप को शान्त करने में समर्थ हैं। इसी दुःखत्रयी का निरूपण करते हुए प्राधानिक कहते हैं—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ (सां० का० १)

यही पाया है। ईश्वरीय पूर्णता विभूति में पूर्णेन्द्ररूप कश्यप प्रजापति का स्वरूप बतलाया गया है। इन दोनों अण्डकटाहों के सौराग्निप्रधान दृश्य अण्डकटाह से पुरुष का, एवं चान्द्र समप्रधान अदृश्य अण्डकटाह से स्त्री का स्वरूप निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में पुरुष स्त्री में आधा आधा इन्द्रप्राण ही प्रतिष्ठित रहता है, अतएव जीव सृष्टि को 'अर्द्धेन्द्रसृष्टि' कहा जाता है। 'वाजश्च मे प्रसवश्च मे०' इत्यादि मन्त्र समष्टिरूप अर्द्धेन्द्रसूक्त इसी रहस्य का प्रतिपादन करता है। (देखिए यजु स० १८ अ०)। जीव में आधे खगोल के मध्य का वृत्त विषुवद्वृत्त नाम से प्रसिद्ध है। यही त्रिपुवत् प्राण जीव में मेरुदण्ड ( रीढ की हड्डी ) रूप से प्रतिष्ठित होता है। आधा विषुवद्वृत्त पुरुष में आता है, आधा अदृश्य विषुव स्त्री में आता है। स्त्री पुरुष के सममयुक्त होने से ही पूर्ण विषुवद्वृत्त का स्वरूप सगृहीत होता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, पुरुष आधा है, इसके अर्द्धभाग की पूर्ति स्त्री से होती है— "सोऽयमाकाशः पत्न्या पूर्यते"। बिना दाम्पत्यभाव के वह पूर्णपुरुषात्मक यज्ञपुरुष के साथ योग करने में असमर्थ है। इस यज्ञाधिकारप्राप्ति के लिये पूर्णतासम्पादक पत्नीसम्बन्ध नितान्त अपेक्षित है। बिना पत्नी के यज्ञकर्म्म कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। अत एव ( यज्ञसिद्धि के लिए ही ) एक पुरुष अपनी प्रथम स्त्री के अभाव में अन्य स्त्री के साथ परिणय कर सकता है। यही कारण था कि, मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र को अश्वमेध यज्ञ की सिद्धि के लिए जगन्माता सीता की सुवर्ण प्रतिमा का सम्बन्ध करना पड़ा। सचमुच बिना पत्नी के पुरुष अधुरा है। "एका की न रमते, तद्द्वितीयमैच्छत् पतिश्च पत्नी च" यह श्रौत सिद्धान्त सर्वसम्मत है। अत एव पत्नी को अर्द्धाङ्गिनी माना गया है।

हमने कितने ही कल्पनारसिकों के श्रीमुख से यह कहते सुना है कि 'ज्यौतिषशास्त्र का सिद्धान्त एवं गणित भाग तो सत्य है, किन्तु फलितांश सर्वथा निरर्थक है। फलितांश की निस्सारता बतलाते हुए उक्त महानुभाव कहते हैं कि— 'ज्यौतिष के सिद्धान्त के अनुसार अमुक ग्रहयोग में जो व्यक्ति उत्पन्न हो, उसे जन्म से ब्राह्मण होना चाहिए, उसके गृह का द्वार पूर्व की ओर होना चाहिए, उसका वर्ण कृष्ण होना चाहिए, इत्यादि। हम देखते हैं कि, उसी योग में भूमण्डल मे अनेक स्थानों में अनेक प्राणी उत्पन्न होते हैं। मान लीजिए, पूर्वोक्त योग में एक मनुष्य योरोप में उत्पन्न होते हैं। आपके उपर्युक्त फलों में से वहां एक को भी समन्वय नहीं होता। ऐसी

अवस्था में ज्योतिष का फलितभाग केवल विडम्बनामात्र रह जाता है।" इस विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में हमें केवल यही निवेदन करना है कि, जिस हेतु को आगे रख कर फलित पर उक्त आक्षेप किया जाता है, वह हेतु ही अपरिचित है। जिस ग्रहयोग में जो व्यक्ति उत्पन्न होता है, वह ग्रहयोग सम्पूर्ण विश्वमें केवल उसी के लिए नियत है। दूसरे शब्दों में एक समय में विश्व में एक ही व्यक्ति उत्पन्न होता है। ईश्वरीय पूर्णेन्द्र विभूति प्रकरण में जिस कूर्म्म का स्वरूप बतलाया गया है, उस की एक नियत केन्द्र बिन्दु बनती है। रेतोधा पिता जब गर्भाशयगत शोणितरूपा योनि में मातरिश्वा वायुद्वारा रेत का आधान करता है, उसी समय शुक्र में केन्द्र बनाता हुआ कूर्म्मरस चारों ओर से आने लगता है। यही कूर्म्मरस गर्भपुष्टि का कारण बनता है। इस स्थिति में इस गर्भ की जैसी ग्रहसंस्था रहती है, खगोल में तदनुरूप ही इसके अशों का लम्पन होता है। भुवनकोश (भूवृत्त) में भी ३६० अंश है, एवं ग्रहप्रतिष्ठा भूत ज्योतिश्चक्र (खगोल) में भी ३६० ही अंश हैं। भूपिण्ड की अपेक्षा कई सहस्र गुणित बृहत्सूर्य खगोल के जिस एक छोटे से कोण में समा रहा है, उस खगोल की महत्ता का अनुमान लगा कर इसके अशों की व्याप्ति को लक्ष्य में रखिए। इस खगोलीय महावृत्त के ३६० अशों के साथ भूगोलीय ३६० अशों का समन्वय होता है। भूपिण्ड पर जो अंश एक अङ्गुलमात्र का व्यवधान रखते हैं, खगोल में वही अन्तर इससे कई सहस्रगुणित हो जाता है, यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती। साथ ही में सम्पूर्ण ग्रह द्रुतगति से घूम रहे हैं। ऐसी दशा में यह भी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि—"एक काल में एक क्षण में एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाली यमज सन्तानों की भी ग्रहसंस्थाओं में बड़ा अन्तर है।" अब ग्रहसंस्था ही व्यक्तिभेद से भिन्न है, तो फलसाम्य कैसे सम्भव है। सुतरां फलित सम्बन्धी पूर्व आक्षेप एकान्ततः उच्छिन्न हो जाता है। अस्तु प्रकृत में यही कहना है कि जीव अर्द्धेन्द्र होने से अपूर्ण है। अपूर्णता अल्पता है। अल्पता ही दुःख की आयतनभूमि है। अपूर्णतारूप इस सातवें पाप्मा का यही संक्षिप्त विवरण है।

—o—

## ८—संसारः

पूर्वोक्त सातों पाप्माओं का एकमात्र फल है—संसार समुद्र में मोक्षात्मा का इतस्ततः संसार (गमनागमन) स्वरूपपरिचय— विविध योनियों में गमनागमन। जब तक इस के साथ उपर्युक्त पाप्माओं का सम्बन्ध रहता है, तब तक इसे संसारचक्र में घूमना पड़ता है।

यही आठवाँ पाप्मा है। इस पाप्मा से छुटकारा पाने के लिए पहिले सात पाप्माओं से निस्तार पाना आवश्यक है। बन्धपर्य्याय, मुक्तपर्य्याय, नाम के दो पर्य्यायों का भी इसी संसाररूप पाप्मा में अन्तर्भाव है।



ये आठों ही पाप्मा प्रज्ञापराधमूलक बनते हुए जीवात्मा की स्वतन्त्र (अपनी) कमाई है। ईश्वर में इन पाप्माओं का आत्यन्तिक अभाव है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि "जीव ईश्वर का अंश माना गया है। साथ ही में ईश्वर में उक्त पाप्माओं का अभाव है। इसके साथ ही ईश्वर की व्यापकता भी सर्वोसिद्ध पदार्थ है। फिर यह पाप्मधर्म्म जीवसंस्था में कहां से आए? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कठ कहते हैं—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति ॥ (कठोपनिषत् ४।१४)

भूतल पर एक बड़ा पर्वत है, पर्वत पर एक दुर्ग (किला) है, दुर्ग पर आकाश से वृष्टि होती है। मेघस्थ शुद्ध जल दुर्ग पर आते ही पर्वतकन्दराओं में आता हुआ खण्ड खण्ड रूप में परिणत होता हुआ, दुर्ग, एवं पर्वत की मलिनता से मलिन हो जाता है। यही अवस्था यहा है। वे ही ईश्वरीय गुण शरीररूप भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित प्रज्ञानरूप दुर्ग में आकर पर्वतस्थानीय, किंवा पर्वताधयवस्थानीय जीवसंस्था में आकर प्रज्ञापराधरूप मल-भाग से युक्त होते हुए पाप्मारूप में परिणत होजाते हैं। ईश्वरवत् जीव भी सर्वथा विशुद्ध है, ईश्वरीय जो गुण जीव में आते हैं, वे भी विभूतिरूप ही हैं। परन्तु प्रज्ञापराध की कृपा से वे ही गुण दोषरूप में परिणत होजाते हैं। "गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति, ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः" । दो स्वतन्त्र पदार्थों में जो गुण, अथवा दोष नहीं देखे जाते, दोनों के समन्वय के वैचित्र्य से वहाँ गुण-दोष का उदय होजाता है।

इस प्रकार ७ विभूति, ८ पाप्मा, मन-बुद्धि, इन सबद्ध सामग्रियों को लेकर ही भोक्ता-यात्री यात्रा के लिए इस धरातल पर अवतीर्ण होता है। सात विशेष विभूतियों के अवान्तर-भेद ४० हैं, एवं आठ पाप्माओं के अवान्तर भेद ३६ हैं। संभूय ७६ कलाएँ होजाती हैं। इनके अतिरिक्त २३१ सामान्यविभूतिकलाओं का सम्बन्ध यहाँ ईश्वरवत् विद्यमान है।

इनके अतिरिक्त ज्ञान[१]-क्रिया[२]-शब्द[३]-श्वास[४] प्रकाश[५]-जल[६]-अन्न[७], ये सात अन्न और होजाते हैं। इन सातों अन्नों का कर्म्मविपाक नामके पाप्मा में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है, संभूय जीवसंस्था में १७६ कलाओं की सत्ता सिद्ध हो जाती हैं, जैसा कि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट होजाता है।

ईश्वरप्रजापति पूर्णेन्द्र होता हुआ पूर्णपद है। अतएव "अह्-अम्" इस स्थिति में अह् का अकार पद का अन्त भाग बनता हुआ उत्व का भागी बन जाता है—'अ-उ-अम्' यह स्थिति होजाती है। गुण-पूर्वरूप से "ओम्" शब्द निष्पन्न होजाता है। ईश्वर की उपनिषत् यही ओङ्कार है—"तस्योपनिषदोमिति"। उधर जीवप्रजापति अर्द्धेन्द्र रहता हुआ पूर्णपद कोटि से बहिष्कृत रहता हुआ अपद है। जीव सम्बन्धी "अह्-अम्" इस स्थिति का अह् का हकार अपद जीव का अन्त भाग बनता हुआ अपदान्त है। अतएव यह उत्व भाव में वञ्चित रहता हुआ "ओम्" न बन कर 'अहम्' ही रह जाता है। "तस्योपनिषदहमिति" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा की उपनिषत् "अहङ्कार" ही है। जब तक अहङ्कार है, तभी तक जीव जीव है। जिस दिन इसका अहङ्कार नष्ट होजाता है, उस दिन पूर्णपदभाव को प्राप्त होता हुआ यह पूर्णेश्वर में विलीन होजाता है—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ (कठ० ४।१५)।

यह है जीवेश्वर-प्रपञ्चका संक्षिप्त दिग्दर्शन। हमें आशा ही नहीं, प्रस्तुत दृढ़ विश्वास है—

**प्रकरणोपसंहार**—कि, इस आत्मोपनिषत् के सम्यक् परिशीलन से आत्मविप्रतिपत्ति जिज्ञासा सर्वात्मना शान्त होजायगी, एवं आत्मस्वरूप को न जानने के कारण श्राद्ध के सम्बन्ध में जो शङ्काएँ उपस्थित होती हैं, उनका भी समूलोच्छेद होजायगा।

१—क्षुत्पिपासासे, शोकमोहौ, जराव्याधी, इति षट् ——ऊर्म्मयः ——६
२—जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयो, मोहमूर्च्छामृत्यवः-इति षट् ——अवस्थाः ——६
३—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः—इति पञ्च ——क्लेशाः ——५
४—अध्यात्माधिभूताधिदैवतभेदेन त्रयो ——बन्धाः ——३
५—जात्यायुर्भोगाः, सप्तान्नानि चेति-दश ——कर्म्मविपाकाः ——१०
६—शुभाशुभौ भोगहेतू द्वौ ——आशयौ ——२

७—स्त्रीपुरुषाभ्यामात्मनो द्विधाभावात् ———— ॐ ये मात अन्न और
८—संसार.—जन्मपर्य्यायः, मुक्तपर्य्याय-इति त्रयः ——— पर्य्यायाः —— लिया जाता
——— की शान्ति-
८—पाप्मानः ————————→पाप्मानः-षट्त्रिंशत्—

—०×०—

—०×०—

आत्मकलाविभागाः- ———— ७२
सामान्यविभूतिकलाविभागाः—२३१
विशेषविभूतिकलाविभागाः——४०
पाप्मकलाविभागाः ————३६
संभूय जीवसंस्थाया ——— ३७९ कलाः ।

—०×०—

## इत्यात्मविज्ञानोपनिषदि प्रथमायां—
## प्राणात्मविज्ञानोपनिषत् ६—
समाप्ता

——

# समाप्ता चेयं-आत्मविज्ञानोपनिषत्
प्रथमा

१

——

## समाप्तश्चायं श्राद्धविज्ञाने प्रथमखण्डः

१

——

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! ! शान्तिः ! ! !

——

सो

समाप्ता चेयं—

'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्' षष्ठी

६

—+—

श्री

समाप्ता चेयं-षडध्यान्तरोपनिषदात्मिका

आत्मविज्ञानोपनिषत्-प्रथमखण्डात्मिका

समाप्तश्चायं प्रथमंखण्डः

श्राद्धविज्ञानोपनिषद्ग्रन्थान्तर्गतः

१

प्रीयतामनेन पितृदेवता

---